# Social Stratification

## DSOC202

LOVELY
PROFESSIONAL
UNIVERSITY

# सामाजिक स्तरीकरण

## SOCIAL STRATIFICATION

Copyright © 2012
All rights reserved with publishers

Produced & Printed by
**USI PUBLICATIONS**
2/31, Nehru Enclave, Kalkaji Extn.,
New Delhi-110019
for
Lovely Professional University
Phagwara

# पाठ्यक्रम (SYLLABUS)

## सामाजिक स्तरीकरण
## (Social Stratification)

**उद्देश्य:**

1. छात्रों को सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा से परिचित करवाना।
2. छात्रों को बदलते सामाजिक स्तरीकरण के आयाम और सामाजिक गतिशीलता की अवधारणा से अवगत करवाना।

**Objectives:**

1. To familiarize the student about the concept of Social Stratification.
2. To familiarize the students about the changing dimensions of social stratification and about the concept of Social Mobility.

| क्रम संख्या Sr. No. | विषय (Topics) |
|---|---|
| 1. | सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या: अवधारणा, विशेषताएँ, सामाजिक स्तरीकरण की आधारभूत अवधारणाएँ। (Understanding Social Stratification: Concept, Characteristics, Basic concepts relating to stratification) |
| 2. | सामाजिक स्तरीकरण का सिद्धांत–I: डंविस एवं मूरे तथा पारसन्स की सैद्धांतिक अवधारणाएँ। (Theories of Social Stratification I: Theoretical formulations of Davis & Moore, Parsons) |
| 3. | सामाजिक स्तरीकरण का सिद्धांत–II: कार्ल मार्क्स तथा मैक्स वेबर की सैद्धांतिक अवधारणाएँ। (Theories of Social Stratification II: Theoretical formulations of Karl Marx and Max Weber) |
| 4. | सामाजिक स्तरीकरण का स्वरूप: जाति, वर्ग, लिंग, नगरीय एवं औद्योगिक व्यवस्था में स्तरीकरण। (Forms of Social Stratification: Caste, Class, Gender, Social Stratification in Urban and Industrial Settings) |
| 5. | जाति: अवधारणा, जाति व्यवस्था की विशेषताएँ, जाति व्यवस्था स्तरीकरण व्यवस्था के रूप में। (Caste: Concept, features of caste system, caste system as a system of stratification) |
| 6. | वर्ग: सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्था के रूप में वर्ग की अवधारणा, वर्ग और गतिशीलता: व्यवसाय और गतिशीलता। (Class: Concept and as system of stratification, Class and mobility: Occupation and mobility) |
| 7. | प्रजाति एवं नृजातीयता: प्रजाति, प्रजातीयता समूह, नृजातीयता, अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक संबंध। (Race and Ethnicity: Race, Racial group, ethnic groups, minority & majority relations) |
| 8. | लिंग एवं स्तरीकरण: लिंग के आधार पर स्तरीकरण, पितृसत्ता और महिलाओं का दमन, स्त्रियों के अधिकार। (Gender and Stratification: Gender as basis of stratification, Patriarchy and the Subordination of Women, women's empowerment) |
| 9. | सामाजिक गतिशीलता: निर्धारक, जाति तथा वर्ग में सामाजिक गतिशीलता के प्रतिमान, सामाजिक स्तरीकरण की खुली और बंद व्यवस्थाओं में गतिशीलता। (Social Mobility: Determinants, Patterns of Mobility in Caste and Class; Mobility in closed and open systems of stratification) |
| 10. | सामाजिक स्तरीकरण के आयाम में परिवर्तन: भारत में सामाजिक स्तरीकरण की शृंखला का अविर्भाव, मध्यम वर्ग का आविर्भाव। (Changing Dimensions of Social Stratification: Emerging patterns of social stratification in India, Emergence of Middle Class system) |

# विषय-सूची


| इकाई (Units) | (CONTENTS) | पृष्ठ संख्या (Page No.) |
|---|---|---|
| 1. | सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या (Understanding Social Stratification) | 1 |
| 2. | सामाजिक स्तरीकरण संबंधित आधारभूत अवधारणाएँ (Basic Concepts Relating to Social Stratification) | 13 |
| 3. | सामाजिक स्तरीकरण का सिद्धांत–I (Theories of Social Stratification-I) | 32 |
| 4. | सामाजिक स्तरीकरण का सिद्धांत–II (Theories of Social Stratification-II) | 45 |
| 5. | सामाजिक स्तरीकरण का स्वरूप (Forms of Social Stratification) | 69 |
| 6. | जाति (Caste) | 90 |
| 7. | वर्ग (Class) | 119 |
| 8. | प्रजाति एवं नृजातीयता (Race and Ethnicity) | 134 |
| 9. | लिंग एवं स्तरीकरण (Gender and Stratification) | 167 |
| 10. | स्त्रियों के अधिकार (Women's Empowerment) | 182 |
| 11. | सामाजिक गतिशीलता (Social Mobility) | 203 |
| 12. | सामाजिक स्तरीकरण की खुली और बंद व्यवस्थाओं में गतिशीलता (Mobility in Closed and Open Systems of Stratification) | 224 |
| 13. | सामाजिक स्तरीकरण के आयाम में परिवर्तन (Changing Dimensions of Social Stratification) | 231 |
| 14. | मध्यम वर्ग का आविर्भाव (Emergence of Middle-Class) | 260 |

नोट

# इकाई–1: सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या (Understanding Social Stratification)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

1.1 सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा (Concept of Social Stratification)

1.2 सामाजिक स्तरीकरण की परिभाषा एवं विशेषताएँ (Definition and Characteristics of Social Stratification)

1.3 सारांश (Summary)

1.4 शब्दकोश (Keywords)

1.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक स्तरीकरण की परिभाषा को समझने में।
- सामाजिक स्तरीकरण की परिभाषा एवं विशेषताओं की व्याख्या करने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

जब हम अपने आसपास के समाज पर दृष्टि डालते हैं तो हम देखते हैं कि इसका स्वरूप विषम है। कहीं धनी हैं तो कहीं निर्धन; कहीं उद्योगपति हैं तो कहीं कृषक; कहीं शासक हैं तो कहीं जमींदार। सर्वत्र समाज विभिन्न श्रेणियों–आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक में विभक्त हैं। इस इकाई में हम समाज के इसी विषम स्वरूप, जो सर्वव्यापक है और समाजों के ढाँचे में गहरा स्थान रखता है, का वर्णन करेंगे।

## 1.1 सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा (Concept of Social Stratification)

सामाजिक स्तरीकरण एक सार्वभौमिक प्रघटना है। कोई भी मानव समाज इससे वंचित नहीं है, यद्यपि स्तरीकरण विभिन्न रूपों और अंशों में पाया जाता है। किसी भी समाज में, व्यक्ति, पद और समूह विशिष्ट मानकों और कसौटियों के आधार पर विभेदीकृत किये जाते हैं। वे मानक और कसौटियाँ, जिनके आधार पर लोग विभेदीकृत किये जाते हैं, एक समयावधि में उभर कर आती हैं। एक समाज की प्रकृति, उसकी संस्कृति, अर्थव्यवस्था, और राजनीतिक व्यवस्था के आधार पर स्तरीकरण सरल या कम विस्तृत या जटिल और अधिक विस्तृत होता है। किसी भी समाज में स्तरीकरण में विचारणीय बिन्दु एक व्यक्ति विशेष, या उसके परिवार या समुदाय की विभिन्न अनुपातों में उपलब्धियाँ हो सकती हैं। अत: एक व्यक्ति, एक परिवार, और एक समूह या तीनों विभिन्न सन्दर्भों और परिस्थितियों में या एक-दूसरे के संग, एक समाज में श्रेणीकरण की इकाइयाँ हो सकती हैं।

नोट

### 1.1.1 संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण

मेलविन एम. ट्यूमिन ने शक्ति, सम्पत्ति, सामाजिक मूल्यांकन, और मानसिक संतोष (लाभ) की असमानता के आधार पर किसी सामाजिक समूह या समाज को पदों के सोपान में व्यवस्था को सामाजिक स्तरीकरण का नाम दिया है। किसी भी समाज में प्रायः शक्ति, सम्पत्ति (वर्ग) और सामाजिक मूल्यांकन (प्रस्थिति और प्रतिष्ठा), पद/स्थान अत्यधिक आधार माने जाते हैं। मेक्स वेबर के अनुसार 'वर्ग, प्रस्थिति और पार्टी, अर्थात् आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक, समाज की तीन महत्त्वपूर्ण व्यवस्थायें/रचनायें हैं, जिनके द्वारा पद-स्थानों, कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का वितरण किया जाता है। इसी प्रकार, टालकट पार्सन्स का भी सामाजिक स्तरीकरण से अभिप्रायः उन व्यक्तियों के विभेदी श्रेणीकरण से है, जिनसे एक सामाजिक व्यवस्था निर्मित होती है। उन व्यक्तियों को, सामाजिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों में, एक-दूसरे से श्रेष्ठ और कमजोर समझा जाता है। पार्सन्स ने सतर्कता से 'स्तरीकरण' और 'विभेदीकरण' में अन्तर किया है, क्योंकि कसौटियाँ भी 'सामाजिक' और 'गैर-सामाजिक', क्रमशः विभाजित की गई हैं। एक सामाजिक व्यवस्था में इकाइयों के विभेदीय मूल्यांकन का आधार सामाजिक कसौटियाँ हैं। ये कसौटियाँ हैं– नातेदारी, व्यक्ति विशेष की विशेषतायें, उपलब्धियाँ, व्यवस्था, सत्ता, शक्ति आदि। गैर-सामाजिक कसौटियाँ मात्र विभेदीकरण का आधार हैं। आयु और यौन (लिंग) ऐसे आधार हैं। इस प्रकार, पार्सन्स के अनुसार, स्तरीकरण इकाइयों के रूप में व्यक्तियों (मानव) के मानकीय रुझान (प्रवृत्ति) का मुख्य पहलू है।

पार्सन्स की तरह, कारे सालासतोगा ने "विभेदीकरण" और "स्तरीकरण" में अन्तर नहीं किया है। सामाजिक अन्तरक्रिया की प्रक्रिया द्वारा, व्यक्तियों, सामाजिक पदों या समूहों के बीच जो भी अन्तर उभरते हैं, उनको सालासतोगा ने "सामाजिक स्तरीकरण" के बजाय "सामाजिक विभेदीकरण" का नाम दिया है। वास्तव में, यह दृष्टिकोण ट्यूमिन और पार्सन्स द्वारा दी गई परिभाषाओं से बहुत भिन्न नहीं है। सालासतोगा की तरह, ट्यूमिन का भी मत है कि स्तरीकरण सामाजिक अन्तरक्रिया की प्रक्रिया से भी उभरता है। फिर भी, सालासतोगा स्तरीकरण की परिभाषित करने में अधिक नपे-तुले व स्पष्ट हैं। सालासतोगा के अनुसार, विभेदीकरण के चार प्रमुख प्रकार हैं– (1) प्रकार्यात्मक विभेदीकरण या श्रम विभाजन, (2) श्रेणी विभेदीकरण, (3) प्रथा विभेदीकरण, और (4) प्रतियोगीय विभेदीकरण। सालासतोगा के अनुसार, श्रेणी विभेदीकरण का अभिप्राय स्तरीकरण-विभेदीकृत प्रस्थिति, या स्तरीकृत समूह, संगठन, या समाज से है। श्रेणी विभेदीकरण सभी मानव समाजों और बहुत से पशु समाजों में विद्यमान है। सालासतोगा ने श्रेणी विभेदीकरण और सोपान में विभेद नहीं किया है। उनके अनुसार, सोपान एक स्थिर प्रघटना है, और विशेष–सुविधाओं के बंटवारे के लिये वितरण व्यवस्था का कार्य करता है। इस प्रकार सोपान द्वारा, सोपान और असमान वितरण अधिक दृढ़ होता है और इससे असमानता का चक्र जटिल बनता है।

समाज के सुसंचालन के लिये प्रकार्यात्मक विभेदीकरण या श्रम का विभाजन एक वांछनीय आवश्यकता है। एक मानव समाज की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रकार्यात्मक विभाजन के साथ गैर-विरोधात्मक श्रेणियों की रचना की जा सकती है। प्रथा विभेदीकरण का अभिप्राय उन नियमों से है, जिनके द्वारा विभेदीय उचित व्यवहार स्थापित किया जा सकता है। प्रतियोगीय विभेदीकरण का प्रयोजन सामान्य या एक विशेष सन्दर्भ में समाज के सदस्यों के रूप में व्यक्तियों की सफलता और असफलता से है। इस प्रकार, श्रेणी विभेदीकरण ही, व्यक्तियों, सामाजिक पदों/स्थानों, समूहों और यहाँ तक कि समाजों पर लागू होता है और इसीलिये यह सर्वव्याप्त है। पार्सन्स की तरह सालासतोगा भी स्तरीकरण की जैविकीय और समाजशास्त्रीय व्याख्याओं का उल्लेख करते हैं। जैविकीय व्याख्याओं में समय और स्थान और स्तरीकरण में भिन्नता जैसे कारकों को नकारा जाता है। समाजशास्त्रीय व्याख्या में व्यक्तियों और समूहों के बीच में सहयोग और द्वंद दोनों पर बल दिया जाता है।

पी.ए. सोरोकिन ने स्तरीकरण की एक विस्तृत परिभाषा दी है। सोरोकिन के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण का तात्पर्य एक निश्चित जनसंख्या के विभेदीकरण से है, जिसमें सोपानीयता से वर्ग, एक-दूसरे के साथ व्यवस्थित किये गये हैं। उच्च व निम्न स्तरों के अस्तित्व से यह प्रकट होता है। इस प्रकार, स्तरीकरण का आशय एक विशिष्ट समाज के सदस्यों के बीच अधिकारों और विशेष-सुविधाओं, कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों, सामाजिक मूल्यों और निजी-विचारों, सामाजिक शक्ति और प्रभावों के असमान वितरण से है। सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न और अनेक स्पष्ट स्वरूप

नोट

हैं। उदाहरण के लिये आर्थिक रूप से स्तरीकृत, राजनीतिक दृष्टि से स्तरीकृत, और व्यवसाय के आधार पर स्तरीकृत स्वरूप प्रमुख हैं। ये सभी एक-दूसरे से अन्तर्संबंधित हैं।

उपरोक्त वर्णित सामाजिक स्तरीकरण के अवधारणाकरण, आधुनिक उदार पश्चिमी दुनिया में व्याप्त प्रस्थिति विभेदों पर लागू होते हैं, जो पूँजीवाद द्वारा वशीभूत हैं। वास्तविकता तो यह है कि गैर-पश्चिमी दुनिया उसी तरह की औद्योगिक और पूँजीवादी शक्ति नहीं है। हमारी मान्यता है कि श्रम विभाजन या एक जैसी क्रियाओं की आवश्यकता या प्रकार्यता की एकरूपता सब मानव समाजों में सही नहीं हो सकती। इसलिये, उपरोक्त उपगम के अन्तर्गत, स्तरीकरण की मान्य सर्वव्यापकता और प्रकार्यता के विषय में एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

पर–औद्योगिक (आदिम) समाजों में सामाजिक स्तरीकरण के विश्लेषण के बारे में एम.जी. स्मिथ का कहना है कि "स्तरीकरण कभी भी विभिन्न पद-स्थानों के मात्र अस्तित्व या उन पर स्थापित होने पर नहीं पाया जाता है, बल्कि स्तरीकरण उन सिद्धान्तों में पाया जाता है जिनके द्वारा पहुँच और अवसरों का वितरण नियंत्रित होता है।" स्मिथ के अनुसार, पर–औद्योगिक समाजों में आयु–पुँज और यौन (लिंगभेद), साधनों तक पहुँच व अवसरों के लिये प्रमुख निर्धारक हैं। आयु और यौन भेद मात्र जैविकीय कसौटियाँ नहीं हैं। पर-औद्योगिक समाजों में, आयु और यौन सामाजिक और सांस्कृतिक प्रघटनायें हैं। पार्सन्स और सालासतोगा ने इनको मात्र जैविकीय या गैर-सामाजिक कसौटियाँ करार दिया है। जैविकीय आधार पर राजनीतिक शक्ति को वैधता दी जा सकती है, क्योंकि बुजुर्गों को युवा लोगों और महिला सदस्यों को नजरअंदाज करके अपने समुदायों में नेतृत्व प्रदान करने आ अवसर प्राप्त होता है।

विश्लेषणिक और साकार संरचनाओं या सदस्य इकाइयों और सामाजिक प्रक्रिया के सामान्यकृत पहलुओं की तरह, स्मिथ ने स्तरीकरण की विश्लेषणिक अवधारणाओं का उल्लेख किया है। विश्लेषणात्मक दृष्टि से, टयूमिन और पार्सन्स जैसे प्रकार्यवादियों ने स्तरीकरण को सभी सामाजिक व्यवस्थाओं की एक निराकार आवश्यकता माना है। साकारिक दृष्टि से, स्तरीकरण विशिष्ट समाजों से जुड़ा हुआ है। इस प्रकार स्मिथ के अनुसार स्तरीकरण प्रक्रिया और प्रस्थितियों की स्थिति दोनों है। भारत में सामाजिक स्तरीकरण की प्रवृत्तियों की व्याख्या में योगेन्द्र सिंह ने स्तरीकरण को सिद्धांत, संरचना और प्रक्रिया के परिप्रेक्ष्य में समझा है। सिंह का यह भी मत है कि प्रक्रिया अन्य दो बिन्दुओं, अर्थात, सिद्धान्त और संरचना से अधिक आधारभूत है। स्मिथ के अनुसार प्रस्थितियों की अवस्था सामाजिक प्रक्रिया का परिणाम व अवस्था दोनों हैं।

स्मिथ द्वारा की गई व्याख्या बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उनके मत में एक समाज में संस्थाकरण और समूहों/इकाइयों के बीच सामाजिक सम्बन्धों का आधार है। दूसरे शब्दों में, क्रमशः आकस्मिकता और झगड़ा एक श्रेणीकरण व्यवस्था के आधार कतई नहीं बन सकते। इसलिये, संरचनात्मक सिद्धांतों द्वारा एक सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्था की प्रकृति व कार्यविधि निर्धारित होती है। वर्तमान लाभ के वितरण (वितरण की प्रक्रियायें) संरचनात्मक सिद्धान्तों द्वारा नियंत्रित की जाती है। संरचना की अवधारणा द्वारा इन सिद्धान्तों (वितरणों) और उनके समायोगों की पहचान सुलभ होती है। संरचनात्मक परिवर्तन का अभिप्राय संरचनात्मक इकाइयों, अर्थात् प्रस्थितियों में परिवर्तनों या आंशिक बदलावों से है। इस प्रकार, स्तरीकरण का अभिप्राय मात्र श्रेणीकृत सोपान से नहीं है, बल्कि, विभिन्न प्रस्थिति परतों में समानरूपी गुणवत्ता से भी है, लेकिन समरूपता 'स्थिर' व्यवस्थाओं और जाति व्यवस्थाओं में नहीं पाई जा सकती। असमानता और स्तरीकरण एक सीमा तक एक-दूसरे से भिन्न हैं। स्तरीकरण सामान्यतया मानकीय-रचित सिद्धान्तों और मूल्यों पर आधारित है, जबकि असमानता की उत्पत्ति वंशावलियों और आयु-पुंजों जैसी पूर्व-निर्धारित स्थिर व्यवस्थाओं में दिखाई देती है। सामाजिक गैर-बराबरी के स्रोतों को आधार मान कर, स्तरीकरण और असमानता में भेद किया जा सकता है, या दूसरे शब्दों में, आधुनिक औद्योगिक समाजों और पर-औद्योगिक समाजों में अन्तर कर सकते हैं।

### 1.1.2 मार्क्सवादी दृष्टिकोण

सामाजिक स्तरीकरण के विषय में शास्त्रीय मार्क्सवादी दृष्टिकोण, उपरोक्त वर्णित संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक अवधारणाकरण की तुलना में, विश्लेषणात्मक दृष्टि से बिल्कुल भिन्न है। यह कहना सही नहीं होगा कि कार्ल मार्क्स ने प्रौद्योगिकी या आर्थिक निर्धारण के एक साधारण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। मार्क्स ने समाज के बारे में एक वृहद् संरचनात्मक व्याख्या की उद्घोषणा की थी, जिसमें वर्ग वर्ग-संघर्ष और परिवर्तन की अवधारणायें प्रमुख

नोट

थीं। अपने शास्त्रीय ग्रंथ *कैपिटल* में मार्क्स ने लिखा है–"मात्र श्रमशक्ति के स्वामी, पूँजी के मालिक, और भूस्वामी, जिनकी आय के साधन, क्रमशः, वेतन, लाभ और लगान हैं, दूसरे शब्दों में, वेतनभोगी-श्रमिक, पूँजीपति और भूस्वामी उत्पादन की पूँजीवादी पद्धति पर आधारित आधुनिक समाज के तीन दीर्घ वर्ग हैं।" मार्क्स यह भी कहते हैं कि सर्वत्र मध्यम और बीच के प्रस्थिति स्तरों को अलग रखने की रेखायें भी समाप्त हो जाती हैं। पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के विकास में यह प्रवृत्ति अधिक बढ़ जाती है। इसमें श्रम वेतन श्रम में और उत्पादन के साधन पूँजी में रूपान्तरित हो जाते हैं। विरासत सम्पत्ति भी पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में परिवर्तित हो जाती है।

मार्क्स ने दो प्रश्न प्रस्तावित किये हैं–

1. वर्ग में क्या पाया जाता है?
2. कैसे तीन दीर्घ सामाजिक वर्ग श्रमिक, पूँजीपति और भूस्वामी बनते हैं?

यद्यपि, मार्क्स ने सामाजिक स्तरीकरण की एक स्पष्ट अवधारणा प्रस्तुत नहीं की है, फिर भी उसने वर्ग और वर्ग संघर्ष के बारे में आनुभविक सन्दर्भों पर बल दिया है। मार्क्स के अनुसार, इतिहास के प्रत्येक युग में एक प्रमुख उत्पादन विधि रही है और उसके आधार पर वर्ग संरचना बनी है, जिसमें शासक वर्ग और शोषित वर्ग, अर्थात् समाज के दो प्रस्थिति स्तर देखे जा सकते हैं। इन वर्गों के बीच संघर्ष द्वारा मनुष्यों और समूहों के बीच सामाजिक संबंध निर्धारित होते हैं। उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण द्वारा यह और अधिक निर्धारित होता है और इससे लोगों के सम्पूर्ण नैतिक और बौद्धिक जीवन का भी निर्धारण होता है। कानून और सरकार, कला और साहित्य, विज्ञान और दर्शन–ये सब कुल मिलाकर प्रत्यक्ष रूप में, शासक वर्ग के हितों की संतुष्टि करते हैं।

मार्क्सवादी उपागम के आधार पर हम कह सकते हैं कि स्तरीकरण का निर्धारण उत्पादन के सम्बन्धों की व्यवस्था से होता है, और 'प्रस्थिति' का निर्धारण इस व्यवस्था में उत्पादन के साधनों के स्वामित्व और अस्वामित्व के सन्दर्भ में व्यक्ति के स्थान (पद) द्वारा होता है। मार्क्सवादी सिद्धान्त में, हमें 'वर्ग' और 'प्रस्थिति' के बीच या वर्ग सोपान और सामाजिक स्तरीकरण में स्पष्ट अन्तर नहीं दिखाई देता है। मार्क्स ने यह स्पष्ट किया है कि उत्पादन 'सामाजिक व्यक्तियों' द्वारा किया जाता है, और इसको एक विशेष 'सामाजिक संदर्भ' में समझने की आवश्यकता है। सामाजिक स्तरीकरण के सन्दर्भ में, मार्क्सवादी विचार में 'प्रभुत्व' और 'अधीनता' या 'प्रभावकारी श्रेष्ठता-निम्नता सम्बन्ध' पर बल दिया गया है। इस तरह दो वर्ग पूँजीपति और सर्वहारा पाये जाते हैं।

इस प्रकार मार्क्स के अनुसार एक सामाजिक वर्ग व्यक्तियों का कोई भी संकलन है, जो उत्पादन की व्यवस्था में समान कार्य करता है। ऐतिहासिक दृष्टि से, स्वतंत्र मनुष्य और दास, संरक्षक और साधारण व्यक्ति, मालिक और नौकर संघ-मालिक और आम आदमी, या संक्षेप में, शोषक और शोषित द्वारा सामाजिक वर्गों की संरचना होती है। मार्क्स के मतानुसार वर्ग एक सामाजिक वास्तविकता, एक विद्यमान तथ्य है। एक वर्ग अपने अस्तित्व, स्थिति और उद्देश्यों के बारे में विकसित चेतना रखने वाला एक वास्तविक समूह है। मार्क्स के लिये वर्ग एक दर्पण है, जिससे एक विशिष्ट समाज में संबंधों की सम्पूर्णता को देखा जा सकता है।

*टास्क* प्रस्थिति का निर्धारण किस प्रकार होता है?

### 1.1.3 मेक्स वेबर का दृष्टिकोण

सामाजिक स्तरीकरण के बारे में मेक्स वेबर का गहन और तर्कसंगत दृष्टिकोण वर्ग और स्तरीकरण पर मार्क्सवादी अवधारणा की एक आलोचनात्मक टिप्पणी के रूप में समझा जा सकता है। वेबर के सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त की विशिष्टता 'शक्ति' है। वेबर ने समाज की तीन 'व्यवस्थाओं', अर्थात्, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं में, एक स्पष्ट रेखा अंकित की है। वेबर के अनुसार, एक समुदाय में 'वर्ग', 'प्रस्थिति समूह', और

नोट

'पार्टियाँ' (शक्ति समूह), शक्ति-वितरण की प्रघटनायें हैं। इस विभेद के आधार पर वेबर का सिद्धान्त बहुआयामी कहा जाता है। इसके विपरीत मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत एकल-आयामी हैं।

वर्ग के सन्दर्भ में, वेबर के अनुसार, निम्न तीन बिन्दु महत्वपूर्ण हैं–

(अ) बहुत से लोगों के लिये उनके जीवन के अवसरों का एक विशेष कारक (तत्व) समान होता है।

(ब) यह तत्व वस्तुओं के संग्रह और आय के अवसरों के रूप में पूर्णत: आर्थिक हितों के सन्दर्भ में देखा जाता है।

(स) इसके अतिरिक्त, यह तत्व वस्तु/पदार्थ की अवस्थाओं या श्रम बाजारों के अन्तर्गत पाया जाता है।

इन तीन बिन्दुओं को एक साथ रखने पर 'वर्ग स्थिति' इंगित होती है। वर्ग स्थिति का निर्धारण 'बाजार स्थिति से होता है। 'वर्ग' शब्द का अभिप्राय लोगों के किसी भी ऐसे समूह से है जो एक जैसी वर्ग स्थिति में पाया जाता हैं इसलिये, 'सम्पत्ति' और 'सम्पत्ति का अभाव' सब वर्ग परिस्थितियों की आधारभूत रेणियाँ हैं। बाजार-स्थिति में प्रतियोगिता के कारण कुछ खिलाड़ी (कर्ता) बाहर हो जाते हैं, और कुछ को संरक्षण प्राप्त होता है। इस प्रकार अंत में वर्ग-स्थिति बाजार-स्थिति बन जाती है। बाजार में अवसर की प्रकृति ही निर्णयकारी क्षण होती है।

एक समाज में सामाजिक सम्मान का जिस प्रकार से वितरण होता है, उसके द्वारा 'सामाजिक संगठन' (व्यवस्था) को परिभाषित किया जाता है। सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था दोनों राजनीतिक व्यवस्था (संगठन) से जुड़ी हुई हैं। परन्तु, दोनों एक समान नहीं हैं। बहुत हद तक सामाजिक व्यवस्था का निर्धारण आर्थिक व्यवस्था द्वारा होता है और फिर इस पर सामाजिक व्यवस्था की प्रतिक्रिया होती है। यहाँ पर हमें वेबर की वर्ग की व्याख्या में मार्क्सवादी विचार का बुद्धिमत्तापूर्ण उपयोग दिखाई देता है। एच.एच. गर्थ और सी. डब्ल्यू. मिल्स के अनुसार वेबर के कार्य का एक भाग मार्क्स के आर्थिक भौतिकवाद को राजनीतिक और सैनिक भौतिकवाद द्वारा 'घुमा-फिरा कर' प्रस्तुत करने का प्रयास कहा जा सकता है, लेकिन वेबर ने यह स्पष्ट कहा है कि 'प्रस्थिति समूह' और 'वर्ग' एक-दूसरे से अलग हैं। प्रस्थिति समूह केवल बाजार सिद्धान्त से कार्य नहीं करते हैं। वर्गों के विपरीत, प्राय: प्रस्थिति समूह समुदाय होते हैं और सामान्यतया उनका स्वरूप अनिश्चित होता है। 'वर्ग-स्थिति' की तरह ही 'प्रस्थिति-स्थिति' पाई जाती है, और इसमें सम्मान का सामाजिक मापन होता है, जो अधिकतर लोगों को मान्य होता है। यह तथ्य वर्ग-स्थिति से बंधा हुआ हो सकता है, और इसके विपरीत वर्ग-स्थिति, प्रस्थिति-स्थिति से बंधी हुई पाई जा सकती है, लेकिन प्रस्थिति-सम्मान अनिवार्यत: वर्ग-स्थिति से जुड़ा हुआ नहीं हो सकता। प्राय: यह केवल सम्पत्ति के भावों के स्पष्ट विरोध में पाया जाता है। सम्पत्तिवान और सम्पत्तिविहीन दोनों लोग एक ही प्रस्थिति समूह में पाये जा सकते हैं, लेकिन मार्क्सवादी पैराडाइम में पूँजीपति और सर्वहारा के बीच इस प्रकार की समानता की सोच संभव नहीं है। पूँजीपति और सर्वहारा दो विपरीत दिशाओं में हैं, क्योंकि वे वर्ग पर आधारित दुश्मन हैं, और उनकी प्रस्थितियाँ भी उत्पादन व्यवस्था में उनके विरोधी स्थानों के कारण भिन्न होती हैं।

प्रस्थिति सम्मान के सन्दर्भ में, वेबर ने 'प्रस्थिति स्तरीकरण की गारन्टीज' का उपयोग किया है, और यह एक विशिष्ट जीवन-शैली द्वारा प्रदर्शित की जाती है। यहाँ अत्यधिक महत्वपूर्ण बिन्दु यह है कि "सामाजिक मेल-मिलाप पर बंधन रहते हैं और यह आर्थिक प्रस्थिति के अधीन नहीं है। 'प्रस्थिति चक्र' विवाहों द्वारा स्पष्ट दिखाई देता है। प्रस्थिति समूहों को गलियों, पड़ोसों, समूहों, मंदिरों, विशेष स्थानों आदि पर एकत्रित होते हुए देख सकते हैं। 'सजातीय अलगाव' और 'जाति', प्रस्थिति चक्रों के उत्तम उदाहरण हैं। प्रस्थिति स्तरीकरण की व्यवस्था को स्थिरता कानून द्वारा मान्य सामाजिक व्यवस्था और परम्पराओं व संस्कारों दोनों से प्राप्त होती है। प्रस्थिति समूहों से जीवन के 'शैलीकरण' की उत्पत्ति होती है। वस्तुओं का उपभोग और 'जीवन शैलियाँ' प्रस्थिति समूहों के स्तरीकरण के सूचक हैं।

वेबर के सामाजिक स्तरीकरण की सोच में अतिमहत्वपूर्ण तत्व 'शक्ति' हैं वेबर के अनुसार, "शक्ति एक व्यक्ति या बहुत से व्यक्तियों के द्वारा, अन्य लोगों के विरोध के बावजूद भी, जो उस क्रिया में भागीदारी करते हैं, एक सामूहिक कार्य में अपनी इच्छा को पूरा करने का अवसर है।" शक्ति आर्थिक या सामाजिक तौर पर निर्धारित हो सकती है। परनतु शक्ति अपने-आप में आर्थिक और सामाजिक आधार पर निर्धारित शक्ति से भिन्न है। इसके

नोट

विपरीत, आर्थिक शक्ति अन्य आधारों पर विद्यमान शक्ति का परिणाम हो सकती है। एक व्यक्ति अपने आपको आर्थिक रूप से शक्तिशाली बनाने के लिये ही दौड़भाग नहीं करता। शक्ति (आर्थिक शक्ति सहित) केवल शक्ति पाने के लिये महत्वपूर्ण मानी जा सकती हैं अनेक बार शक्ति प्राप्त करने की इच्छा 'सामाजिक सम्मान' द्वारा भी निर्धारित होती है, लेकिन केवल आर्थिक शक्ति या रुपये की नग्न शक्ति, किसी भी तरह सामाजिक सम्मान का आधार नहीं मानी जा सकती है। शक्ति को भी सामाजिक सम्मान का एकमात्र आधार नहीं मान सकते। प्रेरित/प्रदत्त सामाजिक सम्मान या प्रतिष्ठा भी राजनीतिक या आर्थिक शकित का आधार हो सकते हैं। शक्ति और सम्मान दोनों विधि व्यवस्था से आश्वस्त किये जा सकते हैं, परन्तु प्रायः यह उनका प्राथमिक स्रोत नहीं है। विधि व्यवस्था एक अतिरिक्त स्रोत है, और इसलिये इसके द्वारा शक्ति और सम्मान हमेशा प्राप्त नहीं किये जा सकते।

वेबर ने अपने प्रसिद्ध निबंध 'क्लास, स्टेटस, पार्टी' में कहा है कि पार्टियाँ (राजनीतिक दल) शक्ति के मकान में रहती हैं। पार्टियों का कार्य 'सामाजिक शक्ति' की प्राप्ति की ओर अग्रसर रहता है, अर्थात् शक्ति सार्वजनिक कार्य को, बिना उसकी विषयसूची जाने, प्रभावित करती है। शक्ति किसी भी संगठन या एक विशेष सन्दर्भ में विद्यमान रहती है, जहाँ पर कार्यकर्ताओं व भागीदारों में अन्तर्क्रिया पाई जाती है। पार्टियाँ हमेशा समाज में ढलती हैं, एक उद्देश्य को लेकर बढ़ती हैं, चाहे वह निजी कारण से ही हो। 'वर्ग स्थिति' और 'प्रस्थिति स्थिति', 'पार्टियों का निर्धारण कर सकती है, लेकिन पार्टियाँ न तो 'वर्ग' ही हो सकती हैं, और न ही 'प्रस्थिति समूह'। वे आंशिक रूप में 'वर्ग' हैं और आंशिक रूप में 'प्रस्थिति पार्टियाँ' हैं और कभी-कभी वे दोनों ही नहीं हैं। पार्टियाँ समुदाय में प्रभुत्व की संरचना को दिखाती हैं। शक्ति प्राप्ति के साधन, नग्न हिंसा से लेकर धन प्रलोभन द्वारा, मतों के लिये प्रचार, सामाजिक प्रभाव, जोशीले भाषण, सुझाव, भद्दे झूठ आदि हो सकते हैं।

**आलोचनात्मक टिप्पणी**

सामाजिक स्तरीकरण की विभिन्न अवधारणाओं के विवेचन के पश्चात् उन पर अलोचनात्मक टिप्पणी भी आवश्यक है। परन्तु सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त पर लिखे गये अध्याय में अधिक विस्तार से विश्लेषण किया जायेगा। डेरेनडार्फ के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण सामाजिक व्यवहार के नियंत्रण के सकारात्मक और नकारात्मक नियमनों का एक तात्कालिक परिणाम है। नियमन हमेशा 'वितरणीय प्रस्थिति की श्रेणी व्यवस्था' उत्पन्न करते हैं। सब मानव समाजों की विशिष्ट विशेषताओं में, जो उनके लिये आवश्यक है, उनमें स्तरीकरण पाया जाता हैं एक समाज में एक सत्ता संरचना होती, और उसके द्वारा मानकों और नियमनों को स्थापित रखा जाता हैं समाज में 'संस्थाकृत शक्ति' होती है। इस प्रकार स्तरीकरण की उत्पत्ति मानक, नियमन और शक्ति की निकटता से जुड़ी हुई तिकड़ी से होती है। सत्ता के सम्बन्ध सदैव आधिपत्यता और अधीनस्थता के सम्बन्ध होते हैं।

स्तरीकरण के बारे में पार्सन्स, मार्क्स और वेबर की अवधारणाओं की आलोचनात्मक टिप्पणी के रूप में, स्तरीकरण के बारे में डेरेनडार्फ के विचार बहुत ज्ञानवर्धक और तार्किक दृष्टि से गहन है। डेरेनडार्फ के अनुसार, "वर्ग का एक सिद्धान्त जो उत्पादन के साधनों के आधार पर समाज का विभाजन स्वामियों और गैर-स्वामियों में करता है, ऐसे समाज में जैसे ही वैध स्वामियों और गैर-स्वामियों में करता है, ऐसे समाज में जैसे ही वैध स्वामित्व और वास्तविक नियंत्रण में अन्तर किया जाता है तो वर्ग के उस सिद्धान्त का विश्लेषणात्मक महत्व समाप्त हो जाता है।" डेरेनडार्फ का मत है कि समाजों में सत्ता के स्थानों (पदों) के विभेदीय वितरण और उनकी संस्थात्मक व्यवस्थाओं द्वारा सामाजिक वर्ग और उनके संघर्ष उत्पन्न होते हैं। इसलिये, उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण, सत्ता का विशिष्ट उदाहरण है। वर्ग सामाजिक संरचना का तत्व है, जिसका निर्धारण सत्ता और उसके वितरण द्वारा होता है। इस प्रकार, वर्ग सामाजिक संघर्ष समूह है, जो कि अनिवार्यतः किसी संयोजित संगठन में सत्ता की कार्यवाही या गैर-कार्यवाही द्वारा निर्धारित होते हैं।

स्तानिसला ओस्सोवस्की की वर्ग की अवधारणा में सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा की एक आलोचनात्मक टिप्पणी दिखाई देती है। ओस्सोवसकी के अनुसार सामाजिक संरचना में वर्ग अत्यंत व्यापक समूहों के रूप में गठित

नोट

है। वर्ग विभाजन का सम्बन्ध सामाजिक प्रस्थिति से है, जो विशेषाधिकारों और भेदभावों की व्यवस्था से जुड़ा हुआ है और जिसका निर्धारण जैविकीय कसौटियों से नहीं होता है। एक सामाजिक वर्ग में व्यक्तियों की सदस्यता सापेक्षिक दृष्टि से स्थायी रहती है। ओस्सोवस्की ने जो सुझाया है, वह मार्क्स और वेबर के विचारों से बहुत भिन्न है। ओस्सोवस्की का अभिमत ट्यूमिन और पार्सन्स के दृष्टिकोणों के अधिक निकट है। सामाजिक संरचना को समझने के लिये, ओस्सोवस्की ने 'श्रेणी' की योजना का सुझाव दिया है। श्रेणी वैयक्तिक तौर पर अनुमानित और वस्तुपरकता से मापे हुए पद (स्थान) दोनों को इंगित करती है। ओस्सोवस्की ने श्रेणी को सरल और सम्मिश्रित भागों में विभाजित किया है। आय, धन और सम्पत्ति जैसी वस्तुनिष्ठ कसौटियों पर श्रेणी आधारित है। ये वर्ग विभाजन के आधार हैं, और श्रेणी सम्मिश्रित तब बनती है, जब दो या दो से अधिक बेमेल कसौटियाँ शामिल होती हैं।

स्तरीकरण की परम्परागत अवधारणा की एक अन्य आलोचनात्मक टिप्पणी भी उस मत में है, जिसके अनुसार वर्गों को वैयक्तिक कसौटियाँ और स्तरणों को वस्तुनिष्ठ इकाइयाँ माना जाता है। एक सामाजिक वर्ग एक समूह है, क्योंकि वर्ग श्रेणी (स्थान) व हितों और एक समान दृष्टिकोण के द्वारा समूह वर्ग के बारे में सोचता है। रिचार्ड सेन्टर्स के अनुसार, 'वर्ग' एक 'वैयक्तिक तत्व' है, और 'स्तरण' व्यवसाय, आय, शक्ति, जीवन स्तर, शिक्षा, कार्य बुद्धि आदि वस्तुनिष्ठ आयामों से निर्धारित होता है। वर्ग की प्रकृति वैयक्तिक है, क्योंकि वह वर्ग चेतना (अर्थात् समूह की सदस्यता की भावना) पर निर्भर है। एक व्यक्ति का वर्ग उसकी आत्मा (Ego) का हिस्सा है। वर्ग के बारे में ऐसा दृष्टिकोण बिल्कुल अटपटा लगता है, फिर भी इसके द्वारा वर्ग और स्तरीकरण की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का बोध होता है।

सामाजिक स्तरीकरण के विषय में डाहरेडोर्फ के मत से मेल रखता हुआ अभिमत जरहार्ड लेन्सकी ने प्रस्तुत किया है। ट्यूमिन और पार्सन्स के दृष्टिकोणों के विपरीत, लेन्सकी ने सामाजिक स्तरीकरण के परिणामों के बजाय इसके कारणों पर बल दिया है। लेन्सकी का ध्यान प्रतिष्ठा के बजाय शक्ति और विशेषाधिकार पर है। मानव समाजों में सामाजिक स्तरीकरण और विपरित प्रक्रिया में अन्तर नहीं है, दोनों एक समान हैं। स्तरीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा जो मूल्य (पदार्थ, वस्तुयें और साधन) कम उपलब्ध हैं, उनका वितरण एक प्रमुख प्रघटना के रूप में किया जाता है।

सामाजिक स्तरीकरण पर उपलब्ध पर साहित्य पर एक नजर डालने से स्पष्ट होता है कि मानव समाज में तीव्र परिवर्तन के कारण 'प्रक्रिया' का तत्व बहुत प्रबल हो गया है। 'पूँजीपतिकरण', 'निजीकरण', 'असर्वहाराकरण', 'प्रस्थिति बेमेल', 'प्रस्थिति पारदर्शीकरण', 'वर्गविहीनता', 'समतावाद', 'अस्तरीकरण', 'पुनःस्तरीकरण', 'भूमण्डलीकरण' आदि धारणाओं से स्तरीकरण के अवधारणाकरण में और अधिक सामग्री एकत्रित हुई है, लेकिन इससे सामाजिक स्तरीकरण को परिभाषित करने का कार्य बहुत कठिन और जटिल भी हुआ है।

'सामाजिक गतिशीलता' की अवधारणा पर मंथन करने से पूर्व, सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा पर चर्चा को समेटते हुए, हम पुनः उल्लेख करना चाहेंगे कि स्तरीकरण के दो स्वरूप हैं–(*i*) श्रेणीकृत पैमाना या गैर–बराबरी और (*ii*) विभेदीय सामाजिक स्थापना। दीपांकर गुप्ता के अनुसार प्रथम को सोपान कहा जा सकता है और दूसरे में क्षितिजीय विभेद या अन्तर देखे जा सकते हैं। शक्ति, प्रस्थिति और प्रभाव के सोपान हो सकते हैं। जैविकीय या भाषायी अन्तर प्रायः गैर–सोपानीय होते हैं, जबकि आय, धन, शक्ति आदि पर आधारित विभेद श्रेणीकृत होते हैं, और निश्चय ही वे सोपानीय भी होते हैं। चूँकि, सोपान और विभेद (अन्तर) एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं, इसलिये सामाजिक व्यवस्था और गतिशीलता निरन्तर एक ही वास्तविकता के भाग हैं, अर्थात् एक समाज में सामाजिक सम्बन्धों के व्यवस्थापन के भाग हैं। सामाजिक स्तरीकरण की कोई भी व्यवस्था पूर्णतः स्थिर, जड़ व बन्द नहीं हैं और न ही कोई व्यवस्था पूर्णतः गतिमान, परिवर्तनकारी और खुली है। देखने की बात यह है कि एक व्यवस्था कि सीमा/अंश तक बन्द या खुली है।

नोट

*क्या आप जानते हैं* एक स्तरीकरण व्यवस्था की प्रकृति और कार्यप्रणाली पर सामाजिक गतिशीलता निर्भर करती है।

## 1.2 सामाजिक स्तरीकरण की परिभाषा एवं विशेषताएँ (Definition and Characteristics of Social Stratification)

वह प्रक्रिया जिसके द्वारा मनुष्यों और समूहों को प्रस्थिति के पदानुक्रम में न्यूनाधिक स्थायी रूप से श्रेणीबद्ध किया जाता है, स्तरीकरण कहलाती है।[1] **रेमण्ड मुरे** (Raymond W. Murray) के अनुसार, "सामाजिक स्तरीकरण समाज का 'उच्च' और 'निम्न' सामाजिक इकाइयों में सामान्तर विभाजन है।" प्रत्येक समाज पृथक् समूहों में विभक्त है। प्राचीनतम समाजों में भी किसी न किसी प्रकार का सामाजिक स्तरीकरण था। जैसा कि **सोरोकिन** (Sorokin) ने कहा है–"अस्तरीकृत समाज जिसके सदस्यों में वास्तविक समानता हो, केवन एक कल्पना है, जो मानव-इतिहास में कभी साकार नहीं हुई।" कोई भीसमाज अस्तरीकृत नहीं है। स्तरीकरण में समाज के सदस्यों में असमान अधिकारों एवं विशेषाधिकारों का वितरण निहित है। **गिसबर्ट** (Gisbert) के अनुसार, "सामाजिक स्तरीकरण का आशय समाज का विभिन्न ऐसी स्थायी श्रेणियों और समूहों में विभाजन है, जो उच्चता और अधीनता के सम्बन्धों से परस्पर-सम्बद्ध होते हैं।" **टालकाट पारसन्स** के शब्दों में, "सामाजिक स्तरीकरण से अभिप्राय किसी सामाजिक अवस्था में व्यक्तियों का ऊँचे और नीचे के पदानुक्रम में विभाजन है।" **जान एफ. क्यूबर** एवं **विलियम एफ. वेन्फल** (John F. Cuber and Willian F. Kenkel) ने इसे "विभेदक विशेषाधिकार की अधिरोपित श्रेणियों का प्रतिमान" कहा है। ये विशेषाधिकार किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह की बजाय प्रस्थिति का निर्धारण करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप उच्च या निम्न, श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ व्यक्तियों की स्थिति होती है। **कुर्ट बी. मेयर** (Curt B. Mayer) के अनुसार, "सामाजिक स्तरीकरण विभेदीकरण की एक विधि है, जिसमें सामाजिक पदों का वंशानुक्रम निहित होता है,जिसमें इन पदों के स्वामी को एक-दूसरे के संदर्भ में महत्वपूर्ण सामाजिक बातों में श्रेष्ठ, समान या निम्न समझा जाता है।" **लुंडबर्ग** (Lundberg) ने लिखा है, "स्तरीकृत समाज वह है, जिसमें असमानता होती है तथा ऐसे विभेद होते हैं, जो उनके द्वारा निम्न और उच्च आँके जाते हैं।"

सामाजिक स्तरीकरण विभेदीकरण की एक विधि है, जिसमें सामाजिक पदों का वंशानुक्रम निहित होता है,जिसमें इन पदों के स्वामी को एक-दूसरे के संदर्भ में महत्वपूर्ण सामाजिक बातों में श्रेष्ठ, समान या निम्न समझा जाता है।

### 1.2.1 प्रस्थिति की असमानता–सामाजिक स्तरीकरण की विशेषता

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्रस्थिति की असमानता अथवा पद का विभेदीकरण, सामाजिक स्तरीकरण की प्रमुख विशेषता है। यहाँ सामाजिक स्तरीकरण होगा, वहाँ सामाजिक असमानता होगी। यद्यपि मानव ने सदैव ऐसे संसार का स्वप्न देखा है जिसमें प्रस्थिति का भेदभाव न हो और सभी व्यक्ति समान हों। फिर भी, यह कटु सत्य है कि समाज विभिन्न पदों को विभिन्न अधिकार एवं सुविधाएँ प्रदान करता है। कुछ व्यक्तियों और समूहों को उनके द्वारा भोगे जाने वाली सुविधाओं और विशेषाधिकारों के आधार पर दूसरों की अपेक्षा उच्च माना जाता है। उदाहरण के लिए भारत में डाक्टरों या इंजीनियरों को अध्यापकों की अपेक्ष उच्च माना जाता है। श्रेणी के रूप में पूर्वोक्त का उच्च सामाजिक मान है। विभिन्न पदों से संलग्न मान या प्रतिष्ठा सामाजिक व्यवस्था का एक भाग बन जाती है और यही स्तरीकरण हैं

नोट

हाँ, यह स्मरण रखना चाहिए कि विभिन्न पदों से संलग्न मान या मर्यादा का प्रकार अथवा इसकी मात्रा सभी समाजों में समान नहीं होते। और भी, विभिन्न पदों से विभिन्न मानों को संलग्न करने का आधार भी तर्कसंगत होना आवश्यक नहीं। मान के विभेदों के अनेक कारण हो सकते हैं इनमें से कुछ पूर्णतया अंधविश्वासी, अतार्किक तथा विस्मृत एवं पुरातन मत में छिपे हुए कारण हो सकते हैं। संभव है कि किसी पद को धार्मिक आस्था के कारण कल्पित देवी आदेश द्वारा उच्च मान प्रदान किया गया हो।

स्तरीकरण से अंत:क्रिया सीमित हो जाती है, जिसके फलस्वरूप विभिन्न श्रेणियों के बीच अंत:क्रिया की अपेक्षा किसी विशेष श्रेणी के मनुष्यों के बीच अंत:क्रिया अधिक हो जाती है। किसी विशिष्ट स्तरीकरण प्रणाली में, कुछ प्रकार की अंत:क्रिया अन्य की अपेक्षा अधिक प्रतिबन्धित हो सकती है। जीवन–साथी के चुनाव में, व्यवसाय के चुनाव में, मित्रों को बनाने में स्वचालित ट्रैफिक के प्रवाह की अपेक्षा अधिक प्रतिबन्ध हो सकते हैं। मोटर–चालन निर्धारित नियमों के अनुसार न कि अपनी अथवा दूसरे चालकों की सामाजिक प्रस्थिति के अनुसार आगे–पीछे गुजर जाने का रास्ता देता या लेता है।

### 1.2.2 स्तरीकरण का आरम्भ कैसे हुआ?

गम्प लोविज (Gumplowicz), ओपेनहीमर (Oppenheimer) तथा अन्य समाजशास्त्रियों का विचार है कि सामाजिक स्तरीकीण का प्रारम्भ एक समूह द्वारा दूसरे की विजय में ढूँढा जा सकता है। विजयी समूह प्राचीन काल में विजित श्रेणी पर प्रभुत्व स्थापित कर स्वयं को उच्च श्रेणी का समझता था, जिससे विजित श्रेणी निम्न बन गई। सीसल नार्थ (Cesil North) भी एक समूह की दूसरे समूह पर विजय को विशेषाधिकार की उत्पत्ति का कारण मानता है। उसने तो यहाँ तक कहा है कि "जब तक जीवन का शांतिपूर्ण क्रम चलता रहा तब तक कोई तीव्र और स्थायी श्रेणी–विभाजन प्रकट नहीं हुआ।" परन्तु सोरोकिन (Sorokin) इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार, संघर्ष स्तरीकरण को सुग बनाने वाला तो हो सकता है, परन्तु उसे आरम्भ करने वाला नहीं। स्तरीकरण सभी समाजों, शांतिपूर्ण एवं युद्धप्रिय, में पाया जाता है। उसने स्तरीकरण का कारण वंशानुगत मानवीय विभेदों एवं पर्यावरण–सम्बन्धी दशाओं के अन्तरों को माना है।

*नोट्स* प्रजातीय विभेद जो सांस्कृतिक असमानता को लिये होते हैं, भी सामाजिक स्तरीकरण को जन्म देते हैं।

**स्पेंगलर** (Spengler) के अनुसार, स्तरीकरण का आधार अभाव है। अब समाज में प्रकार्यों एवं शक्तियों के संदर्भ में विभिन्न पदों में विभेद किया जाता है एवं इन पदों को विशेष अधिकार एवं विशेषाधिकार प्रदान किये जाते हैं तो अभाव उत्पन्न होता है। इस आधार पर कुछेक पद अधिक वांछनीय बन जाते हैं क्योंकि इन पदों पर विशेष लाभ प्राप्त हैं। अतएव, दुर्लभ विशेषाधिकारों एवं शक्तियों के आबंटन से स्तरीकरण का जन्म होता है।

नि:संदेह प्रस्थिति के अंदर सभी समाजों में पाए जाते हैं। **डेविस** (Davis) ने स्तरीकरण की प्रकार्यात्मक आवश्यकता पर बल दिया है। उसके अनुसार, समाज में ऐसे पुरस्कार होने चाहिए, जिनका प्रयोग वह प्रलोभनों के रूप में कर सके तथा ऐसी विधि होनी चाहिए, जिनसे इनका वितरण पद के अनुसार भिन्न–भिन्न रूप में हो सके। सामाजिक पदों के अनुसार पुरस्कारों का वितरण सामाजिक स्तरीकरण को जन्म देता है। ये पुरस्कार आर्थिक प्रलोभनों, सौंदर्यात्मक प्रलोभनों एवं प्रतीकात्मक के रूप में हो सकते हैं। प्रतीकात्मक प्रलोभन ऐसे प्रलोभन हैं, जो व्यक्ति के मान एवं अहं की वृद्धि करते हैं। पुरस्कारों का वितरण सामाजिक असमानता को जन्म देता है। **डेविस** के अनुसार, सामाजिक असमानता, अचेतन रूप से अपनाई हुई ऐसी विधि है, जिसके द्वारा विभिन्न समाज यह

नोट

विश्वास दिलाते हैं कि सर्वाधिक महत्वपूर्ण पदों पर चेतन रूप से सर्वाधिक योग्य व्यक्तियों को रखा गया है। अतएव प्रत्येक समाज में आवश्यक रूप से संस्थागत असमानता अथवा सामाजिक स्तरीकरण रहना चाहिए।

परन्तु अन्य समाजशास्त्री स्तरीकरण की प्रकार्यात्मक व्याख्या को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार, स्तरीकरण व्यवस्था इसलिये उपस्थित है क्योंकि सर्वोच्च स्तर पर वासी समाज के व्यक्ति इस व्यवस्था को बनाये रखना चाहते हैं। स्तरीकरण को समझने की कुंजी प्रकार्यात्मक आवश्यकता नहीं है अपितु सत्ता है। मुखिया, राजा, कुलीन अथवा उच्च वर्ग सभी का अपने पद को सुरक्षित बनाये रखने, एवं दूसरे व्यक्तियों को अपने समू से बाहर रखने में समान हित है ताकि सत्ता सम्बन्धों को नियंत्रित करने में उनका आधिपत्य बना रहे। अतएव, प्रकार्यात्मक आवश्यकता दिखाई देने वाला तत्व वास्तव में अभिजन नियंत्रण का तत्व है।

सामाजिक स्तरीकरण समाज में वर्ग-विभाजन का रूप धारण करता है। इतिहास के दौर में विभिन्न समयों पर विभिन्न सामाजिक वर्ग वर्तमान रहे हैं। इस प्रकार, दास एवं स्वामी, सामन्त एवं कृषक, पूँजीपति एवं श्रमिक प्रमुख वर्ग हुये हैं। भारत में वर्ग ने जाति का रूप धारण किया है।

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–**

1. किसके अनुसार वर्ग, प्रस्थिति और पार्टी समाज की तीन महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं-

   (क) मार्क्स के (ख) मैक्स वेबर के (ग) पार्सन्स के (घ) इनमें से कोई नहीं।

2. किसके अनुसार स्तरीकरण प्रक्रिया और प्रस्थितियों की स्थिति दोनों है-

   (क) स्मिथ के (ख) पार्सन्स के (ग) मार्क्स के (घ) इनमें से कोई नहीं।

3. किसने समाज के बारे में एक वृहद संरचनात्मक व्याख्या की उद्घोषणा की थी, जिसमें वर्ग, वर्ग-संघर्ष और परिवर्तन की अवधारणायें प्रमुख थीं–

   (क) मार्क्स ने (ख) स्मिथ ने (ग) वेबर ने (घ) इनमें से कोई नहीं।

4. 'क्लास, स्टेट्स, पार्टी' यह प्रसिद्ध निबन्ध किसका है–

   (क) स्मिथ का (ख) वेबर का (ग) मार्क्स का (घ) इनमें से कोई नहीं।

5. किसके अनुसार, "सामाजिक स्तरीकरण समाज का 'उच्च और निम्न' सामाजिक इकाइयों में समान्तर विभाजन है"–

   (क) रेमण्ड मुरे के (ख) सोरोकिन के (ग) गिसबर्ट के (घ) इनमें से कोई नहीं।

6. वह प्रक्रिया जिसके द्वारा मनुष्यों और समूहों को प्रस्थिति के पदानुक्रम में न्यूनाधिक स्थायी रूप से श्रेणीबद्ध किया जाता है वह कहलाती है–

   (क) सामाजिकरण (ख) स्तरीकरण

   (ग) शहरीकरण (घ) इनमें से कोई नहीं।

7. सामाजिक स्तरीकरण समाज में किसका रूप धारण करता है–

   (क) जाति-विभाजन (ख) प्रजाति-विभाजन

   (ग) वर्ग-विभाजन (घ) इनमें से कोई नहीं।

नोट

## 1.3 सारांश (Summary)

- सामाजिक स्तरीकरण एक सार्वभौमिक प्रघटना है। कोई भी मानव समाज इससे वंचित नहीं है, यद्यपि स्तरीकरण विभिन्न रूपों और अंशों में पाया जाता है। किसी भी समाज में, व्यक्ति, पद और समूह विशिष्ट मानकों और कसौटियों के आधार पर विभेदीकृत किये जाते हैं।
- सामाजिक स्तरीकरण के विषय में शास्त्रीय मार्क्सवादी दृष्टिकोण, उपरोक्त वर्णित संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक अवधारणाकरण की तुलना में, विश्लेषणात्मक दृष्टि से बिल्कुल भिन्न है। यह कहना सही नहीं होगा कि कार्ल मार्क्स ने प्रौद्योगिकी या आर्थिक निर्धारण के एक साधारण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। मार्क्स ने समाज के बारे में एक वृहद् संरचनात्मक व्याख्या की उद्घोषणा की थी, जिसमं वर्ग-संघर्ष और परिवर्तन की अवधारणायें प्रमुख थीं।
- यद्यपि, मार्क्स ने सामाजिक स्तरीकरण की एक स्पष्ट अवधारणा प्रस्तुत नहीं की है, फिर भी उसने वर्ग और वर्ग संघर्ष के बारे में आनुभविक सन्दर्भों पर बल दिया है। मार्क्स के अनुसार, इतिहास के प्रत्येक युग में एक प्रमुख उत्पादन विधि रही है और उसके आधार पर वर्ग संरचना बनी है, जिसमें शासक वर्ग और शोषित वर्ग, अर्थात् समाज के दो प्रस्थिति स्तर देखे जा सकते हैं।
- सामाजिक स्तरीकरण पर उपलब्ध पर साहित्य पर एक नजर डालने से स्पष्ट होता है कि मानव समाज में तीव्र परिवर्तन के कारण 'प्रक्रिया' का तत्व बहुत प्रबल हो गया है। 'पूँजीपतिकरण', 'निजीकरण', 'असर्वहाराकरण', 'प्रस्थिति बेमेल', 'प्रस्रिूथति पारदर्शीकरण', 'वर्गविहीनता', 'समतावाद', 'अस्तरीकरण', 'पुनःस्तरीकरण', 'भूमण्डलीकरण' आदि धारणाओं से स्तरीकरण के अवधारणाकरण में और अधिक सामग्री एकत्रित हुई है, लेकिन इससे सामाजिक स्तरीकरण को परिभाषित करने का कार्य बहुत कठिन और जटिल भी हुआ है।
- वह प्रक्रिया जिसके द्वारा मनुष्यों और समूहों को प्रस्थिति के पदानुक्रम में न्यूनाधिक स्थायी रूप से श्रेणीबद्ध किया जाता है, स्तरीकरण कहलाती है।[1] **रेमण्ड मुरे** (Raymond W. Murray) के अनुसार, "सामाजिक स्तरीकरण समाज का 'उच्च' और 'निम्न' सामाजिक इकाइयों में सामान्तर विभाजन है।" प्रत्येक समाज पृथक् समूहों में विभक्त है। प्राचीनतम समाजों में भी किसी न किसी प्रकार का सामाजिक स्तरीकरण था।

## 1.4 शब्दकोश (Keywords)

- **मानक** : दृश्यों व्यक्तियों आदि का ऐसा चित्रण जिसमें पारस्परिक अंतर बिल्कुल उसी रूप में दिखाई पड़ता हो जैसा वह साधारण आँखों से दिखाई पड़ता हो।
- **उपागम** : पास आना, घटित होना।

## 1.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सामाजिक स्तरीकरण पर प्रकाश डालिए।
2. सामाजिक स्तरीकरण की परिभाषा दीजिए तथा इसके संरचनात्मक प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण का विवेचन कीजिए।
3. सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणाओं को स्पष्ट कीजिए।
4. सामाजिक स्तरीकरण किसे कहते हैं? इसकी विशेषताएँ बताइए।

नोट

**उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)**

**1.** 1. (ख) 2. (क) 3. (क) 4. (ख)

5. (क) 6. (ख) 7. (ग)

## 1.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. दीपांकर गुप्ता; 2009, "*सोशल स्ट्रैटिकफिकेशन*", इन वीना दास हैडबुक ऑफ इंडियन सोशियोलॉजी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।
2. सोरोकिन पी. ए.; 1964, *सोशल एंड काल्चर मोबीलिटी*, द फ्री प्रेस ऑफ ग्लेनको, लंदन।

नोट

# इकाई–2: सामाजिक स्तरीकरण संबंधित आधारभूत अवधारणाएँ (Basic Concepts Relating to Social Stratification)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objective)

प्रस्तावना (Introduction)

2.1 सामाजिक स्तरीकरण संबंधित आधारभूत अवधारणाएँ (Basic Concepts Relating to Social Stratification)

2.2 असमानता (Inequality)

2.3 सोपान (Hierarchy)

2.4 सामाजिक अलगाव (Social Exclusion)

2.5 निर्धनता और वंचन (Poverty and Deprivation)

2.6 सारांश (Summary)

2.7 शब्दकोश (Keywords)

2.8 अभ्यास–प्रश्न (Review Questions)

2.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- स्तरीकरण की आधारभूत अवधारणओं की व्याख्या करने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

स्तरीकरण की कोई भी व्यवस्था हमेशा के लिये जड़/स्थिर नहीं है। यहाँ तक जाति, प्रजाति, सजातीयता और सम्पदा पर आधारित स्तरीकरण की कठोर व्यवस्थायें बदलती दिखाई दे रही हैं। आजकल सामाजिक स्तरीकरण के मानकों व कसौटियों में लचीलापन प्रगति, विकास, समानता और सामाजिक न्याय का द्योतक समझा जाता है, लेकिन यह भी तथ्य है कि स्तरीकरण की पुरानी व्यवस्थाओं को सामाजिक श्रेणीकरण के नये मानकों और कसौटियों द्वारा परिवर्तित किया और हटाया जा रहा है। इस प्रकार, सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन में विचारधारा, संरचना और प्रक्रिया को असमानता के मापदंड और उसके परिवर्तन समझने के लिये आवश्यक है। विचारधारा का अभिप्राय, मूल्यों, मानकों और कसौटियों से है, जिनके आधार पर इकाइयाँ उच्च और निम्न, श्रेष्ठ और कमजोर के रूप में श्रेणीकृत की जाती हैं। संरचना सभी श्रेणीकृत इकाइयों को इंगित करती है और प्रक्रिया सामाजिक स्तरीकरण की विचारधारा तथा संरचना में घटित परिवर्तनों को सूचित करती है।

नोट

## 2.1 सामाजिक स्तरीकरण संबंधित आधारभूत अवधारणाएँ (Basic Concepts Relating to Social Stratification)

### समानता

मुख्य प्रश्न है–क्या समानता असमानता के विपरीत है? अन्य प्रश्न इस प्रकार है–क्या समानता भ्रामक है? क्या समानता केवल कानून में ही है? क्या वैयक्तिक अधिकारों और सामाजिक समानता में अन्तर्निहित विरोधाभास है? क्या समानता अधीनस्थ/वंचित समूहों के लिये हिंसक या क्रांतिकारी क्रिया का परिणाम है?

एक मत यह है कि अपने माता-पिता की भिन्न पृष्ठभूमियों और सांस्कृतिक विरासत के उपरांत भी, कम से कम जन्म के समय, सब मनुष्य समान पैदा होते हैं। दूसरा मत यह है कि प्रजातांत्रिक समाजों में अवसर और परिणाम–कार्य की दशाओं आदि की समानताओं के बारे में उद्घोषणा की जाती है। फिर भी, 'समानता' की अवधारणा के अलग-अलग अर्थों और परिभाषाओं को समझना आवश्यक है। 'समानता' और 'असमानता' की अवधारणायें आधुनिक समाज विज्ञान और पूँजीवादी व्यवस्था के लिये आधारभूत हैं। राजनीतिक तौर पर, समानता एक सच्ची/सही भावना हो सकती है, परन्तु आर्थिक दृष्टि से समाज के संसाधनों तक विभेदीकृत पहुँच एक कड़वी वास्तविकता है। ऐसी असमानता को एक आवश्यक और अनिवार्य प्रघटना के रूप में विवेकीकृत और न्यायोचित करार दिया जाता है। जीवन के हर क्षेत्र में समानता और असमानता के बीच दरार बहुत स्पष्ट पाई जाती है, फिर भी दोनों निरंकुश नहीं हैं। समानता और असमानता सापेक्षिक प्रघटक हैं और सामाजिक परिवर्तन के संरचनात्मक व सांस्कृतिक दोनों कारकों से एक समयावधि में उनमें दर्शनीय परिवर्तन होता है। समानता के लिये सदैव लालसा रहती है और कभी-कभी इस प्रक्रिया में निरंतर असमानताओं के लुप्त होने या कमजोर पड़ने के साथ-साथ नये प्रकार की असमानतायें भी उभर सकती हैं।

जब प्रस्थिति और जन्म पर आधारित विशेषाधिकारों में गिरावट आती है तब समानता और नागरिकता में प्रगति होती है। लेकिन सही व सच्ची समानता तभी प्राप्त की जा सकती है जब बाजार, निजी सम्पत्ति, पारिवारिक विरासत और वर्ग व्यवस्था जैसी पूँजीवादी संस्थाओं को समाप्त किया जाता है। व्यक्तिवाद के पुनर्जीवन, प्रतियोगिता और उपलब्धि जैसे प्रमुख मूल्यों द्वारा जीवन में गुणवत्ता को प्रोत्साहन मिलना चाहिये, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। राज्य के समर्थन और कमजोर व निर्धन के लिये कल्याणकारी उपायों के बिना कोई भी समाज अपने नागरिकों में समानता नहीं ला सकता। समतावादी सम्बन्धों की व्यवस्था के रूप में समानता के कारण एक समाज में स्थिरता या प्रस्थिति निरंतरता विचलित होती है। ब्रायन एस. टर्नर के अनुसार समानता तब ही आश्वस्त की जा सकती है, जब समाज में राजनीतिक स्थिरता और समतावादी विचारधारा व्याप्त रहती है। समानता की प्रकृति, सामाजिक स्थिरता की अवस्थायें, विचारधारा और सामाजिक आन्दोलनों द्वारा समाज में अधिक समानता और समरूपता आ सकती है।

### 2.1.1 मूल्य व अवधारणा के रूप में समानता

टर्नर ने कहा है कि "मूलत: मैं समानता को वास्तव में एक आधुनिक और प्रगतिशील मूल्य और एक सिद्धांत समझता हूँ।" आज, असमानता को प्रदत्त समझकर स्वीकार नहीं किया जाता है और न ही मानव जाति को स्वाभाविक परिस्थिति समझा जाता है। असमानता न केवल एक आधुनिक मूल्य है, इसको आधुनिकता के पैमाने के रूप में और आधुनिकीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया के पैमाने के रूप में काम में लेते हैं। समानता राष्ट्र-राज्य के विकास, राजनीतिक समतावाद और सामाजिक न्याय के साथ जुड़ी हुई है।

समानता ने, एक मूल्य और एक सिद्धांत दोनों के रूप में, 'स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व' के नारे में स्पष्ट रूप धारण किया, जो 1789 की फ्रांसीसी क्राँति में दिया गया था। फ्रांसीसी क्रांति में सामाजिक असमानता को एक अनिवार्य और स्वाभाविक प्रघटना के रूप में तिरस्कृत किया गया था। 1765 की अमेरिकन क्राँति ने भी सर्वव्यापी सामाजिक भागीदारी को बढ़ावा देकर समानता के विचार और अभ्यास को प्रोत्साहित किया। 2009 में बराक ओबामा का अमेरिका के राष्ट्रपति के लिये चुनाव समानता की उपलब्धि में सजातीय/प्रजातीय कारण (बाधा) को निश्चित

नोट

रूप से एक झटका है। एक अश्वेत अफ्रीकी मुसलमान की पृष्ठभूमि के होते हुए अमेरिका के राष्ट्रपति पद पर ओबामा का आसीन होना अमेरिकी समाज के इतिहास में ही एक सुखद उद्‌भुत घटना नहीं है, बल्कि प्रजातन्त्र और रंगभेद-विरोधी इतिहास में भी मील का एक पत्थर है।

समानता के अन्तर्गत, सामाजिक प्रस्थिति और सोपान पर आधारित परम्परात्मक विभेदों को स्वीकार नहीं किया जाता है। समानता के सिद्धान्त में, वैयक्तिक अन्तरों और स्वतंत्रताओं को भी धमिल किया जाता है। वास्तविक समानता, जाति-आधारित सोपान और सामन्तवाद के साथ अस्तित्व में नहीं रह सकती। प्रदत्त विभेदों या जन्म-आधारित कसौटियों द्वारा वास्तविक जीवन में अवसरों और पहुँचों को निर्धारित नहीं किया जा सकता। समानता का ऐसा सिद्धान्त और प्रतिमान, क्राँतिकारी आन्दोलनों और व्यावहारिक समतावाद द्वारा ही उभर सकता है। सच्ची समानता व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सांस्कृतिक विशेषता के विरुद्ध नहीं हो सकती। टर्नर का मत है कि "समानता का आधुनिक विचार नागरिकता के उद्‌भव से परित्याग कर नहीं देखा जा सकता"। आर.एच. तावने और टी.एच.मार्शल के साथ सहमति प्रकट करते हुए टर्नर ने समताकारी नागरिकता को तीन प्रमुख आयामों के आधार पर अवधारणित किया है–(*i*) कानून में समानता, वैयक्तिक स्वतंत्रता, (*ii*) राजनीतिक नागरिकता और (*iii*) सामाजिक नागरिकता। समानता की प्राप्ति के प्रयत्नों में राजनीतिक संघर्ष एक आवश्यक तत्व है। उदाहरण के लिये, प्रजातांत्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं के उभरने के कारण हैं–(*i*) स्वैच्छाचारी (मनमाने) नियमों पर नियंत्रण, (*ii*) मनमाने कानूनों के स्थान पर न्यायपरक और औचित्यपूर्ण नियमों की स्थापना, और, (*iii*) नियम निर्माण में वंचित जनसंख्या को भागीदारी देना। प्रजातांत्रिक व्यवस्थायें राजनीतिक निरंकुशवाद और क्रूरवाद के नष्ट होने पर उभरी है। कार्ल मार्क्स ने एकाधिकारी वर्ग चेतना की बात कही है।

### 2.1.2 समानता और सामाजिक न्याय

जोन रॉल्स ने अपनी सुविख्यात पुस्तक–*ए थ्यौरी ऑफ जस्टिस* (संशोधित) में 'समानता' के प्रश्न को मात्र राजनीतिक अवधारण के बजाय सामाजिक न्याय की दृष्टि से समझने का प्रयास किया है। रॉल्स ने समानता को समाज की मूलभूत संरचना से जोड़ा है, जिसके द्वारा अधिकारों और कर्तव्यों का आवंटन होता है तथा सामाजिक व आर्थिक लाभों का वितरण भी नियंत्रित होता है।

रॉल्स का मत इस प्रकार है–

1. प्रत्येक व्यक्ति को समान आधारभूत स्वतंत्रताओं को अति-वृहद् योजना के तहत समान अधिकार हों, जो अन्य लोगों के लिये स्वतंत्रताओं की योजना से तुलना योग्य हों।
2. सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को ऐसे व्यवस्थित करना चाहिय, ताकि वे दोनों (क) प्रत्येक व्यक्ति के लिये ठीक ढंग से अपेक्षित हों, और (ख) सब लोगों की प्रस्थितियों और पदों से जुड़े हुए हों।

वास्तव में, जोन रॉल्स द्वारा प्रस्तुत के ये दो सिद्धान्त हैं। प्रथम सिद्धान्त के सन्दर्भ में रॉल्स सोचते हैं कि "तमाम सामाजिक मूल्य-स्वतंत्रता और अवसर, आय और दौलत, और आत्म-सम्मान के सामाजिक आधार – सभी समान रूप से वितरित होने चाहिए, जब तक किसी भी तरह का असमान वितरण या इन सभी तरह के मूल्यों का असमान वितरण हर व्यक्ति के लाभ का न हो।" दूसरे सिद्धान्त को रॉल्स ने स्पष्ट रूप में इस प्रकार रेखांकित किया है–

**प्रत्येक व्यक्ति का लाभ**

| समान रूप से खुला | क्षमता का सिद्धान्त | विभेद का सिद्धान्त |
|---|---|---|
| समानता कैरियर के रूप में | स्वाभाविक स्वतंत्रता की | स्वाभाविक |
| सबके लिये खुली व्यवस्था | व्यवस्था | कुलीनता |
| समानता न्याय संगत | उदार समानता | प्रजातांत्रिक |
| अवसर के रूप में समानता | | समानता |

नोट

वास्तविक अर्थ में, समानता को आश्वस्त करने हेतु, सामाजिक व्यवस्था पर आधारभूत संरचनात्मक शर्तें थोपी जा सकती हैं। उदाहरण के लिये, राजनीतिक और कानूनी संस्थाओं के ढाँचे के अन्तर्गत, स्वतंत्र बाजार की व्यवस्थायें अस्तित्व में रह सकती हैं। ऐसे ढाँचे से सम्पत्ति और सम्पदा के अत्यधिक संचय को नियंत्रित किया जाता है। और सब लोगों को शिक्षा के अवसर प्रदान किये जा सकते हैं। रॉल्स का मत है कि "सांस्कृतिक ज्ञान और कौशलता प्राप्त करने के अवसर एक व्यक्ति की वर्ग-प्रस्थिति (पद-स्थान) पर निर्भर नहीं होने चाहिए, और इसी तरह स्कूल व्यवस्था चाहे सार्वजनिक हो या निजी, वर्ग की बाधाओं को मिटाने के लिये, आयोजित की जानी चाहिये।" रॉल्स का सरोकार मुख्यत: 'प्रजातांत्रिक समानता' से है। स्वाभाविक कुलीनता के अस्तित्व का अर्थ यह है कि औपचारिक समानता के अवसर के लिये आवश्यकता से अधिक, जो समाज के निर्धन वर्गों की भलाई के लिये चाहिये, उन सामाजिक उपायों को नियंत्रित नहीं किया गया है।

रॉल्स के अनुसार, प्रजातांत्रिक समानता और विभेद का सिद्धान्त एक साथ और सह-अस्तित्व में पाये जाते हैं। आधारभूत संरचना की सामाजिक और आर्थिक असमानताआं की समझ द्वारा विभेद का सिद्धान्त क्षम्यता के सिद्धान्त की अनिश्चितता को हटाता है। समानता का अभिप्राय समाज के सबसे कम लाभान्वित सदस्यों की आकांक्षाओं (आशाओं) में सुधार से है, न कि बेहतर स्थित सदस्यों की उम्मीदों को उच्चतर करने से। आय के वितरण और समाज के संसाधनों तक पहुँच द्वारा, बेहतर और अलाभान्वित सदस्यों और उनकी आशाओं को ध्यान में रखते हुए, विभेद और क्षम्यता के सिद्धान्तों को समझ सकते हैं। विभेद के सिद्धान्त द्वारा, व्यावहारिक तौर पर, प्रत्येक व्यक्ति को लाभ हो सकता है। उदाहरण के लिये, जैसा कि पोलैण्ड के बारे में एस. ओस्सोवस्की ने स्पष्ट किया है कि कार्यात्मक श्रेणियाँ विभेद की आवश्यकता पर आधारित हैं, न कि समाज की सोपानीय व्यवस्था के आधार पर।

रॉल्स समानता को न्याय की समतावादी अवधारणा समझते हैं। विभेद का सिद्धान्त, एक अनिवार्य प्रघटन होने के कारण समाज के सुयोग्य सदस्यों के अहितों को दूर करता है। स्वाभाविक बुद्धिमत्ताओं और सामाजिक परिस्थिति के उपायों के अन्यायिक वितरण के कारण असमानतायें पाई जाती हैं। रॉल्स यह भी कहते हैं कि "स्वाभाविक वितरण न तो न्यायोचित है और न ही अन्यायोचित है। ये मात्र प्राकृतिक तथ्य है। जिस तरीके से इन तथ्यों को संस्थायें निबटाती हैं, वह न्यायोचित और अन्यायोचित है।" एक जाति समाज में वितरण व्यवस्था का प्रदत्त आधार अन्योचित है, क्योंकि व्यवस्था बन्द हो जाती है। व्यवस्थाओं की निरंकुशता (मनमानापन) से कोई भी पहलू अन्यायोचित और असमताकारी बनता है।

रॉल्स आगे कहते हैं कि समानताओं का आधार न्याय में रहता है। रॉल्स के अनुसार, समानता की अवधारणा तीन स्तरों पर लागू होती है। ये हैं–(*i*) संस्थाओं को सार्वजनिक व्यवस्थाओं के रूप में नियमों को कार्यान्वित करना; (*ii*) संस्थाओं की वास्तविक संरचना के स्तर पर समानता को अपनाना; और (*iii*) समान न्याय के लिये नैतिक व्यक्तियों को अधिकार दिलाना।

इस प्रकार समानता आवश्यक रूप में नियमित न्याय है। सब व्यक्तियों को समान मूलभूत अधिकार देने की आवश्यकता है। जो लोग अपनी भलाई और न्याय की भावना की अवधारणा रखने योग्य हैं, जिनमें न्याय के सिद्धान्तों के लिये तीव्र इच्छा और कार्य करने की जिज्ञासा है, उनको उनकी स्वयं की और समाज की भलाई के लिये समानता दी जानी चाहिये। प्रथम बिन्दु द्वितीय से परिभाषित होता है, और द्वितीय बिन्दु प्रथम से परिभाषित होता है। समाज में एक संतुलनकारी यंत्र (उपाय) है, जो अवसर की समता पर आधारित है।

सम्पूर्ण समानता, न्याय और अवसर की समता के विचार मात्र आदर्श हैं। फिर भी मानव इतिहास दर्शाता है कि सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को मिटाने या कमजोर करने के लिये सदैव प्रयास किये गये हैं ताकि एक समाज के लोगों में अधिकतम सम्भव सीमा तक समानता प्राप्त की जा सके। जैसे असमानता निरन्तर रहती है, वैसे ही समाज में समानता रखने की तीव्र इच्छा रहती है। दोनों सापेक्षिक और विडम्बनाकारी प्रघटनायें हैं।

भारतीय संदर्भ में, विशेषत:, शिक्षण संस्थाओं और सरकारी सेवाओं (नौकरियों) में आरक्षण नीति के बारे में, मार्क गैलान्तर ने औपचारिक बनाम वास्तविक समानता के बारे में लम्बवत् और क्षितिजीय दृष्टिकोणों का उल्लेख किया

नोट

है। वास्तव में, मार्क गैलान्तर ने समान अवसर और समानता के विभिन्न अर्थों की चर्चा की है। तीन श्रेष्ठतम सिद्धान्त, अर्थात्, समानता, न्याय और उचित अवसर, अधिकतर मानव समाजों में एक समान हैं।

## 2.2 असमानता (Inequality)

जाँ जैक रूसो ने 'मनुष्यों में असमानता की उत्पत्ति क्या है और क्या यह प्राकृतिक नियम द्वारा अधिकृत है?' नामक एक निबंध लिखा था। एक व्यथित विद्रोही रूसो की सोच में असमानता एक आधारभूत प्रश्न था। उसने मनुष्य की 'मौलिक प्रकृति' और 'सामाजिक उत्पत्ति' की जुड़वाँ समस्याओं पर गम्भीरता से विचार किया। सभ्यता के भ्रष्टकाारी प्रभाव को रूसो एक कारण मानते थे। रूसो ने कहा है कि "सामाजिक संरचना ने मानव प्रकृति (स्वभाव), हमारी जीवन पद्धति, हमारी प्रसन्नता की खोज को पथभ्रष्ट किया है।" "यह प्रश्न कि असमानता कैसे आयी, उसके लिये यह जानना होगा कि समाज कैसे आया, क्योंकि असमानता एक सामाजिक संबंध हैं।" रूसो के अनुसार, समाज का होना मानव इच्छा का एक कृत्य है, और यह सम्भव है कि 'प्राकृतिक मनुष्य', एकान्त में निवास (कम से कम सैद्धान्तिक दृष्टि से) कर सकता है। लेकिन रूसो की कृति–*डिसकोर्स ऑन इनइक्वालिटी* में कहा गया है–"ऐतिहासिक या सामाजिक मनुष्य, सामाजिक जीवन की अवस्थाओं के कारण, अवश्य ही बुराई है–अर्थात्, वह स्वार्थी–कार्यों में जुटने पर बाध्य होता है, जिससे दूसरों को चोट पहुँचती है। समाज के अधिक सभ्य बनने पर, मनुष्य अधिक बुरा बनेगा।" रूसो यह भी कहते हैं कि 'प्राकृतिक मनुष्य' प्रसन्न व स्थिर है। "प्राकृतिक मनुष्य पर समाज को थोपने के कारण, संघर्ष, असमानता, भ्रमित मूल्य, और दरिद्रता की स्थिति उत्पन्न हुई है।"

ऐसी उत्पत्ति तार्किक दृष्टि से दृढ़ और दार्शनिक दृष्टि से भरोसेमंद दिखाई देती है, परन्तु वास्तविक सामाजिक जीवन में अवास्तविक प्रतीत होती है। वर्तमान में प्राय: सामाजिक असमानता को वितरणीय न्याय और लोगों के बीच उच्च और निम्न स्तरणों पर आधारित सामाजिक संबंधों का मसला माना जाता है। आय, दौलत, व्यवसाय, शिक्षा, शक्ति, जीवन-शैली, आदि द्वारा वितरणीय न्याय या अन्याय की प्रकृति और प्रक्रिया का निर्धारण होता है। इन आधारों से उभरे विभेदीकरण के आधार पर एक समाज के लोगों में सामाजिक सम्बन्ध निर्धारित होते हैं। इस प्रकार जन्म, सजातीयता, प्रजाति, और उपरोक्त वर्णित कसौटियों सहित प्रस्थिति निर्धारण के अनेक तरीके हो सकते हैं। स्तरीकरण के अनेक तरीके हो सकते हैं।

*नोट्स* स्तरीकरण के एक विशिष्ट प्रतिमान द्वारा एक समाज की प्रकृति व कार्य-प्रणाली निर्धारित होती है।

### 2.2.1 असमानता क्यों?

राल्फ डेरेनडार्फ ने कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं। ये प्रश्न हैं–मनुष्यों में असमानता क्यों पाई जाती है? इसके कारण क्या हैं? क्या यह कम की जा सकती है या पूर्णत: समाप्त की जा सकती है? या हमें असमानता को मानव समाज की संरचना में एक अनिवार्य तत्व मानकर स्वीकार करना चाहिये?

असमानता के इतिहास का वर्णन करते हुए, डेरेनडार्फ का मत है कि 18वीं सदी में असमानता की उत्पत्ति प्रमुख बिन्दु था, 19वीं सदी में वर्गों के सामाजिक निर्माण पर बहस होती थी, और आज (20वीं और 21वीं सदियों में) हम सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त पर चर्चा कर रहे हैं। मूल समस्या बनी हुई है, परन्तु इसके लिये एक नई सोच ढूँढ़ी जा सकती है। डेरेनडार्फ का निम्न कथन महत्त्वपूर्ण है–

"खराट चालक और नलफिटर, सेना का जनरल और सार्जेन्ट, कुलीन बालक और परिश्रमी बालक, बुद्धिमान और अबुद्धिमान, ये सभी असमान जोड़े हैं और कम से कम दो सन्दर्भों में इनमें अन्तर करना होगा। प्रथम, हमें प्राकृतिक योग्यता और सामाजिक पद-स्थानों पर आधारित असमानताओं के बीच अन्तर करना चाहिये और द्वितीय हमें उन असमानताओं में अन्तर करना चाहिय जिनमें मूल्यांकनपरक श्रेणी–व्यवस्था नहीं होती है और जिनमें होती है।"

नोट

इन दो उपागमों के मिश्रण के आधार पर, डेरेनडार्फ ने चार प्रकार की असमानता का उल्लेख किया है। व्यक्ति के सन्दर्भ में, ये हैं–(अ) शारीरिक लक्षणों, चरित्र और हितों में प्राकृतिक अन्तरों का प्रकार, और (ब) बुद्धि, कौशल और ताकत में श्रेणी के प्राकृतिक अन्तर। इसी प्रकार, समाज के सन्दर्भ में, ये हैं–(स) सामान्यतया समान श्रेणी के पद-स्थानों का सामाजिक विभेदीकरण और (द) प्रसिद्धि व दौलत पर आधारित सामाजिक विभेदीकरण, जिसको सामाजिक प्रस्थिति की श्रेणी–व्यवस्था द्वारा दिखाया जाता है।

रूसो के प्राकृतिक और सामाजिक असमानताओं के बीच भेद और प्राकृतिक असमानताओं को मानते हुए, डेरेनडार्फ ने मुख्यत: स्तरीकरण जैसी असमानताओं में रुचि प्रकट की है। असमानतायें वितरणीय और गैर-वितरणीय दोनों होती हैं। दौलत और प्रतिष्ठा स्तरीकरण के क्षेत्र से संबंधित होने के कारण वितरणीय हैं। सम्पत्ति और करिश्मा गैर-वितरणीय हैं। 'वितरणीय' और 'गैर-वितरणीय' को 'अकर्मक' और 'सकर्मक' असमानतायें भी कहा जा सकता है। रूसो की तरह अरस्तु भी सामाजिक स्तरीकरण (असमानता) की उत्पत्ति के बारे में जानना चाहते थे, लेकिन दोनों में आज हम जो सामाजिक स्तरीकरण की समझ के लिये चाहते हैं, उसकी कमी थी। प्राकृतिक समानता के बारे में अरस्तु के विचार पर टिप्पणी करते हुए डेरेनडार्फ ने कहा है–"यदि प्रकृति द्वारा मनुष्य बराबर हैं, तब प्रकृति या ईश्वर द्वारा सामाजिक असमानतायें स्थापित नहीं की जा सकतीं, और यदि वे इस तरह से स्थापित नहीं हैं, तब वे परिवर्तनशील हैं, और आज का अति-सुविधा प्राप्त जन आने वाले कल का बहिष्कृत व्यक्ति हो सकता है, यह भी सम्भव हो सकता है कि असमानतायें समाप्त हो जायें।" मनुष्यों और नागरिकों के अधिकारों की जड़ें एक ऐसे दर्शन में पाई जाती हैं। इसलिये डेरेनडार्फ के अनुसार सामाजिक विभेद सामान्य उपयोगिता पर ही निर्भर हो सकते हैं।

डेरेनडार्फ ने निम्न प्रश्न भी प्रस्तुत किये हैं–

1. यदि मनुष्य प्रकृति से श्रेणी में समान हैं तो सामाजिक असमानतायें कहाँ से उभरती हैं?
2. यदि सब मनुष्य स्वतंत्र और अधिकारों में जन्म से समान हैं, तब हम कैसे कह सकते हैं कि कुछ धनवान हैं और अन्य निर्धन हैं, कुछ का आदर होता है और दूसरों को नजरअंदाज किया जाता है और कुछ शक्तिमान हैं व दूसरे चाकरी में हैं?

यह स्पष्ट है कि असमानता की मूल अवस्था की मान्यता और असमानता की उत्पत्ति का कारण सम्पत्ति के रूप में आज तक बिना चुनौती के रहे हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से एक समाज को निजी सम्पत्तिविहीन समझ सकते हैं, लेकिन वास्तविकता में यहाँ तक कि पूर्व-सोवियत संघ, पूर्वी यूरोप के देश और आज का चीन धन और आय के अन्तरों को स्वीकार करते हैं, अत: वहाँ भी सामाजिक असमानता है। श्रम के विभाजन के आधार पर व्यवसाय और आय में अन्तर पाये जाते हैं। यह वर्ग निर्माण (अर्थात् श्रेणी की असमानता) का भी आधार है। चूँकि व्यवसाय विभेदीकृत हैं, इसलिये सामाजिक वर्गों और पद-स्थानों का उभरना एक अनिवार्य परिणाम है।

### 2.2.2 सामाजिक असमानता की सर्वव्याप्ता

टालकट पार्सन्स, किंग्सले डेविस, डब्ल्यू. ई. मूर और अन्य विद्वानों के विचारों को ध्यान में रखते हुए, हम कह सकते हैं कि असमानता सभी मानव समाजों में व्याप्त है और उनके साथ व्यवहार का एक मानक पुँज और नियमांकन जुड़े हुए हैं। एक वृहद् अर्थ में कानून सब मानकों और नियमांकनों का प्रतिनिधित्व करता है। और इस तरह कानून सामाजिक असमानता की एक आवश्यक और पर्याप्त शर्त या अवस्था है। "क्योंकि कानून है, इसलिये असमानता है, यदि कानून है तो लोगों में असमानता भी होनी चाहिये।"

कानून की नजर में सब मनुष्य बराबर हो सकते हैं, परन्तु इसके पश्चात् वे अधिक समय तक बराबर नहीं रह सकते। दूसरे शब्दों में, मानक और नियमांकन अर्थात् कानून लोगों को असमान बनाते हैं। यहाँ पर दो बिन्दुओं को जानना चाहिये–(*i*) प्रत्येक समाज एक नैतिक समुदाय है, और इसलिये मानकों को मानना पड़ता है, ताकि समाज के सदस्यों का आचरण नियंत्रित किया जा सके और (*ii*) इन मानकों को लागू करने के लिये वैधता या मान्यता (नियमांकन) की आवश्यकता होती है, ताकि उनके पालन करने वालों को पुरस्कृत और अपराधियों को दंडित किया जा सके।

नोट

स्पष्टत: यह एक प्रकार्यवादी दृष्टिकोण है और इसका हम सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन के उपागमों पर विचार करते समय विश्लेषण करेंगे।

यद्यपि डेरेनडार्फ काफी हद तक प्रकार्यवादी उपागम का अनुसरण करते हुए दिखाई देते हैं, परन्तु उनके द्वारा जिज्ञासापूर्ण निम्न प्रश्न पार्सन्स, डेविस और मूर के उपागम के आलोचनात्मक मूल्यांकन के लिये बहुत उपयोगी हैं–

1. सामाजिक व्यवहार को नियंत्रित करने के लिये मानक कहाँ से आते हैं?
2. ऐतिहासिक समाजों में किन परिस्थितियों में ये मानक परिवर्तित होते हैं।
3. नियमांकनों द्वारा उनका अनिवार्य स्वरूप (चरित्र) क्यों लागू होना चाहिये?
4. क्या वास्तव में सब ऐतिहासिक समाजों में एक जैसी अवस्था है?

डेरेनडार्फ का दावा है कि ऐसे प्रश्नों में असमानता की कठोरतायें कमजोर होती हैं। लेकिन डेरेनडार्फ का अवलोकन है कि "सामाजिक असमानता की उत्पत्ति न तो मानव स्वभाव (प्रकृति) में है और न ही निजी सम्पत्ति की ऐतिहासिक दृष्टि से संदिग्ध अवधारणा में है, बल्कि सब मानव समाजों की कुछ खास विशेषताओं में असमानता की उत्पत्ति पाई जाती है, जो विशेषतायें उनके लिये (या ऐसी देखी जा सकती है) आवश्यक हैं।" श्रम विभाजन के सन्दर्भ में सामाजिक पद-स्थानों का विभेदीकरण या भूमिकाओं की बहुलता सब समाजों का सर्वव्याप्त लक्षण है, लेकिन प्रतिष्ठा और आय के पैमानों पर आधारित श्रेणियों या सामाजिक पद-स्थानों का मूल्यकारी विभेदीकरण समानान्तर रूप में सर्वव्याप्त और अनिवार्य नहीं है।

डेरेनडार्फ के अनुसार, सामाजिक स्तरीकरण हमारे प्रतिदिन के जीवन में एक बहुत वास्तविक तत्व है। यह वितरणीय व्यवस्था की एक व्यवस्था है, अर्थात वांछित और दुर्लभ वस्तुओं के विभेदीय वितरण की व्यवस्था है। सम्मान और दौलत के अलावा प्रतिष्ठा और आय, वैधशक्ति, संरक्षण या शक्ति का वितरण, कार्यों या गुणों (विशेषताओं) को पुरस्कार (प्रतिफल) के रूप में विभेदीयश्रेणियों की कसौटियाँ माना जा सकता है। वेबर के द्वारा किये गये शक्ति और सत्ता के बीच अन्तर को मानते हुए, डेरेनडार्फ का मत है कि सामाजिक स्तरीकरण के ढांचे तार्किक दृष्टि से शक्ति और शक्ति संरचनाओं से पहले पाये जाते हैं। इस प्रकार असमानता का स्पष्टीकरण (समझ) शक्ति संरचनाओं में स्थित है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक असमानता की व्याख्या में मानक, नियमांकन और शक्ति, निकट से संबंधित प्रघटनायें हैं। असमानता एक वास्तविकता है। पूर्णत: समतावादी समाज का विचार अवास्तविक व भयानक है।

डब्ल्यू. जी. रुनसीमैन ने भी प्रश्न पूछा है–"सामाजिक असमानता का सही अर्थ क्या होना चाहिये?" इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर यह है कि हर जगह सब समाजों में धनवान और निर्धन लोग पाये जाते हैं, इसी तरह हर समाज में बलवान और कमजोर लोग पाये जाते हैं। हर युग में, असमानता एक ज्वलन्त मुद्दा रही है और इसकी गहनता को घटाने के प्रयास भी किये गये हैं। रुनसीमैन की दृष्टि में, सामाजिक असमानतायें विभिन्न प्रकार की व पेचीदी हैं। रुनसीमैन ने लिखा है–"यदि किसी प्रकार की सामाजिक असमानताओं का मूल्यांकन करना या समझना है तो सबसे पहले अलग-अलग आयामों की संख्या के सन्दर्भ द्वारा उनको विभाजित करना चाहिये, जिनमें समाजों के सदस्यों को सामूहिक रूप में, एक-दूसरे के ऊपर या नीचे श्रेणीकृत किया गया है–सामाजिक स्तरीकरण को इस प्रकार अर्थ (परिभाषा) देने की आवश्यकता है।" सामाजिक असमानता की ऐसी परिभाषा पर आधारित और वेबर की त्रिकोणी 'वर्ग, प्रस्थिति और दल (पार्टी) पर सहमति रखते हुए, रुनसीमैन वर्ग, प्रस्थिति और शक्ति को सामाजिक असमानता (स्तरीकरण) के तीन महत्वपूर्ण आयाम मानते हैं। हम वेबर के उपागम पर चर्चा में इस वर्गीकरण का विवेचन करेंगे।

## 2.3 सोपान (Hierarchy)

सामान्यतया, 'सोपान' शब्द का उपयोग सामाजिक इकाइयों को श्रेष्ठ और कमजोर या उच्च और निम्न के रूप में संगठित करने के लिये किया जाता है। प्रजाति और जाति प्राकृतिक (स्वाभाविक) सोपान समझे जाते हैं, क्योंकि दोनों में अपरिवर्तनकारी (स्थिर) वंशानुगत सदस्यता पर आधारित, अन्त:वैवाहिक समूहों को व्यवस्थित किया जाता है। अन्त:विवाह के आधार पर जाति और प्रजाति दोनों की कार्यप्रणाली भी एक समान नहीं है। सोपान में श्रेणीकरण या

नोट

व्यवस्थापन के सिद्धान्त के रूप में स्तरीकरण, विभेदीकरण, वर्ग और शक्ति जैसे शब्दों की तुलना में कहीं अधिक कठोरता और स्थिरता परिलक्षित होती है।

### सोपान के बारे में लुई डूमॉ का दृष्टिकोण

प्रसिद्ध फ्रांसीसी समाजशास्त्री लुई डूमाँ ने भारत की जाति व्यवस्था को स्तरीकरण की कठोर व स्थिर व्यवस्था बताते हुए, सोपान की अवधारणा को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया है। डूमॉ की बहुचर्चित पुस्तक–*होमो हेरार्किकस*, शाब्दिक अर्थ में, '*हामो एक्वालिस*' के विपरीत है। दूसरे शब्दों में, 'सोपान' द्वारा भारत को चित्रित किया जाता है, और फ्रांस (या यूरोप) को 'समानता' के चक्षु से देखा जाता है। डूमॉ के लिये जाति व्यवस्था एक विशिष्ट प्रकार की असमानता का प्रतिनिधित्व करती है, जिसको विचारों और मूल्यों द्वारा समझा जाता है। डूमॉ की जाति व्यवस्था की व्याख्या का मुख्य बिन्दु पवित्र और अपवित्र (दो तरफा विरोध) के बीच आधारभूत विरोध है, लेकिन विरोध निरंकुश नहीं है, क्योंकि पवित्र में अपवित्र समाहित है, और दोनों एक साथ जाति व्यवस्था की जैविकीय कड़ियाँ हैं।

डूमॉ के होमो हैरार्किकस से पहले भी सी. बूगली ने जाति व्यवस्था को सोपानीय रूप में व्यवस्थित वंशानुगत समूहों, पृथकता और अन्तर्निर्भरता के सन्दर्भ में परिभाषित किया है। वास्तव में विवेकता, पृथकता, ऊपर-नीचे की जाति सोपान व्यवस्था और अन्तर्निर्भरता को जाति सोपान के सिद्धान्त और अभ्यास (व्यवहार) के तत्वों के रूप में एक साथ देखा जा सकता है। इस तरह जाति सोपान में पवित्र और अपवित्र के बीच विरोध के सिद्धान्त के साथ, पारस्परिक तौर पर समाहित 'सिद्धान्त' पाये जाते हैं। परन्तु समस्या तब उठती है, जब डूमॉ इसको (पवित्र और अपवित्र के विभाजन का) 'एक अकेला सच्चा सिद्धान्त' मानते हैं। यह विरोध डूमॉ के अनुसार, पुरुषों और स्त्रियों, भोजन और कपड़े, व्यवसाय और श्रम विभाजन आदि का विशेष लक्षण है। अब प्रश्न यह है कि किस सीमा तक ऐतिहासिक दृष्टि से और आज के परिप्रेक्ष्य में, पवित्र और अपवित्र के बीच में विरोध का सिद्धान्त भारतीय समाज में पाया जाता है।

क्रिस स्माजे ने सोपान की अवधारणा को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। स्माजे ने 'श्रेणीकारी सोपानों' और 'समाहित सोपानों' का उल्लेख किया है। प्रथम का अर्थ है कि जहाँ पर बहस का समग्र पूर्णत: दो या दो से अधिक भिन्न वर्गों में उच्च और निम्न इकाइयों में विभाजित है। इस प्रकार, यह 'सकर्मक सोपानीकरण' होता है। मोटे तौर पर ऐसी अभियोजना प्रजातीय सोपान, स्त्री भेद, और वर्ग असमानता की यूरो-अमेरिकन विचारधाराओं पर लागू होती है। दूसरी अभियोजना के अन्तर्गत श्रेणीकृत इकाइयाँ बहस के समग्र के साथ अस्तित्व में रहती हैं, अर्थात् उच्च इकाई में निम्न इकाई समाहित होती है। पवित्र और अपवित्र की एक प्रकार से 'एकता' होती है। उदाहरण के लिये भारत की जाति व्यवस्था में ऐसा ही है। एक भिन्न सन्दर्भ में कार्ल मार्क्स ने 'विरोधियों की एकता' के बारे में कहा है। मार्क्स के अनुसार, पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग उद्योग में एक साथ कार्य करते हैं, जबकि उनके उद्देश्य और कार्य भिन्न हैं। दूसरे सन्दर्भ में सह-अस्तित्व या विरोधाभास, उच्चतर स्तर की इकाई में समाहित हो जाता है। इसलिये सोपान के स्तर को, जहाँ पर वह स्थित है, परिभाषित करना आवश्यक है।

यहाँ पर, हम क्लाड लेवी–स्ट्रास के 'दोहरे संगठनों' के विचार का उल्लेख कर सकते हैं, जिसकी डूमॉ के सोपान के विश्लेषण से कुछ समानता है। मोटे तौर पर श्रेणीकरण का सोपान लेवी-स्ट्रा के 'रेखाकृत' संगठन की अवधारणा जैसा है और समाहित सोपान की धारणा लेवी-स्ट्रा के 'केन्द्रिक' संगठन के विचार के समान है। रेखीय संरचनाओं में समानता दिखाई दे सकती है, जहाँ तक उनके दो तत्व एक-दूसरे के पूरक समझे जाते हैं, परन्तु वे असमान होते हैं। इसके विपरीत केन्द्रिक संरचनायें सदैव असमान होती हैं, क्योंकि वे एक श्रेष्ठ उच्चतर केन्द्रीय बिन्दु के चारों ओर व्यवस्थित की जाती हैं, या उसमें से उभरती हैं। प्रश्न यह है कि भारत की जातियों के सोपान को समझने और विश्लेषण के लिये डूमॉ और लेवी–स्ट्रास द्वारा प्रतिपादित विचार या प्रारूप कैसे उपयोगी हैं।

स्माजे ने दोनों मॉडलों की सीमाओं के बारे में संकेत दिये हैं। स्माजे ने जाति संबंधों के "घुमावदार" (चक्रीय घेराव) प्रारूप की बात कही है, जिसमें सोपानीय अतिमहत्ता का कोई एक केन्द्रीय बिन्दु नहीं होता है। सोपानीय रूप में व्यवस्थित समूहों और इकाइयों को जोड़ने के लिये एक 'त्रिवादी' या एक तीसरे या एक मध्यस्थता करवाने वाले तत्व की आवश्यकता हो सकती है। जाति के 'घुमावदार' मॉडल द्वारा विशिष्ट सन्दर्भ में केन्द्र-सीमांत सम्बन्धों या धार्मिक–निरपेक्ष तत्वों के विभाजन को समझ सकते हैं।

नोट

इस प्रकार, डूमॉ को सोपान की अवधारणा का प्रवर्तक कह सकते हैं। डूमॉ के अनुसार, "एक सोपानीय सम्बन्ध का अभिप्राय दीर्घ और लघु (बड़े और छोटे) के बीच सम्बन्ध से है, या नपे-तुले अर्थ में यह वह सम्बन्ध है जिसमें एक समाहित करता है और दूसरा समाहित होता है।" इसको स्मा ने 'केन्द्रिक सोपानों' का नाम दिया है। जाति सोपान के सिद्धान्त के अन्तर्गत समाहित करने वाले और समाहित होने वाले दोनों में पारस्परिक जुड़ाव और विरोध पाये जाते हैं। पवित्र और अपवित्र एक आधार के रूप में स्थिर रहते हैं, जिस पर यह विभाजन एक स्थायी रूप में विद्यमान रहता है।

डूमॉ द्वारा भारतीय समाज के अध्ययन में अत्यंत गहन और महत्वपूर्ण लेन के लिये टी.एन. मदान ने प्रशंसा की है। मदान के अनुसार, डूमॉ के लेखन में, विचार की स्पष्टता विद्वता और सरलता पाइ जाती है। मदान ने लिखा है–" *होमो हैरार्किकस,* विचार-ग्रहण, प्रारूप और क्रियान्वयन में एक असाधारण कृति है।" मदान का मत है कि श्रेणीकरण के सिद्धान्त द्वारा समग्र (समाज) के तत्वों के समग्र के सन्दर्भ में श्रेणीकरण से व्यवस्था को पूर्ण रूप से समझने और द्विवाद के विरोध पर नियंत्रण करने में मदद प्राप्त होती है। इस तरह से प्रतीत होता है कि डूमॉ ने टालकट पार्सन्स, किंग्सले डेविस और विल्बर्ट मूर द्वारा प्रतिपादित सामाजिक स्तरीकरण के उपागम का अनुसरण किया है।

डूमॉ के एक अन्य प्रशंसक दीपांकर गुप्ता हैं। गुप्ता की राय में, *होमो हैरार्किकस* के लेखक, डूमॉ 'जाति व्यवस्था के सामाजिक मानवशास्त्रीय मुख्यधारा दृष्टिकोण के अत्यधिक प्रगतिशील और श्रेष्ठ प्रवर्तक' हैं। गुप्ता ने आगे लिखा है–

"डूमॉ न केवल जाति व्यवस्था के प्रमुख अवधारणीय दृष्टिकोण के अत्यधिक सुव्यवस्थित प्रवर्तक हैं, बल्कि यह ख्याति डूमॉ ने इस विषय पर लगभग सभी परिचित अवधारणीय दृष्टिकोणों को कमजोर करके प्राप्त की है। यह उन अध्ययनों के ऐसे परिणामों के वर्णनों को लेकर किया है, जो डूमॉ से मिलते-जुलते हैं, या अवधारणा और अध्ययन पद्धति के सन्दर्भ में, उन अध्ययनों को कमजोर किया है, जिनके परिणामों द्वारा अपने परिणामों को नकार सकें, मजाक बना सकें। सेनार्ट और बूगले के विचार भी उनमें शामिल हैं। जब डूमाँ, बूगली, सेनार्ट या घुर्ये और कर्वे को गलत करार देते हैं, तब वे उनकी आलोचना, जो वे कहते हैं, उसकी नहीं करते, परन्तु उसकी ज्यादा करते हैं, जो वे संकेतिक करते हैं। चूँकि हमारी हमदर्दी इन संकेतों के साथ है, हमें डूमॉ पर अवश्य ही अधिक ध्यान देना चाहिए।"

गुप्ता यह भी सलाह देते हैं कि आलोचकों को भी डूमॉ की इस विषय पर अद्वितीय देन को स्वीकार करना चाहिये। हमारे मत में डूमॉ की तथाकथित अद्वितीय देन 'सोपान' को स्तरीकरण की एक कठोर और स्थिर व्यवस्था के अवधारणाकरण की है, जिसको फ्रांस और अन्य पश्चिमी संसार के समतावादी और समानतावादी सामाजिक सम्बन्धों को व्यवस्था के विपरीत समझा है। किसी न किसी रूप में डूमॉ सामान्य रूप में पश्चिमी दुनिया की श्रेष्ठता और विशेषत: इसकी बौद्धिक उत्तमता से भ्रमित हैं। डूमॉ की अशिष्ट टिप्पणियाँ और अवलोकन जो उन्होंने ए.के सरन, इरावती कर्वे और ए.आर. देसाई जैसे भारतीय विद्वानों के विचारों पर किये हैं, उनसे भारतीय समाज और उसके प्रबुद्धजनों के बारे में पूर्वाग्रही निम्नता प्रमाणित होती है। चूँकि टी. एन. मदान ने डूमॉ की जाति व्यवस्था की समझ को आवश्यकता से अधिक प्रशंसित किया है, डूमॉ के दृष्टिकोण को 'होमो एक्वालिस' के विचार अपने स्वयं के दृष्टिकोण के आधार पर समझना आवश्यक है। अब हमें देखना है कि डूमॉ द्वारा जाति व्यवस्था को एक सच्चे सोपान की संज्ञा के विचार के पक्ष में बताने के बाद गुप्ता क्या कहते हैं। 'तथ्य विरुद्ध सिद्धान्त' (डूमॉ द्वारा प्रस्तुत) के परिप्रेक्ष्य में गुप्ता द्वारा उठाये गये प्रश्न बिल्कुल चुनिन्दे हैं, और बेजोड़ संदर्भों, परिस्थितियों, मुद्दों, क्षेत्रों और लोगों से संदर्भित हैं। इस प्रकार जाति व्यवस्था का एक 'सच्चा सोपान' नहीं हो सकता।

### 2.3.1 जाति सोपान

मैक्सिम मैरियट्ट द्वारा प्रस्तावित, जाति की जटिलता की धारणा या कठोरता-लचीलापन का पैमाना, भारत के विभिन्न क्षेत्रों की जानकारी के लिये बहुत उपयोगी है। गुप्ता इस विचार से सहमत दिखाई देते हैं। गुप्ता लिखते हैं कि "हमारे अनुसार, एक सच्चा सोपान, एक अकेले चर पर आधारित एक स्पष्ट रेखीय श्रेणीकरण है। रुपये व दौलत के रूप

नोट

में, स्त्रियाँ, पशु या भूमि जैसी कसौटियों के अतिरिक्त, सत्ता भी एक सच्चे और निरन्तर सोपान की एक उचित व वैध कसौटी हो सकती है।" एक संगठन/व्यवस्था विशेष के रूपान्तरण द्वारा प्रस्थिति और सत्ता के सापेक्षिक पदों में परिवर्तन होते हैं। गुप्ता यह भी कहते हैं कि "निरन्तर सोपान एक अकेली कसौटी के इर्द-गिर्द निर्मित होते हैं और उस सोपान से जुड़े हुए सब लोगों की कमोबेशी उसमें भागीदार होती है।" स्वतंत्र पृथक वर्ग पाये जाते हैं, जो इकाइयों को अजोड़नीय और गुणवत्ताकारी विशिष्ट श्रेणियों में अलग-अलग करते हैं। उदाहरण के लिये, एक व्यक्ति, एक ब्राह्मण या एक वैश्य या एक राजस्थानी/बंगाली/पंजाबी आदि होता है। एक सन्दर्भ विशेष में वह व्यक्ति एक कुछ नहीं हो सकता। दूसरी ओर, एक निरन्तर सोपान, स्तरों या स्तरणों से जुड़े एक लक्षण की संख्यात्मक भिन्नता के आधर पर निर्मित होता है।" इस तरह निरन्तर सोपान और पृथक वर्ग पाये जाते हैं। यह विभाजन स्माजे और लेवी-स्ट्रास द्वारा प्रस्तावित वर्गीकरणों से बहुत हद तक मिलता है।

*क्या आप जानते हैं* आज के भारतीय समाज में बहु सोपान हैं।

डूमॉ ने भारत की जाति व्यवस्था की व्याख्या के लिये मुख्यत: भारतीय शास्त्रिक श्रोतों का उपयोग किया है। स्वतंत्र भारत में भिन्न-भिन्न हित, संघर्ष, शोषण, ऊपर और नीचे की ओर गतिशीलता, देशीय और विदेशीय प्रवसन आदि द्वारा विराट अन्तर दिखाई देते हैं, जो वास्तव में भारतीय सामाजिक रचना को समझने का आधार होना चाहिये। डूमॉ ने सामाजिक परिवर्तन के महत्व को कमजोर किया है। जातियाँ एक रेखीय सोपान नहीं हैं। अन्तरजातीय और अन्त:जातीय सम्बन्ध विभिन्न जातियों के बीच और जातियों के अन्दर जैविकीय कड़ियों का मजबूत आधार नहीं हैं। जातियों और समुदायों से कहीं अधिक लोगों के लिये सम्मान और सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने में परिवार और व्यक्ति की महत्ता दिखाई देती है। "दिन प्रति दिन, जाति एक कमजोर, एक मानसिक अवस्था, एक लचीली और परिवर्तनकारी (ढीली) व्यवस्था बन रही है। जाति-भेदों और प्रकारीकरणों को, एक निरंतर आधार पर प्रकट करने के लिये, अतिप्रतीककरण अब दिखाई नहीं देता है।"

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–**

1. फ्रांसीसी क्रांति कब हुई थी-

   (क) 1789 (ख) 1790 (ग) 1856 (घ) इनमें से कोई नहीं।

2. किसके अनुसार प्रजातांत्रिक समानता और विभेद का सिद्धांत एक साथ और सह-अस्तित्व में पाये जाते हैं-

   (क) टर्नर के (ख) टी. एच. मार्शल (ग) जोन शॅल्स (घ) इनमें से कोई नहीं।

3. 'श्रेणीकारी सोपानो' और 'समाहित सोपानों' का उल्लेख किसने किया है-

   (क) डूमॉ ने (ख) स्माजे ने (ग) टर्नर ने (घ) इनमें से कोई नहीं।

4. किसने भारत की जाति-व्यवस्था के लिए भारतीय शास्त्रिक श्रोतों का उपयोग किया है-

   (क) डूमॉ ने (ख) मैक्सिम मैरियटट (ग) स्माजे ने (घ) इनमें से कोई नहीं।

5. किसने वर्ग, प्रस्थिति और शक्ति को सामाजिक असमानता के महत्त्वपूर्ण आयाम माना है-

   (क) क्रिस स्माजे ने (ख) वेबर ने (ग) रूनसीमैन ने (घ) इनमें से कोई नहीं।

नोट

## 2.4 सामाजिक अलगाव (Social Exclusion)

यद्यपि 'अलगाव' शब्द सामाजिक स्तरीकरण, जाति, वर्ग और प्रजाति की कृतियों में उल्लेखित है, परन्तु, 'अलगाव', विशेषत: 'सामाजिक अलगाव', एक अवधारणा के रूप में स्तरीकरण और प्रजाति के पश्चिमी देशों के अध्ययनों में 1970 के दशक में प्रचलित हुआ है। लगाव और अलगाव या पवित्र और अपवित्र का सिद्धान्त जाति व्यवस्था का आधार है, जिसके द्वारा उच्च और निम्न पद–स्थानों और शक्ति व विशेषाधिकार के लिये पहुँच को परिभाषित किया जाता है। चूँकि 'अलगाव' का अभिप्राय सामाजिक सम्बन्धों से है, हम केवल 'अलगाव' शब्द के बजाय 'सामाजिक अलगाव' की अवधारणा का उपयोग करना चाहेंगे।

पश्चिमी यूरोप में विभिन्न प्रकार के सामाजिक अलगाव, जैसे आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि को समझने के लिये इस अवधारणा का उपयोग किया जाता है। सामाजिक अलगाव विभिन्न तरीकों और गहनता में पाया जाता है। जब भी सामाजिक एकीकरण संकट में पाया जाता है, तब यह माना जाता है कि सामाजिक अलगाव हावी है। 1970 के दशक में यूरोप में बेरोजगारी के बहुत बढ़ने पर कहा गया था कि समरसता की स्थिति बिगड़ गई है। अमेरिका में, 'सापेक्षिक वंचन' की अवधारणा को समाज के लाभान्वित और अलाभान्वित वर्गों के बीच अन्तर को जानने के लिये उपयोग में लिया जाता है। भारत में, प्राय: अल्पसंख्यकों और विशेषत: उनमें से निर्धनों को 'सीमान्त' समझा जाता है। कार्ल मार्क्स ने निर्धनता, बेरोजगारी और वंचन, निठल्लापन, निष्क्रियता, अधीनस्थ वर्ग और विरसन सामाजिक अलगाव के प्रमुख तत्व समझे हैं। हर्बट मारक्यूज ने व्यक्ति के लिये स्वतंत्रता के अभाव को अलगाव की ओर ले जाने का कारण माना है।

प्राय: 'सामाजिक अलगाव' की अवधारणा का उपयोग चुनावों में भागीदारी, समाज के संसाधनों और अवसरों तक पहुँच, बेरोजगारी, निर्धनता, शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधा आदि से संबंधित अध्ययनों में किया गया है। इस अवधारणा का क्षेत्र व्यापक हो रहा है, लेकिन उदाहरण के लिये यह मुद्दा पेचीदा है कि क्या सामाजिक अलगाव गरीबी का कारण है, या फिर गरीबी के कारण सामाजिक अलगाव होता है। ऐसी भ्रामकताओं के बावजूद सामाजिक अलगाव को सामाजिक बन्धनों में दरार समझा जाता है। सामाजिक असमानता को समझने के लिये यह एक शक्तिमान अवधारणा है।

### 2.4.1 सामाजिक अलगाव के आयाम

सामाजिक अलगाव के विभिन्न स्वरूप हैं। भारत सामाजिक अलगाव का एक उचित उदाहरण है। निम्न जातियों और समुदायों के सामाजिक अलगाव के लिये, जाति, जजमानी प्रथा, अस्पृश्यता, धर्म, यौन भेद, अपाहिजता, प्रथाओं और व्यवहार प्रणालियों, आदि का उपयोग किया गया है। अन्तराष्ट्रीय श्रम अध्ययन संस्थान (आई.आई.एल.एस./यू.एन.डी. पी.) ने सामाजिक अलगाव की निम्न कसौटियों का उल्लेख किया है–

1. सामाजिक अलगाव, संसाधन आवंटन प्रावधानों (शक्ति सम्बन्धों, कार्य-संस्था, संस्कृति और सामाजिक अस्मिता सहित) की प्रक्रिया की एक नकारात्मक स्थिति है।
2. सामाजिक अलगाव लोगों के जीवन का वैयक्तिक या वस्तुपरक लक्षण भी है। प्रथम में निम्नता का भाव होता है और दूसरे में भौतिक रूप में वंचन होता है।
3. सामाजिक अलकाव को एक व्यक्ति का अहित माना जा सकता है।
4. सामाजिक अलगाव का अभिप्राय, व्यक्तियों को सामान, सेवाओं, और संसाधनों से वंचित रखने से भी है।

कोई भी व्यक्ति अपने पर्यावरण और सामाजिक परिस्थितियों से अलग नहीं होना चाहता। इस प्रकार, सामाजिक अलगाव, राज्य और समाज, विशेषत: थोड़े से सम्पन्न लोगों द्वारा थोपा जाता है। सामाजिक अलगाव से संघर्ष और तनाव उत्पन्न होते हैं और इससे अवश्य ही शांति व समरसता विचलित होती है। परन्तु यह स्थिर और एकल–आयामी नहीं है। सामाजिक अलगाव के चार आयाम हैं–

नोट

1. नागरिक एकीकरण
2. श्रम बाजार
3. कल्याणकारी राज्य का प्रावधान
4. परिवार और समुदाय

समाज के इन पहलुओं को सामाजिक अलगाव नकरात्मक रूप में प्रभावित करता है।

### 2.4.2 निर्धनता और सामाजिक अलगाव

नागरिक एकीकरण के अलावा, अन्य तीनों आयाम अर्थात् श्रम बाजार, कल्याणकारी राज्य, और परिवार व समुदाय वंचित लोगों की निर्धनता से सरोकार रखते हैं। सच तो यह है कि सामाजिक अलगाव का अर्थ ही अलाभ और वंचन है, जबकि एक और तो सामाजिक अलगाव, सीमान्तता, बन्दपन, असम्बन्धता, धनविहीनता, वंचन और त्रस्तता से जुड़ा हुआ है, और दूसरी और सामाजिक अलगाव में मिलाप, एकीकरण, नागरिकता और एकजुटता निहित है।

भारतीय सन्दर्भ में, वितरणीय न्याय के अभाव, जाति–आधारित दूरियाँ और भेदभाव, अवसरों के लिये असमान पहुँच और राज्य की कमजोर नीतियों में सामाजिक अलगाव दिखाई देता है। दूसरे शब्दों में, समाज और राज्य ने जाति सोपान के रूप में सामाजिक असमानतायें और कमजोर कल्याणकारी नीतियाँ उत्पन्न की हैं।

इस सन्दर्भ में हम निम्न प्रश्न करना चाहेंगे–

1. सामाजिक अलगाव निर्धनता से कैसे जुड़ा हुआ है?
2. क्या यह वितरणीय न्याय के अभाव के कारण है?
3. गरीबों, पिछड़ों और सीमांत लोगों से सम्बन्धित नीति–निर्माण में क्या गलत है?
4. सामाजिक लगाव (जुड़ाव) में क्या सामाजिक बाधायें हैं?

गरीब लोगों को अवसरों और इज्जत की जिन्दगी से हर जगह बाहर रखा जाता है। जीवन के हर में उनको अमानवीकृत किया जाता है। इस प्रकार सामाजिक अलगाव की अवधारणा निर्धनता और सीमान्तीकरण के साथ पाई जाती है। इसमें निर्धनता के संबंधकारी और वितरणीय पहलू भी शामिल हैं। सामाजिक लगाव (जुड़ाव) को कैसे पहचानते हैं? इसके संकेत क्या हैं?

निम्न संकेतों के आधार पर सामाजिक अलगाव की स्थिति को समझ सकते हैं–

1. निर्धनता की बहुआयामी प्रकृति
2. बहुकारी अलाभ की समस्या
3. अलाभ को मनोसामाजिक तत्व समझना
4. कार्य–संस्था और भागीदारी का महत्त्व
5. हिंसा और वैयाक्तिक असुरक्षा
6. निर्धनता और सामाजिक अलगाव की तुलनायें
7. गरीबी और सामाजिक अलगाव से जूझने (लड़ने) के कार्यक्रम
8. पहुँच
9. वैयाक्तिक सुरक्षा
10. हानि या संकट की संभावना
11. आत्म-प्रतिष्ठा (आत्म–सम्मान)

चूँकि हम सामाजिक अलगाव के प्रारूप द्वारा असमानताकारी सामाजिक सम्बन्धों की सम्पूर्णता को समझ सकते हैं, जिन संस्थाओं और व्यक्तियों (कर्ताओं) के कारण अलगाव, विरसन और वंचन उत्पन्न होते हैं, उनको उत्तरदायी बना

नोट

कर सामाजिक न्याय के मापदंड़ों के अनुसार सुधारा जा सकता है। सामाजिक अलगाव के अध्ययन की रूपरेखा के सन्दर्भ में हम निम्न प्रश्न प्रस्तुत करना चाहते हैं–

1. सामाजिक अलगाव के मापदंड कौन तय करते हैं?
2. क्या निर्धन लोग अपने-आपको एक अलगावित भाग मानते हैं?
3. स्वयं–अलगावित समूह कौन हैं?
4. राज्य या समाज की सत्ता को किन लोगों ने तिरस्कृत किया है?
5. क्या सामाजिक दृष्टि से ऐसे अलगावित लोग भी हैं, तो निर्धन नहीं हैं?
6. क्या ऐसे गरीब लोग हैं, जो सामाजिक तौर पर अलगावित नहीं है?
7. मूल निवासी समूहों, स्त्रियों और अन्य लोग जो एक समाज में अपने आपको सीमांत मानते हैं, क्योंकि उनके जुड़ाव (लगाव) की शर्तें अन्य लोगों ने निर्धारित की थीं, उन लोगों की क्या स्थिति है?

### 2.4.3 राज्य और सामाजिक अलगाव

राज्य अपने आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक कार्यों में लोगों को भागीदारी से बाहर रखने के लिए उत्तरदायी है। भारत के संविधान और संस्थात्मक संरचनाओं और कार्यों (अभ्यासों) में असमानता को निरंतर रखने के छिपे हुए औचित्य देखे जा सकते हैं। मुख्यधारा के कार्यों से गरीब बाहर रहता है, लेकिन आज सामाजिक और राजनीतिक चेतना के कारण, अपने निम्न स्थान के बारे में उनमें एहसास का भाव आया है। कोई भी व्यक्ति स्वयं अलग नहीं होता है, सिवाय उनके जो वास्तव में साधु-संत है और संसार का परित्याग कर चुके हैं। ऐसे लोग बहुत विरले हैं। इतिहास से बोध होता है कि शोषकों और भद्र लोगों के विरुद्ध आन्दोलन और विरोध होते रहे हैं। हमारा मत है कि गरीब लोग सामाजिक दृष्टि से अलगावित होते हैं और धनी लोगों का ऐसा होना एक अपवाद है। जो लोग सामाजिक तौर पर अलगावित रहते हैं, वे अपनी इच्छा से ऐसा नहीं करते, परन्तु समाज के प्रभावी वर्ग के आधिपत्य और उच्चता के कारण ऐसा होता है।

इस प्रकार, सामाजिक अलगाव एक उत्तेजनाकारी, अस्पष्ट, बहुआयामी और वृहद् अवधारणा है। इससे यह समझ में आता है कि एक समाज में कौन लोग प्रतिष्ठित, भागीदारीविहीन, अलग-थलग और 'बाहरी' है। चूँकि समाज एक स्थिर इकाई नहीं है, अतः न केवल संरचनात्मक और सांस्कृतिक परिवर्तनों के अनुरूप सामाजिक अलगाव की अवधारण को ही संशोधित करने की आवश्यकता है, बल्कि सामाजिक अलगाव और लगाव (जुटाव) की प्रकृति को भी बदलना आवश्यक है।

आज भारत में पौष्टिक भोजन, प्राथमिक शिक्षा, आधारभूत स्वास्थ्य सेवा, मकान, पीने का पानी, स्वच्छता, सामाजिक सुरक्षा आदि सामाजिक अलगाव के मुख्य मुद्दे हैं। हम यह स्वीकार करते हैं कि भारतीय समाज में लगाव-अलगाव एक बहुत पुरानी वास्तविकता है। जातियों के सोपान की जड़, दूरी और लगाव-अलगाव के सिद्धान्त में स्थित है। पवित्र–अल्पवित्र का सिद्धान्त केवल लोगों को 'अपवित्र' घोषित कर बाहर रखने और अन्य लोगों को 'पवित्र' बताकर शामिल करने का तरीका है। सामाजिक तौर पर अलगावित समूहों, अर्थात् निम्न जातियों को बाह्य जातियों, दलित, अछूत आदि नामों से पूकारा गया है। सामाजिक अलगाव की अवधारणा व प्रक्रिया में घटित परिवर्तनों को निम्न जातियों के परिवर्तनकारी मोड़ में स्पष्ट रूप में देख सकते हैं।

आदिवासी लोगों और मूल निवासियों के समुदायों को भूमि और वन सम्पदा (स्रोतों) से दूर किया गया है। शोषकों के विरुद्ध अनेक आन्दोलनों और विद्रोहों से दूर रखे हुए लोगों द्वारा प्रवेश और लगाव (जुटाव) के लिए अलगाव व संघर्ष की बात प्रमाणित होती है। महिलायें अपने ही घरों में विरसित और अलग–थलग रहती हैं। स्त्रीकरणवाद के लिए तात्कालिक प्रयास महिलाओं के शोषण और अधीनता के विरुद्ध प्रमाण हैं। पितृसत्ता पुरुष–प्रधान समाज में एक क्रूर शस्त्र है। गरीब लोग पोष्टिक भोजन, शिक्षा स्वास्थ्य सुविधा, रोजगार, निर्णय–प्रक्रिया में भागीदारी और अन्य सम्बन्धित सुविधाओं से वंचित है। इस दोष के लिए कौन उत्तरदायी है? स्वतंत्रता के पश्चात् राज्य के कार्यों

नोट

पर हमें सावधानीपूर्वक देखना होगा। क्यों धनी लोग धनवान रहते हैं या और अधिक धनवान बनते हैं? यह प्रश्न आज भी अत्यन्त गम्भीर है, और शायद भविष्य में भी बना रहेगा।

## 2.5 निर्धनता और वंचन (Poverty and Deprivation)

निर्धनता और असमानता विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न अनुपतों में एक साथ विद्यमान रहती है। जिन कारणों से असमानता निरंतर रहती है, उन्हीं के परिणामस्वरूप प्राय: निर्धनता भी पाई जाती है, लेकिन समानता प्राप्त के परिणामस्वरूप प्राय: निर्धनता भी पाई जाती है, लेकिन समानता प्राप्त करने में या गरीबी उन्मूलन में आने वाली सामाजिक बाधायें हर समाज में एक जैसी नहीं होतीं। कुछ समाजों में, जाति, सजातीयता और प्राजाति बहुत बड़ी समस्याएं हो सकती है, जबकि अन्य समाजों में आर्थिक अवसरों और संसाधनों की कमी और निरन्तरित आर्थिक व राजनीतिक असमानतायें रोड़ा हो सकती हैं। सच तो यह है कि गरीबों को अपनी हालत सुधारने के लिये अवसरों से वंचित रखा जाता है, या चूँकि लोग गरीब हैं, इसलिए वे उन लोगों के साथ प्रतियोगिता नहीं कर सकते हैं जो गरीब नहीं है, क्योंकि वे अवसरों और संसाधनों तक सफलतापूर्वक पहुँच रखते हैं।

भारत के संविधान में, राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों में वर्णन है कि "राज्य एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था के लिए प्रयास करेगा जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय होगा, सभी संस्थाओं में ऐसा होगा, और सभी नागरिकों, पुरुषों और महिलाओं को जीवनयापन के उपयुक्त साधनों के लिये समान अधिकार होगा, और आर्थिक व्यवस्था का संचालन ऐसा होगा, जिससे आम आदमी के हितों की कीमत पर, कुछ लोगों के पास दौलत और उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण नहीं होगा।" प्रश्न यह है कि राष्ट्रीय दृष्टि से निम्नतम जीवन स्तर क्या होना चाहिये? प्राय: राज्य को लोगों की शिक्षा और स्वास्थ्य के लिए सुविधायें, विशेषत: उन लोगों के लिये जो स्वयं प्रबंधन नहीं कर सकते हैं, प्रदान करनी चाहिए। निजी उपभोग के लिए एक व्यक्ति को भोजन, वस्त्र मकान, पानी, बिजली और ऐसी अन्य मूलभूत आवश्यकताओं का प्रबंधन करना पड़ता है। इन सबके लिये, ग्रामीण और नगरीय परिप्रेक्ष्यों में, जीवन–यापन और आय का निम्नतम स्तर कैसे निर्धारित किया जा सकता है?

*टास्क* सोपान से आप क्या समझते हैं?

### 2.5.1 गरीबी रेखा की समझ

गरीबी को परिभाषित करने के लिए वी.एम. डांडेकर और नीलकंठ रथ ने ऊर्जा की आवश्यकता को एक कसौटी माना था। गरीबी रेखा को परिभाषित करने के लिये खर्च करने के उस स्तर को माना था, जहाँ औसतन परिवार प्रतिदिन, प्रति व्यक्ति 2,250 कैलोरीज की आवश्यकता पूरी करता था। इसको आधार मानकर, डांडेकर और रथ ने 1960–61 में, कैलोरीज के सन्दर्भ में एक खुराक के लिये, प्रति व्यक्ति 170 रुपये वार्षिक उपभोग खर्च सुझाया था। प्रति व्यक्ति नगरीय परिप्रेक्ष्य में वार्षिक स्तर पर 271 रुपये के खर्च को वार्षिक प्रति व्यक्ति ग्रामीण सन्दर्भ में, 170 रुपये के खर्च के बराबर माना गया था। खर्च के स्तर को गरीबी रेखा का नाम दिया गया था।

आर्थिक स्थिति या आय के स्तर के अतिरिक्त कुछ संस्थाओं के कारण भी गरीबी उत्पन्न होती है। लोग गरीब हैं और अनेक सामाजिक और आर्थिक अड़चनों/कठिनाइयों के कारण कष्ट पाते हैं। भारत में, कुछ जातियाँ, समुदाय, परिवार और व्यक्ति , संस्थात्मक बाधाओं और कठिनाइयों के शिकार हैं। बड़े भूस्वामियों और धनी लोगों के कारण, भूमिहीन कृषि–मजदूरों और छोटे कृषकों ने बहुत कष्ट झेले हैं।

विभिन्न परिस्थितियों और विभिन्न दृष्टिकोण से अमर्त्य सेन ने गरीबी की संकल्पना का विवेचना किया है। आय के स्तरों और लोगों ('व्यक्तियों की गिनती') पर आधारित गरीबी के परम्परात्मक मापन के महत्त्व को समझते हुए सेन के अनुसार दो विशिष्ट परन्तु अन्तरसंबंधित तरीकों से गरीबी का मापदण्ड तय किया जा सकता है। ये हैं–(*i*) निर्धनों

नोट

की पहचान, और (*ii*) निर्धनता की पूर्ण सूची बनाने के लिये पहचानित गरीबों के बारे में आंकड़ों का संकलन। इन दोनों तरीकों द्वारा लोगों की निम्न आय के आधार पर वंचन देख सकते हैं, लेकिन सेन निर्धनता के मापदंड के 'व्यक्तियों की गिनती' और 'संकलन' दोनों को दोषपूर्ण मानते हैं। सेन द्वारा प्रस्तुत उदाहरण से यह बात स्पष्ट होती है। सेन का कहना है कि "दो व्यक्तियों को 1 और 2 माने–व्यक्ति 1 की आय का स्तर व्यक्ति 2 से कुछ कम है। परन्तु 2 को गुर्दे की बीमारी है, जिसके कारण उसको डायलिसिस मशीन की आवश्यकता है, और जिसके लिये बहुत खर्च करना पड़ता है, और इसलिये व्यक्ति 1 से अधिक व्यक्ति 2 का जीवन गरीबीग्रस्त है। दोनों में अधिक गरीब कौन है, व्यक्ति 1, क्योंकि उसकी आय कम है, या व्यक्ति 2, क्योंकि उसकी क्षमता–शक्ति अधिक सीमित है।"

### 2.5.2 निर्धनता के वर्णनात्मक और नीति स्वरूप

उपरोक्त उदाहरण के आधार पर, निर्धनता वर्णनात्मक और नीति स्वरूपों (दोनों) में देखी जा सकती है। प्रथम दृष्टिकोण में निर्धनता की पहचान द्वारा वंचन को स्वीकार करना है। हम जान सकते हैं कि समाज में वास्तव में वंचित लोग कौन हैं। दूसरे दृष्टिकोण में निर्धनता की जानकारी इसके उन्मूलन की नीतिगत सिफारिश के साथ की जाती है। प्रथम दृष्टिकोण में वर्णन प्राथमिक हैं और नीति निष्कर्ष द्वितीयक हैं। दूसरे दृष्टिकोण में, नीति सिफारिश के साथ गरीबी मात्र पहचानी जाती है, अर्थात् गरीबी उन्मूलन के लिये कुछ करने पर बल दिया जाता है। सार्वजनिक कार्यक्रम पर ध्यान दिये जाने के कारण प्रथम दृष्टिकोण द्वितीयक बन जाता है, लेकिन सेन का मत है कि वर्णनात्मक दृष्टिकोण नीति के चयन से पहले आना चाहिये। पहले वंचन का निदान करें और उसके पश्चात् गरीबी हटाने के तरीकों और साधनों के बारे में निर्णय करें। सेन के अनुसार गरीबी को क्षमता की असफलता के सन्दर्भ में बेहतर समझ सकते हैं, बजाय विशिष्ट वस्तुओं की आधारभूत आवश्यकताओं को पूरा करने की असफलता के सन्दर्भ में। एक हाल की नयी पुस्तक–*डवलपमेंट एज फ्रीडम* में, अमर्त्य सेन ने स्पष्टत: 'गरीबी को क्षमता वंचन' की संज्ञा दी है। सेन ने निम्न विचार प्रकट किए हैं–

1. वंचन के द्वारा गरीबी को ठीक तरह से पहचान सकते हैं। इस उपागम द्वारा मूलरूप से महत्त्वपूर्ण (न्यून आय जैसे नहीं, जो एक सहायकात्मक रूप में महत्वपूर्ण है) वंचनों पर ध्यान दिया जाता है।
2. वंचन क्षमता पर प्रभाव पड़ते हैं–और इस प्रकार निम्न आय के अलावा, वास्तविक गरीबी प्रभावित होती है (आय केवल क्षमताओं को निर्मित करने का ही उपाय नही है)।
3. निम्न और निम्न क्षमता (योग्यता) के बीच साधनात्मक सम्बन्ध विभिन्न समुदाओं और यहाँ तक विभिन्न परिवारों और विभिन्न व्यक्तियों के बीच परिवर्तनकारी (प्रस्थितिजनक और सापेक्षिक प्रभाव आय की क्षमताओं पर) है।

तीसरा मुद्दा असमानता या निर्धनता या क्षीणता को कम करने में राजकीय (पब्लिक) कार्यक्रम को समझने और उसके मूल्यांकन करने के सन्दर्भ में विशेषत: महत्वपूर्ण है। वास्तविक निर्धनता क्षमता की क्षीणता द्वारा देखी जाती है। एक व्यक्ति की क्षमता के निर्माण में आयु, यौन, बीमारी या अन्य अयोग्यता (अक्षमता) बाधा बन सकती है। भारतीय परिवारों में लड़की के बजाय लड़के को प्राथमिकता दी जाती है। कुछ जातियों और समुदायों को विशेष उत्सवों और कार्यक्रमों में भागीदार नहीं होने दिया जाता है। सेन के अनुसार क्षमता के दृष्टिकोण द्वारा निर्धनता और वंचन की प्रकृति और कारणों के बारे में समझ बढ़ती है, क्योंकि इसके द्वारा साधनों से साध्यों की और उन स्वतंत्रताओं की और ध्यान चला जाता है, जिनसे इन साध्यों को प्राप्त किया जा सकता है।

### 2.5.3 भारत में निर्धनता

हरित क्राँति से पहले, भारत में जाति सोपान और कृषि भूमि स्वामित्व में जुड़ाव था। लगभग इसी प्रकार का नाता जाति और व्यवसाय के बीच में भी था। दूसरे शब्दों में यदि एक जाति की श्रेणी उच्च थी तो भूमि पर उसका नियंत्रण और आय व्यवसायों पर पकड़ भी अधिक थी। हरित क्राँति सहित वृहद्–संरचनात्मक परिवर्तनों से सामान्यतया ग्रामीण

नोट

लोगों को लाभ प्राप्त हुआ है, यद्यपि ऐसा असमान अनुपात में हुआ है। स्वतंत्रता के पश्चात्, विगत छह दशकों में अनेक निरपेक्ष या गैर-जातीय धंधे उभरे हैं, जिन पर जाति-आधारित पहुँच नहीं पाई जाती हैं। कुछ अधिक आय व प्रतिष्ठित नये व्यवसायों पर समाज के साधन–सम्पन्न वर्गों ने कब्जा कर लिया है।

भूतकाल में सीमांत व भूमिहीन कृषकों और श्रमिकों को बहुत कष्ट उठाना पड़ता था। परन्तु रोजगार की अनेक योजनाओं और दैनिक पारिश्रमिक में वृद्धि के कारण गरीबी की गहनता को कम करने में स्पष्ट सुधार दिखाई देता है। कस्बों और शहरों में प्रवसन से भी निर्धनता की दर में गिरावट आई है।

निर्धनता का मुख्य कारण बेरोजगारी (अर्ध–रोजगार सहित) है। अल्प वेतन और एक परिवार के सदस्यों की एक या दो कमाने वालों पर निर्भरता भी निर्धनता के कारण हैं। ग्रामीण और नगरीय दोनों परिप्रेक्ष्यों में, असमानतायें लगातार बढ़ रही हैं। और बदल रही हैं। ग्रामीण निर्धन लोगों में शहरों की और प्रवसन की प्रवृत्ति के कारण नगरीय बेरोजगारी या अर्ध–रोजगारी में बढ़ोतरी हुई है और इससे आवास, बिजली, पानी और स्वच्छता की समस्यायें अधिक गम्भीर बनी हैं। अनधिकृत बस्तियाँ, चाल, झुग्गी–झोपड़ियाँ और झोपड़पट्टियों, नगरीय निर्धन के निवास–स्थानों के लिये सामान्य नाम हैं। मुंबई और कोलकाता में वहां की जनसंख्या का लगभग 30 प्रतिशत भाग अनधिकृत बस्तियों में रहता है। महानगरों और अन्य बड़े शहरों में मलिन बस्तियों में वृद्धि बहुत अधिक और तीव्र गति से हुई है।

ओस्कर लेविस का मत है कि शहर, मलिन बस्तियाँ, निर्धनता और एक विशेष संस्कृति एक साथ घटित स्वरूप हैं। 'निर्धनता की संस्कृति' मात्र वंचन या विघटन का मसला नहीं है, परन्तु मानव समस्याओं के लिये निश्चित उपायों के साथ जीने का एक तरीका है। लेविस ने यह नगरीय लेटिन अमेरिका और न्यूयॉर्क में अवलोकित किया है। निर्धनता की संस्कृति, नगरीय मलिन बस्तियों में एक उप–संस्कृति है।

लेविस ने कहा है कि–वृहद् समाज की प्रमुख संस्थाओं में प्रभावी भागीदारी और एकीकरण का अभाव, निर्धनता की संस्कृति का एक महत्वपूर्ण लक्षण है। निर्धनता अपने-आप में निर्धनता की संस्कृति का मूल कारण है। विस्थापन और विलगाव, न्यूनतम वेतन, अर्ध–रोजगार, घनिष्ठ सामाजिक जीवन का अभाव, वैयक्तिक असुरक्षा, नागरिक सुविधाओं तक पहुँच आदि नगरीय निर्धनता के खास लक्षण हैं। हमारे सन्दर्भ में, ग्रामीण–नगरीय कड़ी बहुत सीमा तक होने के कारण नगरीय गरीब लोग, जो गाँवों से आकर बसे हैं, उनको विस्थापन और अलगाव से कष्ट नहीं होता है।

अंत में, निर्धन–चाहे ग्रामीण हैं या नगरीय हैं, वे एक जैसे नहीं हैं। वे विभाजित वर्ग हैं, जो श्रमिक और भवन निर्माणकर्मी, कारीगर, कृषक–मजदूर, छोटे उद्योगों में कार्य करने वाले कारीगर, और घरेलू नौकर आदि की तरह काम कर रहे हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो हमारी अर्थव्यवस्था के औपचारिक व संगठित क्षेत्रों में कार्यरत हैं। निर्धन लोग, विभिन्न जातियों, समुदायों, क्षेत्रों और धर्मों से भी जुड़े हुए हैं। ग्रामीण और नगरीय निर्धन लोगों की सामाजिक–सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भी, नौकरियों और अवसरों तक पहुँच और उनकी अपनी प्राथमिकताओं को प्रभावित करती हैं।

सामान्यतया आय और क्षमता, दोनों दृष्टियों से निर्धनता की दर मे कमी आई है। सामाजिक असमानता और निर्धनता में, बहुत से विकास कार्यक्रमों, रोजगार योजनाओं, मलिन बस्तियों की समाप्ति, यातायात और संचार के साधनों आदि के द्वारा, कमी आई हैं।

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**2. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–**

1. ..... में प्राय: अल्पसंख्यकों और विशेषत: उनमें से निर्धनों को सीमान्त समझा जाता है।
2. ..... का अर्थ ही अलाभ और वंचन है।
3. जातियों के सोपान की जड़, दूरी और ..... के सिद्धांत में स्थित है।
4. ..... पुरूष-प्रधान समाज में एक क्रूर शस्त्र है।

नोट

5. भारत के ..... में, राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों का वर्णन है।
6. गरीबी की संकल्पना का विवेचन ..... ने किया है।
7. ..... में लड़की के बजाए लड़के को प्राथमिकता दी जाती है।

## 2.6 सारांश (Summary)

- सामाजिक स्तरीकरण एक सार्वभौमिक प्रघटना है। कोई भी मानव समाज इससे वंचित नहीं है, यद्यपि स्तरीकरण विभिन्न रूपों और अंशों में पाया जाता है। किसी भी समाज में, व्यक्ति, पद और समूह विशिष्ट मानकों और कसौटियों के आधार पर विभेदीकृत किये जाते हैं।
- सामाजिक स्तरीकरण के विषय में शास्त्रीय मार्क्सवादी दृष्टिकोण, उपरोक्त वर्णित संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक अवधारणाकरण की तुलना में, विश्लेषणात्मक दृष्टि से बिल्कुल भिन्न है। यह कहना सही नहीं होगा कि कार्ल मार्क्स ने प्रौद्योगिकी या आर्थिक निर्धारण के एक साधारण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। मार्क्स ने समाज के बारे में एक वृहद् संरचनात्मक व्याख्या की उद्घोषणा की थी, जिसमं वर्ग-संघर्ष और परिवर्तन की अवधारणायें प्रमुख थीं।
- यद्यपि, मार्क्स ने सामाजिक स्तरीकरण की एक स्पष्ट अवधारणा प्रस्तुत नहीं की है, फिर भी उसने वर्ग और वर्ग संघर्ष के बारे में आनुभविक सन्दर्भों पर बल दिया है। मार्क्स के अनुसार, इतिहास के प्रत्येक युग में एक प्रमुख उत्पादन विधि रही है और उसके आधार पर वर्ग संरचना बनी है, जिसमें शासक वर्ग और शोषित वर्ग, अर्थात् समाज के दो प्रस्थिति स्तर देखे जा सकते हैं।
- सामाजिक स्तरीकरण पर उपलब्ध पर साहित्य पर एक नजर डालने से स्पष्ट होता है कि मानव समाज में तीव्र परिवर्तन के कारण 'प्रक्रिया' का तत्व बहुत प्रबल हो गया है। 'पूँजीपतिकरण', 'निजीकरण', 'असर्वहाराकरण', 'प्रस्थिति बेमेल', 'प्रस्रिूथति पारदर्शीकरण', 'वर्गविहीनता', 'समतावाद', 'अस्तरीकरण', 'पुनःस्तरीकरण', 'भूमण्डलीकरण' आदि धारणाओं से स्तरीकरण के अवधारणाकरण में और अधिक सामग्री एकत्रित हुई है, लेकिन इससे सामाजिक स्तरीकरण को परिभाषित करने का कार्य बहुत कठिन और जटिल भी हुआ है।
- वह प्रक्रिया जिसके द्वारा मनुष्यों और समूहों को प्रस्थिति के पदानुक्रम में न्यूनाधिक स्थायी रूप से श्रेणीबद्ध किया जाता है, स्तरीकरण कहलाती है।[1] **रेमण्ड मुरे** (Raymond W. Murray) के अनुसार, "सामाजिक स्तरीकरण समाज का 'उच्च' और 'निम्न' सामाजिक इकाइयों में सामान्तर विभाजन है।" प्रत्येक समाज पृथक् समूहों में विभक्त है। प्राचीनतम समाजों में भी किसी न किसी प्रकार का सामाजिक स्तरीकरण था।
- प्रस्थिति की असमानता अथवा पद का विभेदीकरण, सामाजिक स्तरीकरण की प्रमुख विशेषता है। यहाँ सामाजिक स्तरीकरण होगा, वहाँ सामाजिक असमानता होगी। यद्यपि मानव ने सदैव ऐसे संसार का स्वप्न देखा है जिसमें प्रस्थिति का भेदभाव न हो और सभी व्यक्ति समान हों। फिर भी, यह कटु सत्य है कि समाज विभिन्न पदों को विभिन्न अधिकार एवं सुविधाएँ प्रदान करता है। कुछ व्यक्तियों और समूहों को उनके द्वारा भोगे जाने वाली सुविधाओं और विशेषाधिकारों के आधार पर दूसरों की अपेक्षा उच्च माना जाता है।
- जब प्रस्थिति और जन्म पर आधारित विशेषाधिकारों में गिरावट आती है तब समानता और नागरिकता में प्रगति होती है। लेकिन सही व सच्ची समानता तभी प्राप्त की जा सकती है जब बाजार, निजी सम्पत्ति, पारिवारिक विरासत और वर्ग व्यवस्था जैसी पूँजीवादी संस्थाओं को समाप्त किया जाता है।
- समानता के अन्तर्गत, सामाजिक प्रस्थिति और सोपान पर आधारित परम्परात्मक विभेदों को स्वीकार नहीं किया जाता है। समानता के सिद्धान्त में, वैयक्तिक अन्तरों और स्वतंत्रताओं को भी धमिल किया जाता है। वास्तविक समानता, जाति-आधारित सोपान और सामन्तवाद के साथ अस्तित्व में नहीं रह सकती। प्रदत्त विभेदों या जन्म-आधारित कसौटियों द्वारा वास्तविक जीवन में अवसरों और पहुँचों को निर्धारित नहीं किया जा सकता।

नोट

- निर्धनता और असमानता विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न अनुपतों में एक साथ विद्यमान रहती है। जिन कारणों से असमानता निरंतर रहती है, उन्हीं के परिणामस्वरूप प्राय: निर्धनता भी पाई जाती है, लेकिन समानता प्राप्त के परिणामस्वरूप प्राय: निर्धनता भी पाई जाती है, लेकिन समानता प्राप्त करने में या गरीबी उन्मूलन में आने वाली सामाजिक बाधायें हर समाज में एक जैसी नहीं होतीं। कुछ समाजों में, जाति, सजातीयता और प्राजाति बहुत बड़ी समस्याएं हो सकती है, जबकि अन्य समाजों में आर्थिक अवसरों और संसाधनों की कमी और निरन्तरित आर्थिक व राजनीतिक असमानतायें रोड़ा हो सकती हैं। सच तो यह है कि गरीबों को अपनी हालत सुधारने के लिये अवसरों से वंचित रखा जाता है, या चूँकि लोग गरीब हैं, इसलिए वे उन लोगों के साथ प्रतियोगिता नहीं कर सकते हैं जो गरीब नहीं है, क्योंकि वे अवसरों और संसाधनों तक सफलतापूर्वक पहुँच रखते हैं।
- वृहद् समाज की प्रमुख संस्थाओं में प्रभावी भागीदारी और एकीकरण का अभाव, निर्धनता की संस्कृति का एक महत्वपूर्ण लक्षण है। निर्धनता अपने-आप में निर्धनता की संस्कृति का मूल कारण है।
- अंत में, निर्धन–चाहे ग्रामीण हैं या नगरीय हैं, वे एक जैसे नहीं हैं। वे विभाजित वर्ग हैं, जो श्रमिक और भवन निर्माणकर्मी, कारीगर, कृषक–मजदूर, छोटे उद्योगों में कार्य करने वाले कारीगर, और घरेलू नौकर आदि की तरह काम कर रहे हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो हमारी अर्थव्यवस्था के औपचारिक व संगठित क्षेत्रों में कार्यरत हैं। निर्धन लोग, विभिन्न जातियों, समुदायों, क्षेत्रों और धर्मों से भी जुड़े हुए हैं। ग्रामीण और नगरीय निर्धन लोगों की सामाजिक–सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भी, नौकरियों और अवसरों तक पहुँच और उनकी अपनी प्राथमिकताओं को प्रभावित करती हैं।

## 2.7 शब्दकोश (Keywords)

- **मानक** : नापने का मानदंड, रूप।
- **सोपान** : सीढ़ी, जीना।
- **नियमांकन** : नियमों का अंकन या लिखित रूप।
- **वंचन** : धोखा देना, ठगी, धूर्तता।

## 2.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. स्तरीकरण संबंधित आधारभूत अवधारणाओं का विवेचन कीजिए।
2. सोपान किसे कहते हैं? सोपान से संबंधित लुई डूमा का दृष्टिकोण बताइये।
3. सामाजिक अलगाव को स्पष्ट करते हुए इसके आयाम पर प्रकाश डालिए।
4. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–
   (*i*) जाति सोपान
   (*ii*) निर्धनता और वंचन
   (*iii*) भारत में निर्धनता।

नोट

**उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)**

**1.** 1. (क) 2. (ग) 3. (ख) 4. (क) 5. (ग)

**2.** 1. भारत 2. सामाजिक अलगाव 3. लगाव-अलगाव 4. पितृसत्ता 5. संविधान
6. अमर्त्य सेन 7. भारतीय परिवार

## 2.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. ए. आर. देसाई; *सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म;* पॉपुलर बुक डिपो, बॉम्बे।
2. दीपांकर गुप्ता; 2008 "*सोशल स्ट्रैटिफिकेशन*" इन वीना दास ऑक्सफोर्ड हैडबुक ऑफ इंडियन सोशियोलॉजी; ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

नोट

# इकाई–3: सामाजिक स्तरीकरण का सिद्धांत-I (Theories of Social Stratification-I)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

3.1 डेविस एवं मूरे की सैद्धांतिक अवधारणाएँ (Theoretical Formulations of Davis and Moore)

3.2 पारसन्स की सैद्धांतिक अवधारणाएँ (Theoretical Formulations of Parsons)

3.3 सारांश (Summary)

3.4 शब्दकोश (Keywords)

3.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

3.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- डेविस एवं मूरे तथा पारसन्स की सैद्धांतिक अवधारणाओं को समझने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

सामाजिक स्तरीकरण की एक निश्चित एवं स्पष्ट विवेचना प्रो. डेविस एवं मूरे तथा पारसन्स ने की। इनकी प्रमुख मान्यता में प्रकार्यात्मक सिद्धांत का प्रारम्भ प्रकार्यवाद की उस सामान्य पूर्व मान्यता से होता है, जिसके अनुसार यह मान लिया गया है कि सामाजिक स्तरीकरण का सामाजिक व्यवस्था में एक निश्चित प्रकार्य अवश्य ही होता है। सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों में पाया जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इसका अवश्य ही कोई ऐसा प्रकार्य होना चाहिए जोकि सामाजिक व्यवस्था के बने रहने अथवा उसकी क्रियाशीलता के लिए महत्त्वपूर्ण है। इन समाजशास्त्रियों के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण सामाजिक स्थितियों के वितरण की वह व्यवस्था है जो कुछ निश्चित सामाजिक प्रकार्यों को करने के लिए विकसित की जाती है।

## 3.1 डेविस एवं मूरे की सैद्धांतिक अवधारणाएँ (Theoretical Formulations of Davis and Moore)

**प्रो. डेविस** तथा **मूर** को सामाजिक स्तरीकरण के सम्बन्ध में दो बातों के लिए श्रेय जाता है–(1) सामाजिक स्तरीकरण तथा सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के बीच पाए जाने वाले सम्बन्ध को स्पष्ट करना। (2) इस बात पर बल देना कि सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में सामाजिक स्तरीकरण के कुछ निश्चित प्रकार्यों को खोजा जा सकता है। सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों में पाया जाता है।

नोट

इसकी प्रकार्यवादी व्याख्या यह है कि प्रत्येक समाज को सामाजिक संरचना में व्यक्तियों का स्थान निर्धारित करने तथा उन्हें प्रेरित करने की आवश्यकता का अनुभव होता है। साथ ही, सभी समाजों में अलग-अलग स्थितियों में प्रतिष्ठा के वितरण में अन्तर पाये जाते हैं, इस अन्तर का आधार ढूँढ़ने का प्रयत्न भी इस सिद्धांत में किया गया है। प्रो. डेविस तथा मूर ने सामाजिक स्तरीकरण के एक ऐसे सार्वभौमिक सिद्धान्त को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, जिसमें स्तरीकरण के आधारों का स्पष्ट विश्लेषण हो।

**स्तरीकरण का आधार** (Basis of Stratification)–**प्रो. डेविस** तथा **मूर** के अनुसार समाज में स्थितियों का ऊँचे-नीचे का संस्तरण होता है। तथापि एक स्थिति (status) का ऊँचा या नीचा होना इस बात पर निर्भर करता है कि उस स्थिति का प्रकार्यात्मक महत्त्व अधिक या कम है। वरन् यह इस बात पर निर्भर नहीं करता है कि उस स्थिति का प्रकार्यात्मक महत्त्व अधिक या कम है। वरन् यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस स्थान की पूर्ति सरलतापूर्वक हो सकती है, तो उस स्थान पर कार्य करने वाले व्यक्ति को उच्च स्थिति प्रदान करने की कोई आवश्यकता अनुभव नहीं की जाती। पर यदि स्थान महत्त्वपूर्ण है और उसकी पूर्ति सरलतापूर्वक नहीं हो सकती हो, तो उससे सम्बन्धित व्यक्ति को उच्च स्थिति व प्रतिष्ठा प्रदान की जाती है।

**कार्य करने की क्षमता** (Working Capability)–प्रत्येक स्थिति में, चाहे वह प्रदत्त स्थिति (ascribed status) हो अथवा अर्जित स्थिति (achieved status), बने रहने के लिए कुछ कार्य-कौशल या कार्य करने की क्षमता की आवश्यकता होती है। यह कार्य-कौशल या तो जन्मजात होता है अथवा प्रशिक्षण (training) द्वारा प्राप्त किया जाता है।

1. कुछ पदों या स्थितियों पर काम करने के लिए उच्च कोटि के पैतृक गुणों की आवश्यकता होती है। यदि ऐसे व्यक्ति समाज के पैतृक गुणों की आवश्यकता होती है। यदि ऐसे व्यक्ति समाज में बहुत ही कम संख्या में हैं, तो उनकी सामाजिक स्थिति अति उच्च व प्रतिष्ठामूलक मानी जाएगी।
2. कुछ स्थितियाँ ऐसी होती हैं जिन पर वे लोग ही विराजमान हो सकते हैं जिन्हें लम्बे, महंगे तथा विस्तृत प्रशिक्षण प्राप्त हैं। यदि इस प्रकार के प्रशिक्षण समाज में सुलभ नहीं हैं, तो ऐसे प्रशिक्षण (training) बहुत कम लोगों को ही प्राप्त हो सकेंगे और उनकी सामाजिक स्थिति ऊँची व महत्त्वपूर्ण मानी जाएगी।

**महत्त्वपूर्ण दशाएँ** (Important Conditions)–विभिन्न समाजों में स्थितियों का महत्त्व भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक समाज को आन्तरिक तथा बाह्य दशाएँ अलग-अलग होती हैं। निम्नलिखित प्रमुख दशाएँ इस स्थिति को प्रभावित करती हैं।

1. **आन्तरिक दशाएँ**–(अ) विशेषीकरण की मात्रा (Degree of specialization), (ब) प्रकार्यात्मक महत्त्व की प्रकृति (The nature of functional emphasis), (स) द्वेष उत्पन्न करने वाली भिन्नताओं की मात्रा (The magnitude of invidious differences), (द) समाज में स्तरीय संगठन की मात्रा (The degree of stratum solidarity), एवं (य) अवसरों की मात्रा (The degree of opportunities)।
2. **बाह्य दशाएँ**–(क) सांस्कृतिक विकास का स्तर (The stage of cultural development), (ख) दूसरे समाजों के सन्दर्भ में उस समाज की परिस्थिति (Situation with respect to other societies), एवं (ग) समाज का आकार (Size of the society)।

**स्तरीकरण के प्रकार्य** (Functions of Stratification)–डेविस और मूर के अनुसार विभिन्न पदों पर सबसे उत्तम व्यक्ति चुने जाएं और वे अच्छा काम करें, यह सुनिश्चित करने के लिए सर्वाधिक प्रभावी उपाय सामाजिक स्तरीकरण है। यह प्रणाली इसलिए प्रभावी है कि यह समाज में अलग-अलग पदों या स्थानों के लिए असमान पारितोषिक और विशेषाधिकार देती है। सभी लोगों को अगर समान पारितोषिक और विशेषाधिकार देती है। सभी लोगों को अगर समान पुरस्कार दिया जाए, तो उनमें कठोर श्रम करने की कोई आकांक्षा नहीं रहेगी। असमान पारितोषिक की इस व्यवस्था के दोहरे लाभ निम्न प्रकार हैं–

नोट

(1) इससे लोग कुछ खास पदों या स्थानों को प्राप्त करने के लिए प्रेरित होते हैं। पदों से जब अधिक पारितोषिक मिल रहा हो, तो इन्हें पाने के लिए लोग अधिक प्रयत्न और परिश्रम करते हैं, ताकि उनमें पर्याप्त योग्यता आ जाए।

(2) ये पारितोषिक पदों के भर जाने के बाद भी असमान रहने चाहिए, ताकि जिन व्यक्तियों को इन पदों पर नियुक्त किया गया है, उन्हें अपने कार्य को सुधारने की प्रेरणा मिले। स्तरीकरण की यह प्रणाली स्पर्द्धा पर आधारित समाज और प्रदत्त पर आधारित पारंपरिक समाज दोनों के लिए उपयोगी है। आधुनिक समाज में लोग अपनी प्रवीणता और शैक्षिक योग्यताओं के अनुसार पदों पर विराजते हैं। जो लोग अधिक योग्य और शिक्षित होते हैं, उन्हें बेहतर पारितोषिक मिलते हैं और वे प्रतिष्ठित पदों पर आसीन होते हैं।

*क्या आप जानते हैं* पारंपरिक रूप से जातियों में बंटे भारतीय समाज में लोगों को अपने पद या स्थान योग्यता के कारण नहीं बल्कि जन्म से मिले दर्जे से मिल जाते हैं।

### डेविड तथा मूर प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएँ

प्रत्येक समाज की अपनी प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं होती हैं, जो उन्हें जीवित रहने और सुचारु रूप से चलने में सहायक होती हैं। समाज व्यक्तियों का समूह उनका एकत्रीकरण मात्र नहीं होता। इन व्यक्तियों को निर्दिष्ट कार्य पूरे करने होते हैं ताकि समाज की आवश्यकताएं पूरी हो सकें। इसलिए समाज में अनेक क्रियाकलाप चलते हैं।

विशिष्ट श्रेणी की प्रवीणता रखने वाले लोग इन अलग-अलग कार्यों को सम्पन्न करते हैं। इसलिए किसी भी समाज की पहली प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षा इन भिन्न-भिन्न भूमिकाओं का प्रभावशाली ढंग से वितरण है।

उपर्युक्त प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षा के चार पहलू हैं–

(1) समाज में सारी भूमिकाएँ पूरी की जानी होती हैं। सभी समाजों में अलग-अलग किस्म के पेशे, व्यवसाय चलते हैं। इन व्यवसायों को भी पूरा किया जाना जरूरी है।

(2) निश्चित कार्यों के लिए ऐसे गलत लोग चुन लिए जाते हैं, जिनमें इन कार्यों को पूर्ण करने के लिए अनिवार्य प्रवीणता नहीं है, तो इससे समाज में अस्थिरता उत्पन्न होगी। अतएव इन स्थानों को सबसे योग्य और सक्षम व्यक्तियों से भरना चाहिए।

(3) निर्दिष्ट कार्य के लिए सबसे श्रेष्ठ व्यक्ति ही चुने जाएँ। कार्य के लिए सबसे उत्तम व्यक्ति चुना जाए, इसे सुनिश्चित करने का सबसे प्रभावशाली उपाय प्रशिक्षण है।

(4) कर्त्तव्य का सम्पादन निष्ठापूर्वक होना चाहिए। यदि प्रशिक्षित, दक्ष और अपने कार्य में श्रेष्ठ व्यक्ति अपना कार्य पूरे समपर्ण और निष्ठा से नहीं करता, तो इससे पूरी व्यवस्था को क्षति पहुंचेगी। इसलिए समाज की प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाओं की पूर्ति के लिए ये चारों कारक अनिवार्य हैं।

आधुनिक समाज में व्यक्ति की हैसियत का निर्धारण उसके जन्म से न होकर उसकी योग्यता से तय होता है। इस प्रकार का समाज बड़ा ही गतिशील और परिवर्तनकारी है और अपनी प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाओं को पूरा करने में सक्षम रहता है। डेविस और मूर के अनुसार इसके लिए निम्नलिखित प्रस्थापनाएं हर समाज में समान रूप से विद्यमान होती हैं–

1. **अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण पद**–प्रत्येक समाज में कुछ पद या स्थान कार्य की दृष्टि से अन्य से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। इन पदों में अधिक पारितोषिक और प्रतिष्ठा मिलती है। उदाहरण के लिए, भारतीय प्रशासनिक सेवा को अन्य नौकरियों से अधिक प्रतिष्ठा हासिल है।
2. **सीमित क्षमताएँ**–इन भूमिकाओं के निर्वाह के लिए केवल सीमित व्यक्तियों में अनिवार्य योग्यता या क्षमता

नोट

होती है। जैसे–आइ.ए.एस. (भारतीय प्रशासनिक सेवा) परीक्षा में बैठते तो लाखों लोग हैं, लेकिन कुछ ही प्रत्याशी सफल हो पाते हैं।

3. **गहन प्रशिक्षण**–इन पदों या स्थानों के लिए अधिकतर एक लंबे और गहन प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। जो लोग इन पदों को अर्जित करते हैं, उन्हें इसके लिए बड़ा त्याग करना पड़ता है। उदाहरणार्थ–आयुर्विज्ञान, इंजिनीयिरिंग, चार्टर्ड एकाउंटेंसी जैसे कुछ विशेष पेशों में गहन और खर्चीले प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है।

प्रो. डेविस तथा मूर के उपर्युक्त सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त की मुख्य विशेषताओं को **प्रो. मेलविन एम. टूमिन** (Melvin M. Tumin) ने निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है–

(1) समाज में कुछ स्थितियाँ प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण से दूसरी स्थितियों की आपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होती हैं। उन स्थितियों से सम्बन्धित प्रकार्यों को करने के लिए विशेष कार्यकौशल की आवश्यकता पड़ती है।

(2) उच्च स्थितियों पर कार्य करने के लिए जिस कार्यकौशल की आवश्यकता होती है, उसी के अनुसार गुणवान व्यक्ति समाज में बहुत कम संख्या में पाए जाते हैं, जिन्हें उन स्थितियों पर कार्य करने के अनुरूप कुशल बनाने का प्रशिक्षण दिया जा सके।

(3) इस प्रकार प्रशिक्षण के द्वारा आवश्यक कार्यकौशल को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को किसी-न-किसी प्रकार का बलिदान अवश्य देना होता है।

(4) योग्य व्यक्तियों को इस प्रकार का बलिदान करने तथा आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त करने हेतु प्रेरित करने के लिए उनकी स्थितियों के साथ विभिन्न प्रकार के प्रलोभनों व अधिकारों को जोड़ दिया जाता है।

(5) इन प्रलोभनों को तीन मुख्य श्रेणियों में बाँटा जा सकता है–(अ) जीविका और आराम (Sustenance and Comfort), (ब) आमोद-प्रमोद (Humour and Diversion) तथा (स) आत्म-सम्मान तथा अहम्-विस्तार (Self-respect and Ego-expansion)।

(6) इस प्रकार के प्रलोभनों में विद्यमान भिन्नताओं का प्रभाव स्थितियों में अन्तर्निहित प्रतिष्ठा व सम्मान पर पड़ता है। उसी के अनुसार संस्थागत सामाजिक असमानताओं का अर्थात् सामाजिक स्तरीकरण का निर्धारण होता है।

### 3.1.1 डेविस व मूर का सामाजिक स्तरीकरण का प्रकार्यवादी सिद्धान्त

डेविस तथा मूर ने अपने सिद्धान्त की व्याख्या प्रकार्यात्मक आधार पर की है, इसलिए इसे 'सामाजिक स्तरीकरण का सिद्धान्त' भी कहते हैं।

**स्तरीकरण की प्रकार्यात्मक आवश्यकता** (The Functional Necessity of Stratificaton)–एक प्रकार्यात्मक यन्त्र के रूप में एक समाज को किसी न किसी प्रकार अपने सदस्यों को सामाजिक स्थितियों में वितरित करना और उन्हें इन स्थितियों के कर्त्तव्यों को करने के लिए प्रेरित करना है। इस दृष्टि से निम्नलिखित दो स्थलों पर प्रेरणा आवश्यक है–

(1) कुछ निश्चित स्थितियों को भरने के लिए उचित व्यक्तियों में इच्छा भरना, और

(2) इन स्थितियों पर पहुँचने पर उनमें यह प्रेरणा देना कि वे इन स्थितियों के कर्त्तव्यों को पूरा करें। हर प्रकार के समाज में ये कार्य करने पड़ते हैं।

यदि सब स्थितियाँ सामाजिक अस्तित्व के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण हों और सबके लिए समान योग्यता की आवश्यकता हो, तो समाज के लिए कोई कठिनाई न होती। पर व्यवहार में कुछ स्थितियाँ समाज के लिए अत्याधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं, जिनके कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए विशेष योग्यता की आवश्यकता पड़ती है। अनिवार्य रूप से, प्रत्येक समाज में कुछ पुरस्कार (rewards) होने चाहिए, जिनके द्वारा लोगों को प्रेरणा दी जा सके और साथ

नोट

ही कुछ ऐसे तरीके होने चाहिए जिनसे कि स्थितियों के अनुसार विभेद करके ये पुरस्कार वितरित किए जा सकें। "पुरस्कार और उनका वितरण सामाजिक व्यवस्था का एक भाग बन जाता है, और इसलिए स्तरीकरण के उदय को जन्म देता है।"

डेविस तथा मूर ने तीन प्रकार के पुरस्कार बताए हैं–

(1) जीवन को बनाए रखने (sustenance) और आराम (comfort) में योगदान करने वाले,

(2) ऐसी वस्तुएँ जो परिहास (humour) और मनोरंजन (diversion) में सहायक हों, और

(3) स्व-आदर (self-respect) और अहं-विस्तार (ego-expansion)।

किसी भी सामाजिक व्यवस्था में ये तीन प्रकार के पुरस्कार स्थितियों के भेदों के आधार दिए जाने होते हैं।

इन पुरस्कारों के कारण लोगों को इन स्थितियों को प्राप्त करने की लालसा होती है और वे अनिवार्य कर्त्तव्यों को पूरा करते हैं। प्रत्येक जटिल या सरल समाज में विभेदीकरण प्रतिष्ठा और आदर के आधार पर होता है और इसलिए एक निश्चित प्रकार की संस्थात्मक असमानता पाई जाती है।

**रिक्त पदों के दो नियामक** (The Two Determinate of Positional Rank)–विभिन्न स्थितयों के सापेक्षिक पदों के नियामक दो कारक होते हैं–

(1) समाज के लिए अत्यधिक महत्त्व रखते हैं, और

(2) अधिकतम प्रशिक्षण या योग्यता की आवश्यकता होती है।

पहला कारक **'प्रकार्य'** (function) से सम्बन्धित है और सापेक्षिक महत्त्व का विषय है; दूसरा **'साधन'** (means) से सम्बन्धित है और अभाव का विषय है।

**विभेदीकृत प्रकार्यात्मक महत्त्व** (Differential Functional Importance)–कम आवश्यक स्थितियाँ अधिक आवश्यक स्थितियों के साथ सफलतापूर्वक प्रतिद्वन्द्वता नहीं करती हैं। चाहे कोई स्थिति महत्त्वपूर्ण ही क्यों न हो, यदि वह सरलता से भर जाती है, तो उसके लिए अधिक पुरस्कार नहीं देना पड़ता। इसके विपरीत यदि कोई स्थिति महत्त्वपूर्ण है और उसे भर पाना कठिन है, तो उसे किसी भी प्रकार से भरने के लिए अधिक पुरस्कार देने पड़ते हैं। प्रकार्यात्मक महत्त्व आवश्यक है, परन्तु एक स्थिति को ऊँचा पद प्रदान करने का समुचित कारण नही है।

**व्यक्तियों का विभेदीकृत अभाव** (Differential Scarcity of Personnel)–व्यावहारिक रूप से, सभी स्थितियाँ चाहे जैसे भी वे अर्जित की जाती हों, कुछ कुशलता (skill) अथवा करने की क्षमता (c apacity for performance) की आवश्यकता पड़ती है।

व्यक्ति की योग्यता के दो तत्व हैं–

(अ) आन्तरिक क्षमता के द्वारा, और

(ब) प्रशिक्षण के द्वारा।

इनका विवरण निम्न प्रकार है–

(1) कुछ स्थितियों के लिए ऐसी मूलभूत उच्च क्षमता (innate talents) की आवश्यकता पड़ती है कि उनको भरने के लिए ऐसी क्षमता वाले व्यक्ति कम ही होते हैं।

(2) कुछ स्थितियों के लिए जनसंख्या में क्षमता रखने वाले बहुत व्यक्ति होते हैं, परन्तु प्रशिक्षण की प्रक्रिया बहुत लम्बी, कीमती और विस्तृत होती है कि सापेक्षिक रूप से कुछ ही लोग योग्यता प्राप्त कर पाते हैं।

यदि किसी स्थिति को भर पाने वालों का अभाव है और वह स्थिति प्रकार्यात्मक महत्त्व रखती है, तो उसे भरने के लिए अनिवार्य है कि बहुत ही आकर्षक पुरस्कार होने चाहिए। दूसरे शब्दों में, स्थिति का सामाजिक स्तर में ऊँचा होना आवश्यक है, उसके लिए अधिक प्रतिष्ठा, अधिक वेतन, पर्याप्त विश्राम आदि पुरस्कार होने आवश्यक हैं।

नोट

*टास्क* प्रकार्यवादी सिद्धांत के बारे में पाँच पंक्तियां लिखो।

**स्तरीकरण व्यवस्थाओं में अन्तर** (Variation in Stratification Systems)–स्तरीकरण के सामान्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं–

1. **विशेषीकरण की मात्रा** (The Degree of Specialization)–विशेषीकरण की मात्रा शक्ति एवं प्रतिष्ठा के स्तरों की संख्या को प्रभावित करती है। यह इस तथ्य को भी प्रभावित करती है कि किस विशिष्ट प्रकार्य पर किस व्यवस्था में बल दिया जाएगा।
2. **प्रकार्यात्मक महत्त्व की प्रकृति** (The Nature of the Functional Emphasis)–सामान्य रूप से, जब पवित्र (sacred) विषयों पर बल दिया जाता है, तो संकुचितता प्रवेश पा लेती है, जो विशेषीकरण को सीमित कर देती है और फलस्वरूप प्रौद्योगिकी का विकास भी सीमित हो जाता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक गतिशीलता भी अवरुद्ध हो जाती है और कर्मचारीतंत्र (Bureaucracy) का विकास भी नहीं होता है। जब पवित्र या धर्म का पंजा ढीला हो जाता है, तो आर्थिक और प्रौद्योगिक विकास को अधिक प्रोत्साहन मिलता है।
3. **विरोधी असमानताओं की सीमा** (The Magnitude of Invidious Differences)–स्थितियों के बीच सामाजिक दूरी (social distance) पायी जाती है, जिसका गणनात्मक मापन किया जा सकता है।
4. **अवसरों की मात्रा** (The Degree of Opportunity)–उपर्युक्त पुरस्कार के समानता और असमानता के प्रश्न से गतिशीलता की मात्रा का प्रश्न भिन्न है, क्योंकि दोनों कसौटियाँ बहुत सीमा तक एक-दूसरे से स्वतंत्र होकर प्रचलन करती हैं। गतिशीलता स्वयं में एक कारक है।
5. **श्रेणीगत एकता की मात्रा** (The Degree of Stratum Solidarity)–**'वर्ग एकता'** (Class Solidarity) अन्य कसौटियों से पृथक् कार्य करती है और इसलिए स्तरीकरण की वर्गीकरण व्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। ध्रुवीय प्रकार–वर्ग संगठित, वर्ग असंगठित।

**बाह्य दशाएँ** (External Conditions)–स्तरीकरण की कोई विशिष्ट व्यवस्था इन अन्तरों के प्रकारों के सन्दर्भ में क्या स्थिति लेगी, दो वस्तुओं पर निर्भर करता है–

(1) अन्तर के अन्य क्षेत्रों के सन्दर्भ में इसकी स्थिति, और

(2) स्तरीकरण की व्यवस्था के बाहर की दशाएँ, जो उस व्यवस्था को प्रभावित करती हैं। ये दशाएँ (conditions) निम्नलिखित हैं–

**(अ) सांस्कृतिक विकास का स्तर** (The Stage of Cultural Development)–सांस्कृतिक विकास बढ़ने के साथ-साथ अधिक विशेषीकरण आवश्यक हो जाता है, यह गतिशीलता को बढ़ाता है, श्रेणीगत एकता को कम करता है और प्रकार्यात्मक महत्त्व में परिवर्तन करता है।

**(ब) अन्य समाजों के सम्बन्ध में दशा** (Situation with Respect to Other Societies)–अन्य समाजों से खुले संघर्ष की उपस्थिति या अनुपस्थिति, स्वतन्त्र व्यापार सम्बन्ध या सांस्कृतिक प्रसार, सब वर्ग-संरचना को कुछ सीमा तक प्रभावित करते हैं।

**(स) समाज का आकार** (Size of Society)–एक लघु समाज में प्रकार्यात्मक विशेषीकरण, विभिन्न स्तरों के पृथक्कीकरण की मात्रा और असमानता की मात्रा पर सीमाएँ निर्धारित होती हैं। वृहद् समाजों में अधिक सीमाएँ नहीं होती हैं।

नोट

### 3.1.2 डेविस तथा मूरे के सिद्धान्त की आलोचना

**ट्यूमिन** (Melvin W. Tumin) ने डेविस तथा मूरे के स्तरीकरण के तर्कों को क्रमबद्ध मान्यताओं से निम्नलिखित रूप से लिखा है–

(1) किसी समाज में कुछ स्थितियाँ अन्य दूसरी स्थितियों से प्रकार्यात्मक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं और उनको करने के लिए विशेष कार्यकुशलता अनिवार्य होती है।

(2) इन स्थितियों के लिए उपयुक्त कार्यकुशलता के प्रशिक्षण के लिए किसी भी समाज में व्यक्तियों की सीमित संख्या होती है।

(3) क्षमता के कार्यकुशलता में परिवर्तन हो, इसके लिए एक प्रशिक्षण काल की आवश्यकता होती है, जिस काल में प्रशिक्षणार्थियों (trainees) को एक या दूसरे प्रकार के त्याग करने पड़ते हैं।

(4) इन त्यागों को करने के लिए और प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए क्षमतायुक्त व्यक्तियों को प्रेरणा देनी पड़ती है।

(5) ये अभावी और इच्छित वस्तुएँ अधिकारों और पूर्व आवश्यकताओं से निर्मित होती हैं, जो स्थितियों में निहित हो जाती हैं। इन्हें वस्तुओं के उन वर्गों में सम्मिलित किया जा सकता है, जो

(अ) अस्तित्व और आराम,

(ब) परिहास और मनोरंजन, और

(स) स्व-आदर और अहं-विस्तार में योगदान देते हैं।

(6) समाज के मौलिक पुरस्कारों का यह विभेदीकृत वितरण, प्रतिष्ठा और आदर (जो कि विभिन्न स्तर प्राप्त करते हैं), के विभेदीकरण को उत्पन्न करता है। दूसरे शब्दों में, विभिन्न स्तरों के आदर और प्रतिष्ठा भिन्न-भिन्न होती है।

(7) इसलिए अभावपूर्ण एवं इच्छित वस्तुओं और प्रतिष्ठा एवं आदर की मात्रा में विभिन्न स्तरों के बीच सामाजिक असमानता सकारात्मक रूप में प्रकार्यात्मक और अनिवार्य है।

उपर्युक्त मान्यताओं की आलोचना निम्न प्रकार है–

1. **स्थितियों का सापेक्षिक प्रकार्यात्मक महत्त्व और विशेष कार्यकुशलता की आवश्यकता** (Relative Functional Importance of Situation and Necessity of Special Skill)–किसी भी समाज में किन स्थितियों को प्रकार्यात्मक महत्त्व दिया जाता है, यह प्रश्न स्वयं में ही विवादास्पद है। यह समय-समय की बात है। **ट्यूमिन** के अनुसार पुरस्कारों एवं प्रेरणाओं की वर्तमान व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण के सामान्य सिद्धान्त की दृष्टि से प्रेरणाओं की सम्भावित व्यवस्थाओं में से एक है। इसलिए डेविस तथा मूरे को सापेक्षिक प्रकार्यात्मकता का पूरा विचार संशोधन करना पड़ेगा।

2. **प्रशिक्षण के लिए क्षमता योग्य व्यक्तियों का अभाव** (Lack of Capable Persons of Training)–समाज में क्षमता योग्य व्यक्तियों का पता लगाना कठिन होता है। कठोर स्तरित व्यवस्था में तो यह कार्य और भी अधिक कठिन हो जाता है क्योंकि कुछ वर्ग अधिक सम्पन्न होते हैं और अधिकांश वस्तुओं पर अधिकार जमाए रहते हैं। शिक्षा और प्रशिक्षण धन से सम्भव होते हैं और धन विशेष स्तर के वर्ग के पास होता है।

3. **प्रशिक्षण काल में त्याग** (Sacrifice During Training)–**ट्यूमिन** का कहना है कि प्रशिक्षण काल में त्याग की बात तथ्यों से प्रमाणित नहीं होती है। प्रशिक्षणार्थी काल में समय लगाते हैं और धन व्यय करते हैं। पर व्यय तो माता-पिता करते हैं, जिन्हें पहले से ही समाज पुरस्कार दे रहा है। फिर त्याग किस बात का?

नोट

4. **त्याग के बदले भविष्य की स्थितियों के लिए असमान पुरस्कार** (Unequal Rewards for the Future Circumstances in Return of Sacrifice)–**ट्यूमिन** का कहना है कि क्या अधिक त्याग करने के लिए असमान पुरस्कार ही एक मात्र प्रेरणा का साधन है। ऐसा नहीं है, अन्य तथ्यों पर भी विचार करना चाहिए। उदाहरण के लिए, **डी मेन** (De Man) ने **'कार्य में आनन्द', वेबलन** (Veblen) ने **'निर्माण करने की मूलप्रवृत्ति'** (instinct for workmanship) का उल्लेख किया है।
5. **पुरस्कारों के प्रकार** (Kinds of Rewards)–इस सम्बन्ध में **ट्यूमिन** ने कोई टिप्पणी नहीं की है।
6. **असमान पुरस्कार वितरण और स्तरीकरण की उत्पत्ति** (Unequal Prize Distribution and Rise of Stratification)–डेविस तथा मूरे ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि उपर्युक्त तीन प्रकारों के पुरस्कारों में कौन-सा अधिक प्रेरणा देता है।
7. **सामाजिक असमानता सकारात्मक रूप से प्रकार्यात्मक और अनिवार्य** (Social Inquality in Functional and Essential Structurally)–**ट्यूमिन** का कहना है कि यह आवश्यक नहीं है कि स्तरण सदैव प्रकार्यात्मक अनिवार्य ही हो। उसने निम्नलिखित **स्तरीकरण के अकार्य** (Dysfunctions of Stratification) बताए हैं–
   (*i*) सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्थाएं एक समाज में उपलब्ध क्षमता योग्य व्यक्तियों के पूर्ण विस्तार की खोज की सम्भावना को सीमित करती है।
   (*ii*) ऐसा करने के कारण सामाजिक स्तरीकरण समाज के विकसित होते हुए उत्पादन साधनों की सम्भावनाओं पर सीमाएँ निर्धारित करता है।
   (*iii*) सामाजिक स्तरीकरण उच्च वर्ग को ऐसी राजनैतिक शक्ति प्रदान करता है, जिससे वे वर्तमान स्थिति को बनाये रखने में समर्थ रहते हैं।
   (*iv*) सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्थाएं एवं जनसंख्या में अनुकूल आत्मचित्र असमान वितरित करते हैं। इसके कारण बहुत-से व्यक्तियों की इस निर्माण शक्ति के विकास पर सीमा निर्धारित करते हैं।
   (*v*) वंचित वर्गों में द्वेष, संदेह, ईर्ष्या और अविश्वास को पनपाता है।

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–**

1. ..... को सामाजिक स्तरीकरण के संबंध में दो बातों के लिए श्रेय दिया जाता है।
2. डेविस और मूर के अनुसार विभिन्न पदों पर सबसे उत्तम व्यक्ति चुने जाएं और वे अच्छा काम करें, यह सुनिश्चित करने के लिए सर्वाधिक प्रभावी उपाय ..... है।
3. ..... अन्य कसौटियों से पृथक कार्य करती है।
4. प्रत्येक समाज की अपनी प्रकार्यात्मक ..... होती हैं, जो उन्हें जीवित रहने और सुचारू रूप से चलने में सहायक होती हैं।

## 3.2 पारसन्स की सैद्धांतिक अवधारणाएँ (Theoretical Formulations of Parsons)

टालकोट पारसन्स ने समाज को क्रिया व्यवस्था मात्र माना है। व्यक्ति की क्रियाओं को नैतिक आधार पर आँका जाता है। व्यक्ति स्वयं भी अपनी क्रियाओं का मूल्यांकन नैतिक आधार पर करता है। वह इस प्रकार किए गए मूल्यांकन के अनुसार ही स्वंय के प्रति उच्च अथवा निम्न की धारणा बना लेता है। इस प्रकार सदस्य उच्च व निम्न स्थितियों में वर्गीकृत हो जाते हैं। ऐसी पद्धति जिसके द्वारा समाज में उच्च व निम्न पदों का वर्गीकरण किया जाए, सामाजिक संस्तरण कहलाती है।

नोट

**परिभाषा (Definition)–पारसन्स** ने सामाजिक संस्तरण की परिभाषा इस प्रकार दी है, "*यहाँ सामाजिक स्तरीकरण को व्यक्तियों, जो कि एक निश्चित सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करते हैं और कुछ सामाजिक महत्त्वपूर्ण विषयों में श्रेष्ठ और निम्न के रूप में उनके साथ व्यवहार होता है, की असमान स्थितियों के रूप में किया जाता है।*"

**सामाजिक प्रणालियाँ (Social Systems)**–पारसन्स के अनुसार सभी सामाजिक प्रणालियाँ इसलिए उत्पन्न हुई कि इन प्रणालियों में विद्यमान प्रणालियाँ इसलिए उत्पन्न हुई कि इन सामाजिक प्रणाली तब उत्पन्न होती है, जब दो या अधिक लोग बंधन की स्थिति में परस्पर व्यवहार करते हैं और उनके कार्य दूसरों को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार सामाजिक प्रणालियाँ के निर्माणात्मक तत्त्व निम्न प्रकार हैं–(1) सामाजिक प्रणाली में लोगों का समूह होना चाहिए। (2) यह समूह दो व्यक्तियों का या देश भी हो सकता है। इसका दूसरा अर्थ यह है कि ये लोग एक साझी सीमा के भीतर विद्यमान रहते हैं। (3) वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से व्यवहार करते हैं। अंततः उनके कार्य एक-दूसरे के आचरण को प्रभावित करते हैं।

**आचरण के विभिन्न तरीके (Various Forms of Conduct)**–हम विभिन्न स्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से आचरण करते हैं। इसके प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं–

(1) यदि हम निर्दिष्ट तरीके से व्यवहार नहीं करते, तब अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न होने की पूर्ण सम्भावना रहती है।

(2) किसी भी व्यक्ति का कार्य इससे निर्धारित होता है कि वह किससे पारस्परिक व्यवहार कर रहा है। बदले में यह समाज या सामाजिक प्रणाली विशेष के आचरण नियमों से तय होता है। आचरण के नियम लोगों की आम सहमति पर आधारित होते हैं। इसी कारण इन्हें सही और शिष्ट माना जाता है। इसी आम सहमति को **पारसन्स मूल्य** कहते हैं।

(3) सामाजिक मूल्य और प्रतिमान प्रत्येक समाज की व्यवस्था और स्थिरता को बनाए रखने की आवश्यकता से उत्पन्न होते हैं। मूल्य और प्रतिमान हर समाज में अलग होते हैं। इसका कारण यह है कि प्रत्येक समाज की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। मगर हर समाज की मूल्य व्यवस्था में उभयकारक स्थिरता की आवश्यकता है। इसलिए प्रत्येक समाज अपने मूल्यों का आविष्कार करता है, जो उसके इस उद्देश्य की पूर्ति भली प्रकार करता है।

### 3.2.1 आदर्शात्मक प्रतिमान एवं सामाजिक संस्तरण का मापदण्ड (Normative Pattern and Scale of Social Stratification)

समाज में सामान्य रूप से आचरण सम्बन्धी प्रतिमान पाए जाते हैं, इन आचरणों के साथ व्यक्ति द्वारा की गयी क्रियाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। आचरण प्रतिमान को चार मुख्य भागों में विभक्त किया गया है–

(1) **अनुकूलन (Adaptation)**–इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से वे प्रतिमान अथवा पद्धतियाँ सम्मिलित हैं, जिनके आधार पर वास्तविक परिस्थितियों से उत्पन्न निराकरण किया जाता है।

(2) **लक्ष्य प्राप्ति (Goal Achievement)**–इसके अन्तर्गत वे मूल्य (values) सम्मिलित हैं, जो सामाजिक लक्ष्यों की पुष्टि के लिए सचेत रखते हैं।

(3) **एकीकरण (Integration)**–इसके अन्तर्गत वे मूल्य आते हैं, जिनसे सामाजिक व्यवस्था (Social System) के नियामक अंगों में पारस्परिक एकता स्थापित रहती है।

(4) **प्रतिमान-संरक्षण (Pattern Maintenance)**–इसके अन्तर्गत उन मूल्यों का समावेश होता है, जो विभिन्न प्रकार के प्रतिमानों की निरन्तरता व सुरक्षा में सहायता प्रदान करते हैं।

उक्त सभी मूल्यों के एकत्रीकरण को पारसन्स ने आदर्शात्मक प्रतिमान (Normative Pattern) कहकर सम्बोधित किया है। यह सभी मूल्यों का एक संगठित स्वरूप है। यह आदर्शात्मक प्रतिमान प्रत्येक सदस्य को नैतिक प्रतिमानों के प्रति सचेत रखता है। प्रत्येक सदस्य इस प्रतिमान के अनुसार ही स्वयं को निर्देशित करने का प्रयास करता है।

**मूल्य मतैक्य (Value Unianimity)**–पारसन्स ने मूल्य व्यवस्था के उद्‌भव की विवेचना की है। मूल्य किसी

नोट

व्यक्ति के मस्तिष्क से उत्पन्न न होकर साझे विश्वास हैं। अर्थात् समाज के सभी सदस्य यह मान कर चलते हैं कि ये प्रदत्त मूल्य ही सबसे उत्तम युक्ति हैं, जिसके द्वारा उनके समाज में स्थिरता कायम रखा जा सकती है। इस तरह मूल्य केवल साझे विश्वास ही नहीं, बल्कि वे समाज के सदस्यों की सहमति से उत्पन्न होते हैं। यह सहमति या मतैक्य इसलिए उत्पन्न होता है कि समाज से सदस्य दैनिक जीवन में व्यवस्था और स्थिरता चाहते हैं। इसलिए व्यवस्था, स्थिरता और सहयोग इस मूल्य मतैक्य पर निर्भर करते हैं। समाज के सदस्यों के मध्य यह आम सहमति होती है कि सभी के लिए क्या अच्छा है।

**मूल्य मतैक्य व सामाजिक संस्तरण (Value Unanimity and Social Stratification)**–प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे की क्रियाओं का तुलनात्मक अध्ययन करता रहता है। इस प्रकार तुलनात्मक मूल्यांकन स्थिति का निश्चय होता है। आदर्शात्मक प्रतिमान में मूल्यांकन कम होने से स्थिति भी निम्न हो जाएगी। अन्य व्यक्ति उसके प्रति रागात्मक भाव नहीं रखेंगे। जब रागात्मक भाव की कमी होगी, तो सब उसकी क्रियाओं में भी बाधा पहुँचाने का प्रयत्न करेंगे। केवल अन्य व्यक्तियों के द्वारा ही विरोध नहीं किया जाता, बल्कि वह व्यक्ति स्वयं भी 'आन्तरिक संघर्ष' (internal conflict) से लड़ता रहता है, अपने को हीन समझने लगता है।

*नोट्स* नैतिक प्रतिमान से जब सदस्यों की स्थिति में परिवर्तन की प्रक्रिया होती है अर्थात् उच्च व निम्न पद होते रहते हैं, इसी को पारसन्स ने सामाजिक संस्तरण की वास्तविक व्यवस्था कहा है।

**संस्तरण के आधार (Bases of Social Stratification)**–सामाजिक व्यवस्था की सभी इकाइयों को, नैतिक मूल्यांकन के आधारों को दृष्टि में रखते हुए ही स्थिति दी जाती है। कुछ आधार निम्नवत् हैं–

1. **नातेदारी समूह में सदस्यता (Membership in Kinship Unit)**–नातेदारी समूह में व्यक्ति को कोई न कोई पद प्राप्त होता है। उदाहरण के रूप में, मातृसत्तात्मक परिवार व पितृसत्तात्मक परिवार लिए जा सकते हैं। मातृसत्तात्मक पारिवारिक प्रथा में माता की स्थिति उच्च होती है, इसके विपरीत पितृसत्तात्मक परिवार प्रथा में पिता का पद उच्च माना जाता है।
2. **गुण (Qualities)**–व्यक्तिगत गुणों के आधार पर एक व्यक्ति को अन्य से पृथक् किया जाता है। आयु, लिंग, शक्ति, सुन्दरता, वंश एवं बुद्धि, ये सभी व्यक्तिगत गुण कहलाते हैं। सामाजिक पद के निर्धारण में ये गुण मुख्य हैं।
3. **सफलताएँ (Achievements)**–पारसन्स के अनुसार "*सफलताएँ व्यक्ति की क्रिया के मूल्यवान परिणाम हैं।*"

   यदि कोई क्रिया की जाएगी, तो उसका कोई न कोई परिणाम या फल भी अवश्य होगा। जिन परिणामों को समाज द्वारा महत्त्व प्राप्त हो जाता है, वे सफलताएँ कही जाती है।
4. **सम्पत्ति (Possessions)**–व्यक्ति जो भी क्रियाएँ करता है, उसके कुछ परिणाम होते हैं, समाज द्वारा महत्त्व प्राप्त हो जाने पर वे परिणाम सफलताएँ कहलाते हैं।

किसी भी समाज में जो लोग सामाजिक मूल्यों के अनुसार आचरण करते हैं, उन्हें बेहतर पारितोषिक दिया जाता है। इन पारितोषिकों का स्वरूप इस बात पर निर्भर करता है कि समाज के मूल्य किसे सर्वश्रेष्ठ ठहराते हैं। उदाहरण के लिए, राजपूतों में साहस और वीरता को अधिक महत्त्व देने की परम्परा रही है। इसलिए जो भी व्यक्ति इन गुणों में खरा उतरता था, उसे श्रेष्ठतर पुरस्कार तथा उच्च स्तर प्रदान किया जाता था। समस्त सामाजिक प्रणालियों में मूल्य व्यवस्था कुछ गुणों पर ऊँचे पारितोषिक तो अन्य गुणों पर कम पारितोषिक देती है। यदि कोई व्यक्ति इन सामाजिक मूल्यों की अवहेलना करता है, तो उसे दंड दिया जाता है।

नोट

आधुनिक औद्योगिक समाज में व्यक्ति की निजी उपलब्धियों को उच्च मान दिया जाता है। इस तरह के समाज में वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन पर अधिक जोर दिया जाता है। जो लोग इनमें प्रवीण होते हैं, उन्हें बेहतर पारितोषिक दिया जाता है। ऐसे समाज में एक श्रमिक में अगर आवश्यक गुण विद्यमान हैं, तो वह भी एक सफल उद्योगपति बन सकता है।

उपर्युक्त विषमताएँ समाज की मूल्य व्यवस्था के संगत होती है और इसलिए ये समाज की स्थिरता के लिए अनिवार्य होती हैं। अब चूँकि समाज की मूल्य व्यवस्था असमानताओं को सही ठहराती है, इसलिए व्यवहार में निम्न श्रेणी क्रम में विद्यमान लोगों के साथ-साथ अन्य सभी लोग इन्हें स्वीकार कर लेते हैं। उदाहरण के लिए, औद्योगिक संगठनों में प्रवीणताओं और अनुभव के आधार पर श्रमिकों में भी भेद पाए जाते हैं। अपने कार्य में प्रवीण श्रमिकों को पदोन्नति अथवा वेतन वृद्धि देकर पुरस्कृत करते हैं, तथापि प्रबन्धक का स्तर उसमें सदैव उच्चतर रहता है।

### 3.2.2 पारसन्स का सिद्धान्त (The Theory of Parsons)

टालकॉट पारसन्स (Talcott Parsons) का मत है कि सामाजिक स्तरीकरण का कुछ निश्चित प्रकायत्मिक महत्त्व होता है, जिसकी विवेचना केवल सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था के सन्दर्भ में भी की जा सकती है। सामाजिक स्तरीकरण के कुछ निश्चित आधार होते हैं। ये आधार तीन हैं–

(अ) **गुण** (Qualities)–जोकि व्यक्तियों को स्वत: बिना किसी प्रयास के ही समाज द्वारा प्रदत्त (ascribed) किए जाते हैं, जैसे वंश-परम्परा। एक ब्राह्मण की स्थिति जातीय संस्तरण में सर्वोच्च इस कारण है कि उसका जन्म ऐसे परिवार (ब्राह्मण परिवार) में हुआ है, जिसे हिन्दू-परम्परा के अनुसार उच्च माना जाता है।

(ब) **कुशलता** (Efficiency)–जिन्हें व्यक्ति अपने स्वयं के प्रयत्न, प्रशिक्षण व अनुभव के आधार पर अपने व्यक्तित्व के लिए अर्जित (achieve) करता है और जिनके आधार पर व्यक्ति की क्रियाओं का दूसरे की क्रियाओं के सन्दर्भ में सापेक्ष मूल्यांकन होता है एवं उसी के अनुसार उसकी सामाजिक स्थिति का निर्धारण होता है।

(स) **मिलकियत** (Possessions)–उन वस्तुओं की, जो एक व्यक्ति के पास हैं और जिन्हें उसने अपने लिए प्राप्त किया है। यह मिलकियत केवल भौतिक वस्तुओं (धन, सम्पत्ति आदि) की ही नहीं, अपितु कला-कौशल की भी हो सकती है।

उपर्युक्त तीनों आधारों को सामाजिक स्तरीकरण के निर्धारक के रूप में किस ढंग से लागू किया जाएगा, यह उस समाज के मान्य उद्देश्यों, आदर्शों तथा मूल्यों पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, धर्म पर आधारित समाजों में धर्म से सम्बन्धित व्यवहार कुशलताओं का महत्त्व स्वभावत: ही अधिक होगा।

पारसन्स ने इन केन्द्रीय मूल्य-प्रतिमानों का एक सामान्य वर्गीकरण प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण से निम्न **चार** श्रेणियों में किया है–

1. **अनुकूलन** (Adaptation)–वह मूल्य-प्रतिमान जिसकी आवश्यकता सामाजिक अनुकूलन के लिए होती है। समाज में प्राय: ऐसी अनेक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनके साथ अनुकूलन करना सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आवश्यक होता है।
2. **लक्ष्य प्राप्ति** (Goal Achievement)–यह मूल्य प्रतिमान सामूहिक या सामाजिक लक्ष्य प्राप्ति पर अधिक बल देता है अर्थात् व्यक्तियों पर यह दबाव डालता है कि वे सामूहिक लक्ष्यों की अन्तिम रूप से प्राप्ति को अधिक महत्त्व प्रदान करें, अपने स्वयं के लक्ष्यों की प्राप्ति को नहीं।
3. **एकीकरण** (Integration)–यह मूल्य-प्रतिमान समाज में एकता व संगठन को बनाए रखने की आवश्यकता पर बल देता है, ताकि समाज की विभिन्न इकाइयाँ प्रत्येक स्तर पर परस्पर इस तरह सहयोगी सम्बंध बनाए रखें कि सामाजिक व्यवस्था में एकता व संगठन बना रहे।
4. **प्रतिमान स्थिरता** (Pattern Maintenance)–समाज के प्रमुख व महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रतिमानों की स्थिरता को बनाए रखने के लिए उचित मूल्य-प्रतिमानों को लागू किया जाए। इसके लिए समाज अनेक

नोट

उपाय अपनाता है। सामाजिक स्तरीकरण उनमें से एक है, जिसके द्वारा स्थितियों तथा कार्यों का निश्चित विभाजन कर दिया जाता है, जिससे कि समाज की विभिन्न इकाइयों में अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा (competition) न हो और महत्त्वपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतिमानों में स्थिरता बनी रहे।

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**2. निम्नलिखित कथनों में ✓ अथवा ✗ का निशान लगाएँ** (State whether the following statements are 'right' or 'wrong' )

1. वेबर ने समाज को क्रिया व्यवस्था मात्र माना है। ☐
2. पारसन्स के अनुसार सभी सामाजिक प्रणालियाँ इसलिए उत्पन्न हुई हैं कि इन प्रणालियों में विद्यमान लोग व्यवस्था और स्थिरता चाहते थे। ☐
3. मूल्य व्यवस्था के उद्‌भव की विवेचना पारसन्स ने की है। ☐
4. समाज के प्रमुख व महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रतिमानों की स्थिरता को बनाए रखने के लिए उचित मूल्य प्रतिमान नहीं लागू करना चाहिए। ☐

## 3.3 सारांश (Summary)

- **प्रो. डेविस** तथा **मूर** को सामाजिक स्तरीकरण के सम्बन्ध में दो बातों के लिए श्रेय जाता है–(1) सामाजिक स्तरीकरण तथा सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के बीच पाए जाने वाले सम्बन्ध को स्पष्ट करना। (2) इस बात पर बल देना कि सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में सामाजिक स्तरीकरण के कुछ निश्चित प्रकार्यों को खोजा जा सकता है। सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों में पाया जाता है।
- डेविस तथा मूर ने अपने सिद्धान्त की व्याख्या प्रकार्यात्मक आधार पर की है, इसलिए इसे 'सामाजिक स्तरीकरण का सिद्धान्त' भी कहते हैं।
- कम आवश्यक स्थितियाँ अधिक आवश्यक स्थितियों के साथ सफलतापूर्वक प्रतिद्वन्द्वता नहीं करती हैं। चाहे कोई स्थिति महत्त्वपूर्ण ही क्यों न हो, यदि वह सरलता से भर जाती है, तो उसके लिए अधिक पुरस्कार नहीं देना पड़ता। इसके विपरीत यदि कोई स्थिति महत्त्वपूर्ण है और उसे भर पाना कठिन है, तो उसे किसी भी प्रकार से भरने के लिए अधिक पुरस्कार देने पड़ते हैं। प्रकार्यात्मक महत्त्व आवश्यक है, परन्तु एक स्थिति को ऊचा पद प्रदान करने का समुचित कारण है।
- यदि किसी स्थिति को भर पाने वालों का अभाव है और वह स्थिति प्रकार्यात्मक महत्त्व रखती है, तो उसे भरने के लिए अनिवार्य है कि बहुत ही आकर्षक पुरस्कार होने चाहिए। दूसरे शब्दों में, स्थिति का सामाजिक स्तर में ऊँचा होना आवश्यक है, उसके लिए अधिक प्रतिष्ठा, अधिक वेतन, पर्याप्त विश्राम आदि पुरस्कार होने आवश्यक हैं।
- समाज में कुछ स्थितियाँ प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण से दूसरी स्थितियों की आपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होती हैं। उन स्थितियों से सम्बन्धित प्रकार्यों को करने के लिए विशेष कार्यकौशल की आवश्यकता पड़ती है। उच्च स्थितियों पर कार्य करने के लिए जिस कार्यकौशल की आवश्यकता होती है, उसी के अनुसार गुणवान व्यक्ति समाज में बहुत कम संख्या में पाए जाते हैं, जिन्हें उन स्थितियों पर कार्य करने के अनुरूप कुशल बनाने का प्रशिक्षण दिया जा सके।
- टालकोट पारसन्स ने समाज को क्रिया व्यवस्था मात्र माना है। व्यक्ति की क्रियाओं को नैतिक आधार पर आँका जाता है। व्यक्ति स्वयं भी अपनी क्रियाओं का मूल्यांकन नैतिक आधार पर करता है। वह इस प्रकार किए गए मूल्यांकन के अनुसार ही स्वंय के प्रति उच्च अथवा निम्न की धारणा बना लेता है। इस प्रकार सदस्य उच्च व निम्न स्थितियों में वर्गीकृत हो जाते हैं। ऐसी पद्धति जिसके द्वारा समाज में उच्च व निम्न पदों का वर्गीकरण किया जाए, सामाजिक संस्तरण कहलाती है।

नोट

- पारसन्स ने मूल्य व्यवस्था के उद्‌भव की विवेचना की है। मूल्य किसी व्यक्ति के मस्तिष्क से उत्पन्न न होकर साझे विश्वास हैं। अर्थात् समाज के सभी सदस्य यह मान कर चलते हैं कि ये प्रदत्त मूल्य ही सबसे उत्तम युक्ति हैं, जिसके द्वारा उनके समाज में स्थिरता कायम रखा जा सकती है। इस तरह मूल्य केवल साझे विश्वास ही नहीं, बल्कि वे समाज के सदस्यों की सहमति से उत्पन्न होते हैं। यह सहमति या मतैक्य इसलिए उत्पन्न होता है कि समाज से सदस्य दैनिक जीवन में व्यवस्था और स्थिरता चाहते हैं। इसलिए व्यवस्था, स्थिरता और सहयोग इस मूल्य मतैक्य पर निर्भर करते हैं। समाज के सदस्यों के मध्य यह आम सहमति होती है कि सभी के लिए क्या अच्छा है।
- किसी भी समाज में जो लोग सामाजिक मूल्यों के अनुसार आचरण करते हैं, उन्हें बेहतर पारितोषिक दिया जाता है। इन पारितोषिकों का स्वरूप इस बात पर निर्भर करता है कि समाज के मूल्य किसे सर्वश्रेष्ठ ठहराते हैं।
- टालकॉट पारसन्स (Talcott Parsons) का मत है कि सामाजिक स्तरीकरण का कुछ निश्चित प्रकार्यात्मिक महत्त्व होता है, जिसकी विवेचना केवल सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था के सन्दर्भ में भी की जा सकती है।

## 3.4 शब्दकोश (Keywords)

- **प्रतिमान** : परछाईं, प्रतिमा, प्रतिमूर्ति, नमूना, मानक।
- **परितोषिक** : संतोष, खुश करने वाला।

## 3.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सामाजिक स्तरीकरण के प्रकार्यात्मक अथवा प्रकार्यवादी सिद्धांत की विवेचना करिए।
2. सामाजिक स्तरीकरण के सम्बन्ध में टालकोट पारसन्स का दृष्टिकोण क्या है?
3. सामाजिक स्तरीकरण के सम्बन्ध में डेविस व मूर के सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
4. डेविस तथा मूर के सामाजिक स्तरीकरण के प्रकार्यात्मक सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
5. मूल्य मतैक्य किसे कहते हैं? सामाजिक स्तरीकरण में इसकी क्या भूमिका है?
6. पारसन्स के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण के प्रकार्यात्मक महत्त्व का वर्णन करें।

**उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)**

**1.** 1. डेविस व मूर 2. सामाजिक स्तरीकरण
3. वर्ग एकता 4. पूर्वापेक्षाएँ

**2.** 1. [X] 2. [✓] 3. [✓] 4. [X]

## 3.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. ए.आर देसाई; *सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म;* पॉपुलर बुक डिपो, बॉम्बे।
2. दीपांकर गुप्ता, 2008, "*सोशल स्ट्रैटीफिकेशन*", इन वीना दास ऑक्सफोर्ड हैंडबुक ऑफ इंडियन सोशियोलॉजी; ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

नोट

# इकाई–4: सामाजिक स्तरीकरण का सिद्धांत-II (Theories of Social Stratification-II)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

4.1 सामाजिक स्तरीकरण का सिद्धांत (Theories of Social Stratification)

4.2 कार्ल मार्क्स की सैद्धांतिक अवधारणाएँ (Theoretical Formulations of Karl Marx)

4.3 मैक्स वेबर की सैद्धांतिक अवधारणाएँ (Theoretical Formulations of Max Weber)

4.4 संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक सिद्धांत (Structural Functional Theory)

4.5 सारांश (Summary)

4.6 शब्दकोश (Keywords)

4.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

4.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत को समझने में।
- कार्ल मार्क्स तथा मैक्स वेबर की सैद्धांतिक अवधारणाओं की व्याख्या करने में।
- संरचनात्मक प्रकार्यवादी सिद्धांत का विवेचन करने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

सामाजिक-राजनीतिक चेतना की वृद्धि, नागरिक समाज के उद्‌भव और मानव अधिकारों की पुकार के कारण, सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन के लिये समानता और असमानता की धारणओं और उपागमों पर पुनः विचार करने और पुनर्परिभाषित करने की आवश्यकता है। आज सामाजिक स्तरीकरण मात्र औद्योगीकरण या कृषि के रूपान्तरण के संदर्भ में ही नहीं पाया जाता है, यातायात व संचार के साधन, शिक्षा, गतिशीलता और नये व आधुनिक धंधे (व्यवसाय) स्तरीकरण को नया स्वरूप दे रहे हैं। परन्तु यह बिन्दु ज्वलन्त है कि "समाज के संसाधनों का शोषण वितरण कैसे किया जाता है?" किन लोगों की उपलब्ध अवसरों तक पहुँच आसान है और कौन लोग सामाजिक बाधाओं का सामना करते हैं और वंचित रहते हैं? सब मानव समाजों में धनी नियन्त्रणकारी परिवारों, व्यक्तियों व समूहों और सम्पत्तिविहीन लोगों के बीच विभाजन बना हुआ है। कार्ल मार्क्स धनवान और गरीब के बीच ऐसे विभाजन के विश्लेषण के प्रमुख प्रवर्तक हैं। यद्यपि मार्क्सवादी दृष्टिकोण बहुत व्यापक और वर्ग-समाहित है, फिर भी सोपान और स्तरीकरण के आधार के रूप में आर्थिक सम्बन्धों को प्राथमिकता दी गई है।

यहाँ अनेक अन्य व्याख्याओं का उल्लेख किया जा सकता है, परन्तु हम कुछ ही का वर्णन करेंगे। मार्क्सवादी, वेबर का सिद्धान्त और संरचनात्मक-प्रकार्यवाद की हम विस्तार से व्याख्या करेंगे।

नोट

## 4.1 सामाजिक स्तरीकरण का सिद्धांत (Theories of Social Stratification)

सभी समाजों में व्यवसाय पर आधारित जीवन-शैली को एक महत्त्वपूर्ण प्रघटना माना गया है। नौकरी (सेवा भर्ती) प्राप्त करने की प्रक्रिया और वर्ग की आंतरिक संरचना में प्रवेश के लिये वर्ग द्वारा जीवन अवसरों को स्थिरता प्राप्त होती है। जॉर्ज सिम्मल ने उच्च व अधीनस्थ प्रतिमानों और उन पर आधारित सामाजिक सम्बन्धों की व्याख्या द्वारा समाज के सोपानीय ढाँचे पर प्रकाश डाला है। सिम्मल ने सोपान के गैर-सोपानीय आधारों का भी विश्लेषण किया है। व्यवसाय, वर्ग और प्रभुत्व या सोपान की कसौटियों की तरह ही समाज में अभिजात और गैर-अभिजात का विभाजन है। विभिन्न अभिजात समूहों की चयनित भर्ती जटिल राजनीतिक प्रक्रियाओं द्वारा निर्धारित होती है। एक अन्य व्याख्या टी. वेवलन के विलासिता वर्ग के सिद्धान्त में निहित है। एक लाभदायक तुलनात्मक समझ के लिये, वेवलन ने संघर्षकारी आर्थिक हित की व्याख्या और जीवन स्तर के प्रतिमानों के प्रतीकात्मक महत्त्व के बीच अन्तर्सम्बंधों पर बल दिया है। वेवलन ने सामाजिक संबंधों में एकमात्र आर्थिक महत्ता को चुनौती दी है। पैरेटो ने भी उभरते व्यापार-मुखित पूँजीपति और राजनीतिक संगठन के नियंत्रकों के बीच बेमेल पर बल दिया है।

मार्क्स के वर्ग और वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त के अलावा, मैक्स वेबर के सामाजिक स्तरीकारण के सिद्धान्त ने, वर्ग प्रस्थिति और शक्ति के विभाजन के सन्दर्भ में आमतौर पर शैक्षणिक वर्ग में मान्यता प्राप्त की है। वेबर ने आर्थिक हित को सापेक्षिक प्रघटना माना है। अन्त में सामाजिक स्तरीकरण का संरचनात्मक-प्रकार्यवादी उपागम, विशेषत: अमेरिकी समाजशास्त्रियों में, बहुत सर्वप्रिय और तार्किक तौर पर स्वीकार्य रहा है। टालकट पार्सन्स, किंग्सले डेविस और डब्ल्यू. ई. मूर इसके मुख्य प्रवर्तक हैं। इस उपागम के अनुसार, सामाजिक स्तरीकरण, सार्वभौम, आवश्यक और अनिवार्य हैं।

## 4.2 कार्ल-मार्क्स की सैद्धांतिक अवधारणाएँ (Theoretical Formulations of Karl Marx)

समाज, वर्ग और स्तरीकरण के अध्ययन के ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक उपागम के कार्ल मार्क्स प्रमुख प्रवर्तक हैं। मार्क्सवादी सिद्धांत प्रौद्योगिकी या आर्थिक निर्धारण की एक सरल व्याख्या मात्र नहीं है। मार्क्स ने समाज के वृहद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। मार्क्स के अनुसार उत्पादन के सम्बन्धों कि व्यवस्था द्वारा स्तरीकरण का निर्धारण होता है और एक व्यक्ति की 'प्रस्थिति' का निर्धारण, उत्पादन के साधनों के स्वामित्व और अस्वामित्व के सन्दर्भ में, उत्पादन व्यवस्था में व्यक्ति के पद-स्थान द्वारा होता है। मार्क्स ने, 'वर्ग' और 'सामाजिक स्तरीकरण' में कोई विभेद नहीं किया है। मार्क्स के लिये, 'उत्पादन सामाजिक 'व्यक्तियों द्वारा होता है, और इसलिये, इसको 'सामाजिक संदर्भ' में समझना चाहिये। इस प्रकार, मार्क्स के वर्ग के सिद्धान्त को, 'प्रभावी उच्चता-निम्नता सम्बन्धों पर आधारित, 'प्रभुत्व' और 'अधीनस्थता' के सन्दर्भ में, सामाजिक स्तरीकरण की एक व्यवस्था के रूप में समझा जा सकता है।

मार्क्स ने दुनिया को समझने और उसमें क्राँति लाने के लिये प्रकृति के वस्तुपरक नियमों, समाज और मानव विचार को समझकर, विश्लेषण करने का प्रयास किया है। मार्क्स के दर्शन और विचारधारा के मुख्य बिन्दु इस प्रकार हैं–

1. पूँजीवाद का अंत
2. साम्यवादी समाज की विजय
3. समाज के विज्ञान की कल्पना स्वप्न
4. सर्वहारा–एक क्राँतिकारी वर्ग की अन्याय और शोषण से मुक्ति
5. सर्वहारा का अधिनायकवाद एकाधिकार
6. श्रमिक वर्ग की विचारधारा
7. क्राँतिकारी वर्ग संघर्ष

## मार्क्स : एक व्यक्ति के रूप में और उसका मानवीय लगाव

नोट

5 मई, 1818 को मार्क्स का जन्म जर्मनी में हुआ था। मार्क्स के पिता वकील थे और मार्क्स ने भी कानून की शिक्षा ग्रहण की थी। 19वीं सदी के प्रारंभ में सामन्तवाद समाप्त हो चुका था, और पूँजीवाद पनप रहा था। नयी व्यवस्था के अन्तर्गत कृषक और कारीगर बर्बाद हो रहे थे। इसलिये सर्वहारा वर्ग के उभरने के कारण वर्ग-संघर्ष और पूँजीपति समर्थित प्रजातांत्रिक वे राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन अस्तित्व में थे। मार्क्स ने हीगल, विशेषत: वामपंथी हीगलवादियों से, सीखा और प्रेरणा ली। 1841 में मार्क्स ने डॉक्टर (पी.एचडी.) की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद, मार्क्स ने राजनीतिक प्रतिक्रियावाद और अन्धकारवाद के विरुद्ध आन्दोलन शुरू किया। 1842 में, मार्क्स एक समाचार पत्र 1943 में ही बन्द कर दिया गया। 1843 में, मार्क्स ने विवाह किया। इस मोड़ पर, मार्क्स ने हीगल के उचित दर्शन *(फिलोसफी ऑफ राइट)* का आलोचनात्मक अध्ययन प्रारंभ किया। इससे पहले 1842 में, वह एन्जिल्स से मिले, और 1844 में पुन: वे पेरिस में मिले। हीगल के दर्शन की अपनी समझ के आधार पर मार्क्स ने राज्य और समाज के जीवन की आर्थिक अवस्थाओं के बीच कड़ियों और अन्तरनिर्भरता के प्रश्न पर बल दिया।

मार्क्स ने फ्रांस में और विशेषत: पेरिस में अत्यंत निर्धन लोगों के साथ समय बिताया और इस प्रकार मार्क्स इंग्लिश और फ्रेंच लोगों के अध्ययन में रुचि लेने लगे। इस तरह के अनुभव और समझ के परिणामस्वरूप, मार्क्स का आदर्शवाद से भौतिकवाद और क्राँतिकारी प्रवाह से साम्यवाद की ओर संक्रमण हुआ। अपने जर्मन, इंग्लिश और फ्रेंच अनुभवों से प्रेरित होकर, राजनीतिक अर्थव्यस्था के सन्दर्भ में मार्क्स ने नागरिक सिविल सोसायटी के बारे में सोचा। इसके बाद मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्वात्मकता (मानव मस्तिष्क की द्वन्द्वात्मकता) को अस्वीकार किया, और उसका पुन: आलोचनात्मक अवलोकन किया। एक गैर-यांत्रिक स्वरूप में, मार्क्स ने फ्यूरबैक के भौतिकवाद के मिश्रण से इतिहास, सामाजिक सम्बन्ध और राजनीति की समझ का विकास किया। मार्क्स ने अपने सिद्धान्त को 'वैज्ञानिक समाजवाद' का नाम देना पसंद किया।

## वर्ग और वर्ग संघर्ष की अवधारणाएँ

मार्क्स ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति *कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो, कैपिटल* (3 खण्ड), *जर्मन आइडियोलॉजी,* आदि कृतियों में की है। *कैपिटल* के तीसरे ग्रंथ में मार्क्स लिखते हैं–''मात्र श्रमशक्ति के स्वामी, पूँजी के मालिक और भूस्वामी, जिनके वेतन, लाभ और लगान, तदनुसार आय के स्रोत हैं, दूसरे शब्दों में वेतनधारी श्रमिक, पूँजीपति और भूस्वामी उत्पादन की पूँजीवादी पद्धति पर आधुनिक समाज के तीन बड़े वर्ग हैं। इस तरह मार्क्स ने सर्वहारा और पूँजीपति दो प्रमुख वर्गों का वर्णन किया है, प्रथम सम्पत्तिविहीन है, और दूसरा सम्पत्तिवान है। अपने दो वर्गों के सिद्धान्त के समर्थन में मार्क्स ने यह भी कहा है कि हर जगह मध्यम और बीच के स्तरण इस विभाजन के कारण लुप्त हो जायेंगे। पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के विकास की प्रवत्ति के अधिक से आधिक बढ़ने के कारण श्रम. वेतन श्रम और उत्पादन के साधन पूँजी में रूपान्तरित होंगे। प्रदत्त सम्पत्ति (भूमि, मकान आदि) में भी पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में परिवर्तित होने की प्रवृत्ति होती है। अब प्रश्न ये हैं–

1. वर्ग किन तत्वों से निर्मित होता है?
2. वेतन श्रमिक, पूँजीपति और भूस्वामी कैसे तीन बड़े सामाजिक वर्ग बनते हैं?

वास्तव में, मार्क्स ने केवल सर्वहारा और पूँजीपति–दो ही वर्गों का उल्लेख किया है। दूसरा और तीसरा वर्ग, जैसे पूर्व में वर्णन किया है, अन्तत: एक-दूसरे में समाहित होकर एक ही वर्ग बन जाते हैं, लेकिन मार्क्स के वर्ग के सिद्धान्त की एक तर्कसंगत अवधारणा नहीं है। मार्क्स ने वर्ग और वर्ग संघर्ष की अपनी समान्य रचना के आनुभविक सन्दर्भों पर अधिक बल दिया है। मार्क्स के वर्ग और स्तरीकरण के सिद्धान्त के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं–

1. आर्थिक हित तमाम अन्य प्रकार के संबंधों–सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि का आधार हैं।
2. दो वर्ग हैं–(अ) उत्पादन के साधनों के मालिक और (ब) श्रमिक (सर्वहारा वर्ग)।
3. इन दोनों वर्गों के हितों में टकराव होता है, क्योंकि पूँजीपति सर्वहारा का शोषण करता है और इसलिये वर्ग संघर्ष पाया जाता है।

नोट

4. पूँजीपति अपने उचित हिस्से से ज्यादा प्राप्त करता है, जिसको मार्क्स ने अतिरेक मूल्य का सिद्धान्त कहा है। ऐसी परिस्थिति से वर्ग संघर्ष तेज होता है, जिससे अन्त में क्राँति आती है और समाज की स्तरीकरण व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन होता है।

इस तरह से मार्क्सवादी सिद्धान्त में सामाजिक व्यवस्था के मूलभूत लक्षण हैं। उत्पादन व्यवस्था की प्रक्रियाओं से वग्र उभरते हैं। पूँजीपति वर्ग उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है और सर्वहारा वर्ग आवश्यक मानव श्रम व अन्य सेवायें प्रदान करता है। इस प्रकार, आर्थिक सम्बंध स्तरीकरण व्यवस्था का आधार है और इस व्यवस्था से वर्ग निर्मित होते हैं–पूँजीपति और सर्वहारा या सम्पत्तिवान और सम्पत्तिविहीन।

मार्क्स की दृष्टि में, वर्ग 'सामाजिक' है, एक सामाजिक वास्तविकता है, जीवन का एक विद्यमान तथ्य है। वर्ग में एक सांख्यिकीय या एक संग्रहीत या एक निर्माणित प्रघटना नहीं है। वर्ग एक वास्तविक समूह के रूप में एक विकसित भाव और अपने अस्तित्व, पद-स्थान, और उद्देश्यों के बारे में चेतना होती है। वर्ग के दर्पणों से एक व्यक्ति समाज में सम्बन्धों की सम्पूर्णता को देख सकता है।

हितों के टकराव के कारण, दोनों वर्गों में एक-दूसरे के साथ संघर्ष होता है। दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण समाज दो बड़े विरोधी धड़ों के रूप में दो वर्गों में विभाजित रहता है। दोनों वर्ग संघर्ष करते हैं और अपने-अपने हितों की रक्षा के लिये संगठित भी होते हैं। एक निश्चित अंश तक दोनों वर्गों के बीच सहयोग भी होता है, जिसको मार्क्स ने 'विरोधियों की एकता' का नाम दिया है। पूँजीपति और सर्वहारा के बीच ऐसर एकता की आवश्यकता उत्पादन व्यवस्था को सुचारु करने के लिए चाहिये, क्योकि दोनों के जीवन का अस्तित्व इस पर निर्भर करता है। फिर भी मार्क्स ने पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग को एक राजनीतिक संगठन के रूप में एकजुट होकर लड़ने का संदेश दिया है। मार्क्स के अनुसार, शासन वर्गों के विचार इतिहास और समाज के हर युग (काल) में, 'शासक विचार' रहे हैं। मार्क्स का विश्वास है कि राजनीतिक शक्ति की धारणा, वर्ग संघर्ष है। राज्य पूँजीपति वर्ग के लिये कार्य करता है। इस प्रकार,मनुष्यों के भौतिक (आर्थिक) अस्तित्व द्वारा उनके जीवन की अवस्था और चेतना निर्धारित होती है। इसलिये वर्ग एक सामाजिक वास्तविकता है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण सामाजिक संरचना को देखा जा सकता है।

### 4.2.1 मार्क्सवादी अध्ययन पद्धति

मार्क्स ने इतिहास का तीन कालों (युगों) प्राचीन, सामन्तवाद, और पूँजीवाद में वर्णन किया है। प्रत्येक काल में उत्पादन की एक प्रमुख पद्धति रही है और उस पर आधारित वर्ग संरचना से एक शासक वर्ग और एक शासित (दबा हुआ) वर्ग उभरते हैं। जैसा कि हमने पहले वर्णन किया है कि इन वर्गों के बीच संघर्ष द्वारा मनुष्यों के बीच सामाजिक सम्बंध निर्धारित होते हैं। सामाजिक सम्बंध अन्य सब संबंधों का आधार बनते हैं। ये सम्बन्ध उत्पादन के साधनों पर यिंत्रणको निर्धारित करते हैं। और फिर सम्पूर्ण नैतिक और बौद्धिक जीवन को नियंत्रित करते हैं। कानून और शासन, कला और साहित्य, विज्ञान और दर्शन, सब कामोबेश प्रत्यक्ष रूप से शासक वर्ग के हितों की पुष्टि करते हैं। इसलिये ये पहलू समाज की अधिसंरचनायें हैं।

हर वर्ग अपने क्राँतिकारी ऊँचाई के काल में दो तरह से 'प्रगतिशील' होता है–(*i*) उसके आर्थिक हित तकनीकी प्रगति के जैसे होते हैं और इसलिये अधिक मानव कल्याण के अनुरूप पाये जाते हैं और (*ii*) उन हितों के लिये किये गये प्रयास से वह वर्ग स्वतंत्रताजनक विचारों और संस्थाओं से जुड़ जाता है और उनके विरुद्ध हो जाता है जो तकनीकी प्रगति और मानव कल्याण को पीछे धकेलता है। ऊँचाई पर उठने वाला वर्ग शासक वर्ग भी बन सकता है। परन्तु तब उसकी भूमिका भिन्न हो सकती है। इस तरह के वर्ग के विरुद्ध क्राँति का वही मार्ग अपनाया जायेगा। इस प्रकार यह एक निरन्तर प्रक्रिया है, जिसके द्वारा समाज का क्राँतिकारी पुनर्गठन होता है। मार्क्सवादी सिद्धान्त में इस तरह एक सामाजिक वर्ग व्यक्तियों का एक संग्रहण है, जो उत्पादन के संगठन में एक ही तरह का कार्य करते हैं। *कम्युनिस्ट मैनिफेस्ट* में चित्रित किया गया है कि स्वतंत्र व्यक्ति और दास, उच्च लोग और आम व्यक्ति मालिक और नौकर, उद्योग-मालिक और साधारण कर्मी या संक्षेप में शोषक और शोषित के दो वर्ग हैं।

नोट

टोम बोटोमोर और अन्य विद्वानों का मत है कि मार्क्सवादी सिद्धान्त में वर्ग की अवधारणा का एक केन्दीय (प्रमुख) महत्व है, यद्यपि मार्क्स ने इसको सुव्यवस्थित रूप में प्रतिपादित नहीं किया। मार्क्सवादी सिद्धान्त के लिये, प्रारम्भिक पूँजीवाद की वर्ग संरचना और वर्तमान समाज के इस स्वरूप में वर्ग संघर्ष मुख्य सन्दर्भ बिन्दु हैं। मार्क्सवादी सिद्धान्त में वर्ग संघर्ष और वर्ग चेतना दो अन्य महत्वपर्ण विचार हैं। *कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* में कहा गया है कि "आज तक के समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।" पूँजीवादी समाजों में वर्ग अधिक उभरा हुआ है। जर्मन *आइडियोलॉजी* में मार्क्स ने अवलोकित किया है कि "वर्ग स्वयं पूँजीपति की उपज है।" यद्यपि मार्क्स ने पूँजीवाद का व्यापक अध्ययन किया है, फिर भी सब प्रकार के समाजों में एक प्रमुख वर्ग विभाजन के अस्तित्व की उपस्थिति की बात मार्क्स बताना चाहते थे। मार्क्स लिखते हैं–"हमेशा उत्पादन की अवस्था के स्वामियों और प्रत्यक्ष उत्पादकों के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध द्वारा सम्पूर्ण सामाजिक भवन (इमारत) का अत्यंत आन्तरिक रहस्य और छुपी हुई नींव (आधारशिला) दिखाई देती है।"

वर्ग की जड़ (नींव) और वर्ग चेतना के आधार को जानने के लिये मार्क्स के अनुसार 'अपने आपमें वर्ग' और अपने लिये वर्ग के बीच अन्तर को भी समझना महत्त्वपूर्ण है। अपनी विख्यात कृति-दी *पॉवरटी ऑफ फिलोसफी* में मार्क्स कहते हैं कि "सर्वप्रथम आर्थिक अवस्थाओं ने लोगों को श्रमिकों में परिवर्तित किया। पूँजी के प्रभुत्व के कारण इस वर्ग के लिये सामान्य परिस्थिति और सामान्य हित उत्पन्न हुए। इस प्रकार, लोगों का यह समूह पूँजी के सन्दर्भ में वर्ग बना हुआ है लेकिन यह अपने स्वयं के लिये अब भी वर्ग नहीं है। संघर्ष में, जिसके हमने थोड़े से चरणों का संकते किया है, यह वर्ग समूह संगठित होता है और अपने लिये एक वर्ग में निर्मित करता है। जिन हितों की वह रक्षा करता है, वो वर्ग हित बन जाते हैं।" इस तरह मार्क्स ने 'अपने आप में वर्ग और 'अपने लिये वर्ग के बीच अन्तर किया है।

### 4.2.2 वर्ग और स्तरीकरण का मार्क्सवादी सिद्धांत

वर्ग और स्तरीकरण के मार्क्सवादी सिद्धान्त पर अब हम एक आलोचनात्मक दृष्टि डालेंगे। मार्क्स द्वारा *कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* में उल्लेखित अनेक वर्ग संघर्ष वास्तव में प्रस्थिति समूहों के बीच संघर्ष हैं। मार्क्स और एन्जिल्स दोनों इस बात से परिचित थे कि प्रत्येक जगह विभिन्न श्रेणियों के रूप में एक जटिल समाज व्यवस्था या सामाजिक श्रणियों का बहुपक्षीय श्रेणीकरण पाया जाता था। मार्क्स के बाद के मार्क्सवादियों ने आधारभूत वर्गों के सम्बन्ध में सामाजिक श्रेणीकरणा या स्तरीकरण की जटिलताओं को समझा।

मार्क्स और एन्जिल्स दोनों ने यह अनुभव किया कि इंग्लैंड में मध्यम और संक्रमणकारी स्तरों के कारण वर्ग की सीमायें धूमिल हो जाती हैं। अतिरेक मूल्य के सिद्धान्तों में मार्क्स ने स्पष्ट रूप में वर्णन किया है कि मध्यम वर्ग का उभरना पूँजीवाद के विकास की एक प्रघटना जैसा है। मध्यम वर्गों के सदस्यों की निरन्तर वृद्धि के लिये पूँजीवादी वृद्धि को कारण माना था। आधुनिक आर्थिक विकास के सन्दर्भ में मध्यम वर्गों ने अपने लिये एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक स्थान बना लिया है।

निकोस पोलनजा और जॉर्ज लुकाज जैसे उत्तर-मार्क्सवादियों ने कुछ रूढ़िवादी मार्क्सवादी विचारों को ठुकराया है। पोलनजा ने अपने आप में वर्ग 'और अपने आपके लिये वर्ग के बीच भेद को अस्वीकार किया है, क्योंकि पूर्ण विकसित वर्ग चेतना और राजनीतिक संगठन के साथ वर्ग अस्तित्व में आये हैं। इसके विपरीत लुकाज के अनुसार सर्वहारा वर्ग में वर्ग चेतना के विकास में अत्यंय महत्त्वपूर्ण भूमिका एक क्राँतिकारी दल द्वारा बाहर से निभाई जाती है। आज के विभाजित संसार में यह कहना कठिन होगा कि चेतना की प्रकृति 'समाजवादी' या 'क्राँतिकारी' या 'पूँजीवादी' होगी।

संयुक्त सोवियत समाजवादी गणतंत्र (यूएसएसआर) और पूर्वी यूरोपीय देशों के विघटन के कारण वर्ग चेतना ने नया रूप और विषय-सूची धारण की है। भूमण्डलीकरण के कारण भी एक प्रकार की समान वर्ग चेतना उत्पन्न हुई है। विशिष्ट प्रकार के वर्ग हित और वर्ग चेतना में गिरावट के कारण वर्ग और वर्ग संघर्ष का मार्क्सवादी सिद्धान्त कम आकर्षक और लुभावना हो गया है। क्राँतिकारी राजनीतिक आंदोलन स्त्रियों का आन्दोलन और विभिन्न सजातीय व

नोट

राष्ट्रीय आंदोलन वर्ग-आधारित नहीं रहे हैं। सामाजिक जीवन में समूहों में गठजोड़ों और समीपताओं के कारण मार्क्सवादी सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में वर्ग चेतना धूमिल हो चुकी है। मार्क्सवादी सिद्धान्त में विभिन्न प्रकारों के समाज की वर्ग संरचना में कृषक समाज को स्थान और उसकी राजनीतिक भूमिका को उचित महत्त्व नहीं दिया गया था। उदाहरण के लिये फ्रांस में कृषकों को पूर्ण रूप में एक वर्ग नहीं समझा गया था।

पूर्ववर्ती समाजवादी देशों में विशिष्ट सामाजिक शक्तियों के कारण वर्ग संघर्ष नहीं के बराबर थे। उदाहरण के लिये हंगरी, चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड में एक नयी वर्ग संरचना उभरकर आई। इन देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों में न केवल वर्गों ने ही भागीदारी की, बल्कि राष्ट्रीय, सजातीय या धार्मिक समूहों और स्त्रीवाद, पर्यावरणवाद व अणुशक्ति विरोधी आन्दोलन के समर्थकों ने भी भागीदारी की थी। आज मुकाबला (भिड़न्त) केवल पूँजीपति और सर्वहारा तक सीमित नहीं हैं, परन्तु विभिन्न सामाजिक समूहों में भी गठजोड़ उभरे है। एक ओर ऐसे समूह हैं, जो आर्थिक व सामाजिक जीवन पर हावी हैं और उसको निर्देशित करते हैं। दूसरी ओर अधीनस्थ समूह हैं।

*क्या आप जानते हैं* तीसरी दुनिया के देशों में कृषकों ने क्राँतिकारी आंदोलन में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है।

### 4.2.3 मार्क्स और भारतीय समाज का अध्ययन

वर्ष 1940 के दशक से अब तक भारतीय विद्वत्जन मार्क्सवाद की विचारधारा और उसकी व्यावहारिकता पर सक्रिय चिंतन कर रहे हैं। वास्तव में मार्क्स भारत की जाति व्यवस्था और ग्रामीण समुदाय के परम्परात्मक भाव के प्रति बहुत सजग थे। 1853 में, मार्क्स ने भारत के बारे में *न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून* में दो लेख लिखे। मार्क्स ने भारत के एशियायी निरंकुशवाद या 'एशियायी उत्पादन की प्रविधि' को एक उदाहरण बताया। इस तरह की व्यवस्था के अन्तर्गत मार्क्स ने भूमि को निजि सम्पति नहीं समझा। लेकिन मार्क्स ने यह भी कहा कि समयोपरान्त भूमि को निजी सम्पत्ति भी माना गया।

भारत को पर-पूँजीवादी आर्थिक रचना की दृष्टि से भी देखा गया है, लेकिन भारत न तो वर्गविहिन और न ही स्थिर (जड़) था। यहाँ पर सोच यह है कि एशियाई प्रविधि में वर्ग विरोधाभासों और वर्ग संरचनाओं की भूमिका को नकारा नहीं जाता है। कार्ल ए. विट्टफोगल, एरिक हाब्सबॉम और डी.डी. कोसाम्बी का मत है कि भारत कभी भी एक स्थिर रचना नहीं था। कोसाम्बी के अनुसार भारत में जाति व वर्ग-आधारित स्तरीकरण और शोषण एक साथ अस्तित्व में थे। इसी प्रकार दासता व बन्धन के विभिन्न स्वरूप और सामन्ती सम्बन्ध भी समान क्षेत्रों और समान समय पर विभिन्न मिश्रणों में पाये गये हैं।

यहाँ पर दो प्रश्न किए जा सकते हैं–

1. भारत की वर्ग संरचना का विश्लेषण कैसे किया जाये?
2. विभिन्न क्षेत्रों में जाति-वर्ग की कड़ी (जुड़ाव) उसके विभिन्न रूप और अन्तरक्रियायें क्या हैं?

अब जाति-वर्ग की कड़ी भारतीय सामाजिक रचना की एक मान्य वास्तविकता है। इन दोनों (जाति और वर्ग) बिना एक-दूसरे से जोड़े दोनों को न देखा जा सकता है और न ही अध्ययन किया जा सकता है। कोसाम्बी के अनुसार बंधुता में भी प्रथम पुत्र का उत्तराधिकार, विरासत, सम्पत्ति का बँटवारा, तनाव, गुट और विभाजन के लिये प्रमुख आधार हैं। वी. एम. डांडेकर ने मार्क्सवादी सिद्धान्त और पद्धति की प्रशंसा करते हुए निम्न अवलोकन प्रस्तुत किये हैं-

1. मार्क्स ने यह नहीं सोचा था कि श्रमिक संगठनों और श्रमिकों की सामूहिक सौदेबाजी (समझौता) के कारण पूँजीवाद परिवर्तित होगा।

नोट

2. मार्क्स ने 'विरोधियों की एकता' के साथ दो विरोधी वर्गों की चर्चा की है, परन्तु ये वर्ग विभक्त नहीं रहे हैं। इन दोनों वर्गों के बीच अन्य कई वर्ग विद्यमान हैं। आज नागरिक समाज और समूह राज्य पर उसकी प्रकृति और कार्यप्रणाली को परिवर्तित करने के लिये दबाव डाल रहे हैं।
3. एक भूमण्डलीय प्रघटना के रूप में मध्यम वर्गों के बढ़ते आकार के कारण वर्ग-विरोधाभास एक महत्त्वपूर्ण वास्तविकता नहीं हैं।
4. औद्योगिक समाजों में सर्वहारा वर्ग का पूँजीपतिकरण हुआ है।

विशेषत: स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय समाज में आधारभूत संरचनात्मक परिवर्तन और लम्बवत् गतिशीलता स्पष्ट दिखाई देती है।

डांडेकर ने निम्न पाँच वर्गों का उल्लेख किया है-

1. पर-पूँजीवादी वर्ग (कृषक, कृषि श्रमिक, घरेलूकर्मी)
2. पूँजीवादी समाज में स्वतंत्रकर्मी
3. श्रम-मालिक
4. सफेदपोशकर्मी
5. कारखानों/उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिक

इस बहुकारी वर्ग संरचना के अलावा, लाखों लोग लघु-स्तर और अत्यंत छोटे उद्योगों व पारिवारिक स्वामित्व वाले प्रतिष्ठानों में कार्य करते हैं, और भारतीय अर्थव्यवस्था के इन क्षेत्रों में संघर्ष व हड़तालें नहीं पायी जाती हैं।

भारत में भूमण्डलीकरण और निजीकरण के बावजूद, आज राज्य सबसे बड़ा रोजगारदाता है। संसार की अर्थव्यवस्था में, तात्कालिक मंदी (विशेषत: अमेरिका में) के कारण, व्यवसायों में प्रशिक्षित व दक्ष लोग सुरक्षा और सुरक्षित वेतन के कारण सरकारी नौकरियों की ओर झुक रहे हैं। इसके बावजूद भारत में कुछ कमाने वालों का पाँचवां हिस्सा ही संगठित क्षेत्र में कार्यरत है। इस तरह की परिस्थिति में पूँजीपति और सर्वहारा के सन्दर्भ में समाज के विभाजन और दोनों के बीच निहित वर्ग संघर्ष अनुचित प्रघटना प्रतीत होती है। भारत में हमें जो दिखाई देता है, वह मार्क्सवादी दृष्टि से बिल्कुल भिन्न है। भारतीय समाज में एक साथ वर्ग-दरार, शोषण, संरक्षण या गलत चेतना विद्यमान है। वर्ग संघर्ष से कही अधिक हमें अभिजात संघर्ष, दबाव-समूह गुट और जाति प्रभाव-समूह दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिये, 'मिश्रित वर्ग' भी, सज्जन कृषकों के रूप में दिखाई देते हैं, जिनकी मिश्रित प्रस्थिति है और उनकी संसाधनों और अवसरों तक बहुकारी लगाव व पहुँच पाई जाती है।

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–**

1. व्यवसाय, वर्ग और प्रभुत्व की या सोपान की कसौटियों की तरह ही समाज में ..... और गैर-अभिजात का विभाजन है।
2. वेबर ने आर्थिक हित को सापेक्षिक ..... माना है।
3. ..... ने समाज के वृहद् सिद्धांत का प्रतिपादन किया था।
4. मार्क्स का जन्म जर्मनी में ..... को हुआ था।
5. ..... में कहा गया है कि, "आज तक के समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।"
6. ..... मार्क्स ने भारत के बारे में न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून में दो लेख लिखे।
7. औद्योगिक समाजों में सर्वहारा वर्ग का ..... हुआ है।
8. ..... में एक साथ वर्ग-दरार, शोषण संरक्षण या गलत चेतना विद्यमान है।

नोट

## 4.3 मैक्स वेबर की सैद्धांतिक अवधारणाएँ (Theoretical Formulations of Max Weber)

मैक्स वेबर 21 अप्रैल 1864 को जर्मनी में जन्मे थे। कार्ल मार्क्स की तरह वेबर भी जर्मनी और यूरोप में, समाज विज्ञान, और विशेषत: समाजशास्त्र के संस्थापक थे। वेबर के पिता कपड़ा उत्पादक (निर्माता), कानूनवेत्ता और सांसद थे। वेबर की माता मानवतावादी और धार्मिक मूल्यों वाली सुसंस्कृत व दयावान महिला थीं। वेबर के पिता यह पसन्द नहीं था। वेबर की शिक्षा कानून और कानून के इतिहास में हुई थी।

अपनी डॉक्टोरल थीसिस–ए कन्ट्रीब्यूशन टू द हिस्ट्री ऑफ मेडियवल बिजनेस ऑर्गेनाइजेसन्स (1889) में वेबर ने व्यावसायिक कार्य में लागत, जोखिम या लाभ का अध्ययन किया है। इसके बाद, जर्मन बैंच/या बार में प्रशिक्षण प्रारंभ किया। इस दौरान वेबर को कृषक समाज की सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के बारे में जानकारी प्राप्त हुई। उन्होंने बर्लिन विश्वविद्यालय में कानून के शिक्षक के रूप में कार्य शुरू किया। वेबर ने रोमन समाज के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विकास (परिवर्तन) का भी अध्ययन किया।

एक पूर्णकालीन व्याख्याता, सरकारी संस्थाओं के सलाहकार और अनुसंधानकर्ता होने के कारण वेबर पर कार्य का भारी दबाव था। 1894 में वेबर फ्राईबूर विश्वविद्यालय में पूर्ण प्रोफेसर (आचार्य) बने और 1896 में हैडलबर्ग में एक और नये पद को स्वीकार किया। 33 वर्ष की आयु में वेबर बीमार हुए और उसके कारण नियमित शैक्षणिक कार्य को स्थगित करना पड़ा। चार वर्ष तक वेबर अत्यंत अधिक थकान और चिंता से ग्रस्त रहे। इस निजी उफान के कारण, जिसके लिये वेबर का पारिवारिक माहौल उत्तरदायी था, वेबर रोम में रहे। वेबर एक अत्यंत व्यापक पाठक थे। उनकी रुचि इतिहास, धार्मिक संगठनों और आर्थिक क्रियाओं के बारे में जानने की थी। 1901 में वेबर ने अपना शैक्षणिक कार्य पुन: शुरू किया, लेकिन उनमें पहले की तरह का उत्साह और जोश नहीं था। 1920 में अपनी मृत्यु तक 56 वर्ष की आयु में वेबर ने अनेक अल्पकालीन और पूर्णकालीन उत्तरदायित्वों का वहन किया था।

वेबर की अद्वितीय विद्वता और पारिवारिक जीवन एक अद्‌भुत मिश्रण थे। कार्य से हटना और जोरदार भागीदारी वेबर के जीवन के अभिन्न भाग बन गये थे। वेबर का जीवन विरोधाभासों से भरा हुआ था, जिसके लिये आंशिक रूप में उसके परिवार की उदारवादी व मध्यमवर्गीय पृष्ठभूमि थी और उसमें भी उसके पिता व माता के परस्पर–विरोधी मूल्य प्रमुख थे। वेबर ने राज्य की शक्ति को उभरते और उदारवाद के पतन को आधुनिक समाज के नौकरशाहीकरण (शासनतंत्रीकरण) में व्यक्ति के लिये हो रही चुनौती के रूप में देखा। वेबर पूर्णत: आश्वस्त थे कि एक व्यक्ति अपने उद्देश्यों को सत्ता/शक्ति की राजनीति द्वारा ही प्राप्त कर सकता है।

वेबर सार्वभौमिक (सर्वत्र) विद्वानों की पीढ़ी से जुड़े हुए थे। वेबर को अपनी विद्वता स्थापित करने में जर्मनी की बौद्धिक परम्पराओं और संचित विद्वता, विशेषत: इतिहास, शास्त्रीय विषयों, मनोविज्ञान, धर्मशास्त्र, तुलनात्मक साहित्य, भाषा विज्ञान और दर्शनशास्त्र से बहुत बड़ी प्रेरणा प्राप्त हुई थी। मार्क्स के विपरीत वेबर ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के विरुद्ध विचार प्रस्तुत किया। वेबर ने स्वयं को आर्थिक राष्ट्रवादी की संज्ञा दी, परन्तु यहाँ पर हम वेबर की बौद्धिक प्रवृत्तियों की ही चर्चा करेंगे। वेबर ने अर्थव्यवस्था और समाज, पूँजीवाद, धर्म, औपचारिक संगठनों व शासनतंत्र कानून, समाज विज्ञानों के अध्ययनशास्त्र, शक्ति व नेतृत्व, मानव क्रिया के प्रकार आदि पर व्यापक प्रकाशन किया है।

चूँकि वेबर मार्क्स के बाद जन्मे थे, उनको मार्क्सवादी विचारों और अवधारणाओं पर प्रतिक्रिया करने का लाभ प्राप्त था। वेबर ने मार्क्स के आर्थिक भौतिकवाद को राजनीतिक और सैन्य भौतिकवाद द्वारा 'घुमाफिराकर' प्रस्तुत किया। वेबर हथियारों और प्रशासन के साधनों पर नियंत्रण चाहते हैं। वेबर ने समाज के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक पहलुओं के बीच औचित्यपूर्ण अन्तर किया है और शक्ति को समाज के सब क्षेत्रों की चाबी माना है।

वेबर ने वर्ग, प्रस्थिति और शक्ति के बीच एक स्पष्ट अन्तर किया है। वेबर के सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त की कुँजी शक्ति है। वर्ग एक आर्थिक भाग है और 'बाजार परिस्थिति' की उत्पति है। प्रस्थिति का निर्धारण 'प्रस्थिति सम्मान' से होता है। 'प्रस्थिति समूह' सम्मान पर आधारित सामाजिक संगठन को निर्मित करते हैं। सामाजिक

नोट

स्तरीकरण की समझ के लिये जिस तरीके से 'प्रस्थिति सम्मान' को वितरित किया जाता है, वह महत्त्वपूर्ण है। वेबर ने यह स्पष्ट किया है कि 'वर्ग, प्रस्थिति समूह आवश्यक रूप में स्वतंत्र प्रघटनायें नहीं हैं। 'वर्ग प्रस्थिति और दल' का इतिहास समाज की तीन व्यवस्थाओं, अर्थात् आर्थिक, सामाजिक और राजनीति के अनुरूप है। परन्तु तीनों व्यवस्थायें एक समान या स्वतंत्र नहीं हैं। एक व्यवस्था दूसरी से प्रभावित हो सकती है। इस प्रकार, शक्ति प्राप्त करने की लालसा हमेशा आर्थिक सम्पन्नता के लिये नहीं है। यह लालसा मात्र शक्ति प्राप्ति के लिये या सामाजिक सम्मान के लिये हो सकती है। यह भी है कि सब तरह की शक्ति से सामाजिक सम्मान प्राप्त नहीं होता और शक्ति सामाजिक सम्मान का एक मात्र स्त्रोत नहीं है। इस प्रकार प्रस्थिति का निर्धारण उस सामाजिक सम्मान से होता है जो एक व्यक्ति को आनदिन्त करता है और सामाजिक सम्मान विभिन्न 'जीवन शैलियों' द्वारा प्रकट किया जाता है। वेबर के सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त के इस सारगर्भित परिचय के पश्चात् हम उनके विवरणों पर शास्त्रीय लेख–'वर्ग, प्रस्थिति पार्टी' पर आधारित चर्चा कर सकते हैं।

### 4.3.1 आर्थिक दृष्टि से निर्धारित शक्ति और सामाजिक व्यवस्था

प्रत्येक कानूनी व्यवस्था संरचना अपने सम्बन्धित समुदाय में शक्ति (आर्थिक या अन्य) के वितरण को प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करती है। यह न केवल राज्य की व्यवस्था के लिये ही है बल्कि सभी विधि व्यवस्थाओं के बारे में भी सही है। वेबर ने लिखा है कि 'सामान्यतया शक्ति से हमारा तात्पर्य एक व्यक्ति या बहुत से व्यक्तियों के लिये उस अवसर से है, जिसके द्वारा वे एक सामाजिक (सामुदायिक) क्रिया में अपनी इच्छा की प्राप्ति करते हैं, चाहे उस क्रिया में अन्य भागीदार उनका विरोध भी करते हैं।

आर्थिक दृष्टि से निर्धारित शक्ति वास्तव में शक्ति (राजनीति) के समान नही है। इसके विपरीत आर्थिक शक्ति का उभार दूसरे आधारों पर विद्यमान शक्ति का परिणाम हो सकता है। मनुष्य केवल आर्थिक रूप में अपने आपको सशक्त करने के लिये ही' शक्ति प्राप्ति की लालसा नहीं रखता है। शक्ति (आर्थिक शक्ति सहित) को 'केवल इसके लिये ही' (शक्ति के लिये ही) महत्त्व दिया जा सकता है।

बहुधा, शक्ति के लिये लालसा, इसमें निहित, 'सामाजिक सम्मान' द्वारा भी निर्धारित होती है, लेकिन हर शक्ति में सामाजिक सम्मान नहीं होता है। केवल आर्थिक शक्ति या धन शक्ति मात्र सामाजिक सम्मान का एक मान्य आधार है। न ही शक्ति सामाजिक सम्मान का एक मात्र आधार है। वास्तव में, सामाजिक सम्मान या प्रतिष्ठा भी राजनीतिक या आर्थिक शक्ति का आधार हो सकती है। शक्ति और सम्मान दोनों कानूनी व्यवस्था द्वारा निर्धारित हो सकते हैं, परन्तु सामान्यतया, यह प्राथमिक साधन (स्त्रोत) नहीं है। कानूनी व्यवस्था एक अतिरिक्त स्त्रोत है, और यह सदैव शक्ति और सम्मान का उपाय नहीं हो सकता।

एक समाज में सामाजिक सम्मान के वितरण के तरीके द्वारा समाज में सामाजिक सम्मान के वितरण के तरीके द्वारा 'सामाजिक व्यवस्था और आर्थिक व्यवस्था कानूनी व्यवस्था से जुड़ी हुई हैं, लेकिन दोनों समान नहीं हैं। जिस ढंग में आर्थिक वस्तुयें और सेवायें वितरित की जाती हैं और उपयोग में ली जाती हैं, उससे आर्थिक वस्तुयें और सेवायें वितरित की जाती हैं और उपयोग में ली जाती हैं, उससे आर्थिक व्यवस्था निर्धारित होता है। बहुत हद तक, सामाजिक व्यवस्था आर्थिक व्यवस्था से निर्धारित होती है, और उसके बदले में, उस पर प्रतिक्रिया भी होती है। इस प्रकार 'वर्ग', प्रस्थिति समूह और 'दल' एक समुदाय में शक्ति के वितरण की प्रघटनायें हैं।

### 4.3.2 वर्ग परिस्थिति का बाजार परिस्थिति द्वारा निर्धारण

वर्ग समुदाय नहीं है। वे (वर्ग) केवल संभावित और निरंतर (सामूहिक/सामुदायिक) क्रिया द्वारा दिखाई देते हैं। वेबर अनुसार, हम वर्ग के बारे में कहते हैं जब–

1. बहुत से लोगों के अपने जीवन के अवसरों में एक विशेष कारकीय भाग समान रूप में पाया जाता है
2. जहाँ तक यह भाग आय के लिये वस्तुओं और अवसरों के रूप में पूर्णत: आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करता है और
3. यह वस्तु या श्रम बाजारों की अवस्थाओं के अन्तर्गत दृष्टिगत होता है।

नोट

ये तीन बिन्दु, 'वर्ग परिस्थिति को इंगित करते हैं। इसमें निम्न बिन्दु निहित हैं–

1. सामान (वस्तुओं) की पूर्ति के लिये विशिष्ट अवसर।
2. बाह्य जीवन की अवस्थायें।
3. निजी जीवन अनुभव।

वेबर की यह भी सोच है कि शक्ति की तादाद और प्रकार या उसकी कमी द्वारा, एक आर्थिक व्यवस्था में आय के लिये, पदार्थों या कौशल को संभालने के लिये, अवसर निर्धारित होता है।

'वर्ग' शब्द लोगों के एक समूह को सम्बोधित करता है, जो एक जैसी वर्ग परिस्थिति में पाये जाते हैं। प्रतियोगिता द्वारा कुछ हट जाते हैं और कुछ संरक्षित हो जाती हैं। एकाधिकार, प्रतियोगिता की अनुपस्थिति या कमजोर होने पर घटित होता है, या प्रतियोगी (विरोधी) को प्रतियोगिता से बाहर कर दिया जाता है।

इसलिये, सम्पत्ति और सम्पत्ति का अभाव सब वर्ग परिस्थितियों की आधारभूत श्रेणियाँ हैं। कीमत के युद्धों और प्रतियोगी संघर्षों में, दोनों प्रदर्शित होते हैं। सम्पत्ति और सेवाओं के प्रकारों द्वारा वर्ग परिस्थितियाँ और भी विभाजित होती हैं। उदाहरण के लिये किराया प्राप्त करने वालों का वर्ग और उद्यमियों का वर्ग साफ दिखाई देते हैं। एक व्यक्ति विशेष के वर्ग-स्थान (पद) के निर्धारण में उसको बाजार में प्राप्त अवसर का प्रकार एक निर्णयकारी कारक है। वास्तव में, अन्ततः वर्ग परिस्थिति ही बाजार परिस्थिति है, लेकिन सम्पत्ति (धरोहर) प्रारम्भ में एक प्रभावी कारक हो सकती है, बोहरा–कर्जदार सम्बन्ध वर्ग परिस्थितियों का आधार बनता है। वर्ग संघर्ष के परिणामतः एकाधिकार और धनी लोगों की सरकार भी सत्ता में आ सकती है। 'दास' एक प्रस्थिति समूह है।

### 4.3.3 वर्ग हित से अवतरित सामुदायिक क्रिया

यद्यपि 'वर्ग' की रचना बाजार में आर्थिक हित द्वारा होती है, फिर भी वर्ग हित की अवधारणा अस्पष्ट है, क्योंकि एक कार्य (क्रिया) के लिये, एक व्यक्ति की योग्यता, उच्च, औसत या निम्न हो सकती है। श्रमिक संगठन भी वर्ग परिस्थिति को प्रभावित कर सकते हैं। ऐसा परिस्थिति एक सामूहिक (सामुदायिक) क्रिया की है।

एक *सामुदायिक कार्य* का अभिप्राय उस क्रिया से है जिसके द्वारा कर्ताओं में यह भावना होती है कि वे सब साथ हैं। सामाजिक क्रिया (कार्य), इसके विपरीत, हितों के औचित्यपूर्ण प्रेरित समायोजन की प्रवृत्ति को इंगित करती है। सामाजिक या सामुदायिक क्रिया का भी एक समान वर्ग परिस्थिति से उभरना किसी भी तरह से एक सार्वभौम प्रघटना नहीं हैं। वर्ग परिस्थिति अपने प्रभावों के सन्दर्भ में आवश्यक रूप में जन कार्यों की एक जैसी प्रतिक्रियाओं तक ही सीमित रह सकती है। एक अस्पष्ट (बेडौल) सामुदायिक क्रिया भी एक मुद्दे पर नुक्ताचीनी या नैतिक अस्वीकृति या धीमी गति के रूप में उभर सकती है। वर्ग परिस्थिति का अभिप्राय है कि–

1. सम्पत्ति का तयशुदा वितरण, और
2. एक वर्ग परिस्थिति को निश्चित करने के लिये प्रत्यक्ष पहचान योग्य आर्थिक व्यवस्था का ढाँचा।

इन दोनों से एक वर्ग परिस्थिति पारदर्शी बनती है।

### 4.3.4 वर्ग संघर्ष के प्रकार

एक वर्ग अपने आप में एक समुदाय नहीं होता है। फिर भी केवल सामुदायीकरण (समान आर्थिक हितों के लिये जुटाव) के आधार पर ही वर्ग परिस्थितियाँ उभरती हैं। श्रमिकों और उद्यमियों की वर्ग परिस्थिति श्रम बाजार और पूँजीवादी उद्यम द्वारा निर्धारित होती है। इस प्रकार सामुदायिक क्रिया एक समान वर्ग के सदस्यों के बीच में मूलरूप से क्रिया नहीं है। पूँजीवादी उद्योग का अस्तित्व एक विशिष्ट प्रकार की विधि व्यवस्था द्वारा पूर्व-निर्धारित होता है। प्रत्येक प्रकार की वर्ग परिस्थिति सम्पत्ति की शक्ति पर निर्भर करती है। प्रस्थिति समूह केवल बाजार सिद्धान्त के कठोर क्रियान्वयन में बाधा डालते हैं। वर्ग संघर्ष के प्रकार ये हैं–प्राचीन काल में कृषकों, कारीगरों आदि द्वारा वर्ग संघर्ष, और आजकल प्रतियोगी संघर्ष, कीमत, युद्ध इत्यादि।

नोट

### 4.3.5 प्रस्थिति सम्मान

वेबर के अनुसार वर्गों के विपरीत, प्रस्थिति समूह, प्रायः एक अस्पष्ट प्रकार के, साधराणतया समुदाय हैं। एक वर्ग परिस्थिति की तरह ही तरह ही एक प्रस्थिति परिस्थिति भी है, जिसके द्वारा बहुत से लोगों के सम्मान का सामाजिक आकलन किया जा सकता है। यह वर्ग परिस्थिति के निकट हो सकती है, प्रस्थिति सम्मान अनिवार्यतः एक वर्ग परिस्थिति से जुड़ा हुआ नहीं होता। साधारणतया, यह मात्र सम्पत्ति के दावों के स्पष्ट विरोध में रहता है। सम्पत्तिवान और सम्पत्तिविहीन दोनों लोग एक ही प्रस्थिति समूह से जुड़े हुए हो सकते हैं, और बहुधा वे स्पष्ट परिणामों के साथ जुड़े हुए पाये जाते हैं। दीर्घकाल में इस प्रकार की समानता अनिश्चित व असुरक्षित भी हो सकती है।

### 4.3.6 प्रस्थिति स्तरीकरण की सुरक्षायें (गारन्टियाँ)

सामान्यतया, एक विशेष जीवन-शैली द्वारा प्रस्थिति सम्मान प्रकट किया जाता है। प्रस्थिति सम्मान से जुड़े सामाजिक व्यवहार (सम्पर्क) पर रोक-टोक होती है, जो आर्थिक प्रस्थिति के अधीनस्थ नहीं है। *प्रस्थिति चक्र* विवाहों द्वारा स्पष्ट दिखाई देता है। गतियों वे पड़ोसों में जाना और लोगों से मिलना आदि प्रस्थिति समूहों के निर्मित होने के उदाहरण हैं। वेबर ने यह भी कहा है कि प्रस्थिति की वृद्धि प्रमुखतया स्तरीकरण का प्रश्न है, जो ग्रहण करने या हथियाने पर निर्भर करता है। ऐसा हथियाना लगभग सब प्रस्थिति सम्मानों की मूल जड़ (उत्पत्ति) है।

वेबर ने 'जाति' का उदाहरण एक प्रस्थिति समूह के रूप में दिया है। प्रस्थिति विशिष्टतायें (विभेद) न केवल परम्पराओं और कनूनों द्वारा ही सुरक्षित रहते हैं, बल्कि धार्मिक कृत्यों/संस्कारों द्वारा भी वे बने रहते हैं। जातियाँ प्रस्थिति समूह हैं और जाति में आदर्श और भौतिक (आर्थिक) कारकों का सम्मिश्रण है। प्रत्येक जाति की अपनी एक जीवन-शैली होती है। वेबर के अनुसार 'सामाजिक सम्मान' में एक 'जीवन-शैली' की निर्णायक भूमिका का अभिप्राय यह है कि प्रस्थिति समूह 'परम्पराओं के विशेष वाहक हैं। जीवन का 'शैलीकरण' प्रस्थिति समूहों से उत्पन्न होता है।

विशिष्ट 'जीवन शैलियों' के रूप में, 'वर्ग' अपने उपभोग के सिद्धान्तों के आधार भी स्तरीकृत होते हैं। एक 'व्यावसायिक समूह' भी, एक प्रस्थिति समूह है। उदाहरण के लिये ब्राह्मण एक प्रस्थिति समूह है, क्योंकि वे पूजा-पाठ का कार्य करते हैं, लेकिन प्रस्थिति द्वारा स्तरीकरण को तकनीकी परिवर्तन और आर्थिक रूपान्तरण से चुनौती मिलती है और इस कारण वर्ग परिस्थिति को बढ़ावा मिलता है।

*नोट्स* सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था की स्थिरता, कानूनी मान्यता प्राप्त सामाजिक संगठन से स्वीकृत होती है।

### 4.3.7 शक्ति (पार्टियाँ)

"आर्थिक व्यवस्था में पाये जाते हैं, 'प्रस्थिति समूह' सम्मान के वितरण के क्षेत्र में दिखाई देते हैं, और ये दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं और ये विधि व्यवस्था को प्रभावित करते हैं, और इसके (विधि व्यवस्था) द्वारा प्रभावित भी होते हैं, लेकिन दल (पार्टियाँ) शक्ति के मकान में रहते हैं। इस प्रकार वेबर ने वर्ग, प्रस्थिति और शक्ति की स्वायत्तता और अन्तरनिर्भरता पर बल दिया है।

'दलों' की क्रिया, सामाजिक 'शक्ति' की प्राप्ति की ओर मुखरित होती है। इसका तात्पर्य यह है कि पार्टियाँ सामुदायिक कार्य को प्रभावित करने की ओर झुकाव रखती हैं, चाहे उनका स्वरूप (विषय-सामग्री) कुछ भी क्यों न हो। सिद्धान्त में, 'पार्टियाँ' एक सामाजिक क्लब में विद्यमान हो सकती हैं, और एक 'राज्य' में भी पाई जा सकती हैं। 'पार्टियों' के सामुदायिक कार्यों में सदैव एक समाजीकरण निहित रहता है। एक उद्देश्य की ओर निर्देशित रहती हैं। एक उद्देश्य कार्य का कारण हो सकता है। एक वैयक्तिक कारण से भी यह हो सकता है। 'पार्टियाँ' दस प्रकार

नोट

समुदायों के अन्दर सम्भव हैं।

'वर्ग परिस्थिति'/प्रस्थिति 'परिस्थिति' पार्टियों का निर्धारण कर सकती है। वे आंशिक रूप *वर्ग दल* हैं और आंशिक रूप में *प्रस्थिति दल* हैं। परन्तु कभी-कभी वे दोनों ही नहीं हैं। पार्टियों में कर्मचारी और कार्य करने के नियम होते हैं। पार्टियाँ अस्थायी या स्थायी संरचनाओं का प्रतिनिधित्व कर सकती हैं। शक्ति प्राप्त करने के साधन नग्न हिंसा से लेकर, धन खर्च करके मतों के लिये प्रचार, सामाजिक प्रभाव, वजनदार भाषण, सुझाव बेहूदा झूठ आदि हो सकते हैं। दलों के बीच सामुदायिक क्रिया की प्रकृति के आधार पर अन्तर पाया जाता है। उनमें प्रस्थितियों या वर्गों के आधार पर समुदाय में पाये जाने स्तरीकरण पर आधारित अन्तर भी पाये जाते हैं। पार्टियाँ समुदाय में व्याप्त प्रभुत्व की संरचना के अनुसार भिन्न होती हैं। पार्टियों का इतिहास समाज के इतिहास के संबंध में देखा जा सकता है।

एच.एच. गर्थ और सी. राइट मिल्स का मत है कि वेबर की पद्धति मार्क्स की एतिहासिक पद्धति का एक सकुशल उपयोग है। वेबर ने इस पद्धति का उपयोग एक 'विश्लेषणात्मक सिद्धान्त' के रूप में किया था। वैसे वेबर संसार के इतिहास के विचार या एक एकलकारणीय सिद्धान्त के पक्ष में नहीं थे। वेबर बहुतायत कारणकारी कारकों को एकल-कारक सूत्र (थ्योरम) में घटाने (दिखाने) ने विरुद्ध थे। वेबर सरलीकरण के पक्षधर भी नहीं थे। वेबर का शक्ति और राजनीतिक संरचनाओं का विश्लेषण मार्क्स के वर्ग और आर्थिक संरचनाओं के उपागम के निकट से समानान्तर प्रतीत होता है। मार्क्स ने आर्थिक शक्ति और राजनीतिक शक्ति के बीच भेद करने में कम सावधानी रखी हैं वेबर ने उदारवादी होने के कारण, 'आर्थिक', आर्थिक रूप से निर्धारित' और आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण' इन तीनों क्षेत्रों के बीच स्पष्ट अन्तर किया है।

वेबर ने 'राजनीतिक शासन' के साधनों के लिये संघर्ष पर बल दिया है। राज्य के पास शक्ति का एकाधिकार है। मार्क्स की तरह वेबर ने भी विचारधारा की प्रघटनाओं का आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं के भौतिक हितों के साथ सह-संबंध स्थपित किया है। वेबर ने 'औचित्यकरणों' पर तीखी नजर रखी है, जो उनकी 'आदर्श प्रकार', क्रिया, शासनतंत्र, पूँजीवाद आदि की अवधारणाओं में दिखाई देती है। वेबर ने 'हितों' और 'विचारधाराओं' दोनों पर समान बल दिया है। वेबर के विचार में आधुनिक पूँजीवाद अतार्किक नहीं है, यह तार्किकता/औचित्यतता का मुखौटा है।

### 4.3.8 'वर्ग' के बारे में बूरदियो का दृष्टिकोण

पिअरे बूरदियो ने कृषकों, कला बेरोजगारी, स्कूल शिक्षा, विधि, विज्ञान, साहित्य, बंधुता, वर्गों, धर्म, राजनीती, खेलकूद, भाषा, आवास, प्रबुद्धजन आदि विषयों पर प्रकाशन किया है और प्रजातियों और संस्कृतियों के हालात्, सांख्यिकीय प्रारूप (मॉडल), निराकार अर्द्धसैद्धान्तिक और दार्शनिक दृष्टिकोणों को उपयोग में लिया है। यहाँ हम बूरदियो की 'पूँजी' और 'वर्ग' की अवधारणाओं तक ही, हमारे अवलोकन को सीमित रखेंगे। बूरदियो के अनुसार किसी भी समाज को हम उसमें विभिन्न प्रकारों के संसाधन या 'पूँजी' के वितरण द्वारा समझ सकते हैं। बूरदियों के अनुसार, तीन तरह की पूँजी इस प्रकार है–(*i*) आर्थिक पूँजी (भौतिक सम्पदा–रुपये, स्टॉक और शेयर, सम्पत्ति, इत्यादि); (*ii*) सांस्कृतिक पूँजी (ज्ञान, कौशल, सांस्कृतिक उपलब्धियाँ); और (*iii*) प्रतिकात्मक पूँजी (संचित प्रतिष्ठा और कानूनी/राजनीतिक व्यवस्थाओं की रचना या उनके 'वर्ग, प्रस्थिति और दलों' के विचार से मिलता-जुलता है। हम कह सकते हैं कि बूरदियो ने मार्क्स द्वारा प्रस्तावित पूँजी की अवधारणा को संशोधित और व्यापक (वृहद्) किया है।

बूरदियो ने सामाजिक स्थान और वर्गों की उत्पत्ति को जोड़ कर देखा है। उसने इंगित किया है कि मार्क्सवादी सिद्धान्त में 'सैद्धान्तिक वर्ग' को एक 'वास्तविक वर्ग' नहीं समझा जा सकता है। एक वास्तविक वर्ग एक सक्रियतापूर्ण जुटाव समूह है। बूरदियो ने सामाजिक क्षेत्र की चर्चा की है, उसके लिये केवल आर्थिक क्षेत्र को बहुआयामी स्थान स्वीकृत नहीं किया जा सकता। आर्थिक उत्पादन के सामने अन्य आयाम घटाये नहीं जा सकते। बूरदियो के अनुसार, प्रतीकात्मक संघर्ष व सामाजिक संसार का प्रतिनिधित्व और विशेषत: प्रत्येक क्षेत्र में सोपान तथा विभिन्न क्षेत्रों में सोपान को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। एक औपचारिक अर्थ में, बूरदियो ने 'पदों के स्थान' को कागज पर वर्ग' के समान वर्णित किया है, क्योंकि उसका अस्तित्व सैद्धान्तिक है। यह वास्तव में एक वर्ग, एक वास्तविक वर्ग,

नोट

एक समूह बनने के अर्थ में नहीं है। एक समूह संघर्ष के लिये जुटता है। अधिक से अधिक इसको एक संभावित वर्ग वह सकते हैं। यह एक नाममात्रवादी सापेक्षिकवाद है। इस दृष्टिकोण से, वर्ग वे हैं जो सामाजिक स्थान में से वास्तविक समूहों व्यावहारिक समूहों, परिवारों, क्लबों, समितियों, राजनीतिक संगठनों आदि के रूप में देखे जा सकते हैं। वास्तविकता में, सम्बन्धों के एक स्थान, इनमें दूरी (विभिन्न ऊपर व निम्न) पर स्थित एजेंटों के गठन द्वारा, वास्तविकता में या नाममात्र रूप में, वर्ग का निर्माण होता है। मार्क्स के 'अपने लिये वर्ग' के बीच अन्तर के बारे में बूरदियो ने टिप्पणी की है की मार्क्स ने 'संघर्ष में समूह' के बारे में कुछ नहीं कहा है, क्योंकि संघर्षरत समूह एक व्यक्तिकृत सामूहिक संगठन वस्तुपरक आर्थिक अवस्थाओं से हुआ है।

एक वृहद अर्थ में, वेबर के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए बूरदियो का मत है कि राजनीतिक प्रघटनाओं, सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं या संबंधों और वर्गों के बीच विरोध मात्र एक प्रकटन नहीं है। संसार एक एकल-आयामी स्थान नहीं है। बहुआयामी सामाजिक क्षेत्रों में व्यक्तियों के पद-स्थानों का निर्धारण उनके द्वारा धारण पूँजी के विभिन्न प्रकारों की तादादों द्वारा होता है। वेबर ने भी इसके बारे में ऐसे ही सोचा था। इनमें 'समरूपतायें हैं, लेकिन, आवश्यक रूप में सदैव नहीं होती हैं। क्षेत्रों, पद-स्थानों, एजेन्टों पर आधारित विचार-निर्माण आवश्यक है। इस तरह से, बूरदियो के अनुसार मार्क्सवादी विश्लेषण में सैद्धान्तिक वर्गों को उत्पादन के साधनों के स्वामित्व और अस्वामित्व के सन्दर्भ में परिभाषित नहीं किया है। बूरदियो के लिये, वर्ग, एजेन्टों के पुँज हैं, जिनके सामाजिक क्षेत्र (स्थान) में एक जैसे पद-स्थान और समान पूँजी की तादाद जीवन अवसर और प्रवृत्तियाँ आदि हैं। वर्ग, 'सैद्धान्तिक रचनायें हैं, वास्तविक सामाजिक समूहों के जैसे नहीं हैं, लेकिन इनसे, वास्तविकता में, सामाजिक समूहों और एजेन्टों के पुँजों के अवलोकन में मदद प्राप्त होती है।

*टास्क* वर्ग किसे कहते है?

### 4.3.9 भारतीय अध्ययनों पर वेबर का प्रभाव

सामाजिक स्तरीकरण के वेबर के सिद्धान्त ने आन्द्रे बेत्तई, अनिल भट्ट, पी.सी. अग्रवाल के. एल. शर्मा आदि जैसे अनेक विद्वानों को प्रभावित किया है। 1950 और 1960 के दशकों में, एम.एन. श्रीनिवास, लुई ड्यमों और बहुत से अन्य विद्वानों ने जाति को सामाजिक श्रेणीकरण की एक मात्र संस्था माना था। जाति को सामाजिक सम्बन्धों के सम्पूर्ण क्षेण के समकक्ष समझा गया था और जाति को सामाजिक स्तरीकरण का सर्वव्यापक आधार सोचा जाता था। इस उपागम की प्रतिक्रिया के रूप में, स्तरीकरण की बहुआयामी प्रकृति पर बल दिया गया था। जाति के साथ, वर्ग और शक्ति को, सामाजिक असमानता और सोपान के, आर्थिक और राजनीतिक आयाम माना गया था। कुछ विद्वानों ने जाति को वर्ग के दृष्टिकोण से समझने का प्रयास भी किया है।

के.एल. शर्मा ने राजस्थान के छह गाँवों के अपने अध्ययन में सामाजिक स्तरीकरण, गतिशीलता और परिवर्तन की बहुआयामी प्रकृति कि व्याख्या के लिये संरचनात्मक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टिकोणों का उपयोग किया है। शर्मा ने जाति, वर्ग, जाति और वर्ग चेतना, शक्ति संरचना, मूल्य-प्रवृत्तियों को भारतीय समाज के 'जाति मॉडल' के महत्त्व की जाँच के लिये मुख्य बिन्दु माना है। आन्द्रे बेत्तई ने, वेबर के सिद्धान्त–'वर्ग, प्रस्थिति और पार्टी' का अनुसरण करते हुए, तमिलनाडु के एक गाँव के अपने अध्ययन में जाति, वर्ग और शक्ति के बीच अन्तर किया है। बेत्तई ने संस्थात्मक संरचानाओं के विभेदीकरण का स्पष्ट अवलोकन किया है, और गाँव में अवलोकित कारकों और दबावों के कारण, 'प्रस्थितियों की सम्पूर्णता' की अनुपस्थिति देखी है। बेत्तई की ही तरह, अनिल भट्ट ने, जाति वर्ग और राजनीति के अध्ययन द्वारा सामाजिक स्तरीकरण का तुलनात्मक विश्लेषण किया है। पी.सी. अग्रवाल द्वारा जाति, धर्म और शक्ति का अध्ययन भी बहुआयामी और तुलनात्मक प्रारूप की श्रेणी ने माना जाता है।

वेबर के सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त को, वेबर के समाज, अर्थव्यवस्था, राज्य, धर्म आदि के बारे में वृहद् उपागम से अलग करके नहीं देख सकते। वेबर ने अपनी समझ की पद्धति (वरस्तेहन) में तार्किकता, व्यक्तिपरकता

नोट

और वस्तुपरकता के सम्मिश्रण का प्रयास किया है। वेबर के मानव समाज के अध्ययन में, व्यक्ति, संगठन (व्यवस्था) और समूह को समुचित स्थान (महत्त्व) दिया गया है। वेबर ने बहुत महत्त्वपूर्ण ढंग से, सिद्धान्त पद्धति और आंकड़ों (तथ्यों) को जोड़ा है। वेबर के भारतीय अनुयायी उनकी तरह, वैज्ञानिक ढंग से उस कार्य को करने में सफल नहीं हुए हैं।

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**2. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–**

1. मैक्स वेबर का जन्म कहाँ हुआ था–
   (क) जर्मनी (ख) यूरोप (ग) अमेरिका (घ) इनमें से कोई नहीं
2. किस सन् में वेबर फ्राईबूर विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बने थे–
   (क) 1894 में (ख) 1896 में (ग) 1898 में (घ) इनमें से कोई नहीं
3. समाज के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक पहलुओं के बीच औचित्यपूर्ण अन्तर किसने किया है–
   (क) पारसन्स ने (ख) मार्क्स ने (ग) वेबर ने (घ) इनमें से कोई नहीं
4. वर्ग परिस्थिति किस परिस्थिति के निकट पाई जाती है–
   (क) प्रस्थिति (ख) समुदाय (ग) समूह (घ) इनमें से कोई नहीं
5. वेबर ने जाति का उदाहरण किस रूप में दिया है–
   (क) वर्ग समूह (ख) प्रस्थिति समूह (ग) समुदाय समूह (घ) इनमें से कोई नहीं
6. बूरदियो ने किस क्षेत्र की चर्चा की है–
   (क) सामाजिक क्षेत्र (ख) राजनीतिक क्षेत्र (ग) आर्थिक क्षेत्र (घ) इनमें से कोई नहीं
7. सामाजिक स्तरीकरण के वेबर के सिद्धांत ने किन विद्वान को प्रभावित किया–
   (क) आन्द्रे बेत्तई (ख) अनिल भट्ट (ग) पी.सी. अग्रवाल (घ) उपर्युक्त सभी।

## 4.4 संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक सिद्धांत (Structural Functional Theory)

सामाजिक स्तरीकरण के मार्क्सवादी और वेबरवादी दोनों सिद्धान्त सामान्यतया निर्णायकवादी हैं, क्योंकि मार्क्स आर्थिक कारक को वर्ग संरचना के लिये पूर्णत: उत्तरदायी मानता है और वेबर सामाजिक सम्बन्धों में 'शक्ति' पर, एक मुख्य कारक के रूप में, बल देता है। इस प्रकार, मार्क्स और वेबर समाज में बहुत से कारकों के सापेक्षिक महत्त्व पर ध्यान नहीं देते। टालकट पार्सन्स की सोच है कि एक सामाजिक व्यवस्था को अपने आन्तरिक स्रोतों से, दीर्घकालीन निरंतरता के लिये आवश्यक अवस्थायें जुटानी चाहिये। व्यक्तित्व व्यवस्थाओं और सामाजिक व्यवस्थाओं के बीच सांस्कृतिक व्यवस्थाओं (मूल्य और मानक) के माध्यम से शांति व चैन विद्यमान होना चाहिये। सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन का प्रकार्यात्मक महत्त्व होना चाहिये।

### 4.4.1 बहुआयामी प्रकृति

पार्सन्स की सोच में एक तरफ तो आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के बीच और दूसरी ओर स्वीकृति/मान्यता और प्रतिष्ठा/प्रशंसारूपी प्रतिफलों के बीच, रुचिकर अनुरूपता मूल्य निहित है, और वे प्रकार्यात्मक रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। राजनीतिक शक्ति के साथ वैयक्तिक उच्च आदर पाया जाता है, और इसलिये प्रतिष्ट को सोपानीय रूप में व्यवस्थित करना पड़ता है। पार्सन्स के अनुसार "सोपानीय व्यवस्था को हम *प्रतिष्ठा* कह सकते हैं, जो एक व्यवस्थित सम्पूर्ण व्यवस्था, अर्थात् *विभेदीकृत मूल्यांकन की व्यवस्था* में एक व्यक्ति का सापेक्षिक आदर/प्रशंसा है"। पार्सन्स आगे लिखते हैं–"इसलिये, एक अर्थ में, संबंधनात्मक प्रतिफल व्यवस्था के सब तत्व प्रशंसा/प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में, श्रेणीकरण व्यवस्था में एकीकृत हो जाते हैं, वैसे ही, जैसे एक राजनीतिक शक्ति व्यवस्था में सुविधाओं पर नियंत्रण

नोट

होता है। इस श्रेणीकरण व्यवस्था को, प्रतिष्ठा/प्रशंसा के सन्दर्भ में, हम समाज की *स्तरीकरण की व्यवस्था का नाम दे सकते हैं।"*

स्तरीकरण एक व्यापक प्रघटना है, क्योंकि इसमें जाति, प्रजाति सजातीयता, वर्ग, व्यवसाय, आदि का समावेश है। डब्ल्यू. लोयड वार्नर के अनुसार, अवलोकित व्यवहार और समाज के अध्ययनीकृत भाग, सामाजिक वर्ग व्यवस्थाओं, जातियों व्यवसायों, व्यावसायिक और सामाजिक गतिशीलता, आयु और यौन विभाजन, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षिणिक, धार्मिक और अन्य संस्थात्मक सोपानों तथा इन संस्थाओं के संबंधों से लेकर सामान्य सामाजिक संरचना तक पाये जाते हैं। निश्चित रूप से 'निर्धारणवादी' मार्क्सवाद और 'एकल-आयामी' उपागम के विपरीत, सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन के लिये, यह बहुआयामी उपागम एक सशक्त विकल्प है। संरचनात्मक-प्रकार्यवादी सिद्धान्त बहुआयामी उपागम की श्रेणी में निहित है, जबकि सच यह है कि सम्पूर्ण समाज का 'एकीकरण' इसका प्रमुख मुद्दा है।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार, प्रकार्यात्मक विभेदीकरण एक आवश्यक प्रघटना है। उनका तर्क यह है कि एक समाज में एक व्यक्ति विशेष सब या अधिकतर कार्य स्वयं ही नहीं कर सकता है। विभिन्न कार्यों के लिये; विभिन्न इच्छा और योग्यता वाले व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। व्यक्तियों को उनके द्वारा किये गये कार्यों के महत्त्व/मूल्य के अनुसार, प्रतिफल दिये जाते हैं। यही विभेदीय प्रतिफल व्यवस्था स्तरीकरण और सोपान को जन्म देती है।

### 4.4.2 डेविस–मूर उपागम

सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त के प्रमुख प्रवर्तक किंग्सले डेविस और विलबर्ट ई. मूर हैं। एक व्यापक विवेचना से पहले, इस सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताओं का यहाँ उल्लेख करना उचित होगा। ये हैं–

1. प्रकार्यात्मक विभेदीकरण की अनिवार्यता।
2. विभिन्न प्रकार्यों के लिये विभेदीय इच्छा और योग्यता की आवश्यकता।
3. विभिन्न सामाजिक पद-स्थानों और कर्तव्यों का विभेदीय मूल्यांकन।
4. विभिन्न प्रकार्यों के साथ जुड़े मूल्य/महत्त्व के आधार पर प्रतिफल।
5. मूल्यों और प्रतिफलों द्वारा सामाजिक विभेदीकरण और विभेदीकरण की रचना।

स्तरीकरण के संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक सिद्धान्त का स्पष्ट निचोड़ यह है कि सामाजिक सोपान, भूमिकाओं और कर्तव्यों के विभेदीकरण की अनिवार्यता का परिणाम है। विभिन्न कर्तव्यों और भूमिकाओं के साथ विभेदीय शक्ति और प्रतिष्ठा जुड़ी है। मानव-जाति के जीवित रहने के लिये भूमिकाओं और कर्तव्यों का विभेदीकरण अनिवार्य है। इस प्रकार स्तरीकरण सामाजिक जीवन का एक अनिवार्य प्रघटक होता है।

यहाँ पर एक थोड़े भिन्न दृष्टिकोण के बारे में, जो जोसफ शुम्पीटर ने प्रतिपादित किया है, बताना उचित होगा। उनका मत है कि वर्ग अलग-अलग तरह की एकतिहासिक अवस्थाओं में से उभरते हैं। वर्गों की रचना, प्रकृति और मूल नियम दो कसौटियों पर निर्भर करते हैं–(*i*) एक वर्ग द्वारा किये गये कार्य को दिये गये महत्त्व पर, और (*ii*) वह अंश/सीमा, जिस तक वर्ग उस कार्य को सफलतापूर्वक पूरा करता है। शुम्पीटर का मत है कि प्रकार्य 'सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है' इससे ही केवल सापेक्षिक मूल्यांकन का निर्णय नहीं किया जा सकता है। वर्ग के सदस्य के रूप में, एक व्यक्ति का महत्व किसी एक स्थिति में निर्णयकारी कारक है। शुम्पीटर द्वारा सुझायी गयी उपरोक्त दो कासौटियाँ, डेविस-मूर की 'प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं' की लगभग पर्यायवाची हैं, लेकिन उनके द्वारा, वर्ग स्तरीकरण को दिया गया अधिक एकतिहासिक महत्त्व निश्चय ही एक मूल्यवान देन है।

इस प्रकार, डेविस और मूर स्तरीकरण और शेष सामाजिक संगठन के बीच सम्बन्ध को प्रकट करते हैं। जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है कि मान्यता यह है कि कोई भी समाज 'वर्गविहीन' या अस्तरीकृत नहीं है और इसलिये सामाजिक स्तरीकरण की आवश्यकता सार्वभौम है। दूसरा बिन्दु यह है कि मोटे तौर पर, हर समाज में प्रतिष्ठा का वितरण समान है, लेकिन स्तरीकरण की सीमा और प्रकार के सन्दर्भ में बहुत अन्तर पाये जाते हैं हमें सामाजिक

नोट

असमानता के विभिन्न स्वरूपों और उनके लिये उत्तरदायी अलग-अलग कारकों के अध्ययन की आवश्यकता हैं। स्तरीकरण के सार्वभौम और अलग-अलग रूपों को समझना मुख्य बिन्दु है। डेविस और मूर ने पद-स्थानों की व्यवस्था की व्याख्या पर बल दिया है, न कि व्यक्तियों पर, जो उन पद-स्थानों पर आसीन हैं। क्यों विभिन्न पद-स्थानों के साथ विभिन्न तरह की प्रतिष्ठा जुड़ी हुई है? कैसे कुछ व्यक्ति इन पद-स्थानों पर आसीन हो जाते हैं? सामाजिक स्तरीकरण के संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक सिद्धान्त के बारे में विचार-विमर्श में उपरोक्त प्रश्न केन्द्रीय महत्त्व के हैं। हमें डेविस-मूर उपागम के कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं का विस्तार से विवेचन करना चाहिये।

### 4.4.3 स्तरीकरण की प्रकार्यात्मक आवश्यकता

प्रत्येक समाज में ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, जिनको विशिष्ट कार्यों में लगाकर अभिप्रेरित किया जा सके। उनके (कार्यों के) साथ, सामाजिक पद-स्थान और कर्तव्य जुड़े रहते हैं। एक समाज में, सदस्यों को वैयक्तिक तौर पर उनकी उपयुक्तता और योग्यता के आधार पर विशिष्ट पद-स्थानों में कार्य दिया जाता है। दो स्तरों पर लोगों को अभिप्रेरित किया जाता है–(*i*) सही व्यक्तियों में विशेष पदों पर आसीन होने की इच्छा उत्पन्न करना, और (*ii*) उन पदों के साथ जुड़े हुए कर्तव्यों को पूरा करने की इच्छा। यह सब व्यवस्थाओं के बारे में सच है, चाहे वह सापेक्षित रूप में स्थिर है या कुछ सीमा तक गतिशील है। यह एक प्रक्रिया की तरह निरंतर है। यह प्रतियोगी या अप्रतियोगी व्यवस्था में भी होता है। व्यवस्था की प्रकृति के आधार पर अभिप्रेरणा अलग-अलग हो सकती हैं।

एक समाज के लिये यदि सब पद-स्थान अपने महत्व में समान हैं, तो फिर लोग विशिष्ट पदों के लिये अपनी मनपसन्द प्राथमिकता की चिन्ता नहीं करेंगे, लेकिन वास्तविकता है कि कौनसा पद-स्थान कौन प्राप्त करता है, यह प्रश्न प्रायः उठाया जाता है। चूँकि पद-स्थान एक जैसे नहीं हैं, कुछ के लिये प्रशिक्षण द्वारा विशेष कौशल चाहिये और कुछ पद अन्य पदों से अधिक महत्त्वपूर्ण भी हैं। विशेष पदों के साथ संलग्न कर्तव्यों को निर्धारित कार्यों के लिये आवश्यक परिश्रम द्वारा सम्पन्न करना चाहिये। इस प्रकार के प्रकार्यवादी तर्क के आधार पर एक समाज में प्रेरणाओं/प्रलोभनों के रूप में न केवल कुछ प्रकार के प्रतिफल (प्ररितोषिक) ही होने चाहिये, परन्तु पर-स्थानों के अनुकूल इन प्रतिफलों को भी विभेदीय ढंग से वितरण करने का कुछ तरीका होना चाहिये। प्रतिफल और उनका वितरण सामाजिक व्यवस्था का एक भाग है, और इस प्रकार से तत्व स्तरीकरण को उभारते हैं।

एक समाज में उसके सदस्यों को प्रतिफल वितरित किये जाते हैं। ताकि उन आवश्यक सेवाओं को सुलभ किया जा सके, जिनसे निम्न देन होती हैं-

1. पालन और आराम (सुख);
2. सम्मान और अलगपन; और
3. आत्म-सम्मान और आत्म-विस्तार।

किसी भी सामाजिक व्यवस्था में पद-स्थानों के अनुसार प्रायः तीन प्रकार के प्रतिफल दिये जाते हैं। एक अर्थ में पद-स्थानों के तहत प्रतिफल निर्मित होते हैं। प्रतिफल पद-स्थानों, उपलब्धियों या अनिवार्यताओं के साथ जुड़े अधिकारों में पाये जाते हैं।

"यदि एक समाज में विभिन्न पद-स्थानों के अधिकार और आवश्यक अवस्थायें असमान हैं तो समाज स्तरीकृत होगा, क्योंकि स्तरीकरण का यही सही अर्थ है। इस प्रकार, सामाजिक असमानता स्वाभाविक तौर पर एक विकसित तरकीब है, जिसके द्वारा यह आश्वस्त किया जाता है कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पदों पर सावधानीपूर्वक अत्यन्त योग्य व्यक्तियों को आसीन किया जाये। इसलिये हर सरल या जटिल समाज में प्रतिष्ठा और सम्मान दोनों के सन्दर्भ में विभेद करना चाहिये और इसलिये उसमें एक निश्चित मात्रा में संस्थाकृत असमानता होनी चाहिये।

सब समाजों में असमानता की मात्रा या प्रकार एक समान होना गहन आवश्यक नहीं है। डेविस और मूर द्वारा प्रस्तुत व्याख्या तार्किक दृष्टि से गहन और ऊपरी तौर पर विश्वसनीय प्रतीत होती है। फिर भी सामाजिक स्तरीकरण, की अनिवार्यता, एक तरकीब/उपाय के रूप में स्वतः विकसित स्तरीकरण, स्तरीकरण की सार्वभौमिकता आदि बहस के मुद्दे हैं, क्योंकि इनमें असमानता की निरन्तरता को समर्थन देने की प्रवृत्ति होती है। इन बिन्दुओं पर हम बाद में विचार करेंगे।

नोट

### 4.4.4 पद स्थान श्रेणी के दो निर्धारक

पद-स्थान, जिनके साथ श्रेष्ठतम प्रतिफल और उच्चतम श्रेणी जुड़ी हुई है, वे हैं

1. जिनका समाज के लिये अत्यन्त महत्व है,
2. जिनके लिये अत्यन्त प्रशिक्षण या बुद्धि की आवश्यकता है। प्रथम कारक प्रकार्य से जुड़ा है और सापेक्षिक महत्व का है; और द्वितीय साधनों से जुड़ा है, तथा कमी को इंगित करता है।

### 4.4.5 विभेदीय प्रकार्यात्मक महत्व

वास्तव में कम आवश्यक पदों की अधिक महत्त्वपूर्ण पदों के साथ सफलतापूर्वक प्रतियोगिता नहीं होती। यदि एक पद-स्थान आसनी से भरा जाता है तो इसके लिये भारी वेतन (प्रतिफल) देना नहीं पड़ता चाहे वह महत्त्वपूर्ण है यदि एक पद महत्त्वपूर्व है, लेकिन उसको भरना कठिन है, तब उसको किसी तरह भरने के लिये अधिक प्रतिफल देना पड़ता है। इसलिये एक पद के लिये प्रकार्यात्मक महत्त्व आवश्यक है, परन्तु उस पद को उच्च श्रेणी देने के लिये प्रतिफल पर्याप्त कारक नहीं है। यदि एक पद प्रकार्यात्मक दृष्टि से अद्वितीय है तो उसके लिये उच्च प्रतिफल होता है। यह पद-स्थान ऐसा हो सकता है कि इस पर अन्य स्थान निर्भर रहते हैं।

### 4.4.6 कर्मचारियों (कर्मियों) का विभेदीय अभाव

सब पद-स्थानों के लिये कार्य करने हेतु किसी प्रकार के कौशल या क्षमता की आवश्यकता होती है एक पद-स्थान पर आसीन व्यक्ति को कुछ कार्य करने पड़ते हैं। दो तरीकों से एक व्यक्ति योग्य बनता है–या तो आन्तरिक (निहित) क्षमता से या प्रशिक्षण द्वारा। दोनों सदैव आवश्यक हैं। अभाव या कमी मुख्यत: एक या दूसरे में या दोनों में हो सकती है। कुछ पदों के लिये, जिनके हेतु अन्तरनिहित कौशल की आवश्यकता होती है, उनको भरने के लिये सुयोग्य व्यक्तियों का उपलब्ध होना कठिन होता है। दूसरी ओर, कौशल बहुतायत में पाया जा सकता हैं, परन्तु प्रशिक्षण प्रक्रिया लम्बी, महँगी, और जटिल होने के कारण कुछ ही लोग सक्षम हो पाते हैं। चिकित्सा, शिक्षा दीर्घकालीन प्रशिक्षण और इसके बहुत महँगे होने का एक उपयुक्त है। कौशल की बहुतायत और आसान प्रशिक्षण के कारण, प्रतिफल अधिक नहीं होता है और यदि ऐसा नहीं होता है तो इसके विपरित स्थिति होती है। किन कारणों से कर्मचारियों के विभेदीय प्रतिफल या प्रकार्यात्मक महत्त्व और उनका अभाव प्रभावित होता है? इस प्रश्न का उत्तर स्तरीकरण की प्रकृति और दो या दो से अधिक स्तरीकरण की व्यवस्थाओं के बीच अन्तर द्वारा निर्धारित होगा। एक समाज में महत्त्वपूर्व पद-स्थान, दूसरे समाज में आवश्यक रूप से महत्त्वपूर्व नहीं हो सकते क्योंकि उन पद-स्थानों की अवस्थायें या उनके आन्तरिक विकास की सीमा अलग हो सकती है। यही बात कर्मचारियों के अभाव या विशेष प्रकार के कौशल बुद्धि की आवश्यकता पर लागू होती है।

स्तरीकरण के प्रमुख समाजीय प्रकार्य इस प्रकार हैं-

1. धर्म
2. शासन/सरकार
3. दौलत, सम्पत्ति, और श्रम
4. तकनीकी ज्ञान

### 4.4.7 धर्म

मानव समाज के लिये धर्म आवश्यक है, क्योंकि समाज के सदस्यों में विशिष्ट समान अनन्त मूल्यों और उद्देश्यों में भागीदारी द्वारा एकता पाई जाती है। यद्यपि मूल्य और उद्देश्य वैयक्तिक हो सकते हैं, लेकिन वे लोगों के व्यवहार को प्रभावित करते हैं। संचार और नैतिक दबाव द्वारा संस्कृति के एक भाग के रूप में मूल्य और उद्देश्य विकसित होते हैं। सतही तौर पर धार्मिक विश्वास और संस्कार वास्तविक दिखाई देते हैं। विश्वास और संस्कार सामान्य उद्देश्यों और मूल्यों से जुड़े रहते हैं और फिर आगे प्रतीकों और प्रत्यक्ष धार्मिक वस्तुओं के काल्पनिक संसार से जुड़े रहते

नोट

हैं। इस प्रकार की प्रतीकात्मक व्यवस्था एक व्यक्ति के जीवन के तथ्यों (वास्तविकताओं) और प्रयासों से एक सारगर्भित ढंग से संबंधित रहती है। धार्मिक वस्तुओं की पूजा की जाती है, क्योंकि सामाजिक जीवन में वे कुछ मुख्य चीजों की प्रतीक होती हैं। रहस्यात्मक आदेश/निर्देशन धर्म के पालन में आचरण के मापदंड के रूप में कार्यरत रहते हैं। इस तरह, धर्म के अनन्त उद्देश्यों और मूल्यों के अनुरूप एक संस्थात्मक ढाँचे की रचना करता है।

विशेष व्यक्ति, जो इस प्रकार की धार्मिक व्यवस्था का मार्गदर्शन करते हैं, वे साधारण व्यक्तियों से अधिक प्रतिफल प्राप्त करते हैं। उच्चतम धार्मिक कर्मियों को विशिष्ट प्रतिफलों और विशेष सुविधाओं का सुख प्राप्त होता है। ऐसे व्यक्ति धार्मिक परम्परा के रक्षक होते हैं, और लोकज्ञान और मिथक की व्याख्या करते हैं। वे ईश्वर के प्रतिनिधि माने जाते हैं इसलिये धार्मिक का रसपान करते हैं।

प्राय: धार्मिक कार्यकर्ता शक्ति के उच्चतम पदों के साथ जुड़े रहते हैं। लेकिन समाजों पर उनका पूर्ण नियंत्रण नहीं हो पाता, क्योंकि धार्मिक कर्तव्यों द्वारा उनमें उच्च स्तर की तकनीकी योग्यता नहीं आ पाती। धार्मिक संस्कार प्राय: जटिल और धार्मिक जन-ज्ञान समझनें में कठिन होता है, इसलिये बुद्धि से अधिक तरकीब की आवश्यकता होती है। रहस्यमय शक्ति के साथ सही सम्पर्क की कसौटियाँ कभी भी बिल्कुल स्पष्ट नहीं होती हैं। धार्मिक दावा आमतौर पर प्रतियोगिता से स्वतंत्र है। इस तरह की कसौटियों का पुँज कानून, प्रशासन, विज्ञान और अन्य सांसारिक क्रियाओं में खरे नहीं उतरते। आधुनिक समाजों में धार्मिकता का महत्त्व घट जाता है, क्योंकि वैज्ञानिक मापदंड पर यह खरी नहीं उतरती। भारतीय समाज में ब्राह्मण की पंडित के रूप में प्रतिष्ठा घट रही है, क्योंकि लोगों में सामाजिक-राजनीतिक चेतना और वैज्ञानिक सोच बढ़ रही है, विशेषत: उन लोगों में जो ब्राह्मण-आधिपत्य वाले भारतीय समाज में दबे हुए थे। भारत सहित कोई भी समाज पूर्णरूप से निरपेक्षित नहीं है। निराकारवाद और रहस्यवाद आंशिक रूप में अनन्त मूल्यों के एकीकरण के लिये और आंशिक रूप में प्राकृतिक आपदाओं, गंभीर बीमारी, मृत्यु आदि के कारण उत्पन्न संकटों की परिस्थितियों में भावात्मक समायोजनों में निरन्तर पाये जाते हैं।

### 4.4.8 शासन (सरकार)

कानून और सत्ता के सन्दर्भ में सरकार समाज को व्यवस्थित करती है। धर्म के विपरीत सरकार समाज को अदृश्य संसार के बजाय, वास्तविकता की ओर प्रवृत्त करती है। आन्तरिक तौर पर सरकार मानकों को लागू करती है। आन्तरिक विवादग्रस्त दावों और हितों के बीच मध्यस्थता करती है और समाज को योजना और निर्देश प्रदान करती है। बाह्य तौर पर, युद्ध और कूटनीति को संभालती है। इन कार्यों को पूरा करने के लिये, सरकार सब लोगों के एजेंट के रूप में काम करती है। शासन का पुलिस व सेना पर एकाधिकार होता है और अपने क्षेत्र में सभी व्यक्तियों पर शासन नियंत्रण रखता है। सत्ता (औपचारिक) और नागरिकों के बीच आदेश–अनुपालन सम्बन्ध होते है, इसलिये राजनीतिक सम्बन्धों पर स्तरीकरण आधारित होता है। कभी-कभी राजनीतिक असमानता एक सर्व–समाहित असमानता होती है। फिर भी, राजनीतिक सत्ता नियंकुश प्रकृति की नहीं हो सकती, क्योंकि वह लोगों और उनके हितों व कल्याण का प्रतिनिधित्व करती है।

### 4.4.9 दौलत, सम्पत्ति और श्रम

स्तरीकरण के धार्मिक और राजनीतिक आयामों के अतिरिक्त आर्थिक पारितोषिक (प्रतिफल) भी एक महत्त्वपूर्ण कसौटी है। लोगों द्वारा पदों पर प्रवेश के नियन्त्रित करने और उनके उत्तरदायित्वों को प्रोत्साहित करने में असमान आर्थिक लाभ एक प्रमुख साधन है। इसलिये आर्थिक लाभ की माात्रा सामाजिक प्रस्थिति की एक मुख्य सूची मानी जाती है। मैक्स वेबर ने कहा है कि उच्च आय के द्वारा शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त होना आवश्यक नहीं है। बल्कि उच्च आय एक पद से इसलिये मिलती है क्योंकि वह पद प्रकार्यात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है और कार्य को करने के लिये किसी न किसी कारण लोगों की कमी रहती है।

शक्ति और प्रतिष्ठा का प्राथमिक स्रोत आय नहीं है, बल्कि पूँजी से जुड़े वस्तुओं (पेटेन्ट्स, अच्छी साख और व्यावसायिक ख्याति आदि) के स्वामित्व से है। उपभोग की वस्तुयें सामाजिक प्रतिष्ठा का कारण नहीं हैं उत्पादन

नोट

के लिये वस्तुओं का स्वामित्व आय का एक स्रोत है, और आय इस प्रकार मात्र एक सूचक है न कि एक निर्धारक, लेकिन आय लोगों को पद का प्रतियोगी बनने के लिये प्रेरित करती है। एक पद से प्राप्त आय को अन्य पद प्राप्त करने के लिये रूपान्तरित किया जा सकता है। परन्तु इस पर भी मुख्यत: आर्थिक दृष्टि से लाभान्वित प्रस्थिति एक मुख्यकारक बनी रहती है।

यह मना नहीं किया जा सकता कि अपनी आवश्यकताओं से अधिक आय से, पूँजी–सम्पदा के स्वामित्व को बढ़ावा मिलता है। इस प्रकार का स्वामित्व अपने वित्तीय साधनों के बेहतर प्रबन्धन का प्रतिफल होता है। इसके कारण विरासत, शुद्ध स्वामित्व और उसी उद्देश्य के लिये प्रतिफल को भी बढ़ावा मिलता है। आय वृद्धि और उसके प्रबन्ध की ऐसी प्रक्रिया से स्तरीकरण उभरता है और विकसित होता है।

उत्पादन की वस्तुओं पर एक प्रकार का स्वामित्व, दूसरों के श्रम पर अधिकारों के रूप में, पाया जाता है। दासता, गुलामी, चपरासीपन, खुशामदगिरि (encomienda) और बंधुआ उत्पादन के सामान के स्वामित्व, ऐसे उदाहरण हैं। यह स्तरीकरण की एक अति–प्रकृति, एक असमान सम्बन्ध का प्रमाण है। इसके विपरीत शर्तपरक सम्बन्ध हो सकते हैं। इन दोनों के बीच मे परम्परात्मक आदान–प्रदान होते हैं, जो भारत की जाति व्यवस्था और इसके जजमानी सम्बन्धों के मुख्य लक्षण हैं।

### 4.4.10 तकनीकी ज्ञान

वे पद, जिनके लिये बहुत अधिक कौशल की आवश्यकता होती है, उनकी प्राप्ति पर उच्च प्रतिफल दिया जाता है। अत्यंत कौशलता वाले पदों के लिये बुद्धिमान लोगों को आकर्षिक करने और उनको प्रशिक्षण के लिये प्रेरित करने हेतु ऐसा करना पड़ता है, लेकिन तकनीकी पद–स्थान धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक पदों के अधीनस्थ हैं, क्योंकि ये पूर्णत: साधनों से जुड़े हुए हैं और यह सामाजिक भलाई (वस्तुओं) के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इसके बावजूद विशेषज्ञ और साधारण व्यक्ति के बीच अन्तर किसी भी सामाजिक संगठन में आधारभूत है और किसी अन्य सन्दर्भ में कम नहीं किया जा सकता। तकनीकी ज्ञान के आधार पर, सब समाजों में सेवा भर्ती (प्रवेश) और प्रतिफल के तरीकों पर महत्त्व देने की आवश्यकता है। ज्ञान और कौशल/प्रशिक्षण के लिये अवसर, कुछ परिवारों और वर्गों में सम्पत्ति के अधिकार के जैसे होते हैं। प्रशिक्षित मानवशक्ति की अति–पूर्ति से बेरोजगारी हो सकती है। धनी वर्ग संभावित बुद्धिमान लोगों को ऊपर नहीं आने देते। कभी–कभी बदलती हुई सामाजिक व्यवस्था में, कौशल और बुद्धि की कृत्रिम कमी बनाम् स्वाभाविक कमी भी देखी जा सकती है।

तकनीकी पदों और व्यक्तियों की सदैव वृहद् कतार रहती है। इस विभेदीकरण की कुँजी विशिष्ट ज्ञान/दक्षता है। अल्पकालीन प्रशिक्षण और देशज क्षमता वाले भी विशेषज्ञ होते हैं, लेकिन वैज्ञानिक, इंजीनियर और प्रशासक पदों पर नियंत्रण होता हैं, सामाजिक प्रकार्यों को पूरा करने के आधार के रूप में ज्ञान और कौशल की सीमायें भी हैं। समाज तकनीकी व्यक्ति को प्रतिष्ठा प्रदान करता है।

डेविस–मूर के सिद्धान्त में उसके सामान्य स्वरूप के बावजूद, स्पष्ट रूप में अनेक प्रकारों की स्तरीकरण व्यवस्थाओं को उल्लेख है। कुछ निश्चित भिन्नता की आवृत्तियों के अनुसार इनको पहचान जा सकता है।

ये हैं–

(अ) दक्षता (विशेषज्ञता) की सीमा/अंश

(ब) प्रकार्यात्मक महत्त्व की प्रकृति

(स) वैयक्तिक अन्तरों की गहनता

(द) स्तरण एकता/दृढ़ता की सीमा/अंश

दक्षता की सीमा शक्ति और प्रतिष्ठा में श्रेणियों की सुयोग्यता और बहुतायत को प्रभावित करती है। एक विशिष्ट प्रकार्य पर अन्य प्रकार्यों के सम्बन्ध में खास तरह से बल दिया जाता है। चयन के आधार विशेष दक्षता द्वारा प्रभावित होते है। विपरित प्रकार ये हैं–*प्रशिक्षित और अप्रशिक्षित।* समाज की प्रकृति द्वारा प्रकार्यात्मक महत्त्व की प्रकृति निर्भर करती है–

नोट

क्या वह धार्मिक जंजीरों में बंधी हुई है या उसमें निरपेक्ष धारणायें/कार्य हैं। समाज की प्रकृति द्वारा सामाजिक गतिशीलता और दक्षता निर्धारित होती हैं। प्रथम में समाज अविभेदीकृत, पारिवारिकीय और सत्तात्मक (धर्मान्ध या धार्मिक) होगा और द्वितीय में अधिनायकवादी या निरपेक्ष पूँजीवादी होगा।

*अवसर की सीमा* (अंश) को एक प्रगतिशील समाज और एक आदिम समाज के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। यह तुलनात्मक समानता/असमानता का प्रश्न नहीं हैं, बल्कि अवसर के लिये पहुँच का प्रश्न है। दो विपरीत प्रकार हैं–*गतिशील* (खुला) और *अगतिशील* (बन्द)।

अन्त में वर्ग दृढ़ता की सीमा कुछ हद तक अन्य कसौटियों से स्वतंत्र रूप में भिन्न हो सकती है। ऐसे में, दो विपरीत प्रकार होंगे–*संगठित वर्ग* और *असंगठित वर्ग।*

बाह्य अवस्था में, जिनसे स्तरीकरण की व्यवस्था प्रभावित हो सकती हैं, वे हैं–

(अ) सांस्कृतिक विकास की अवस्था/चरण

(ब) अन्य समाजों के सन्दर्भ में स्थिति

(स) समाज का आकार

एक समाज के सांस्कृतिक विकास की अवस्था को गतिशीलता की वृद्धि, स्तरपर दृढ़ता के पतन, और प्रकार्यात्मक महत्त्व के परिवर्तन द्वारा वर्णित किया जाता है। स्वतंत्र व्यापार संबधों या सांस्कृतिक विस्तार (फैलाव), युद्ध आदि द्वारा अन्य समाजों के सन्दर्भ में स्थिति को समझ सकते हैं। समाज के लघु आकार के कारण दक्षता, विभेदीकरण और गतिशीलता सीमित होती है।

आज के तीव्र परिवर्तनशील संसार में समाजों का एक कठोर विभाजन लगभग असंभव है। आंतरिक विभेदीकरण के कारण भी विभिन्न स्तरणों को स्पष्ट रूप में अलग कर पाना कठिन है। आज समुचित प्रकारों के सोचने की आवश्यकता है।

### 4.4.11 डेविस-मूर सिद्धांत पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी

डेविस-मूर के सिद्धान्त की मूल मान्यता अर्थात् स्तरीकरण सामाजिक संगठन की एक अन्तरनिहित विशेषता है–इसको मेलविन एम. ट्यूमिन ने चुनौती दी है। स्तरीकरण की आवश्यकता के लिये प्रकार्यात्मक महत्त्व की कसौटी को डेविस और मूर द्वारा वर्णित पदों के बारे में, अधिक और कम शक्ति वे प्रतिष्ठा के विचार को ट्यूमिन एक "शैली दोष और छिछला तरीका" मानते हैं। ट्यूमिन का मत है कि सच्ची समानता जब घटित होती है तब लोगों को प्रतिफल उनके उत्तरदायित्वों और निर्वहन के अनुसार दिये जाते हैं। 'कम प्रकार्यात्मक' और 'अधिक प्रकार्यात्मक के बीच अन्तर भी भ्रामक है। विभिन्न प्रकारों के प्रकार्यों की आवश्यकता होती हैं और एक प्रकार्य दूसरे के बिना निष्क्रिय हो जाता है।

इस सिद्धान्त के एक अन्य आलोचक–वाल्टर बकले, डेविस और मूर पर सामाजिक विभेदीकरण, दक्ष भूमिकाओं के अस्तित्व या एक श्रम विभाजन को सामाजिक स्तरीकरण के साथ भ्रमित करने के लिये आरोपित करते हैं। बकले के अनुसार, सामाजिक स्तरीकरण 'असमान तौर पर विशेषाधिकार प्राप्त समूहों की व्यवस्था' है। इसकी सदस्यता, भूमिकाओं के अन्तरपीढ़ीय हस्तान्तरण या बंधुता सम्बन्धों द्वारा उनको प्राप्त करने के अवसरों द्वारा निर्धारित होती है, लेकिन डेविस इसको मात्र एक शब्दावली का प्रश्न मानते हैं। डेनिस एच. रोंग, जो ट्यूमिन और बकले की तरह ही एक प्रकार्यावादी हैं, डेविस-मूर सिद्धान्त की आलोचना, इसके अधिक सामान्य होने के कारण करते हैं। रोंग का आरोप है कि यह सिद्धान्त असमानता की कतार ओर प्रत्यक्ष समाजों में श्रेणी के निर्धारकों के बारे में कुछ इंगित नहीं करता है। इसमें गतिशीलता और अवसर की अवसर की असमानता के संभावित नकारात्मक परिणामों को नजरअंदाज किया गया है–एक मुद्दा जिसको अमेरिकन समाजशास्त्रियों ने मुख्यत: नकारा है।

जैसा कि हमने पहले उल्लेख किया है कि डेरेनडार्फ का मत है कि सकारात्मक और नकारात्मक नियमों पर आधारित

नोट

सामाजिक व्यवहार के नियंत्रण से वितरणीय प्रस्थिति की एक श्रेणी व्यवस्था उत्पन्न होती है। अनुपालन पुरस्कृत होता है; और विचलन दंडित किया जाता है। इस प्रकार सभी मानव समाजों के कुछ लक्षणों में स्तरीकरण पाया जाता है, और वे लक्षण उनके लिये आवश्यक हैं समाज की सत्ता संरचना, इसके मानकों और नियमांकनों को बनाये रखती है। डेरेनडार्फ के मतानुसार, स्तरीकरण का संरचनात्मक-प्रकार्यावादी सिद्धान्त समाज की ऐतिहासिक वास्तविकता और इसके अस्तित्व जैसे महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर गंभीर नहीं है।

फिर भी, संरचानात्मक-प्रकार्यवादी सिद्धान्त वर्तमान में विद्यमान सामाजिक व्यवस्थाओं को समझने में विशेषत: लाभदायक हैं। विभिन्न भाग समग्र से जोड़े जा सकते हैं और एक भाग दूसरे भाग से जोड़ा जा सकता है। भागों की तुलना एक-दूसरे के साथ और समग्र के साथ की जा सकती है। इस प्रकार, संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक सिद्धान्त द्वारा प्रकार्यात्मक भूमिकाओं की सार्वभौमिकता पर बल और विभेदीय पदों के महत्त्व को समझा जाता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक असमानता की व्यापक और गहन समझ के लिये इस सिद्धान्त को एक उपयुक्त उपागम माना जाता है।

### 4.4.12 भारतीय अध्ययनों पर प्रभाव

20वीं सदी के पूर्वार्द्ध और इसके बाद भी 1960 और 1970 के दशकों में, जाति व्यवस्था पर अधिकतर अध्ययन, प्रकार्यवादी दृष्टिकोण को मद्देनजर रख कर किये गये थे। एच.एच. रिजले से लेकर जे.एच. हट्टन और इसके बाद जी.एस. घुर्ये एम.एन. श्रीनिवास, लुई ड्यूयों–सभी ने, जाति व्यवस्था के सकारात्मक प्रकार्यों की प्रशंसा करते हुए जाति की सावयिकी प्रकृति जजमानी प्रथा, अन्तरजातीय सम्बन्धों, अन्त: जातीय दृढ़ता आदि का वर्णन किया है। इस काल के अधिकतर विद्वानों को 'एकीकरण' के प्रकार्यवादी भाव ने भावविभोर किया। जाति, वर्ग और शक्ति के बीच समसंतुलन पर दिया गया। विभिन्न जातियों के बीच श्रम विभाजन को लाभप्रद करार दिया गया। अन्त:-जातीय और अन्तरजातीय सम्बन्धों को भारतीय समाज के सकारात्मक आधारों के रूप में समझा गया। इन सब अध्ययनों में बिना किसी सन्देह के 'जाति मॉडल' को स्वीकार किया गया। ब्रिटिश राज ने जाति को, विशेषत: हिन्दुओं के लिये एक लाभदायक संस्था घोषित किया। यहाँ तक कि कई भारतीय विद्वानों ने भी जाति व्यवस्था में निरपेक्ष तत्वों वे विद्यमान होने की बात कही और जाति को 'प्रजातांत्रिक अवतार' की संज्ञा दी।

योगेन्द्र सिंह के अनुसार, सामाजिक स्तरीकरण के संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक अध्ययनों की मूल मान्यताओं में ब्राह्मणिक या जाति समाज का सोपानीय मॉडल, मेलजोल या सहमति पर आधारित एक व्यवस्थित/सुविचारित परिणामपरक विचार निहित है। जाति के अध्ययन के लिये संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम में 'ऐतिहासिकता' लुप्त है। फिर भी 1970 के दशक में संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम में दो प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत हुईं–(*i*) परिवर्तन की प्रक्रियाओं के सन्दर्भ में गहन आनुभविक और सैद्धान्तिक लगाव, और (*ii*) निदानीय प्रवृत्ति में वृद्धि।

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**3. निम्नलिखित कथनों में ☑ अथवा ☒ का निशान लगाएँ** (State whether the following statements are 'right' or 'wrong' )–

1. मार्क्स और वेबर समाज में बहुत से कारकों के सापेक्षिक महत्त्व पर ध्यान नहीं देते। ☐
2. सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन का प्रकार्यात्मक महत्त्व नहीं होना चाहिए। ☐
3. सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत के प्रमुख प्रवर्तक किंग्सले डेविस और विलबर्ट ई. मूर हैं। ☐
4. शक्ति और प्रतिष्ठा का प्राथमिक स्रोत आय है। ☐
5. समाज की प्रकृति पर प्रकार्यात्मक महत्त्व की प्रकृति निर्भर करती है। ☐
6. समाज की सत्ता संरचना इसके मानकों और नियमांकनों को बनाये रखती है। ☐

नोट

## 4.5 सारांश (Summary)

- सभी समाजों में व्यवसाय पर आधारित जीवन-शैली को एक महत्त्वपूर्ण प्रघटना माना गया है। नौकरी (सेवा भर्ती) प्राप्त करने की प्रक्रिया और वर्ग की आंतरिक संरचना में प्रवेश के लिये वर्ग द्वारा जीवन अवसरों को स्थिरता प्राप्त होती है। जॉर्ज सिम्मल ने उच्च व अधीनस्थ प्रतिमानों और उन पर आधारित सामाजिक सम्बन्धों की व्याख्या द्वारा समाज के सोपानीय ढाँचे पर प्रकाश डाला है।
- मार्क्स के वर्ग और वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त के अलावा, मैक्स वेबर के सामाजिक स्तरीकारण के सिद्धान्त ने, वर्ग प्रस्थिति और शक्ति के विभाजन के सन्दर्भ में आमतौर पर शैक्षणिक वर्ग में मान्यता प्राप्त की है। वेबर ने आर्थिक हित को सापेक्षिक प्रघटना माना है। अन्त में सामाजिक स्तरीकरण का संरचनात्मक-प्रकार्यवादी उपागम, विशेषत: अमेरिकी समाजशास्त्रियों में, बहुत सर्वप्रिय और तार्किक तौर पर स्वीकार्य रहा है। टालकट पार्सन्स, किंग्सले डेविस और डब्ल्यू. ई. मूर इसके मुख्य प्रवर्तक हैं। इस उपागम के अनुसार, सामाजिक स्तरीकरण, सार्वभौम, आवश्यक और अनिवार्य हैं।
- समाज, वर्ग और स्तरीकरण के अध्ययन के ऐतिहासिक द्वन्द्वान्त प्रौद्योगिकी या आर्थिक निर्धारण की एक सरल व्याख्या मात्र नहीं है। मार्क्स ने समाज के वृहद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। मार्क्स के अनुसार उत्पादन के सम्बन्धों कि व्यवस्था द्वारा स्तरीकरण का निर्धारण होता है और एक व्यक्ति की 'प्रस्थिति' का निर्धारण, उत्पादन के साधनों के स्वामित्व और अस्वामित्व के सन्दर्भ में, उत्पादन व्यवस्था में व्यक्ति के पद-स्थान द्वारा होता है। मार्क्स ने, 'वर्ग' और 'सामाजिक स्तरीकरण' में कोई विभेद नहीं किया है। मार्क्स के लिये, 'उत्पादन सामाजिक 'व्यक्तियों द्वारा होता हैं, और इसलिये, इसको 'सामाजिक संदर्भ' में समझना चाहिये। इस प्रकार, मार्क्स के वर्ग के सिद्धान्त को, 'प्रभावी उच्चता-निम्नता सम्बन्धों पर आधारित, 'प्रभुत्व' और 'अधीनस्थता' के सन्दर्भ में, सामाजिक स्तरीकरण की एक व्यवस्था के रूप में समझा जा सकता है।
- वर्ग और स्तरीकरण के मार्क्सवादी सिद्धान्त पर अब हम एक आलोचनात्मक दृष्टि डालेंगे। मार्क्स द्वारा *कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* में उल्लेखित अनेक वर्ग संघर्ष वास्तव में प्रस्थिति समूहों के बीच संघर्ष हैं। मार्क्स और एन्जिल्स दोनों इस बात से परिचित थे कि प्रत्येक जगह विभिन्न श्रेणियों के रूप में एक जटिल समाज व्यवस्था या सामाजिक श्रणियों का बहुपक्षीय श्रेणीकरण पाया जाता था। मार्क्स के बाद के मार्क्सवादियों ने आधारभूत वर्गों के सम्बन्ध में सामाजिक श्रेणीकरण या स्तरीकरण की जटिलताओं को समझा।
- मैक्स वेबर 21 अप्रैल 1864 को जर्मनी में जन्मे थे। कार्ल मार्क्स की तरह वेबर भी जर्मनी और यूरोप में, समाज विज्ञान, और विशेषत: समाजशास्त्र के संस्थापक थे। वेबर के पिता कपड़ा उत्पादक (निर्माता), कानूनवेत्ता और सांसद थे। वेबर की माता मानवतावादी और धार्मिक मूल्यों वाली सुसंस्कृत व दयावान महिला थीं। वेबर के पिता यह पसन्द नहीं था। वेबर की शिक्षा कानून और कानून के इतिहास में हुई थी।
- वेबर मार्क्स के बाद जन्मे थे, उनको मार्क्सवादी विचारों और अवधारणाओं पर प्रतिक्रिया करने का लाभ प्राप्त था। वेबर नेमार्क्स के आर्थिक भौतिकवाद को राजनीतिक और सैन्य भौतिकवाद द्वारा 'घुमाफिराकर' प्रस्तुत किया। वेबर हथियारों और प्रशासन के साधनों पर नियंत्रण चाहते हैं। वेबर ने समाज के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक पहलुओं के बीच औचित्यपूर्ण अन्तर किया है और शक्ति को समाज के सब क्षेत्रों की चाबी माना है।
- प्रत्येक कानूनी व्यवस्था संरचना अपने सम्बन्धित समुदाय में शक्ति (आर्थिक या अन्य) के वितरण को प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करती है। यह न केवल राज्य की व्यवस्था के लिये ही है बल्कि सभी विधि व्यवस्थाओं के बारे में भी सही है।
- एक वृहद अर्थ में, वेबर के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए बूरदियो का मत है कि राजनीतिक प्रघटनाओं, सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं या संबंधों और वर्गों के बीच विरोध मात्र एक प्रकटन नहीं है। संसार एक

नोट

एकल-आयामी स्थान नहीं है। बहुआयामी सामाजिक क्षेत्रों में व्यक्तियों के पद-स्थानों का निर्धारण उनके द्वारा धारण पूँजी के विभिन्न प्रकारों की तादादों द्वारा होता है। वेबर ने भी इसके बारे में ऐसे ही सोचा था।

- वेबर के सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त को, वेबर के समाज, अर्थव्यवस्था, राज्य, धर्म आदि के बारे में वृहद् उपागम से अलग करके नहीं देख सकते। वेबर ने अपनी समझ की पद्धति (वरस्तेहन) में तार्किकता, व्यक्तिपरकता और वस्तुपरकता के सम्मिश्रण का प्रयास किया है। वेबर के मानव समाज के अध्ययन में, व्यक्ति, संगठन (व्यवस्था) और समूह को समुचित स्थान (महत्त्व) दिया गया है। वेबर ने बहुत महत्त्वपूर्ण ढंग से, सिद्धान्त पद्धति और आंकड़ों (तथ्यों) को जोड़ा है। वेबर के भारतीय अनुयायी उनकी तरह, वैज्ञानिक ढंग से उस कार्य को करने में सफल नहीं हुए हैं।
- सामाजिक स्तरीकरण के मार्क्सवादी और वेबरवादी दोनों सिद्धान्त सामान्यतया निर्णायकवादी हैं, क्योंकि मार्क्स आर्थिक कारक को वर्ग संरचना के लिये पूर्णत: उत्तरदायी मानता है और वेबर सामाजिक सम्बन्धों में 'शक्ति' पर, एक मुख्य कारक के रूप में, बल देता है। इस प्रकार, मार्क्स और वेबर समाज में बहुत से कारकों के सापेक्षिक महत्त्व पर ध्यान नहीं देते।
- स्तरीकरण एक व्यापक प्रघटना है, क्योंकि इसमें जाति, प्रजाति सजातीयता, वर्ग, व्यवसाय, आदि का समावेश है। डब्ल्यू. लोयड वार्नर के अनुसार, अवलोकित व्यवहार और समाज के अध्ययनीकृत भाग, सामाजिक वर्ग व्यवस्थाओं, जातियों व्यवसायों, व्यावसायिक और सामाजिक गतिशीलता, आयु और यौन विभाजन, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षिणिक, धार्मिक और अन्य संस्थात्मक सोपानों तथा इन संस्थाओं के संबंधों से लेकर सामान्य सामाजिक संरचना तक पाये जाते हैं।
- सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त के प्रमुख प्रवर्तक किंग्सले डेविस और विलबर्ट ई. मूर हैं।
- स्तरीकरण के संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक सिद्धान्त का स्पष्ट निचोड़ यह है कि सामाजिक सोपान, भूमिकाओं और कर्तव्यों के विभेदीकरण की अनिवार्यता का परिणाम है। विभिन्न कर्तव्यों और भूमिकाओं के साथ विभेदीय शक्ति और प्रतिष्ट जुड़ी है। मानव-जाति के जीवित रहने के लिये भूमिकाओं और कर्तव्यों का विभेदीकरण अनिवार्य है। इस प्रकार स्तरीकरण सामाजिक जीवन का एक अनिवार्य प्रघटक होता है।
- डेविस-मूर के सिद्धान्त की मूल मान्यता अर्थात् स्तरीकरण सामाजिक संगठन की एक अन्तरनिहित विशेषता है– इसको मेलविन एम. ट्यूमिन ने चुनौती दी है। स्तरीकरण की आवश्यकता के लिये प्रकार्यात्मक महत्त्व की कसौटी को डेविस और मूर द्वारा वर्णित पदों के बारे में, अधिक और कम शक्ति वे प्रतिष्ठा के विचार को ट्यूमिन एक "शैली दोष और छिछला तरीका" मानते हैं।
- 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध और इसके बाद भी 1960 और 1970 के दशकों में, जाति व्यवस्था पर अधिकतर अध्ययन, प्रकार्यवादी दृष्टिकोण को मद्देनजर रख कर किये गये थे। एच.एच. रिजले से लेकर जे.एच. हट्टन और इसके बाद जी.एस. घुर्ये एम.एन. श्रीनिवास, लुई ड्यूयों–सभी ने, जाति व्यवस्था के सकारात्मक प्रकार्यों की प्रशंसा करते हुए जाति की सावयिकी प्रकृति जजमानी प्रथा, अन्तरजातीय सम्बन्धों, अन्त: जातीय दृढ़ता आदि का वर्णन किया है।

## 4.6 शब्दकोश (Keywords)

- **कानूनवेत्ता** : कानूनी जानकार।
- **औचित्यता** : उपयुक्तता।
- **अभिप्रेरित** : अभिप्रेरणा, किसी दिशा में लगाना।
- **अनुपालन** : पालन करना, मानना।

नोट

## 4.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सामाजिक स्तरीकरण का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. कार्ल मार्क्स के सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।
3. वर्ग और स्तरीकरण का मार्क्सवादी सिद्धांत की समीक्षा कीजिए।
4. सामाजिक स्तरीकरण से संबंधित मैक्स वेबर की सैद्धांतिक अवधारणाएँ बताइए।
5. वर्ग के बारे में बूरदियो का दृष्टिकोण क्या है?
6. संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक सिद्धांत की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
7. डेविस-मूर सिद्धांत पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।
8. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–
   (*i*) प्रस्थिति स्तरीकरण की गारन्टियाँ
   (*ii*) डेविस-मूर उपागम
   (*iii*) धर्म
   (*iv*) सरकार।

### उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

**1.** 1. अभिजात 2. प्रघटना 3. मार्क्स
4. 5 मई, 1818 5. कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो 6. 1853 में
7. पूँजीपतिकरण 8. भारतीय समाज

**2.** 1. (क) 2. (ख) 3. (ग) 4. (क) 5. (ख)
6. (क) 7. (घ)

**3.** 1. ✓ 2. ✗ 3. ✓ 4. ✗ 5. ✓
6. ✓।

## 4.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. पी.सी. अग्रवाल; 1971; *कास्ट, रेलिजियन एंड पावर*; श्रीराम सेन्टर फॉर इन्डस्ट्रियल रिलेशन, न्यू दिल्ली।
2. अनिल भट्टा; 1975; *कास्ट, क्लास एंड पॉलिटिक्स*; मनोहर पब्लिकेशन्स, दिल्ली।
3. जे.एम. हट्टन; 1963; *कास्ट इन इंडिया*; ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बॉम्बे।

नोट

# इकाई–5: सामाजिक स्तरीकरण का स्वरूप (Forms of Social Stratification)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

5.1 जाति, वर्ग एवं लिंग (Caste, Class and Gender)

5.2 नगरीय एवं औद्योगिक व्यवस्था में स्तरीकरण (Stratification in Urban and Industrial Settings)

5.3 सारांश (Summary)

5.4 शब्दकोश (Keywords)

5.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

5.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- जाति, वर्ग एवं लिंग को समझने में।
- नगरीय एवं औद्योगिक व्यवस्था में स्तरीकरण की व्याख्या करने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

स्तरीकरण के जो भी रूप आज विद्यमान हैं उनके ऐतिहासिक सफर को समझना एक तो अपने आप में और दूसरा, उनके आज के गठन और संचालन को समझने, दोनों के लिए जरूरी है। पुरुष-वर्चस्वता और ऊंची जातियों की वर्चस्वता का साथ-साथ विद्यमान होना महज संयोग की बात नहीं, कारण ये एक-दूसरे से गुंथे हुए से हैं। इसलिए जरूरी है कि न केवल इनके ऐतिहासिक विकास का अलग-अलग रेखांकन किया जाए बल्कि इनके जुड़ाव की प्रकृति की विकास रेखा को भी उद्घाटित किया जाए। अतीत के सर्वेक्षण के क्रम में यह ध्यान में रखना जरूरी है कि जाति और लिंग आधारित आचार व्यवहार में भारी क्षेत्रीय विविधताएं हैं। भारतीय महाद्वीप में विद्यमान भौगोलिक और तदजन्य पारिस्थितिकी में विविधता की वजह से अतीत हो अथवा वर्तमान, दोनों ही कालावधियों में एक साथ कई सामाजिक-संरचनाएं और उत्पादन-प्रणालियां मौजूद रही हैं। पारिस्थितिकी, उत्पादन-प्रणाली और सांस्कृतिक आचार व्यवहार के बीच के इस सम्बन्ध की सटीक अभिव्यक्ति संगम साहित्य में तिनई की धारणा में हुई है। नदी किनारे, समुद्र तट और ऊपरी भूमि–तीनों ही भू क्षेत्रों में अलग-अलग पेशे और अलग-अलग देवी-देवता वजूद में आए। भौगोलिक पक्ष और स्तरीकरण के रूप के बीच गहरा नाता होता है, इसे अब स्वीकार किया जाने लगा है। जाति व्यवस्था को ही यदि उदाहरण के रूप में लें तो हम पाते हैं कि यह अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग रूप लिए हुए है यानी कहीं ज्यादा कठोर है तो कहीं कम।

नोट

## 5.1 जाति, वर्ग एवं लिंग (Caste, Class and Gender)

जाति और लिंग के बीच के संबंध की संतोषप्रद समझ अभी विकसित किया जाना शेष है। ऐसे में वर्ग और जाति के ऐतिहासिक विकास की पड़ताल से प्रस्थान करना सुविधाजनक रहेगा। तत्पश्चात् हम इसे लिंगीकृत करेंगे। यह इतिहास के दो प्रमुख क्षणों को जोड़ने में मदद करता है। पहला, मनु-पूर्व सामाजिक गठन (पांचवीं से तीसरी सदी ईसा पूर्व के बीच की अवधि), जिसका बौद्ध साहित्य में बड़ा ही अच्छा चित्रण दर्ज है, से मनु द्वारा चित्रित समाज (पहली या दूसरी सदी) में हुए परिवर्तन में देखा जा सकता है। ड्यूमा की अगुआई में की गई जाति की संरचनावादी विवेचना संतोषपद नहीं है। कारण, इसमें जाति अतिव्यापक और स्थितिशील कोटि (स्टैटिक कैटगरी) के रूप में व्यवहृत की गई है जिससे उस संश्लिष्ट और विषमांगी (हेटेरोजेनस) सामाजिक यथार्थ पर पर्दा-सा पड़ जाता है जो लगातार बदलती रही है। संरचनावादियों ने सामाजिक यथार्थ से विश्लेषण अथवा विवेचना विकसित करने की जगह आचार संहिताओं, मिथकों और साहित्य में चित्रित सामाजिक रूपों संरचनाओं को सामाजिक यथार्थ पर आरोपित कर दिया जिसमें जोर केवल धारणाओं और सिद्धांतों पर है। जबकि सामाजिक यथार्थ के मुख्य निर्णायक कारक-पुनरोत्पादन संबंध हैं। ऐसे में, ब्राह्मणवादी आचार संहिताओं में मौजूद चित्रणों के बरअक्स जिए और भोगे गए यथार्थ को खड़ा किया जाना उचित समझा गया, जो कभी-कभी प्रत्यक्ष नहीं होता, लेकिन जिसे भौतिक संबंधों का विश्लेषण स्पष्ट करता है। हालांकि सुदूर अतीत के जिए और भोगे गए यथार्थ का रेखांकन कठिन है लेकिन बौद्ध-जैन स्रोत हमें उसका खाका बुनने के लिए कच्ची सामग्री उपलब्ध करते हैं। वर्णनात्मक किस्म के इन स्रोतों में जगहों, लोगों, उनकी सामाजिक जड़ों और घटनाओं का ब्योरा मिलता है जिन्हें तथ्यपरक चित्रण के रूप में न भी लिया जाए तो भी सामाजिक संबंधों के ताने-बाने की तरफ संकेत करने के दृष्टिकोण से वे उपयोगी हैं।

भारतीय उपमहाद्वीप के आरंभिक प्रागैतिहासिक समाजों का खाका पुरातात्विक प्रमाणों मसलन, औजार, मिट्टी के बर्तन और आवास रहे गुफा अवशेष (जो कभी-कभी इतिहास का कूड़ा-स्थल भी कहे जाते हैं) के आधार पर खींचा जाता है। लेकिन इनसे पक्के तौर पर यह पता नहीं चलता कि समाज के गठन का स्वरूप कैसा था, स्त्री-पुरुष के बीच सत्ता संबंध था अथवा नहीं था। शिकार-खाद्यसंग्रह अवस्था वाली जनजातियों के नृशास्त्रीय विवरणों के आधार पर विद्वानों ने किसी खास तरह के सामाजिक गठन और उसमें संभव हो सकने वाले सत्ता संबंध के बीच के संबंध का खाका खींचा है। यह मत प्रस्तुत किया गया है कि प्राक्-अवस्था के समाजों में सत्ता संबंध न के बराबर थे और लिंग आधारित भेदभाव का अस्तित्व नहीं ही रहा होगा। इस संदर्भ में, नृशास्त्रियों के साथ-साथ इतिहासकार गर्डा लर्नर का कार्य भी उपयोगी है।

स्त्री और पुरुष के बीच श्रम विभाजन था, जिसमें पुरुषों के जिम्मे शिकार पर जाना और स्त्रियों और बच्चों के जिम्मे खाद्यान्न इकट्ठा करना था और स्त्री-पुरुष के बीच के संबंध का सत्ता संबंध में परिणत होना उसी श्रम विभाजन का नतीजा था। इन दोनों ही धारणाओं पर सवाल खड़े किए जाने लगे हैं। नारीवादियों ने यह मत प्रस्तुत किया है कि शिकार-खाद्यान्न संग्रह युग के समाजों में भोजन का साठ प्रतिशत मछली, कंद-मूल और फल होते थे यानी मुख्यत: स्त्रियों और बच्चों द्वारा इकट्ठे किए गए खाद्य पदार्थों पर जीवन टिका था न कि पुरुषों के बड़े आखेटों पर, जैसा कि हॉलीवुड की फिल्मों में आदिम समाजों के बारे में दिखाते हैं। 'स्त्रियों का कार्य' पुरुषों के कार्यों की तुलना में हीनतर था, ऐसी बात नहीं थी। वैसे भी, बड़े आखेटों में पुरुषों के साथ स्त्रियों के भी शरीक होने के चित्रण मध्य भारत में प्राप्त हुए ईसा पूर्व 5000 (मध्यपाषाणकालीन) की भीमबेटका की गुफाओं के पेंटिंग में देखने को मिलते हैं। पेंटिंग में स्त्रियां फल और अन्य खाद्य पदार्थ बटोरने के साथ-साथ टोकरी और जाल छोटे-मोटे आखेट करते हुए भी दर्शाई गई हैं। पेंटिंग में एक स्त्री के कंधे से टोकरी लटक रही है जिसमें दो बच्चे हैं और उसके सिर पर एक पशु लदा हुआ है यानी एक साथ मां और संग्रहकर्ता की भूमिकाएं निभाती स्त्री; एक अन्य स्त्री हिरण का सींग पकड़कर खींच रही हैं तो एक अन्य मछली पकड़ रही है। टोकरी लिए हुई स्त्रियों को प्राय: गर्भवती ही चित्रित किया गया है। सामूहिक शिकार-दृश्यों में स्त्रियां भी शामिल दिखाई गई हैं। कभी-कभी हम उन्हें सिर में टोप लगाते भी पाते हैं। अनुमानत: कहा जा सकता है कि शिकार की सफलता के लिए उनकी सांकेतिक और वास्तविक दोनों स्तरों पर भागीदारी थी।

नोट

निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है किसी प्रकार का दृढ़ श्रम विभाजन नहीं था और खाद्य इकोनामी में स्त्रियों का योगदान पुरुषों से ज्यादा नहीं तो कम भी नहीं था। लर्नर का मत है कि शिकार संग्रह वाले समुदाय ज्यादा समतावादी रहे हैं और सबकी एक दूसरे पर निर्भरता उनकी चारित्रिक विशेषता रही है। स्त्री और पुरुष की सापेषिक स्थिति के बारे में सबसे सटीक यही कहा जा सकता है कि वे 'अलग लेकिन समान' थे।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि स्त्रियों की आर्थिक भूमिका, जिसे बहुत ही ऊंचा आंका जाता था, का वजन उसको प्रजनन की भूमिका को महत्त्वपूर्ण माने जाने से और भी बढ़ जाती थी। गर्भवती स्त्रियों, मां की भूमिकाएं निभाती स्त्रियों और यहां तक कि संतानोत्पादन के चित्रण, स्त्री की प्रजनक भूमिका को महत्त्व दिए जाने का संकेत देते हैं। संतानोत्पादन करती स्त्री के चित्र को मातृ देवी माना गया है। मेसोपोटामिया और अन्य प्राचीन संस्कृतियों के साक्ष्य-स्थलों पर भी मातृ देवी मिली हैं। इसी आधार पर यह मत प्रस्तुत किया गया कि स्त्री और पुरुष दोनों के धार्मिक अभिव्यक्ति का सबसे पहला रूप मां और बच्चे के बीच का मनोवैज्ञानिक जुड़ाव है। स्त्री की इस रहस्मयी और नाटकीय ताकत की वजह से ही स्त्री और पुरुष दोनों 'मातृ' देवी के महिमामंडन की ओर उन्मुख हुए।

शिकार-संग्रह वाले समाज में स्त्री की प्रजनन क्षमता काफी मूल्यवान मानी जाती थी। कारण, समुदाय का अस्तित्व इसी पर निर्भर था। कठोतियास, भीमबेटका और खखई (सभी मध्य भारत में) से प्राप्त प्रागैतिहासिक चित्रों में स्त्री की यौनिकता को उसके अस्तित्व का अभिन्न अंग माना गया है।

*नोट्स* शिकार-संग्रह इकोनामी में स्त्री का प्रजनक रूप उसके उत्पादक रूप से अलग नहीं है। एक विद्वान ने समाज की इस अवस्था को मैट्रिस्टिक नाम दिया है, जिसमें कोई भी स्त्री किसी पुरुष या अन्य स्त्री की सत्ता के अधीन नहीं थी। ऐसे समाज में स्त्री यौनिकता पर पुरुष के नियंत्रण की जरूरत नहीं रही होगी।

हड़प्पा से प्राप्त पुरातात्विक स्रोतों को पुख्ता करने वाले लिखित साक्ष्यों के नहीं मिल पाने की वजह से उसकी सांस्कृतिक या उसके अन्य पक्षों की समझ अपूर्ण है (मेसोपोटामिया में दोनों ही प्रकार के साक्ष्य मिले हैं)। ऐसे में, वहां स्त्री और पुरुष के बीच संबंध कैसा रहा होगा इस बारे में निश्चित तौर पर कुछ भी नहीं कहा जा सकता। तथापि हाल में हुए विश्लेषणों के आधार पर जो तस्वीर (हालांकि धुंधली और अस्पष्ट ही) उभर कर सामने आई है, उसके मुताबिक यह एक विकसित सभ्यता थी और समाज स्पष्टत: स्तरीकृत था। खाद्यान्न-उत्पादक और वितरण का जटिल और विकसित तंत्र था, कारीगरी यानी शिल्पकर्म को खास महत्त्व प्राप्त था और स्थानीय और दूरदराज दोनों ही तरह के व्यापार होते थे। साथ ही, एक तरफ मजदूर तबका था तो दूसरी तरफ दुर्ग में रहने वाले अभिजन। हाल ही में हुए एक अध्ययन से वहां जनसंख्या के नियंत्रित क्षेत्रीय वितरण के साथ-साथ शिल्पकर्म के सुव्यवस्थित तंत्र का पता चला है। वहां से दो तरह की प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। एक तो पुरुषों (शायद राजाओं और पुरोहित राजाओं) का है और दूसरा मातृ देवी का, जिसकी शायद पूजा की जाती थी। मातृ देवी की यह प्रतिमा और कांसे की एक नग्न 'नृत्यरत लड़की' की प्रतिमा इस बात की ओर संकेत करती हैं कि स्त्री की जीवनदायिनी शक्ति और प्रजनन से उसके विशेष संबंध का महिमांमडन जारी था। लेकिन एक विकसित और जटिल अर्थव्यवस्था, सामाजिक स्तरीकरण और एक राजसत्ता की मौजूदगी में यह असंभव है कि स्त्री यौनिकता पर समुदाय या राजसत्ता का नियंत्रण नहीं रहा होगा। हां, यह हो सकता है कि इस नियंत्रण को अनुष्ठान अथवा उत्सव का रूप दे दिया गया हो। लर्नर ने मेसोपोटामिया में मिले साक्ष्यों (पुरातात्विक और लिखित दोनों) के आध ार पर पितृसत्ता की उत्पत्ति और इसके गठन की विभिन्न अवस्थाओं का जिस भांति रेखांकन किया है, उससे तो यही इंगित होता है कि स्त्री की यौनिकता पर किसी न किसी रूप में समुदाय, वंश या राजसत्ता का नियंत्रण आद्य या प्राक्-राज्यों के सामाजिक गठन का एक पहलू था। इस आधार पर यही मानकर चला जा सकता है कि हड़प्पा में भी ऐसा रहा होगा।

नोट

### 5.1.1 ऋग्वैदिक और उत्तर-वैदिक समाज

ऋग्वैदिक काल भारतीय इतिहास में सबसे ज्यादा विवादास्पद है। 19वीं सदी के हिंदू राष्ट्रवादियों ने इस अवधि को काफी महिमामंडित किया। उनमें से अधिकांश उभर रहे शिक्षित मध्य वर्ग (अमूमन ऊंची जाति से ही) के पुरुष थे। 19वीं सदी में कुछ परिस्थितियों की वजह से ये राष्ट्रवादी वैदिक युग के महिमामंडन की और उन्मुख हुए थे। एक तो उन्हें ब्रिटिश शासकों के समक्ष भारतीय परंपरा को श्रेष्ठतर साबित करना था। दूसरा, जो कि मुख्य कारण था, उन्हें अतीत की ऐसी तसवीर प्रस्तुत करने की जरूरत थी जिसमें स्त्री की स्थिति 'अच्छी' रही हो। 19वीं सदी में स्त्री की बुरी स्थिति को ब्रिटिशों ने भारतीय असभ्यता का प्रबल सबूत माना था। इसी की प्रतिक्रिया में राष्ट्रवादियों ने वैदिक समाज को 'स्त्री की स्थिति' के संदर्भ में स्वर्ण युग कहना शुरू कर दिया। लेकिन कभी भी इस अवधि का गंभीर ऐतिहासिक विश्लेषण करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। हाल में इस अवधि के समाज और उसकी अर्थव्यवस्था को समझने के लिए तत्कालीन साहित्यिक और (एक सीमा तक) पुरातात्विक साक्ष्यों का विश्लेषण किया जाने लगा है। लेकिन नारीवादी नजरिए से इस अवधि का गहन अध्ययन और सूक्ष्म पड़ताल किया जाना बाकी ही है। फिर भी अब तक जो कार्य हुए हैं उनके आधार पर हम उस अवधि को ऐतिहासिकता और ऋग्वेद के साक्ष्यों को संदर्भ प्रदान कर सकते हैं। चूंकि समाज मुख्यत: पशुचारी था, इसलिए उसे आरंभिक अवस्था का सरल और अमूमन समतावादी समाज माना गया है। उसमें अधिशेष (सरप्लस) की उगाही नहीं होती थी। जन्म के आधार पर असमानता की चर्चा पहली बार ऋग्वेद के दसवें मंडल में पुरुषसूक्त स्तोत्र में हुई हैं। ऐसी मान्यता है कि इसे बाद में जोड़ा गया। जन्माधारित असमानता का कोई और प्रमाण नहीं मिलता। 'पुरुषसूक्त' के विश्लेषण से समाज के पितृसत्तात्मक प्रकृति का पता चलता है। मसलन, इसमें हम पुरुष योद्धाओं का गुणगान कुछ ज्यादा ही पाते हैं। इन श्लोकों में भी उन्हें वैसी महत्ता नहीं दी गई है जैसी कि इंद्र जैसे देवताओं की वीरता के गुणगान में हम पाते हैं। दूसरे से सातवें मंडल तक का हिस्सा ऋग्वेद के आरंभिक हिस्सों में से एक है। इसमें भी जहां 407 श्लोक देवताओं के लिए हैं, वहीं देवियों के लिए केवल 22 श्लोक। साथ ही, इंद्र और उषा के बीच तनाव या द्वंद्व के होने की संभावना का जिक्र भी हम ऋग्वेद के एक श्लोक में पाते हैं।

जहां तक उत्पादन और श्रम विभाजन की बात है, तो चूंकि अर्थव्यवस्था का स्वरूप काफी सरल था इसलिए स्त्रियां उत्पादन कार्य से अलग नहीं की गई थीं। बल्कि स्त्रियों की भूमिका ज्यादा महत्वपूर्ण थी। पुरुष अपने कबीले या परिवार की संपत्ति (यानी पशु) बढ़ाने के चक्कर में प्राय: लड़ाई (युद्ध) में ही लिप्त रहते थे। ऐसी स्थिति में स्त्रियों पर ही परिवार या कबीले के पशुधन की सुरक्षा की जिम्मेदारी रहती होगी। ऋग्वेद में युद्ध की चर्चा सबसे ज्यादा हुई है। विभिन्न कबीलों के बीच आपस में और ऋग्वैदिक कबीले और उनके विरोधियों (दस्यु, दास और शूद्र) के बीच निरंतर युद्ध होते रहते थे और पुरुष उनमें लिप्त रहते थे। बलि के अनुष्ठान में स्त्रियों की भागीदारी थी, बल्कि उनका होना अनिवार्य था। स्त्री यौनिकता पर कबीले या समुदाय का नियंत्रण था, जिसका नेतृत्व पितृसत्तात्मक था। नियोग की व्यवस्था से तो यही पता चलता है कि स्त्री की यौनिकता पर उस परिवार का अधिकार था जिसमें वह ब्याही जाती थी। पति की मृत्यु होने पर स्त्री को देवर से ब्याह दिया जाता था। साथ ही पराजित कबीले की स्त्रियों की विजेता कबीले/वंश के घरों में सम्मिलित कर लिया जाता था, जो उत्पादन और संभवत: अपने मालिकों के लिए प्रजनन हेतु श्रम प्रदान करती थीं।

लिंग-जनित स्तरीकरण द्विआयामी था। एक तो वर्ग के आधार पर और दूसरा उस वंश या कुल के भीतर जिसका स्त्री हिस्सा होती थी। प्रजनक की उसकी भूमिका का जिक्र बाद के वैदिक ग्रंथों मसलन, ब्राह्मण और गृह्यसूत्रों (800 ई. पू.) के विवाह संबंधी अनुष्ठानों में भी किया गया है। इसके हम अचानक से उत्पन्न होने के रूप में नहीं ले सकते। ऐसा हो सकता है कि समाज में बढ़ते स्तरीकरण की वजह से स्त्री यौनिकता पर नियंत्रण की प्रकृति में बदलाव हुए हों। कुछ विद्वानों का तो मत है कि अधिशेष उत्पन्न नहीं करने वाली साधारण पशुचारी आर्थिक व्यवस्था के बावजूद ऋग्वैदिक समाज में वंश के आधार पर असमानता विद्यमान थी। श्रेष्ठ और निम्न दो तरह के वंश थे। कबीले का मुखिया यानी राजन केवल श्रेष्ठ वंश से ही हो सकता था। रथीयोद्धा के भी अभिजात वर्ग से होने की बात की गई है और यदि खुद को सीमांकित समुदाय के रूप में बनाए रखने के लिए उनके बीच ही विवाह हो सकते थे तो स्त्री यौनिकता पर किसी न किसी रूप में कुछ प्रतिबंध जरूर रहे होंगे।

नोट

बाद के वैदिक ग्रंथों में इसके सीधे साक्ष्य मिलते हैं। उदाहरण के लिए शतपथ ब्राह्मण में पुरुष के प्रत्यक्ष नियंत्रण (खासकर पति) में जो स्त्री नहीं है उसकी यौनिकता को लेकर भय सा व्यक्त किया गया है। भय इस बात का कि 'पत्नी पराए मर्द के पास जा सकती है'। साथ ही राजा द्वारा विवाह संबंध के भीतर 'यौन संबंध के व्यवस्थित बने रहने' की जिम्मेदारी लेने की बात की गई है। देवराज वरुण विवाहेतर संबंध बनाने वाली स्त्री को बंदी बनाते हैं, इस बात का जिक्र हुआ है। अनियंत्रित स्त्री यौनिकता को लेकर जो भय व्याप्त था, उसकी अच्छी अभिव्यक्ति दीर्घजिह्वी के मिथक में हुई है। 'दीर्घजिह्वी' यानी जिसकी जिह्वा बढ़ी हुई हो। यह राक्षसी (अनियंत्रित) यौन पिपासा का रूपक (मेटाफर) है। दीर्घजिह्वी अपनी उपस्थिति मात्र से यज्ञ को नष्ट कर देती थी। तब देवताओं ने सुमित्र को भेजा जो काफी सुंदर थे। उन्होंने दीर्घजिह्वी को बहला-फुसलाकर पहले तो शांत किया और फिर बाद में नष्ट कर दिया। लगभग उसी अवधि में (600 ई. पू. तक) गृह्यसूत्रों में पत्नी के पति के घर में प्रवेश करने के उपरांत उत्पन्न खतरे के प्रति गहरी चिंता व्यक्त की गई है। उसके चयन, निरीक्षण और नियंत्रण के प्रति अत्यंत सावधानी बरतने का निर्देश दिया गया है। हालांकि उसकी अनिर्वायता को स्वीकार किया गया है, कारण, पति के वंश का आगे बढ़ना पत्नी की प्रजनन क्षमता पर ही निर्भर है लेकिन उसमें इस पूरी योजना को तितर-बितर कर देने की भी क्षमता है। पत्नी चुनने के प्रति सावधानी बरतने पर अतिरिक्त जोर उस भय/चिंता का ही परिणाम है जो किसी 'अपरिचिता' को पति के वंश या घर में प्रवेश करने से जुड़ा है।

कुमकुम राय ने 800 से 400 ई. पू. के बीच के प्रमुख ब्राह्मणवादी ग्रंथों का नारीवादी नजरिए से अत्यंत सूक्ष्म विश्लेषण किया है और उत्तरी भारत में राजतंत्र के उद्भव और विकास को रेखांकित किया है।[8] उन्होंने जाति/वर्ग के साथ-साथ लिंगजनित स्तरीकरणों के बीच के संबंध को समान सामाजिक प्रक्रियाओं के माध्यम से प्रदर्शित किया है। यह उनके कार्य का सबसे बड़ा पक्ष है। अनुष्ठानों (रीतिरिवाज) को आधार बनाकर राय बताती हैं कि कैसे वर्णाधारित स्तरीकरण और उत्पादन और प्रजनन पर नियंत्रण को वैधता प्रदान करने के लिए ब्राह्मणवादी ग्रंथों में वर्णित कर्मकांडों का इस्तेमाल किया जाता था जो राजा और यजमान (घर का मुखिया) द्वारा संपन्न किए जाते थे। जहां अश्वमेध, वाजपेय और राजसूय जैसे बड़े कर्मकांडों का आयोजन राजा के अधिकार क्षेत्र के दायरे के उत्पादक-प्रजनन साधनों पर उसके नियंत्रण को वैधता दिलाते थे वहीं घर के भीतर के कर्मकांड घरेलू दायरे के उत्पादक-प्रजनक साधनों पर यजमान के नियंत्रण को। इस तरह दो समांतर प्रक्रियाओं के माध्यम से राजा और ऊंची जातियों–दोनों ने उत्पादन और प्रजनन पर नियंत्रण और कुछ पुरुषों और सभी स्त्रियों की पराधीनता स्थापित और व्यवस्थित की।

### 5.1.2 बौद्ध और जैन साहित्य (600-300 ई. पू.)

छठी सदी ईसा पूर्व तक आते-आते गंगा की घाटी में कई स्तरों पर, चाहे वह कृषि हो, व्यापार हो, शहरीकरण हो या राज्य का स्वरूप हो, बड़े बदलाव होते देखने को मिलते हैं। 600 ईसा पूर्व से 300 ईसा पूर्व के बीच की अवधि के जो साक्ष्य बौद्ध और जैन ग्रंथों में मिलते हैं वे उपरोक्त बदलाव की वजह से वर्ग, जाति और लिंग आधारित स्तरीकरणों पर हुए प्रभावों के विस्तृत चित्रण समेटे हुए होने की वजह से काफी महत्वपूर्ण हैं। साथ ही, इनमें ब्राह्मणों की अगवाई में जाति के विकास की प्रक्रिया और उसे मिल रही चुनौतियों का भी अच्छा चित्रण हुआ है। कई जगहों पर हम बुद्ध और ब्राह्मणों के बीच ऐसे संवाद पाते हैं, जिनमें ब्राह्मण अपने जन्मजात श्रेष्ठ गुणों के आधार पर समाज में अपनी सर्वोच्च स्थिति के साथ-साथ निम्न वर्णों, वैश्यों और शूद्रों की सेवाएं प्राप्त करने के अधिकार का दावा करते हैं। वे वर्ण के पदों में और ब्राह्मणवादी ग्रंथों में निर्देशित वर्ण-विभाजन (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र) के अनुसार बात करते हैं। इसके साथ ही वे सजा के मामले में भी खुद को औरों से अलग व्यवहृत किए जाने का दावा करते हैं, जबकि बुद्ध इनमें से किसी से भी सहमत नहीं होते। ब्राह्मणों और बुद्ध के बीच के विवाद में वस्तुतः जो बात सबसे प्रमुख या हावी दिखाई देती है वह है ब्राह्मणों के प्रत्येक दावे को बुद्ध द्वारा निरस्त किया जाना। बुद्ध उनके इस दावे को निरस्त करते हैं कि उन्हें निम्न जातियों से श्रम करवाने का अधिकार है। बुद्ध कहते हैं कि यह अधिकार सिर्फ उन्हें है जिनके पास धन है–कारण, केवल वही श्रम खरीदने की क्षमता रखते हैं। जन्मना कोई मालिक और कोई दास नहीं हो सकता।

नोट

महाद्वीप के उत्तर-पश्चिम भाग का उदाहरण देते हुए बुद्ध कहते हैं कि वहां मालिक (अय्या) दास हो जाता है तो दास मालिक। स्पष्ट है कि बुद्ध आर्थिक गत्यात्मकता की संभावना वाली खुली व्यवस्था के हिमायती थे न कि ब्राह्मणों द्वारा दावा की जा रही उस व्यवस्था के जिसमें हैसियत जन्मना तय होती हो। सभी मनुष्यों में कुछ बातें एक समान हैं और सभी एक ही जैविक प्रक्रियाओं से जन्म लेते हैं, यह कहते हुए बुद्ध खुद को सबसे ऊपर रखने वाले ब्राह्मणों की खिल्ली सा उड़ाते हैं। बुद्ध ब्राह्मणों द्वारा राजा से बड़े भूदान लेकर उत्पादन के साधन पर कब्जा जमाने के प्रयास से भी असहमति जताते हैं। इसके कई कारण रहे होंगे लेकिन सामान्य समझ यही रही हो सकती है कि उत्पादन के साधन (भूमि) पर ब्राह्मणीय नियंत्रण उनके श्रेष्ठ होने के दावे को मजबूत करने वाला साबित होगा। ये ग्रंथ यह स्पष्ट करते हैं कि ब्राह्मणों द्वारा खुद को जन्मना श्रेष्ठ मानने के दावे को केवल बुद्ध ही चुनौती दे रहे थे ऐसी बात नहीं थी, बल्कि वैकल्पिक धारणाएं भी विद्यमान थीं। यह सर्वमान्य सा था कि उत्पादन के साधन के रूप में भूमि पर नियंत्रण और कुछ खास पेशे श्रेष्ठ होने के आधार हैं। भूमि-नियंत्रक के रूप में गहपति को उच्च श्रेणी में रखा गया है और उनके लिए कहीं भी वर्ण या जाति जैसे ब्राह्मणवादी पदों का प्रयोग नहीं हुआ है। इससे एक तरफ जहां यह इंगित होता है कि उच्चता या श्रेष्ठता की स्थिति में पहुंचने के अवसर खुले से थे वहीं दूसरी तरफ यह भी स्पष्ट होता है कि कुछ पेशे उतने ही हीन नजर से देखे जाते थे जितना कि श्रम बेचना। बौद्ध ग्रंथों मे श्रम खरीदने वाले मुख्यत: गहपति हैं और मजदूरी-भोजन के बदले श्रम प्रदान करने वाले अथवा श्रम बेचने वाले दास और कम्मकार हैं। श्रमिक तबका स्वायत्त न होने, गरीब और हाशिए पर होने की वजह से व्यवस्था में निचले दर्जे पर था।

यहां जो बात ध्यान देने लायक है वह यह कि समाज में केवल दो वर्ग थे, उच्च और निम्न। ब्राह्मणवादी व्यवस्था की भांति जटिल विभाजन नहीं था। बुद्ध के एक (विशेष) बयान में स्तरीकरण की व्यवस्था में क्षेत्रीय विविधता की हकीकत का पता चलता है। पेशों की सूची से पता चलता है कि कोई भी पेशा खानदानी नहीं था। लेखन, हिसाब-किताब, सेना जैसे कई पेशे थे जो चुनाव के लिए खुले हुए थे।

तो जहां तक वर्ग और जाति का प्रश्न है, बौद्ध ग्रंथों में चित्रित स्तरीकरण वास्तविक उत्पादन संबंधों के नजदीक ठहरते हैं। इसके साथ ही, ये जाहिर करते हैं कि जन्मजात श्रेष्ठता की वजह से कुछ वर्ण नैयायिक विशेषाधिकारों के हकदार हैं, इस धारणा को स्पष्ट चुनौती मिल रही थी। इनमें उत्पादन के साधनों पर हक हो अथवा दासता–ये स्थायी नहीं हैं यानी जो मालिक हैं वे दास की स्थिति में आ सकते हैं और दास मालिक की स्थिति में। कोई जन्मना मालिक अथवा दास नहीं है। कारण, उत्पादन के साधनों पर अधिकार न तो दैवी है और न ही जन्मना। जैसा कि ब्राह्मणवादी ग्रंथ जाहिर करने का प्रयास करते हैं। यही नहीं, राजनीतिक व्यवस्था की धुरी राजा से वर्ण विभाजन को बनाए रखने के बारंबार उद्‌बोधन हमें ब्राह्मणवादी ग्रंथों में मिलते हैं जबकि बौद्ध ग्रंथों में राजा महज विवाहेतर यौन संबंध कायम करने वाले स्त्री और चोर को दंडित करने के प्रति जागरूक व्यक्ति के रूप में चित्रित हुआ है। परिवार और निजी संपत्ति सामाजिक संस्थान के रूप में मान्य है न कि दैवी और अपरिवर्तनीय जन्मना रुतबा। बौद्ध ग्रंथों में सामाजिक स्तरीकरण मनुष्य द्वारा निर्मित और इसलिए परिवर्तन अथवा वर्ग विभाजन को स्थितिशील (स्टैटिक) और जगत में हो रहे निरंतर परिवर्तन के साथ अपरिवर्तनीय मानने से इनकार किया। आखिर परिवर्तन की धारणा बौद्ध दर्शन की बुनियादी धारणा है।

बौद्ध ग्रंथों में आए साक्ष्य का एक महत्वपूर्ण पक्ष है, सजातीय विवाहों के संदर्भ। गौरतलब है, जन्मजात श्रेष्ठता को अस्वीकार किया गया है और उस पर विवाह, बहस या विरोध व्यक्त किए जाने के बावजूद सजातीय विवाह के संदर्भ आए हैं। विवाह में 'जाति' को प्राप्त महत्वपूर्ण स्थान यह संकेत करता है कि जाति की धारणा विद्यमान थी। उसका आशय 'जन्म' से रहा होगा, जो सजातीय इकाई का रूप ले चुकी थी। उसके साथ वे अन्य लक्षण नहीं जुड़ थे जो आज जाति के साथ अनिवार्यत: जुड़े हुए हैं। वैसे शासक कुलों में 'रक्त शुद्धता' को तरजीह प्राप्त था। कारण, ब्राह्मणों के जन्मजात श्रेष्ठता के दावे को निरस्त करने के क्रम में बुद्ध एक तर्क यह भी देते हैं कि वे (यानी ब्राह्मण) रक्त शुद्धता को बरकरार रखने के प्रति उस भांति गंभीर नहीं हैं जिस भांति शाक्य कुल, जिससे खुद बुद्ध थे। एक ऐसी घटना का विस्तृत जिक्र भी हुआ है जिसमें शाक्य अपनी बेटी का विवाह राजा विदुभव से नहीं करते हैं, क्योंकि

नोट

शाक्यों की तुलना में उसका वंश हीन है। लेकिन राजा बलशाली है, इसलिए शाक्य उसे सीधे न नकारकर चालाकी से दासी की बेटी को राजा के संग कर देते हैं, इससे उनकी शुद्धता बची रह जाती है। इस तरह, बौद्ध स्रोतों से यह जाहिर होता है कि जाति के साथ-साथ गोत्र और कुल की धारणाएं वजूद में आ चुकी थीं और ब्राह्मण और क्षत्रिय कुल 'सजातीय' इकाई का रूप ले चुके थे। हालांकि सजातीयता के उल्लंघन भी होते थे और यदि मामला विशिष्ट पुरुषों का हो तो उसे बर्दाश्त किया जाता था। सजातीय विवाह की स्वीकृति के बावजूद जाति की ब्राह्मणवादी व्याख्या के विरोध के साक्ष्य भी बौद्ध-स्त्रोतों में मिलते हैं। खासकर, जन्म के आधार पर रुतबा और विशेषाधिकार तय किए जाने और जातियों का पदानुक्रम कर उसे उत्पादन संबंधों पर आरोपित कर स्थायी और स्वाभाविक रूप देने के प्रयास का विरोध किया जा रहा था। उत्पादन के साधन के स्वामी के रूप में गहपति का 'उच्च' माना जाना यही इंगित करता है कि सामाजिक रुतबा तय किए जाने का पैमाना उत्पादन के साधन पर अधिकार अथवा अनाधिकार था। बौद्ध ग्रंथों में नए उत्पादन संबंध स्थापित करने का प्रयास, ताकि कोई भी न्यूनतम संसाधन, उद्यम और श्रम की व्यवस्था के बूत (गहपति की भांति) ऊपर उठ सके, पल्लवित नहीं हो पाया। ब्राह्मणों द्वारा प्रस्तावित विचारधारात्मक संरचना का विकल्प नहीं पनप सका। सजातीय विवाह को दी गई अत्याधिक महत्ता इसका कारण रहा होगा। अंततः इसे उत्पादन व्यवस्था और जन्म आधारित पेशे से आबद्ध किए जाने के बाद ब्राह्मणवादी व्यवस्था के व्यवस्थित होने का मार्ग प्रशस्त हो गया होगा। एक उच्च और विकसित पदानुक्रमित व्यवस्था और अपेक्षाकृत कमतर पदानुक्रमित व्यवस्था की सजातीयता में बड़ा फर्क है। कारण, पहले वाले में कुछ को उत्पादन के साधनों (भूमि) पर अपने आप हक मिलता है तो अन्य आधारित पदानुक्रम के बीच कोई स्थापित या संबंध हम नहीं पाते। वर्णसंकर सिद्धांत के तहत इन अलग-अलग तत्वों को जोड़ने ने ही उस व्यापक वर्ण-वर्ग/ढांचा को संभव किया जो आज भी विद्यमान है। ज्यादा विकसित उत्पादन व्यवस्था में जाति के प्रसार (सजातीय विवाह के आधार पर) को धारणात्मक स्तर पर औचित्य प्रदान करने के लिए वर्णसंकर का सिद्धांत एक सुविधाजनक साधन साबित हुआ।

### 5.1.3 धर्मशास्त्र

धर्मशास्त्रों में ये परिवर्तन बड़े ही व्यवस्थित ढंग से वर्णित हुए हैं। उनमें भी खासकर, मनु-रचित *मनुस्मृति* ज्यादा उल्लेखनीय है। इसकी रचना दूसरी सदी में हुई होगी। मनु ने इसके आरंभिक अध्यायों में वर्ण विभाजन को दैवीय इच्छा की रचना कहा है जो उतना ही पुराना है जितना की सृष्टि। मनु के अनुसार, सृष्टि की सुरक्षा के लिए ही सृष्टिकर्ता ने अपने शरीर के विभिन्न भागों–मुख, बांह, जंघा और पैर से जन्मे विभिन्न वर्णों को अलग-अलग कार्य सौंपा। ब्राह्मणों के विशेषाधिकार की वकालत वाले इस ग्रंथ का रचनाकार भी ब्राह्मण है और ब्राह्मण ही उसके लक्षित पाठक हैं जिनके हितों के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किए गए हैं। वर्णों की उत्पत्ति जिस आदि पुरुष के अंगों से हुई, उसके अंगों की शुद्धता में पदानुक्रम है। ब्राह्मण जिनकी उत्पत्ति मुख से हुई है वे सबसे ज्यादा शुद्ध हैं और सर्वोपरि भी। कारण, एक तो उन्होंने सबसे पहले जन्म लिया और दूसरा, सभी ज्ञान के स्त्रोत वेदों पर उनका अधिकार है। साथ ही, ब्राह्मण पवित्र नियम का शरीरी रूप हैं इसलिए ब्राह्मंड में जो कुछ भी है उस पर उनका हक हैं। नियम कहता है कि प्रत्येक वर्ण अपने लिए अनंत काल से निर्धारित आचार पर चले जिनका सीधा जुड़ाव विवाह, विवाह के अनुष्ठान, उचित/अनुचित आहाए, स्त्रियों के लिए निर्धारित आचार का उल्लंघन और उनके अतिक्रमण की वजह से होने वाले जातियों और स्थानीय/प्रथागत रिवाजों के मिश्रण मनु की संहिता के मुख्य विषयवस्तु हैं, जिन्हें विषयसूची के सारांश में रेखांकित किया गया है। इस सारांश से हमें संहिता की विचारधारात्मक संरचना के साथ-साथ वर्ण ढांचे को दी गई केंद्रीयता की झलक मिलती है जिसे स्थापित करना इसका अभीष्ट है।

समूचे मनुस्मृति में मनु की मूल चिंता जाति के आधार पर सामाजिक रुतबा, पेशा और सेवा तय करने यानी वर्ण व्यवस्था कायम करने से जुड़ा है। इससे जाहिर होता है कि ब्राह्मणवादी वर्ण व्यवस्था अपने पैर मजबूती से नहीं जमा पाई थी। तभी तो मनु को इसे औचित्य प्रदान करने की जरूरत पड़ी। इसे लादेन, क्रियान्वित करने और वर्चस्व की स्थिति में लाने का दायित्व राजा का था। अपनी स्थिति के अनुरूप प्रत्येक जाति निर्धारित रीति के तहत ही व्यवहार करे, इसका दायित्व राजा पर ही था। राजा से वैश्यों और शूद्रों को उनके लिए निर्धारित कार्य-क्षेत्र के दायरे में

नोट

बांधकर रखने के लिए कहा गया है; कारण, मनु के अनुसार, 'यदि ये जातियां अपने लिए निर्धारित कार्य करने से विमुख हो जाएं तो वे समूचे विश्व में 'गड़बड़ी' ला देंगी।' दूसरे शब्दों में, श्रमिक यदि श्रम करना छोड़ देंगे तो ब्राह्मणों द्वारा संकल्पित पूरी व्यवस्था ही ढह जाएगी।

प्रत्येक समूह को उसके लिए निर्धारित सेवा की व्यवस्था तभी संभव थी जब आनुष्ठानिक सत्ता की संरचना, ज्ञान राजनीतिक सत्ता, पेशागत विभाजन, भूमि और श्रम सेवाओं पर नियंत्रण को व्यवस्थित रूप में सीमांकित सामाजिक समूह निरंतर बनाए रखते। सीमांकन के लिए एक व्यवस्थित विवाह संस्था अनिवार्य थी। साथ ही, परिवार का समाज की मूलभत इकाई होने के कारण ब्राह्मणवाद में विवाह की अनिवार्यता और परिवार की निरंतरता को प्राथमिकता दी गई। जबकि बौद्ध, जैन या अन्य विषमांगी (हेट्रोजेनस) व्यवस्थाओं में हम यह नहीं पाते कारण, वर्ण व्यवस्था की निरंतरता उनके एजेंडे का हिस्सा नहीं थी। यही कारण है कि गृहस्थ के कर्मकांडीय दायित्वों के प्रति ब्राह्मणवादी ग्रंथों में ज्यादा आग्रह दिखाई देता है। उनमें भी, मनुस्मृति धारणात्मक स्तर पर सबसे ज्यादा सुसंगत है। जैसा कि एक मानवविज्ञानी का मानना है–

विवाह हिंदू समाज के हृदय-स्थल पर निवास करता है। यह किसी पुरुष के जीवन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना, हिंदू मानस के अग्रभाग का हिस्सा और समाज की धुरी है। इसका जाति से सीधा जुड़ाव है और जाति किसी हिंदू के लिए उसके अस्तित्व की बुनियाद है। पुरुष की जाति उसके माता और पिता दोनों की जातियों से निर्धारित होती है और तत्पश्चात उसके अपने विवाह और यौन संबंध के आधार पर बनी रहती है या बदलती है।

इसलिए मनु धर्मशास्त्र में विवाह को जो गंभीर तवज्जो मिला है वह आश्चर्य की बात नहीं। किसी गृहस्थ के लिए निर्धारित दायित्वों में इसकी जगह धुरी की हैं। कारण, इसे निभाने के माध्यम से ही वह परिवार, वंश, संपत्ति व्यवस्था और ब्राहणवादी रुतबा क्रम यानी समूची सामाजिक व्यवस्था को पुनरोत्पादित कर सकता है। यही वजह है कि विवाह और पुत्र उत्पन्न करना उसका परम कर्तव्य है। इसके लिए यह जरूरी हो जाता है कि वह दूसरे परिवार की स्त्री को पत्नी के रूप में लाए। गौरतलब है, पत्नी के लिए स्त्री के चयन को लेकर मनु ने सावधानी बरतने की बात करते हुए विस्तृत निर्देश दिए हैं। मसलन, उसे न केवल समान जाति बल्कि सम्मानप्राप्त परिवार से होना चाहिए। ऐसे परिवार का रिश्ते-नाते के दायरे से बाहर का ही होना जरूरी है। मनु ने जहां कुछ लक्षणों से बचने की बात की है वहीं मांगलिक शारीरिक चिह्न वाली स्त्री को उसने समुचित माना है। विवाह में स्त्री के चुनाव को लेकर वर्गीकरण और पदानुक्रमीकरण के प्रति ब्राह्मणवादी, मनोग्रसित (ऑब्सेशन) की सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति अलग-अलग वर्णों का विवाह के अलग-अलग रूपों से जोड़े जाने में हुई है। विवाह के कुल आठ रूपों की बात की गई है जो इस प्रकार हैं–ब्रह्म, दैव, अर्ष, प्रजापत्य, असुर, गंधर्व, राक्षस और पिशाच। क्षत्रिय को गंधर्व विवाह की अनुमति मिली हुई है, जिसमें वर और वधू परस्पर प्रेम और सहमति के आधार पर विवाह के बंधन में बंधते हैं। इसके साथ ही, क्षत्रिय राक्षस विवाह भी कर सकते हैं, जिसमें वर वधू को जबरन ले आता है। सामान्यतः, विवाह के कुछ रूप निम्न वर्णों के खाते में डाल दिए गए हैं तो कुछ पर उच्च वर्णों का एकाधिकार है। उच्च वर्णों से जुड़े विवाह-रूपों में कन्या का पिता वर को कन्या के साथ-साथ अन्य चीजें भी (उपहार में) देता है और इनमें पितृसत्तात्मक तत्व ज्यादा मुखर रहते हैं जबकि निम्न विवाह-रूपों–मसलन, असुर विवाह में वधू-मूल्य चुकाना पड़ता है। इतिहासकारों का मत है कि विवाह के निम्न रूपों का उद्देश्य जाति व्यवस्था में निचले क्रम पर समावेशित कुछ समुदायों में प्रचलित विवाह-रूपों को मान्यता देना था। तनिक ज्यादा उपयोगितावादी रुख के स्तर पर बौद्धयान धर्मशास्त्र (500-300 ई. पू., I. 14-15) कहता है कि कृषि और कामकाज में संलग्नता की वजह से वैश्यों और शूद्रों में स्त्रियों की कठोर निगरानी संभव नहीं था। उच्च विवाह-रूपों में विवाह अटूट बंधन माना जाता था जबकि निम्न विवाह-रूपों में विवाह-विछेद (तलाक) की अनुमति थी।

ब्राह्मण (वह जाति जिसके प्रति मनु सर्वाधिक चिंतित है) के लिए ब्रह्म विवाह उचित माना गया, जिसमें पिता अपनी कुंवारी कन्या और उसके साथ-साथ समुचित कपड़े और गहने वर को 'दान' करता है। स्पष्ट है, पिता कर्मकांडीय तरीका अपनाकर अपनी बेटी और उसकी यौनिकता वर को प्रदान करता है, जिसमें उसकी सहमति पर्याप्त होती है। अन्य जातियों में विवाहिता की इच्छा (सहमति) के मान के लिए जगह थी जबकि ब्रह्मण स्त्री अपने विवाह में किसी

नोट

भी स्तर पर इच्छा/अनिच्छा नहीं जता सकती थी। समय के साथ धीरे-धीरे मनु द्वारा रेखांकित आठ विवाह मोटे तौर पर दो कोटियों में बंट गए। पहला, अविच्छेद्य सांस्कारिक विवाह जो ऊंची जातियों के बीच प्रचलित रहा और दूसरा, अपेक्षाकृत लचीला जिसमें विवाह अटूट बंधन नहीं माना जाता, जिसमें पुनर्विवाह पर बंदिश नहीं। सांस्कारिक विवाह का मतलब था विधवा होने की स्थिति में 'वैधव्य' को जीने की बाध्यता यानी ऊंची जातियों की स्त्रियां पति की मृत्यु के बाद पुनर्विवाह नहीं कर सकती थीं। वे अत्यंत कठोर और संयमित विधवा जीवन जीने को बाध्य थीं। निम्न जातियों, जो सांस्कारिक विवाह अपनाने की हकदार नहीं थीं, वे विधवाएं अपने मृत पति के रक्त संबंधी (देवर) के साथ विवाह कर लेती थी।

विवाह के लिए जरूरी नियम-कायदों की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए मनु ने कहा कि आदर्शत: वर और वधू दोनों का समान जाति/वर्ण का होना जरूरी है। कारण, संतान की स्थिति एक साथ माता और पिता दोनों से तय होती है। हालांकि, परोक्षत: वह उन अनुज्ञेय (छूट-प्राप्त) प्रचलनों की ओर भी संकेत करता है जिनके तहत ब्राह्मण/क्षत्रिय/वैश्य पुरुष अपनी जाति की स्त्री को प्रथम पत्नी बनाने के पश्चात् अपने से निम्न क्रम के जाति/जातियों में से हरेक से एक-एक पत्नी रख सकता था। ब्राह्मण पुरुष को क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियों की स्त्रियों को पत्नी बनाने की अनुज्ञा के बावजूद वह शूद्र पत्नी के प्रति घृणा का भाव व्यक्त करने से नहीं चूकता। वह किसी ब्राह्मण पुरुष द्वारा अपनी प्रथम पत्नी के लिए किसी शूद्र स्त्री के चुने जाने की कड़ी निंदा करता है। कारण, इससे पदानुक्रम-व्यवस्था उल्लंघित और प्रदूषित होती। वैसे तो मनु का दावा है कि ऐसा कभी नहीं हुआ–घोर से घोर 'संक्रमण' काल में भी इसे इसका उदाहरण नहीं मिलता लेकिन उसने अपनी संहिता (मनुस्मृति) में ऐसे विवाह की जो कठोर निंदा की है उससे तो यही इंगित होता है कि उनका चलन था और ब्राह्मण सिद्धांतकार इस पर बंदिश लगाने के प्रयास में जुटे हुए थे। उल्लंघन करने वालों को इस जन्म ही नहीं बल्कि अगले जन्म में भी भयानक सजा मिलने की बात करने वाला मनु कामना, खासकर यौनेच्छा को दांपत्य संबंध के दायरे में बांध कर न रख पाने की कठिनाई की वजह से वर्णसंकर की सैद्धांतिकी गढ़ने की ओर प्रवृत्त होता है ताकि उल्लंघन/विचलन युक्तिसंगत लगें। दांपत्य दायरे के उल्लंघन के इस सिद्धांत ने वर्ण से जाति की ओर के संक्रमण के साथ-साथ जाति व्यवस्था के परिष्कार को भी संभव किया जिसमें प्रजनन, उत्पादन, पेशागत विशेषज्ञता और प्रत्येक जाति के लिए अलग-अलग सांस्कृतिक और कर्मकांडीय आचार व्यवहार एक साथ गुंथे गए।

वर्णसंकर सिद्धांत कुछ 'मूल कोटियों' की पदानुक्रमित व्यवस्था पर आधारित है, जिसमें तय किए गए सामान्य विवाहों के उल्लंघन की वजह से नई कोटियों के उदित होने की व्यवस्था है। उल्लंघन दो तरह से हो सकते हैं। पहला ऊंची जाति के पुरुष द्वारा निम्न जाति की स्त्री को पत्नी बनाने से, जिसकी अनुमति उसे है भी (अपनी जाति की स्त्री को प्रथम पत्नी बनाने के बाद)। इसे 'अनुलोम' संबंध' कहा गया है। मानवविज्ञान की भाषा में इसे 'हाइपरगैमी' कहते हैं। चूंकि पुरुष का बीज (वीर्य) धरती (स्त्री) से ज्यादा ताकतवर माना जाता है, इसलिए (यदि ऐसा कई पीढ़ियों तक होता रहे तो) हाइपरगैमी सामाजिक गतिशीलता का मार्ग प्रशस्त करता है। वैसे भी इससे नई जातियां उत्पन्न होती हैं। दूसरे तरह के उल्लंघन में संबंध ऊंची जाति की स्त्री और निम्न जाति के पुरुष के बीच बनता है। इसे 'प्रतिलोम' कहा गया है। मानवविज्ञान में इसे 'हाइपोगैमी' कहते हैं। हालांकि मनुस्मृति में इसे निषिद्ध, अत्यंत निंदनीय और दंडनीय माना गया है लेकिन वर्णसंकर के सिद्धांत में यह एक महत्वपूर्ण तत्व है। मनु ने दोनों उल्लंघनों को जिन शब्दों में व्यक्त किया है वह गौरतलब है–अनुलोम, प्राकृतिक है। ऊंची जाति के पुरुष द्वारा निम्न जाति की स्त्री को पत्नी बनाना स्वाभाविक है, प्रकृति के अनुरूप है। लेकिन ऊंची जाति की स्त्री द्वारा निम्न जाति के पुरुष से संबंध स्थापित करना प्रकृति के प्रतिकूल यानी अप्राकृतिक है, अनुचित और धिक्कार्य है। जातियों का घालमेल प्रतिलोम विवाह/संबंध की ही उपज है।

दो और पहलू गौरतलब है: वर्णसंकर सिद्धांत में अनुलोम संबंधों (जो कि स्वीकार्य है) की वजह से उत्पन्न होने वाली नई जातियों की संख्या की तुलना में प्रतिलोम (जिस पर पाबंदी है) संबंधों से उत्पन्न होने वाली नई जातियों की संख्या ज्यादा है। नई जातियों में से अधिकांश की उत्पत्ति (सबसे पवित्र जाति) ब्राह्मणों के अतिक्रमण (उल्लंघन) की वजह से हुई है। सबसे बड़ी अशुद्धता/अपवित्रता उन्हीं के माध्यम से होती है। कारण, ऊंची जाति

नोट

की स्त्री को अपने गर्भ और ब्राह्मण पुरुष को अपने व्यक्तित्व की शुद्धता के नष्ट होने का खतरा बना रहता है। इस विरोधाभास को तैंबिआ ने इस तरह व्याख्यायित किया है–

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक अस्वीकार्य कोटियों को उत्पन्न करने, उन्हें निम्न स्थिति प्रदान करने और इतनी सारी जातियां/जाति के पदानुक्रम में निम्न स्तरों पर क्यों हैं। इसकी धारणात्मक व्याख्या करने के साथ-साथ इसे औचित्य प्रदान करने के लिए 'प्रतिलोम' की धारणा एक अच्छी बौद्धिक युक्ति (चाल) है...जातियुक्त समाज अपनी वास्तविक जनसांख्यिकी बुनावट में पिरामिड के आकार की भले ही न हो लेकिन हैसियत, अनुष्ठान और पेशों का इसका जो मूल्यांकन है वह पिरामिडीय है। शुद्ध हैसियत वाले बहुत कम हैं, जबकि अशुद्ध हैसियत वाले बहुत अधिक। शुद्धता और अशुद्धता का जो (राजनीतिक) अर्थशास्त्र है वह इसे अपरिहार्य करता है। [इस वजह से और चूंकि समाज में उच्च हैसियत वाले या उच्च स्थिति में बहुत कम लोग हैं] आचार संहिताओं में प्रतिलोम संबंधों के क्रमचय के प्रति हम उम्मीद से ज्यादा महत्ता देते हुए पाते हैं। नैतिक स्मर पर निंदनीय होने के बावजूद प्रतिलोम संबंध निम्न स्थितियों (पदों) को उत्पन्न करने का माध्यम है।

हालांकि वर्णसंकर सिद्धांत काल्पनिक और अनैतिहासिक है, जो विभेदकारी ढांचे का रूप लिए हुए है और विविधता लिए हुए गतिशील समाज पर खुद को आरोपित करने (ज्यादा सफल हुए बिना) की कोशिश करता रहा है लेकिन यह कुछ सैद्धांतिक और वास्तविक मसले जाहिर कर जाता है। पिरामिडीय संरचना समाज में विद्यमान असमानता को प्रतिबिंबित करती है–लड़ाकुओं और चिंतकों का संकीर्ण शीर्ष और उत्पादकों और कार्मिकों का चौड़ा आधार। शुद्धता/अशुद्धता के तर्काधार पर वर्णसंकर का सिद्धांत गढ़ने वाले ब्राह्मणों ने अपनी ओर से ऊंची जातियों की वर्चस्वता, उसके विशेषाधिकारों और भौतिक स्वार्थों को भी पक्का किया। साथ ही, उन्होंने न केवल निम्न और सेवा प्रदान करने वाले (श्रमिक) जातियों की ज्यादा संख्या का औचित्य प्रस्तुत किया (उस अवधि में जबकि ग्रंथ तैयार किया जा रहा था), बल्कि उस संरचना को भी तर्काधार प्रदान किया जो हिंदू सामाजिक संगठन में शामिल हो रहे प्रत्येक नए सामाजिक समूह को एक स्थिति (हैसियत) दे सके। हालांकि नए शामिल हो रहे अधिकांश समूह निचले पायदान पर भी जगह पाते थे जो निरंतर फैलने की क्षमता रखते थे। इसके साथ-साथ, समूची संरचना एक स्तर तक लचीलापन लिए हुई थी, जिसे वर्णसंकर द्वारा सैद्धांतिक औचित्य प्राप्त था और जिससे आधार फैल सकता था। सजातीयता के उल्लंघन को निंदनीय/दंडनीय रूप में रखते हुए ऊंची जातियों की सीमाओं को बनाए रखने की कोशिश होती रही, ताकि सांस्कृतिक और आनुष्ठानिक संपदा को अंत:सरण, तनूकरण और बिखराव से बचाया जा सके। संक्षेप में, वर्णसंकर की धारणा वह माध्यम थी जिसकी वजह से जाति व्यवस्था फल-फूल सकती थी और जातियों की स्थिति के आधार पर स्त्री यौनिकता नियंत्रित की जा सकती थी। इस तरह अनेक लिंग आधारित जातीय व्यवहार उस जटिल संरचना के भाग थे जो कई यौनाधारित और समाधारिता गठनों को समाहित किए हुई थी।

मनु जिस आदर्श संरचना की नींव रख रहा था, वह उसके समय के हिसाब से काफी कमजोर धरातल पर भले ही थी, लेकिन बाद में उसने अपने पैर काफी मजबूती से जमाए (खासकर कुछ विशेष क्षेत्रों में)। मनु की किताब की तुलना आरंभिक अवधि के बौद्ध और जैन साहित्य से करने पर हम पाते हैं कि सजातीयता, विभिन्न पेशों से जुड़े पदानुक्रमित सामूहिक इकाइयों, और कुछ को भूमि और उत्पादन के स्रोत पर मालिकाना हम रखने वलों और अन्य को श्रम प्रदान करने वालों के रूप में निश्चित कर और इन सबको आपस में गूंथकर जाति व्यवस्था: (1) आनुष्ठानिक, (2) वैवाहिक, और (3) राजनीतिक और आर्थिक तंत्र के रूप में वजूद में आई। एक बार इन सबके बीच जुड़ाव हो गया और इससे सामने आई पूरी संरचना को पुनर्जीवित हो उठे ब्राह्मणवाद का समर्थन प्राप्त किए हुए राजनीतिक सत्ता का लगातार सहयाग मिलने लगा तब ज्यादा लचीली व्यवस्था (जिसमें सामाजिक स्थिति जन्म से नहीं तय होती) का विकल्प के रूप में उभरकर सामने आने की संभावना भी क्षीण हो गई। वर्ग जैसी ज्यादा लचीली कोटि जाति के तहत कुंद होकर रह गई। इसे सत्ता का सहयोग प्राप्त थां और फिर पूरी की पूरी संरचना को कानूनी प्रावधानों, ऊंची जातियों की सामाजिक सत्ता और निम्न जातियों की तरफ से किसी भी प्रकार की पहलकदमी पर पाबंदी की सहायता से बरकरार रखा जाता रहा। यह शीर्ष पर स्थित समूहों के लिए 'लचीली' थी जिनके पास राजनीतिक सत्ता थी, शस्त्र थे और जिनका राजनीतिक संपर्क था। इस स्तर पर फैलते हुए या स्थानांतरित

नोट

कर रहे समूहों के साथ सामंजस्य हो सकता था। निम्न स्तर पर भी यह व्यवस्था उन लोगों को समाविष्ट करती रही जो 'श्रम' प्रदान कर सकते थे। इस तरह जाति व्यवस्था उत्पादन की एक पद्धति या स्वरूप भी बन गई। तो मूलत: जो लचीलापन हम बौद्ध साहित्य में पाते हैं वे बाद के ब्राह्मणवादी ग्रंथों द्वारा उल दिए गए। उत्पादन संबंध सामाजिक हैसियत के अनुरूप निश्चित किए गए। इससे जातियों के बीच जो विभाजन हुआ वह उत्पादन के स्रोत यानी भूमि पर केंद्रित हो गया। एक तरफ वे जातियां थीं जिनका भूमि पर हक था या जिन्हें इससे 'आय' प्राप्त होती थी और दूसरी तरफ वे भूमिहीन जातियां थीं जो भूपतियों के लिए श्रम करने को अभिशप्त थीं।

### 5.1.4 सामाजिक परिवर्तन और जाति व्यवस्था का प्रसार

कई इतिहासकार ब्राह्मणवाद और ब्राह्मणवादी सामाजिक संबंधों का विकास काल गुप्तों के उत्थान (300 ई. के आसपास) से लेकर बाद तक कुछ सदियां में देखते हैं। पांचवीं सदी तक आते-आते जाति व्यवस्था में अस्पृश्यता का समावेश हो चुका था (जिसे चीनी यात्री फाह्यान ने भी दर्ज किया है) और वह फैलती जाति व्यवस्था का हिस्सा बन चुकी थी। इतिहासकारों ने परोक्ष अथवा अपरोक्ष तौर पर यह कहा है कि समूचे प्राचीन और मध्य काल के दौरान राज्य निर्माण के निरंतर और बार-बार प्रयास हुए। इसके साथ ही उन्होंने भूमि और अन्य विशेषाधिकारों के दान के माध्यम से ब्राह्मणवाद के गंगा की घाटी से मध्य, पूर्वी और प्रायद्वीपीय भारत की ओर फैलाव का भी रेखांकन किया है। इतिहासकारों का मत है कि दान के रूप में प्राप्त भूमि क्षेत्र में ब्राह्मण अपने साथ कृषि-ज्ञान, उत्पादन की पद्धति और नए सामाजिक संबंध भी ले जाते थे। कौसंबी के अनुसार, द्वीप भर में आर्यों के विस्तार का एक बड़ा परिणाम उनके द्वारा उत्पादन पद्धति के विविध रूपों और विभिन्न संस्कृतियों को खतम कर उन्हें एक बृहत्तर सामाजिक गठन के तहत एकीकृत करने के रूप में हुआ। नदी घाटी क्षेत्रों में, जहां कृषि का आधार ज्यादा मजबूत था इसलिए वहां कृषि कार्यों के लिए बड़ी मात्रा में मजबूर श्रमिक चाहिए थे। कौटिल्य ने *अर्थशास्त्र* में कृषि के प्रसार, उत्पादन और श्रम उगाही की रणनीतियों का अच्छा रेखांकन किया है। भूक्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ श्रम संसाधनों के प्रसार की जुड़वां प्रक्रियाओं का चित्रण मौर्य शासन के लेखा-जोखा में हुआ है–युद्ध में विजित भूमि को कृषि के उपयोग के लिए पुरुष चाहिए इसलिए हजारों लोग बंदी बनाए जाते हैं। इस तरह उत्पादन की एक पद्धति सदियों तक या तो धीरे-धीरे नए क्षेत्रों की ओर या फिर युद्ध में विजित क्षेत्रों की ओर फैलती रही। इसके साथ ही ऐसी प्रक्रियाएं भी चल रही थीं जिनके तहत पुराने समुदाय टूटकर विकसित हो रहे नए सामाजिक संबंधों में समाविष्ट हो रहे थे। जाति व्यवस्था खुद शनै:-शनै:, असमान रूप में और विविध प्रक्रियाओं के तहत निर्मित हुई, इसके इतिहास का संगत और व्यवस्थित आख्यान अभी लिखा जाना शेष है। इसके रूपरेखा की झलक हमें विभिन्न विद्वानों के कार्यों और क्षेत्रीय-इतिहासों में दिखाई देती है। असम की ब्रह्मपुत्र घाटी और तमिलनाडु के मैदानी भागों के इतिहास (अब लिखे जाने लगे हैं) ऐसे क्षेत्रीय इतिहासों के उदाहरण हैं।

तमिल क्षेत्र में जाति के उद्भव की संक्षिप्त पड़ताल से हमें यह समझ ने में मदद मिल सकती है कि कैसे स्थानीय संरचनाएं और विश्वास दूसरे क्षेत्रों की धारणाओं और सामाजिक गठन के रूपों अंतर्क्रियोपरांत क्षेत्र-विशिष्ट संरचना उत्पन्न करते हैं। तमिल संगम साहित्य (ईसा पूर्व पहली सदी से तीसरी सदी तक) से पता चलता है कि आरंभिक तमिल समाज तीसरी सदी के बाद की तुलना में कम स्तरीकृत था। अलग-अलग पारिस्थितिकी क्षेत्र में अलग-अलग उत्पादन पद्धति ली हुई समाज व्यवस्थाएं सरल थीं। हालांकि संगम साहित्य में भी हम ऐसे लोगों का जिक्र पाते हैं जो निम्न स्तर के थे और जिनका आचार व्यवहार निंदनीय था। निम्नजाद लोग गरीब थे और उनका बसेरा मुख्य आबादी से दूर और अलग तरह का था। उनके लिए चर्म-कार्य, कपड़े धोना, मछली पकड़ना आदि जैसे कार्य निर्धारित थे। 'गंदे' लोगों को मृत्यु से जोड़कर देखा जाता था। एक आम धारणा दैवी शक्ति को लेकर व्याप्त थी। ऐसी मान्यता थी कि यह शक्ति दो तरह के हैं–पहला मांगलिक और नियंत्रणीय और दूसरा अमांगलिक और अनियंत्रणीय। ऐसे अनेक सामाजिक संस्थान अथवा लोग चाहिए थे जो दूसरी कोटि यानी अमांगलिक को नियंत्रित करने की क्षमता रखते हों। उदाहरण के लिए, पतिव्रता स्त्री। अनांकुधारिणी ऐसी स्त्री अपने प्रभाव से अमांगलिक को मांगलिक में बदल सकती थी।

नोट

*कन्नगी तमिल स्त्री की ऐसी ही पवित्र/धार्मिक क्षमता का प्रतीक है। कन्नगी ने मदुरई को भस्म कर दिया, कारण, मदुरई ने वहां के निवासियों, खासकर कन्नगी के पति कोवलन को न्याय देने से मना कर दिया था। आज कन्नगी तमिल भाषी क्षेत्र में महिमामयी है। अपनी पवित्रता की वजह से वह करपूधारिणी है और लोगों की भलाई के लिए उसका आवाहन किया जाता है। कन्नगी और कोवलन की कथा शिल्पाधिकारक में दर्ज है।*

उच्चजादों को विश्वास था कि निम्नजादों में अशुभ/अमंगल से निपटने की जन्मजात क्षमता होती है। वे अशुभ को नियंत्रित कर सकते हैं, उसे दूर रख सकते हैं लेकिन उसके स्वभाव को नहीं बदल सकते। राजा निम्नजाद अनुष्ठाताओं पर निर्भर रहने को मजबूर था। उनके अनुष्ठानों से युद्धों में उसकी ताकत बढ़ती थी।

ईसा पूर्व तीसरी सदी में अपनी उपस्थिति के संकेत देते ब्राह्मणों को तमिल क्षेत्र के राजाओं से गठंधन की जरूरत पड़ी होगी, जिसकी कवायद वे उत्तर भारत में ईसा पूर्व आठवीं सदी से ही करते आ रहे थे और जहां उन्होंने धार्मिक ज्ञान पर अधिकार की दावेदारी प्रस्तुत की। इसमें वे ज्यादा सफल नहीं हो पाए थे, कारण, बौद्ध चिंतन जैसी वैकल्पिक परंपराओं की चुनौती का उन्हें सामना करना पड़ रहा था। समय के साथ, वे धीरे-धीरे खुद को राजाओं के समक्ष निम्नजाद अनुष्ठाताओं के विकल्प के तौर पर प्रस्तुत करने में कामयाब होते गए। वे ऐसी ताकत थे जो जन्मजात ही शुद्ध, व्यवस्थित और मांगलिक सत्ता से लैसे होने का दावा कर रहे थे।

आर्थिक संरचनाओं के स्तर पर तमिल क्षेत्र में पांचवीं से दसवीं सदी के बीच व्यवस्थागत परिवर्तन होते देखने को मिलता है। छोटे-छोटे राजाओं और सरदारों की जो बड़ी संख्या हम संगम काल में पाते हैं उनकी जगह बड़े साम्राज्यों (पहले पल्लवों का और उसके बाद चोलों का) ने ली। कृषि के प्रसार और उसके जड़ जमाए जाने (खासकर नद्य-इलाकों मसलन, कावेरी क्षेत्र) के साथ ही तमिल समाज में स्तरीकरण की प्रक्रियाएं ज्यादा तीव्र होती गईं। कुछ विद्वानों ने इस अवधि को जाति निर्माण का दूसरा दौर मानने की बात की है, जिसका पहला दौर उत्तरी भारत की गंगा घाटी में पहली सहस्राब्दी के आरंभिक सदियों में ही पूरा हो चुका था। संगम काल में कई वजहों से कृषि प्रबल रूप नहीं ले पाई लेकिन संगमोत्तर काल में बड़े परिवर्तन हुए। मसलन, हल का प्रयोग, उत्पादन संबंधों का कुटुंब के दायरे फलांगना आदि। जहां, पहले जमीन पर परिवार/कुटुंब श्रम करते थे उनका जगह धीरे-धीरे उस व्यवस्था ने अपना पैर जमा लिया जिसमें उत्पादन के साधन यानी भूमि के अधिकतर हिस्सों पर ब्राह्मणों का अधिकार हो गया। राजाओं से बतौर दान के रूप में मिले जमीन के उत्पाद पर उनका हक हो गया। जिस जमीन पर पहले परिवार या कुटुंब अपने लिए श्रम करते आ रहे थे, उसी पर अब उन्हें ब्राह्मणों के लिए श्रम करना पड़ रहा था। ब्राह्मणों ने कृषि में हल का व्यापक प्रयोग कर उत्पादन और श्रम के दोहन में बड़े परिवर्तन को जन्म दिया। संचार और वैधता के साधनों पर ब्राह्मणों की वर्चस्वता ने उनको छठी सदी तक आते-आते साज का एक महत्त्वपूर्ण अंग बना दिया। उत्पादन व्यवस्था के संकेंद्रित और आर्थिक व्यवस्था से ज्यादा जटिल होते जाने के साथ-साथ पेशे के स्तर पर भी विविधता आई। वंशानुगत पेशे का प्रसार जाति के पदानुक्रम द्वारा आत्मसात कर लिया गया तो पदानुक्रम की समूची व्यवस्था मंदिर जैसे नए संस्थानों (दक्षिण भारत में सेवाओं का व्यापक नेटवर्क मंदिर के दायरे में लाया गया) से नियंत्रित होने लगी।

दसवीं सदी से तमिल क्षेत्र में अस्पृश्यता के विद्यमान होने के साक्ष्य अभिलेखों में दर्ज हैं। अस्पृश्यों का आवास गांव के मुख्य बसेरे से दूर होता था। प्रसिद्ध शैव भक्त नांदनर एक अस्पृश्य जाति परैया से थे। उनकी जीवनी में काफी विस्तार से चेरी की चर्चा हुई है, वहां वे और कई अन्य खेतिहर मजदूर रहते थे। अन्य परैये कारीगरी और शिल्प का काम करते थे। नांदनर खुद चमड़े का काम करते थे। इसी तरह एक और अस्पृश्य जाति थी पुल्लैया। एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि ये स्थानांतरित किए जा सकते थे। ऐसाप्रतीत होता है कि वे खेतों पर काम करने वाले दास थे। चोलों के शासन के कायम होते-होते विभिन्न संरचनाएं व्यवस्थित हो चुकी थीं, जिसके रूप आज तक विद्यमान हैं। कुटुंब आधारित उत्पादन संबंधों के टूटने और पदानुक्रम के पदों (स्तरों) के बढ़ते जाने की वजह से सजातीय विवाह के जिस रूप का जिक्र हमें संगम साहित्य में मिलता है उसके निहितार्थ बदले होंगे। इसके साथ ही कुटुंब में ही विवाह, एरैंज्ड विवाह और 'प्रेम' जिसे साहित्य में महिमान्वित भाव के रूप में चित्रित किया गया है, इन सबके मायने भी बदले होंगे। जहां अनेक सजातीय समूह रहे होंगे, वहां संगमोत्तर काल में समूहों के बीच

नोट

'पदानुक्रम' की महत्ता बढ़ने के साथ ही विवाह और लिंग के रूपों में हुए परिवर्तनों के अन्वेषण की जरूरत है। कारण, तमिल क्षेत्र में अब तक की अवधि के लिंग या जाति पर जो कार्य हुए हैं उनके आधार पर उक्त परिवर्तनों के बारे में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है।

इस बिंदु पर आकर यह जानना प्रासंगिक होगा कि यह फैलाव सदियों तक विविध क्षेत्रों में किन रूपों में हुआ। एन.के. बोस द्वारा आधुनिक समय में जनजातियों के जाति व्यवस्था में जुड़ने का अध्ययन हमारे समक्ष है। उन्होंने दिखलाया है कि जनजातियों के जाति व्यवस्था के दायरे में जुड़ने की प्रक्रिया को किस भांति स्थानीय कारक प्रभावित करते हैं। बोस ने उड़ीसा के 'जुआंगों' का हवाला दिया है जा मलयगिरी की ढालों पर झूम खेती के साथ-साथ शिकार और खाद्य संग्रह पर आश्रित थे। मूल जीवन के लगातार सिकुड़ते (नष्ट होते) जाने की वजह से वे निचले हिस्सों में सिंचाई आधारित खेती करने को मजबूर हो गए। इसके साथ ही अपनी दैनिक जरूरतां की चीजें खरीदने के लिए उन्हें बांस की वस्तुएं बनाने और बेचने के लिए मजबूर होना पड़ा।

इस तरह एक आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था से बाहर निकलने के बाद वे 'ज्यादा व्यापक हिंदू समाज व्यवस्था' के लपेटे में आ गए। एक उन्नत उत्पादन तंत्र रूपी पहिए में वे महज एक कॉग (किंगरी) भर थे। नई संरचना में बांस की वस्तुएं बनाने एक एकाधिकार की सुखद स्थिति में आने के साथ-साथ वे जाति के पदानुक्रम आधारित व्यवस्था के अधीन की स्थिति में भी पहुंच गए। जातियों की उत्पत्ति की मनु की व्याख्या को शब्दशः न लें तो हमें पता चलता है कि कितने समुदाय, कितने समूह एक व्यापक आर्थिक और सामाजिक ढांचे की आगोश में समाते गए। बोस का कहना है कि समुदायों को नई जातियों के रूप में आत्मसात करने या हिस्सा बनाने के क्रम में जहां जाति व्यवस्था हरेक समुदाय या कुछ समुदायों को एक समूह के रूप में लेते हुए हरेक के किसी पेशे पर एकाधिकार को सुनिश्चित करती है वहीं तदोपरांत यह भी तय कर देती है कि वे अपने-अपने पेशे और संस्कृति से बंधे रहें।

बोस का कहना है कि जाति व्यवस्था के आगोश में समाने वाली जनजातियों के सामाजिक और धार्मिक जगत में हस्तक्षेप न करके यानी एक तरह से उन्हें सांस्कृतिक स्वायत्तता प्रदान करके जाति व्यवस्था उस असंतोष की आंच से खुद को बचाए रखने में सफल रही होगी जो उनकी आर्थिक पराधीनता से उपजती। कारण, उनके उपजाऊ जमीन पर कब्जा कर उन्हें आर्थिक तौर पर पूर्णतः परनिर्भर की दमित स्थिति में लाकर रखना आसान नहीं था। व्यवस्था में उनका आर्थिक स्तर पर खस पेशों या दायरों से बंधने का कारण भले ही तात्कालिक परिस्थितियों का दबाव रहा होगा लेकिन उसे रिवाज और तत्पश्चात कायदे बनाकर स्थायित्व प्रदान कर दिया गया। इस तरह छोटी-छोटी सामाजिक और आर्थिक इकाइयां (जातियां) वजूद में आईं। कबीले या जनजाति से जाति की ओर के संक्रमण की प्रक्रिया में एक भिन्न अस्मिता, जिसका पदानुक्रमता से कोई वास्ता नहीं था, का पदानुक्रमयुक्त जाति व्यवस्था में निचले पायदानों पर जाति के रूप में स्थापित होते जाना एक बड़ा बदलाव था। जाति के रूप में उनके लिए अपनी आंतरिक शुद्धता बनाए रखना जरूरी था।

समूची व्यवस्था की कार्यपद्धति पर विचार करते हुए जिस एक बिंदु पर जोर डालने अथवा गौर करने की जरूरत है वह यह कि जाति व्यवस्था उतनी आत्मसातकारी (एसिमिलेटिव) नहीं थीं जितनी कि मान ली गई बल्कि उसे समुच्चयकारी (एग्रीगेटिव) कहना ज्यादा उचित होगा। आत्मसातीकरण यदि होता भी था तो ऊपरी पायदानों के इर्द-गिर्द ही जहां राजनीतिक सत्ता और भूमि पर नियंत्रण संक्रेंद्रित रहते थे। निचले पायदानों पर तो विभिन्न समूह केवल जोड़े जाते थे यानी वहां केवल समुच्चयीकरण होता था। हरेक समूह सजातीय इकाई के रूप में अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता कायम रखते हुए और श्रम करते हुए अथवा सेवाएं प्रदान करते हुए। उन्हें व्यवस्था आत्मसात नहीं करती थी। विभिन्न समूहों का अपने-अपने सांस्कृतिक विशिष्टता बनाए रखने के प्रति 'नरम' रुख अपनाकर व्यवस्था 'पदानुक्रम' का आधार तैयार कर देती थी। विवाह की रीति औश्र भोजनादि किसी समूह की हैसियत के कारक हो जाते थे। राजा के लिए इससे अच्छी व्यवस्था और क्या हो सकती थी जिसमें सस्ते में ही श्रम और सेवाएं प्राप्त होती हों। उसमें भी यदि ब्राह्मण साथ हो [अथवा स्थानीय स्तर पर उनके ही समांतर ताकतें] व्यवस्था के स्थायित्व का क्या कहना? आर्थिक और राजनीतिक असमानताओं के प्रति ज्यादा ध्यान दिए बिना ही विवाह व्यवस्था के माध्यम से समूची व्यवस्था पुनरोत्पादनीय थी।

नोट

लब्बोलुआब यह कि मनु के वर्णसंकर सिद्धांत और खासकर अस्पृश्यता के प्रादुर्भाव के उपरांत भारतीय उपमहाद्वीप के अधिकतर हिस्सों में एक अत्यंत संश्लिष्ट सामाजिक गठन वजूद में आया। इस गठन का ताना-बाना जाति आधारित पितृसत्तात्मक कायदों से बुना हुआ था और उसके तार उत्पादन संबंधों से जुड़े हुए थे। इस गठन पर राजसत्ता की चौकसी और निगरानी रहती थी।

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–**

1. किस समाज में स्त्री की प्रजनन क्षमता काफी मूल्यवान मानी जाती थी–
   (क) शिकार संग्रह (ख) ऋग्वैदिक समाज (ग) उत्तर वैदिक समाज (घ) उपर्युक्त सभी।
2. किस सदी में स्त्री की बुरी स्थिति को ब्रिटिशों ने भारतीय असभ्यता का प्रबल सबूत माना था–
   (क) 16वीं (ख) 18वीं (ग) 19वीं (घ) उपर्युक्त सभी।
3. राष्ट्रवादियों ने 'स्त्री की स्थिति' के संदर्भ में किस समाज को स्वर्ण युग कहना शुरू किया–
   (क) शिकार संग्रह समाज को (ख) ऋग्वैदिक समाज को
   (ग) वैदिक समाज को (घ) उपयुक्त सभी।
4. जन्म के आधार पर असमानता की चर्चा ऋग्वेद के किस मंडल के पुरुषसूक्त में हुई है–
   (क) दूसरे (ख) सातवें (ग) दसवें (घ) उपर्युक्त सभी।
5. क्षत्रिय को किस विवाह की अनुमति मिली हुई है–
   (क) गंधर्व विवाह (ख) अर्ष विवाह (ग) दैव विवाह (घ) उपर्युक्त सभी।
6. किस सदी से तमिल क्षेत्र में अस्पृश्यता के विद्यमान होने के साक्ष्य अभिलेखों में दर्ज हैं–
   (क) पाँचवीं (ख) सातवीं (ग) दसवीं (घ) उपर्युक्त सभी।

## 5.2 नगरीय एवं औद्योगिक व्यवस्था में स्तरीकरण (Stratification in Urban and Industrial Settings)

नगरीय अथवा नागरिक समुदाय के अध्ययन में सर्वप्रथम कठिनाई शब्द 'नगरीय' की परिभाषा-संबंधी है। इस कठिनाई का कारण यह है कि 'समुदाय' शब्द को दशा–एक भौतिक, दूसरी, सामाजिक को निर्दिष्ट करता है। भौतिक दशा, आवश्यक नहीं, सामाजिक दशा को जन्म दे। साधारण तौर पर, नगरीय क्षेत्र से हमारा तात्पर्य घनी जनसंख्या वाले क्षेत्र से होता है। परन्तु एक देहात को, जिसमें प्रति कमरा व्यक्तियों की औसत संख्या नगर के समान है, नगरीय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसकी सम्पूर्ण जनसंख्या बहुत थोड़ी है और बसा हुआ क्षेत्र भी बहुत छोटा है। पुनः एक बड़े क्षेत्र वाले देहात को नगर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसकी जनसंख्या बहुत थोड़ी है। अतएव नगर की परिभाषा जनसंख्या के घनत्व के शब्दों में नहीं की जा सकती। सम्पूर्ण जनसंख्या एवं क्षेत्र को भी ध्यान में रखना होगा। परन्तु विभिन्न देशा में इस विषय पर मानकों की एकरूपता नहीं है। भारत के संदर्भ में 1961 की जनगणना रिपोर्ट में, उन स्थानों को नगरीय क्षेत्र कहा गया है जहाँ (*i*) स्थानीय निकाय यथा नगरपालिका, छावनी बोर्ड, अधिसूचित क्षेत्र समिति हो, (*ii*) अन्य सभी स्थान जहाँ कम से कम जनसंख्या 5,000 हो, एवं पुरुषों की कार्यशील जनसंख्या का कम से कम 75 प्रतिशत अकृषिकर व्यवसायों में लगी हो एवं कम से कम 400 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर का घनत्व हो।

सामाजिक अवस्था पर विचार करते समय कहा जा सकता है कि नगर एक जीवन-पद्धति है। शब्द 'urbane' जीवन की इस पद्धति को सूचित करता है। यह फैशनेबिल जीवन, वस्तुओं एवं व्यक्तियों की विस्तृत जानकारी एवं वाणी के राजनीतिक ढंग को इंगित करता है। परन्तु क्या जीवन का नगरीय ढंग केवल नगरीय जनसंख्या तक ही सीमित

नोट

है? जैसा हमें ज्ञात है, ग्रामीण व्यक्ति भी जीवन के नगरीय ढंगों के प्रभावाधीन आ गए हैं। ग्रामीण क्षेत्र भी जीवन-पद्धति में नगरीकृत हो सकते हैं। जबकि नगरीय समुदाय के सामाजिक लक्षणों एवं जनसांख्यिकीय लक्षणों के मध्य कारणात्मक सम्बन्ध हो सकता है। ऐसा भी सम्भव है कि कोई देश जनसांख्यिकीय दृष्टि से नगरीय हो, परन्तु सामाजिक दृष्टि से अधिक ग्रामीण हो। उस देश की अपेक्षा जो जनसांख्यिकीय दृष्टि से अधिक ग्रामीण एवं सामाजिक दृष्टि से अधिक नगरीय हो।

*क्या आप जानते हैं* चाईल (Chile) की जनसंख्या कनाडा की अपेक्षा नगरों में अधिक निवास करती है, परन्तु इसके लोग कनाडा वासियों से अधिक देहाती हैं।

इस प्रकार, शब्द 'urban' की परिभाषा देना कठिन है। जबकि 'ग्रामीण' एवं 'नगरीय' के मध्य अंतर दैनिक भाषा में सामान्य तौर पर सुपरिचित है, इनके मध्य विभेदीकरण का मापदंड सुनिश्चित एवं सुस्पष्ट नहीं है। सोरोकीन एवं जिमरमैन (Sorokin and Zimerman) ने व्यवसाय को इस विभेदी का मापदंड बनाया। उनके अनुसार ग्रामीण समुदाय का मुख्य व्यवसाय पशुपालन एवं कृषि है जबकि नगरीय जनता विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में संलग्न होती है। इन लेखकों ने विभेदी के अन्य आधारों का भी वर्णन किया यथा आकार, घनत्व, विविधता, सामाजिक विभेद, एवं स्तरीकरण, गतिशीलता, पर्यावरण एवं अंतर्क्रिया की विधियाँ, परन्तु उनके अनुसार यह विशेषताएँ कारणात्मक रूप से सम्बद्ध हैं। प्रथम परिवर्त्य, कृषि व्यवसाय, के साथ अन्य परिवर्तन जुड़े हुये हैं। इन लेखकों का यह भी विचार है कि उपरोक्त लक्षण मात्रा में, न कि प्रकार विभिन्न हैं। उन्होंने लिखा है, "वास्तव में, नितान्त ग्रामीण समुदाय से नगरीय में परिवर्तन एक आकस्मिक घटना नहीं है। यह परिवर्तन धीरे-धीरे आता है। ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय के मध्य कोई निरपेक्ष सीमा रेखा नहीं है। नगरीय एवं ग्रामीण समुदायों के मध्य अनेक विभेदक विशेषताएँ उन तत्वों में जो एक में उपस्थित तथा दूसरे में अनुपस्थित हैं, न उतना निहित नहीं है जितना इन तत्वों की परिमाणात्मक वृद्धि में हैं।"

उपरोक्त संकल्पना को आधुनिक लेखकों द्वारा 'ग्रामीण-नगरीय सतत्ता' (Rural Urban Continuesm) का नाम दिया गया है जिसका अर्थ है कि इन दोनों समुदायों के मध्य भिन्नताएँ धीमी एवं सतत् हैं, गुणात्मक भिन्नताएँ नहीं है जिनके आधार पर स्पष्ट रेखा खींची जा सके। इस प्रकार स्टुवर्ट ए क्वीन (Stuart A. Queen) एवं डेविड बी कार्पेंटर (Davide B. Carpenter) लिखते हैं कि "ग्रामीण से नगरीय में सतत् श्रेणीकरण चलता रहता है, यह कोई सरल ग्रामीण-नगरीय द्विविभाजन नहीं है।" **जिस्ट एवं हल्बर्ट** (Gist and Halbert) ने लिखा है, "इस प्रकार 'ग्रामीण' एवं 'नगरीय' के मध्य परिचित द्विविभाजन सामुदायिक जीवन के तत्वों पर आधारित विभाजन की अपेक्षा सैद्धान्तिक अवधारणा अधिक है।" **बर्गल** (Bergel) ने लिखा है, "प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि नगर क्या होता है, परन्तु किसी ने भी संतोषपूर्ण परिभाषा नहीं दी है।" प्रत्येक देहात में नगर के कुछ तत्व वर्तमान होते हैं, जबकि प्रत्येक नगर देहातों के कुछ लक्षणों को अभिलक्षित करता है। जैसा **मैकाइवर** कहता है, "इन दोनों के मध्य कोई ऐसी सुस्पष्ट विभाजन रेखा नहीं है, जो यह निश्चित कर सके कि नगर का अमुक बिन्दु पर अन्त होता है तथा देहात का अमुक बिन्दु पर आरम्भ होता है।"

सामान्य तौर पर, नगरीय समुदायों का आकार बड़ा होता है, उनमें जनसंख्या का घनत्व होता है एवं विविधता होती है जबकि ग्रामीण समुदाय छोटे समरूप एवं कम सघन होते हैं, तदपि उनके मध्य कोई कठोर विभाजक रेखा खींचना कठिन है। जबकि अंतिम छोर को सुगमता से पहिचाना जा सकता है, समस्या उस समय उत्पन्न होती है जब उनके बीच विभाजक रेखा खींचने का प्रयास किया जाता है। इसी प्रकार व्यवसाय के मापदंड के आधार पर भी विभेद करना कठिन है। व्यक्तियों की कितनी संख्या कृषि में संलग्न होनी चाहिए ताकि यह बतलाया जा सके कि अमुक समुदाय ग्रामीण है अथवा नगरीय। क्या सादर बहुमत ऐसे वर्गीकरण हेतु पर्याप्त होगा।

नोट

इस प्रकार, आकार, घनत्व, विविधता एवं व्यवसाय के तत्व स्थान-स्थान पर एवं समय-समय पर मात्रात्मक अंतर ही दर्शाते हैं। ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों के मध्य पूर्ण एवं निरपेक्ष विभाजन वर्तमान नहीं होते, अतएव हमें यह स्वीकार करना होगा कि ग्रामीण एव नगरीय समुदाय ध्रुवीय प्रकार है एवं उन्हें तथाकथित continuum जो ध्रुव के एक छोर से दूसरे तक विस्तरित है, के ऊपर अनेक बिंदुओं पर देखा जा सकता है।

**जिस्ट** एवं **हल्बर्ट** के शब्दों में, "सभ्यता के उद्‌गम की भाँति नगर की उत्पत्ति भी भूत के अंधकार में खोई हुई है।" प्रत्येक महान् सभ्यता में लोगों ने देहातों से नगरों में प्रवास किया है। प्रारम्भिक सभ्यताओं–मैसोपोटामियन, मिस्त्री, यूनानी एवं रोमन–का उत्थान एवं पतन उनके नगरों के विकास एवं ह्रास के साथ हुआ। सर्वप्रथम नगर ईसापूर्व 6000 एवं 5000 के मध्य प्रकट हुये। परन्तु यह नगर आकार में छोटे थे एवं इन्हें कस्बों से विभिन्न करना संभव नहीं था। ईसापूर्व 3000 तक सही अर्थों में नगरों की अवस्थिति हुई। तदुपरांत लगभग 2000 वर्षों तक इस दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई। यूनान-रोमन काल में आकर नगरों का उभार आया। यह आश्चर्यजनक है कि जिन प्रदेशों में नगर जीवन का प्रारम्भ हुआ था, वहाँ नगर समाप्त हो गये तथा नये प्रदेशों में नगरों का जन्म हुआ। कुछ समय उपरांत मेसोपोटामिया, भारत एवं मिस्र, प्रशिया, यूनान एवं रोम के नगरों का पतन हो गया जिसका मुख्य कारण था कि वे सभी ऐसी अर्थव्यवस्था से बंधे थे जो मुख्यतया कृषिकारी थे। पश्चिमी यूरोप में नगरों की संख्या बढ़ती गयी और उनका विकास वृद्धि की और अग्रसर रहा। 19वीं शताब्दी में सही अर्थ में नगरीय क्रांति आयी एवं 1800 से नगरीकरण द्रुत गति से विकास कर रहा है। नगरों के विकास में निम्नलिखित तत्व सहायक होते हैं–

1. **अधिक साधन** (Surplus resources)–जहाँ के समाज या समूह में जीवन मात्र की आवश्यकताओं से अधिक साधनों पर अधिकार हो जाता है, वहाँ नगर का विकास होता है। प्राचीन काल में मनुष्य की शक्ति द्वारा मनुष्य पर विजय से ये साधन प्राप्त किए गए थे। दासता, बेगार अथवा शासक वर्ग द्वारा आरोपित करों पर नगरीय जीवन के विकास की आधारशिला रखी गई थी। आधुनिक काल में मनुष्य ने प्रकृति पर विजय पाकर अपनी शक्ति का विकास कर लिया है। उसने प्रौद्योगिक प्रगतियों द्वारा प्राकृतिक साधनों का शोषण इस सीमा तक कर लिया है कि सापेक्षतया थोड़े से लोग अनेक व्यक्तियों की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं। प्रकृति पर मनुष्य की शक्ति का विस्तार, विशेषत: पश्चिमी देशों में, नगरों के आधुनिक विकास तथा बढ़ती हुई जनंसख्या का प्राथमिक कारण है।
2. **औद्योगिकरण एवं वाणिज्यीकरण** (Industrialization and commercialization)–औद्योगिक क्रान्ति से सम्बन्ध उत्पादन की नई प्रविधियों द्वारा नगरीय विकास शीघ्रतर हो गया है। यन्त्रों के आविष्कार, वाष्प-शक्ति के विकास एवं औद्योगिक उद्यमों में अपार पूँजी के निवेश ने दीर्घकाय उद्योगों की स्थापना की, जिसने कर्मशाला के नवीन उत्पादन-केन्द्रों में अचल श्रमिक-समूहों का केन्द्रीयकरण कर दिया। अन्य व्यक्तियों के साथ कार्य करने तथा ऊँचे वेतन प्राप्त करने की इच्छा से मनुष्यों ने ग्रामीण कार्य-धन्धे छोड़कर औद्योगिक नगरों में धारा के समान प्रवेश किया। इस प्रकार, भारत का इस्पात केन्द्र जमशेदपुर तथा शिकागो, लीवरपूल, मैन्चेस्टर, ग्लासगो संसार के महान् औद्योगिक नगर बन गए। यांत्रिक शक्ति के आविष्कार ने नगरों को नया रूप दिया। पहले लोगों का संकलन नदी-घाटियों में जहाँ भूमि उपजाऊ एवं समतल होती थी, होता था, परन्तु आज यह संकलन कोयले एवं लोहे के स्त्रोतों के निकट पाया जाता है। वस्तुओं के उत्पादन में वैज्ञानिक साधनों एवं विद्युत शक्ति अथवा ताप-इंजन द्वारा चालित मशीनरी के प्रयोग से जनसंख्या का एक-चौथाई भाग अन्य तीन-चौथाई की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है, जबकि शताब्दी पूर्व तीन-चौथाई जनसंख्या एक-चौथाई लोगों की आवश्यकता को पूरा कर सकते थे। अब शहरों के विकास का कृषिकर भूमि से कोई सम्बन्ध नहीं है।

   जहाँ औद्योगिकरण ने नगरीय विकास को शीघ्रतर बनाया है, व्यापार एवं वाणिज्य ने भी शहरी विस्तार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। प्राचीन सभ्यताओं में भी नगरों का विकास उन स्थानों पर हुआ, जहाँ माल का वितरण किया जाता था और वाणिज्य-सम्बन्धी सौदे किए जाते थे। इस प्रकार, एथेन्स, स्पार्टा, वेनिस, पाटलिपुत्र महान् व्यापारिक केन्द्र थे। आधुनिक समय में आधुनिक क्रय-विक्रय-सम्बन्धी संस्थानों एवं

नोट

विनिमय की पद्धतियों के उत्थान ने नगरों के विकास को आगे बढ़ाया है। आजकल बड़े नगरों में व्यापारिक लेन-देन आमने-सामने होना आवश्यक नहीं है, परन्तु केवल यह तथ्य कि अधिकांश निवासी 'कागजी' उद्यमों में संलग्न हैं, नगरीय विकास को बढ़ाने में महत्वपूर्ण तत्व है।

3. **यातायात एवं संचार का विकास** (Development of transport and communication)—यातायात एवं संचार के साधनों के विकास एवं उससे प्राप्त सुविधाओं ने भी नगरों की वृद्धि में योगदान दिया है। औद्योगिकरण यातायात पर आश्रित है, ताकि कच्चा एवं निर्मित समान एक स्थान से दूसरे स्थान पर भारी मात्रा में ले जाया जा सके। औद्योगिक नगर में यातायात एवं संचार के साधन अनिवार्यत: विकसित होते हैं। नगर न केवल देश के अन्य भागों एवं अन्य देशों के साथ सम्बद्ध हो जाता है, अपितु स्थानीय यातायात के विकसित साधनों के कारण नगर के विभिन्न भाग भी एक-दूसरे से सम्बद्ध हो जाते हैं। जिस समय कारखाना-प्रणाली आरम्भ हुई, स्थानीय यातायात की अधिक सुविधाएँ नहीं थीं। श्रमिकों की फैक्टरी के समीप ही निवास करना पड़ता था जिसके परिणामस्वरूप घनी बस्तियों की वृद्धि हुई। स्थानीय यातायात में नगर की सीमओं का विस्तार करके नगर की जनसंख्या में वृद्धि की। नगर को विभिन्न क्षेत्रों—बाजार-क्षेत्र, निवास क्षेत्र, श्रमिक क्षेत्र औद्योगिक क्षेत्र आदि में विभक्त किया गया। प्रारम्भिक नगरों में स्थानीय यातायात के साधनों के अभाव के कारण इस प्रकार का प्राकृतिक विभाजन नहीं था। आधुनिक नगर एक ऐसा समुदाय है जो विभिन्न भागों में विभाजित हो गया है।

4. **नगर की आर्थिक आकर्षण** (Economic pull of the city)—नगर ग्राम की तुलना में वैयक्तिक उन्नति के अधिक अवसर प्रदान करते हैं। आधुनिक व्यापार एवं वाणिज्य नवयुवकों को नगर की और, जहाँ उन्हें अच्छे वेतन मिलते हैं, आकर्षित करते हैं। व्यक्ति नगरों में इसलिए प्रवास नहीं करते कि उन्हें नगर में रहना पसन्द है, अपितु इसलिए कि उन्हें वहाँ अच्छे काम-धन्धे मिल सकते हैं। नगर में रोजगार की सुविधाएँ ग्राम की तुलना में अधिक होती हैं। व्यापारी भी नगर में अधिक लाभ अर्जित करने हेतु ग्राम छोड़ कर आ जाते हैं। जीवन-स्तर उन्नत हो जाने के कारण नगरों द्वारा आपूरित वस्तुओं की माँग अधिक हो जाती है। इस बढ़ती हुई माँग का अर्थ है कि नगरों में अधिक प्रतिशत व्यक्ति अपनी आजीविका पा सकते हैं। नगर में ही धार्मिक अथवा शैक्षणिक नेताओं को विशेष एवं उच्च मान प्राप्त होता है। संक्षेप में, नगर में अधिक उपलब्धि एवं उच्चतर जीवन-स्तर की सम्भावनाएँ नगरीय विस्तार को सुलभ बना देती हैं।

5. **शैक्षणिक एवं मनोंरजनात्मक सुविधाएँ** (Educational and recreational facilities)—कुछ समय पूर्व तक सभी उच्च विद्यालय नगरों में अवस्थित थे। नगर की प्राथमिक पाठशाला की तुलना में अधिक साधन-सम्पन्न होती है। अधिकांश प्रशिक्षण-संस्थाएँ, महाविद्यालय एवं प्रौद्योगिक संस्थाएँ नगरों में ही अवस्थित हैं। अधिकांश बड़े पुस्तकालय भी नगरों में हैं। कलाकेन्द्र एवं सग्रंहालय भी नगरीय हैं। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री भी अपने भाषण नगरों में ही देते हैं। स्वाभाविकतया इन सभी सुविधाओं के कारण युवक एवं युवतियाँ उच्चतर शिक्षा हेतु नगरों की और आकर्षित होते हैं।

मनोरंजनात्मक सुविधाएँ भी नगरों में अधिक प्राप्य हैं। मनोंरजन हेतु थियेटर एवं नृत्यगृह नगरीय हैं। बच्चों एवं वयस्कों दोनों की भावनाओं को समान सम्मोहित करके ये साधन लोगों को नगर की और आकर्षित करते हैं।

*टास्क* नगरीय क्रांति कब आई थी?

नगरों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। **जिस्ट एवं हल्बर्ट** (Gist and Halbert) ने प्रकार्यात्मक अवधारणा के आधार पर नगरों को छ: प्रकारों में विभक्त किया है—(*i*) उत्पादन-केन्द्र, यथा लोहा एवं इस्पात हेतु जमशेदपुर, वस्त्र-उद्योग के लिए अहमदाबाद, टोप के लिए डैनबरी, रबर के लिए अकरौन (Akrom); (*ii*) व्यापार एवं वाणिज्य केन्द्र, यथा न्यूयार्क, हैम्बर्ग, अम्स्टरडम, देहली, लुधियाना; (*iii*) राजनीतिक राजधानियाँ, यथा लन्दन,

नोट

वाशिंगटन, देहली, चण्डीगढ़; (*iv*) सांस्कृतिक केन्द्र, यथा आक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज, शांतिनिकेतन, बनारस; (*v*) भ्रमण-केन्द्र, यथा मौंट कार्लो, पदम बीच, मंसूरी, शिमला, श्रीनगर; (*vi*) बहुविध नगर, जिनमें विभिन्न गतिविधियाँ होती हैं तथा जो किसी विशिष्ट गतिविधि के लिए प्रसिद्ध नहीं होते।

**ई. ई. मुन्टज** (E. E. Muntz) ने प्रमुख गतिविधि के आधार पर नगरों को वर्गीकृत किया है। इस आधार पर नगरों का वर्गीकरण निम्नलिखित है–

1. प्रतिरक्षा नगर जिनका निर्माण सुरक्षा हेतु किया गया था तथा जिनके चारों और ऊँची दीवारें हैं, यथा क्यूबेक, मैक्सिकों एवं मनीला।
2. व्यापारिक नगर, तथा लंदन, न्यूयार्क, बम्बई।
3. औद्योगिक नगर, तथा यथा मैसाचुसेट्स, जमशेदपुर, मैन्चेस्टर।
4. राजनीतिक नगर, यथा नई दिल्ली, चण्डीगढ़, वाशिंगटन, जहाँ शासकीय गतिविधियाँ केन्द्रित होती हैं।
5. धार्मिक केन्द्र, यथा जेरूसलेम एवं वैटिकन।
6. भ्रमण-केन्द्र, यथा मान्टे कार्लो, श्रीनगर।

उपर्युक्त दोनों वर्गीकरण नगरों के विभिन्न प्रकारों को विभेदीकृत करने के प्रयास हैं, परन्तु आजकल नगर किसी अकेली गतिविधि का नहीं, अपितु चार अथवा पाँच गतिविधियों का केन्द्र होता है। नगर व्यापारिक, उत्पादक, राजनीतिक, शैक्षिक एवं भ्रमणात्मक सभी प्रकार की गतिविधियसों का केन्द्र हो सकता है। चूँकि नगर में अनेक गतिविधियाँ होती हैं, अतएव उसकी जटिल समस्याएँ स्पष्ट ही हैं।

### 5.2.1 नगरीय समुदाय की विशेषताएँ (Features of Urban Community)

1. **अनामकता** (Namelessness)–बोगार्डस के अनुसार, नगरीय समूह अनामकता के लिए प्रसिद्ध है। अपने आकार एवं जनसंख्या की विशालता के कारण नगर प्राथमिक समूह नहीं बन सकता। नगरवासी एक-दूसरे के प्राथमिक संपर्क में नहीं आते। वे एक-दूसरे के नाम को जाने बिना मिलते एवं वार्तालाप करते हैं। यद्यपि विनम्रता एवं पारस्परिक सुविधा के सतही आचरणों का नगर में विकास होता है, तथापि वे कृत्रिम होते हैं। नगरवासी परदेशियों को जिनके सम्पर्क में वह आता है, मानव प्राणी न समझकर जीवित यंत्र समझता है। नागरिक नगर में कई वर्षों तक रहने के उपरांत भी उसी क्षेत्र में निवासित एक-तिहाई नगरवासियों तक के भी नाम नहीं जानता। नगरीय संसार विभिन्न परिचयों को बट्टा लगाता है। नगर से सम्पर्क भागिक होते हैं। यह व्यक्तियों का, समग्र व्यक्तियों का नहीं, भाग होता है। **ली** (Lee) का कथन है, "अनामकता लाखों व्यक्तियों के नगर में पहचान को समाप्त कर देती है। अनेक नगरवासी सामाजिक रिक्ता में निवास करते हैं। उनके सामाजिक व्यवहार को नियमित अथवा नियंत्रित करने वाले संस्थात्मक आदर्श नियम प्रभावी नहीं होते। यद्यपि वे अपने चारों और अनेक व्यक्तियों एवं अनेक संस्थागत संगठनों से परिचित होते हैं, तथापि वे किसी समूह अथवा समुदाय के प्रति अपनापन अनुभव नहीं करते। सामाजिक रूप में वे प्रचुरता के मध्य निर्धन होते हैं।"
2. **मकानहीनता** (Homelessness)–मकानहीनता नगर समुदाय की एक अन्य निराशाजनक विशेषता है। बड़े नगर में मकान की समस्या अति गंभीर होती है। अनेक निम्नजातीय व्यक्ति अपनी रातें सड़कों की पटरियों पर व्यतीत करते हैं। मध्यवर्गीय व्यक्तियों के पास केवल एक अथवा दो कमरों के मकान होते हैं और वे भी छठी-सातवीं मंजिल पर। बच्चों के लिए खेलने का कोई स्थान नहीं होता। नगर का वातावरण संतान-निरोध को बढ़ावा देता है।"
3. **वर्ग-अतिवाद** (Class extermes)–वर्ग-अतिवाद नगरीय समुदाय की विशेषता है। नगर में अति धनी एवं अति निर्धन, भव्य कोठियों में रहने वाले एवं ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले तथा पटरियों पर सोने वाले, जिन्हें दो समय भरपेट भोजन भी नसीब नहीं होता, दोनों प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं। श्रेष्ठतम नैतिक व्यवहार एवं निम्नतम धोखाधड़ी दोनों नगर में पाए जाते हैं। उच्चकोटि की सृजनात्मकता एवं घोर बेरोजगारी दोनों ही नगरीय विशेषताएँ हैं। नगर विरोधी बातों का घर है।

नोट

4. **सामाजिक विजातीयता** (Social heterogeneity)–नगर ग्राम की अपेक्षा अधिक विजातीय होता है। यह "प्रजातियों, लोगों एवं संस्कृतियों का घुलन-स्थल रहा है तथा नई जैविक एवं सांस्कृतिक संकर जातियों का अति अनुकूल उत्पत्ति स्थल है। यह व्यक्तिगत भेदों को केवल मात्र सहन नहीं करता, अपितु परितोषित करता है। इसने लोगों को संसार के दूरस्थ भागों में इकट्ठे किया है, क्योंकि वे एक-दूसरे से भिन्न हैं, अतएव परस्पर-उपयोगी हैं, इसलिए विचार, व्यवसाय, वैयक्तिक गुण एवं उनका सांस्कृतिक जीवन ग्रामवासियों की अपेक्षा अधिक विभिन्न होता है।
5. **सामाजिक दूरी** (Social distance)–सामाजिक दूरी अनामकता एवं विजातीयता की उपज है। नगरवासी एकान्त अनुभव करता है। व्यक्ति की सच्ची भावनाओं पर मुखौटा रहता है। अधिकांश सामाजिक संपर्क अवैयक्तिक एवं अर्द्ध होते हैं। औपचारिक विनम्रता सच्ची मित्रता का स्थान ले लेती है। नगरवासी पड़ोसी न होकर केवल रात्रिवासी होते हैं।
6. **ऊर्जा एवं गति** (Energy and speed)–ऊर्जा एवं गति नगर के अंतिम लक्षण है। अकांक्षी व्यक्ति दिन-रात परिश्रम करते हैं जिससे अन्य व्यक्तियों को भी समान गति से परिश्रम करने की प्रेरणा मिलती है। प्रेरणा प्रभूत मात्रा में होती है। लोग अत्यधिक गतिविधियों में स्वयं को उलझा लेते हैं। तथा अपनी शक्ति के बाहर कार्य करते हैं जो अन्ततः उनकी स्नायुओं को समाप्त कर देते हैं एवं उनकी शक्ति का ह्रास हो जाता है। नगरीय जीवन ग्रामीण जीवन की तुलना में अधिक मानसिक तनाव उत्पन्न करता है। नगरों को जनसंख्या का संहारक कहा जा सकता है। नगरों की तंग एवं गदी गालियाँ स्वास्थ्य पर हानिकार प्रभाव डालती हैं। यह जानना रुचिकर होगा कि देहातों में मृत्यु का प्रतिशत नगरों की अपेक्षा कम होता है जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में जन-स्वास्थ्य पर नगरों की अपेक्षा कम धन व्यय किया जाता है, तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी वे सुविधाएँ प्राप्त नहीं होतीं जो नगरों में रोग का प्रतिशत अधिक होता है। नगरीय समुदाय में ग्रामीण समुदाय की अपेक्षा हृदयाघात एवं मानसिक रोग के मामले अधिक संख्या में होते हैं।

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**2. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–**

1. सामाजिक अवस्था पर विचार करते समय कहा जा सकता है कि नगर एक ..... है।
2. ..... के अनुसार ग्रामीण समुदाय का मुख्य व्यवसाय पशुपालन एवं कृषि है।
3. ..... से नगरीकरण द्रुत गति से विकास कर रहा है।
4. ..... ने शहरी विस्तार में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।
5. बोगार्डस के अनुसार, नगरीय समूह ..... के लिए प्रसिद्ध है।

## 5.3 सारांश (Summary)

- जाति और लिंग के बीच के संबंध की संतोषप्रद समझ अभी विकसित किया जाना शेष है। ऐसे में वर्ग और जाति के ऐतिहासिक विकास की पड़ताल से प्रस्थान करना सुविधाजनक रहेगा। तत्पश्चात हम इसे लिंगीकृत करेंगे।
- भारतीय उपमहाद्वीप के आरंभिक प्रागैतिहासिक समाजों का खाका पुरातात्विक प्रमाणों मसलन, औजार, मिट्टी के बर्तन और आवास रहे गुफा अवशेष (जो कभी-कभी इतिहास का कूड़ा-स्थल भी कहे जाते हैं) के आधार पर खींचा जाता है।
- प्राक्-अवस्था के समाजों में सत्ता संबंध न के बराबर थे और लिंग आधारित भेदभाव का अस्तित्व नहीं ही रहा होगा। इस संदर्भ में, नृशास्त्रियों के साथ-साथ इतिहासकार गर्डा लर्नर का कार्य भी उपयोगी है।
- शिकार-संग्रह वाले समाज में स्त्री की प्रजनन क्षमता काफी मूल्यवान मानी जाती थी। कारण, समुदाय का अस्तित्व इसी पर निर्भर था। कठोतियास, भीमबेटका और खखई (सभी मध्य भारत में) से प्राप्त प्रागैतिहासिक चित्रों में स्त्री की यौनिकता को उसके अस्तित्व का अभिन्न अंग माना गया है।

नोट

- ऋग्वैदिक काल भारतीय इतिहास में सबसे ज्यादा विवादास्पद है। 19वीं सदी के हिंदू राष्ट्रवादियों ने इस अवधि को काफी महिमामंडित किया। उनमें से अधिकांश उभर रहे शिक्षित मध्य वर्ग (अमूमन ऊंची जाति से ही) के पुरुष थे। 19वीं सदी में कुछ परिस्थितियों की वजह से ये राष्ट्रवादी वैदिक युग के महिमामंडन की और उन्मुख हुए थे।
- 19वीं सदी में स्त्री की बुरी स्थिति को ब्रिटिशों ने भारतीय असभ्यता का प्रबल सबूत माना था। इसी की प्रतिक्रिया में राष्ट्रवादियों ने वैदिक समाज को 'स्त्री की स्थिति' के संदर्भ में स्वर्ण युग कहना शुरू कर दिया। लेकिन कभी भी इस अवधि का गंभीर ऐतिहासिक विश्लेषण करने का कोई प्रयास नहीं किया गया।
- शतपथ ब्राह्मण में पुरुष के प्रत्यक्ष नियंत्रण (खासकर पति) में जो स्त्री नहीं है उसकी यौनिकता को लेकर भय सा व्यक्त किया गया है। भय इस बात का कि 'पत्नी पराए मर्द के पास जा सकती है'। साथ ही राजा द्वारा विवाह संबंध के भीतर 'यौन संबंध के व्यवस्थित बने रहने' की जिम्मेदारी लेने की बात की गई है।
- छटी सदी ईसा पूर्व तक आते-आते गंगा की घाटी में कई स्तरों पर, चाहे वह कृषि हो, व्यापार हो, शहरीकरण हो या राज्य का स्वरूप हो, बड़े बदलाव होते देखने को मिलते हैं। 600 ईसा पूर्व से 300 ईसा पूर्व के बीच की अवधि के जो साक्ष्य बौद्ध और जैन ग्रंथों में मिलते हैं वे उपरोक्त बदलाव की वजह से वर्ग, जाति और लिंग आधारित स्तरीकरणों पर हुए प्रभावों के विस्तृत चित्रण समेटे हुए होने की वजह से काफी महत्वपूर्ण हैं।
- यहां जो बात ध्यान देने लायक है वह यह कि समाज में केवल दो वर्ग थे, उच्च और निम्न। ब्राह्मणवादी व्यवस्था की भांति जटिल विभाजन नहीं था। बुद्ध के एक (विशेष) बयान में स्तरीकरण की व्यवस्था में क्षेत्रीय विविधता की हकीकत का पता चलता है। पेशों की सूची से पता चलता है कि कोई भी पेशा खानदानी नहीं था। लेखन, हिसाब-किताब, सेना जैसे कई पेशे थे जो चुनाव के लिए खुले हुए थे।
- तो जहां तक वर्ग और जाति का प्रश्न है, बौद्ध ग्रंथों में चित्रित स्तरीकरण वास्तविक उत्पादन संबंधों के नजदीक ठहरते हैं। इसके साथ ही, ये जाहिर करते हैं कि जन्मजात श्रेष्ठता की वजह से कुछ वर्ण नैयायिक विशेषाधिकारों के हकदार हैं, इस धारणा को स्पष्ट चुनौती मिल रही थी।
- कई इतिहासकार ब्राह्मणवाद और ब्राह्मणवादी सामाजिक संबंधों का विकास काल गुप्तों के उत्थान (300 ई. के आसपास) से लेकर बाद तक कुछ सदियां में देखते हैं। पांचवीं सदी तक आते-आते जाति व्यवस्था में अस्पृश्यता का समावेश हो चुका था (जिसे चीनी यात्री फाह्यान ने भी दर्ज किया है) और वह फैलती जाति व्यवस्था का हिस्सा बन चुकी थी।
- नगरीय अथवा नागरिक समुदाय के अध्ययन में सर्वप्रथम कठिनाई शब्द 'नगरीय' की परिभाषा-सम्बन्धी है। इस कठिनाई का कारण यह है कि 'समुदाय' शब्द को दशा–एक भौतिक, दूसरी, सामाजिक को निर्दिष्ट करता है। भौतिक दशा, आवश्यक नहीं, सामाजिक दशा को जन्म दे। साधारण तौर पर, नगरीय क्षेत्र से हमारा तात्पर्य घनी जनसंख्या वाले क्षेत्र से होता है।
- सामाजिक अवस्था पर विचार करते समय कहा जा सकता है कि नगर एक जीवन-पद्धति है। शब्द 'urbane' जीवन की इस पद्धति को सूचित करता है। यह फैशनेबिल जीवन, वस्तुओं एवं व्यक्तियों की विस्तृत जानकारी एवं वाणी के राजनीतिक ढंग को इंगित करता है।
- सोरोकीन एवं जिमरमैन (Sorokin and Zimerman) ने व्यवसाय को इस विभेदी का मापदंड बनाया। उनके अनुसार ग्रामीण समुदाय का मुख्य व्यवसाय पशुपालन एवं कृषि है जबकि नगरीय जनता विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में संलग्न होती है। इन लेखकों ने विभेदी के अन्य आधारों का भी वर्णन किया यथा आकार, घनत्व, विविधता, सामाजिक विभेद, एवं स्तरीकरण, गतिशीलता, पर्यावरण एवं अंतर्क्रिया की विधियाँ, परन्तु उनके अनुसार यह विशेषताएँ कारणात्मक रूप से सम्बद्ध हैं।
- आकार, घनत्व, विविधता एवं व्यवसाय के तत्व स्थान-स्थान पर एवं समय-समय पर मात्रात्मक अंतर ही दर्शाते हैं। ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों के मध्य पूर्ण एवं निरपेक्ष विभाजन वर्तमान नहीं होते, अतएव हमें यह स्वीकार करना होगा कि ग्रामीण एव नगरीय समुदाय ध्रुवीय प्रकार है एवं उन्हें तथाकथित continuum जो ध्रुव के एक छोर से दूसरे तक विस्तरित है, के ऊपर अनेक बिंदुओं पर देखा जा सकता है।

नोट

## 5.4 शब्दकोश (Keywords)

- **संश्लिष्ट** : लिप्त, जुड़ा हुआ।
- **विषमांगीं** : विषम अंग।
- **बरअक्स** : विपरीत।

## 5.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. जाति, वर्ग एवं लिंग के स्तरीकरण की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. सामाजिक परिवर्तन और जाति व्यवस्था के प्रसार का विवेचन कीजिए।
3. नगरीय एवं औद्योगिक व्यवस्था में स्तरीकरण की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
4. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–
   (*i*) धर्मशास्त्र
   (*ii*) नगरीय समुदाय की विशेषताएँ।

### उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessement)

**1.** 1. (क) 2. (ग) 3. (ग) 4. (ग) 5. (क)
6. (ग)

**2.** 1. जीवन-पद्धति 2. सोरोकीन एवं जिमरमेने 3. 1800
4. व्यापार एवं वाणिज्य 5. अनमानकता।

## 5.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. ए. आर. देसाई; *सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म*; पॉपुलर बुक डिपो बॉम्बे।
2. दीपांकर गुप्ता; 2008 "*सोशल स्ट्रैटिफिकेशन*" इन वीना दास ऑक्सफोर्ड हैंडबुक ऑफ इंडियन सोशियोलॉजी; ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

नोट

# इकाई–6: जाति (Caste)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

6.1 जाति की अवधारणा एवं विशेषताएँ (Concept and Features of Caste system)

6.2 जाति व्यवस्था स्तरीकरण की व्यवस्था के रूप में (Caste System as a System of Stratification)

6.3 सारांश (Summary)

6.4 शब्दकोश (Keywords)

6.5 अभ्यास–प्रश्न (Review Questions)

6.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- जाति की अवधारणा एवं विशेषताओं को सफलतापूर्वक समझने में।
- जाति व्यवस्था की स्तरीकरण व्यवस्था के रूप में व्याख्या करने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

भारत में सामाजिक स्तरीकरण का एक विशेष रूप पाया जाता है, जिसे जाति-व्यवस्था कहा जाता है। यद्यपि संसार के अनेक भागों, यथा **मसाई** (Massai), पोलिनेशियन (Polynesians), बर्मा एवं अमेरिका में जाति-व्यवस्था के प्रमाण मिलते हैं, तथापि भारत जाति-व्यवस्था का सबसे पूर्ण उदाहरण हैं। यहाँ हमें एक ऐसा सामाजिक संगठन मिलता है, जो अनेक तल्लों से निर्मित अपने किसी शिवालय की भांति विशद्, परन्तु कहीं अधिक जटिल है।

## 6.1 जाति की अवधारणा एवं विशेषताएँ (Concept and Features of Caste System)

अंग्रेजी भाषा का शब्द 'caste' स्पेनिश शब्द 'casta' से लिया गया है। 'कास्टा' शब्द का अर्थ है 'नस्ल, प्रजाति अथवा आनुवंशिक तत्वों या गुणों का संग्रह'। पुर्तगालियों ने इस शब्द का प्रयोग भारत के उन लोगों के लिए किया, जिन्हें 'जाति' के नाम से पुकारा जाता है। अंग्रेजी शब्द 'caste' मौलिक शब्द का ही समंजन है।

**विभिन्न परिभाषाएँ** (Various definitions)–'जाति' शब्द की विभिन्न परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं–

1. "जाति परिवारों का संग्रह अथवा समूह है जो एक ही पूर्वज, जो काल्पनिक मानव या देवता हो, से वंश-परंपरा बताते हैं और एक ही व्यवसाय करते हों और उन लोगों के मत में या इसके योग्य हों, एक सजाति समुदाय माना जाता हो।" –**रिजले**

नोट

2. "जाति एक अनमनीय सामाजिक वर्ग है, जिसमें मनुष्यों का जन्म होता है और जिसे वे बड़ी कठिनाई से ही छोड़ सकते हैं।" **–लुंडबर्ग**
3. "जाति एक अन्तर्विवाही समूह या समूहों का संकलन है, जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसकी सदस्यता पैतृक होती है और जो अपने सदस्यों पर सामाजिक सहवास के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्ध लगाती है। जो एक परम्परागत सामान्य पेशे को करती है या एक सामान्यतया एक सजातीय समुदाय को बनाने वाली समझी जाती है।" **–ब्लंट**
4. "जब वर्ग पूर्णतया आनुवंशिकता पर आधारित होता है, तो हम उसे जाति कहते हैं।" **–कूले**
5. "जब प्रस्थिति पूर्णतया पूर्वनिश्चित हो, ताकि मनुष्य बिना किसी परिवर्तन की आशा के अपना भाग्य लेकर उत्पन्न होते हैं, तब वर्ग जाति का रूप धारण कर लेता है।" **–मैकाइवर**
6. "जाति दो विशेषताएँ रखने वाला एक सामाजिक समूह है–(क) सदस्यता उन्हीं तक सीमित होती है, (ख) सदस्यों को एक अनुल्लंघनीय सामाजिक नियम द्वारा समूह के बाहर विवाह करने से रोक दिया जाता है।"[7] **–केतकर**
7. "जाति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है, जिनके कर्तव्यों तथा विशेषाधिकारों का हिस्सा जन्म से निश्चित होता है, जो कि जादू या धर्म दोनों से समर्थित तथा स्वीकृत होता है।" **–मार्टिन्डेल और मोनोकेसी**
8. "जाति अन्तर्विवाही समूह या ऐसे समूहों का संकलन है, जिनका एक सामान्य नाम होता है, जिनका परम्परागत व्यवसाय होता है, जो अपने को एक ही मूल से उद्भूत मानते हैं और जिन्हें साधारणतया एक ही सजातीय समुदाय का अंग समझा जाता है।" **–ई. ए. गेट**
9. "जाति स्तरीकरण की ऐसी व्यवस्था है, जिसमें प्रस्थिति की सीढ़ी पर ऊपर या नीचे की ओर गतिशीलता, कम-से-कम आदर्शात्मक रूप में नहीं पायी जाती।" **–ग्रीन**
10. "जाति सामाजिक वर्गीय संरचना का वह कठोर रूप है, जिसमें व्यक्तियों का पद, प्रस्थिति-क्रम में, जन्म अथवा आनुवंशिकता द्वारा निर्धारित होता है।" **–एंडरसन**

इस प्रकार, विचारकों ने जाति की परिभाषा विभिन्न ढंग से की है। परन्तु जैसा **घुरये** (Ghurye) ने लिखा है, "इन विद्वानों के परिश्रम के बावजूद भी जाति की कोई वास्तविक सामान्य परिभाषा उपलब्ध नहीं है।"[12] जाति के अर्थ को समझने का सर्वोत्तम ढंग जाति-व्यवस्था में अन्तर्भूत विभिन्न तत्वों को जान लेना है।

मेगस्थनीज, ईसापूर्व तीसरी शताब्दी के चीनी यात्री, ने जाति-व्यवस्था के दो लक्षण बतलाए थे। वह लिखता है, "इसे अन्य जाति के व्यक्ति के साथ विवाह करने की अनुमति नहीं होती है, न ही एक व्यवसाय या व्यापार को छोड़कर दूसरा व्यवसाय या व्यापार, तथा न ही एक व्यक्ति को एक से अधिक व्यवसाय करने की अनुमति होती है, सिवाय दार्शनिक जाति के सदस्य को, जिसे उसकी प्रतिष्ठा के कारण ऐसा करने की अनुमति दे दी जाती है।"[13] इस प्रकार, मेगस्थनीज के अनुसार जाति-व्यवस्था के दो तत्व हैं–(क) अन्तर्विवाह की मनाही, तथा (ख) व्यवसाय को नहीं बदला जा सकता। मेगस्थनीज का विचार यद्यपि जाति-व्यवस्था के दो प्रमुख लक्षणों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है, तथापि यह इस व्यवस्था का संपूर्ण चित्र प्रस्तुत नहीं करता। जाति-व्यवस्था का सम्पूर्ण विचार प्राप्त करने के लिए इसकी निम्नलिखित विशेषताओं का वर्णन किया जा सकता है–

1. **समाज का खंडात्मक विभाजन** (Segmental division of society)–जाति-व्यवस्था के अंतर्गत समाज के अनेक जातियों में विभक्त होता है। प्रत्येक जाति का अपना जीवन होता है, जिसकी सदस्यता जन्म के आधार पर निर्धारित होती है। व्यक्ति की प्रस्थिति उसके धन पर नहीं, अपितु उस जाति के परम्परागत महत्त्व पर निर्भर करती है, जिसमें उसे जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। जाति आनुवंशिक होती है। धन, पश्चाताप अथवा प्रार्थना की कोई माया उसकी जाति-स्थिति को नहीं बदल सकती। प्रस्थिति का निर्धारण व्यवसाय से नहीं, अपितु जन्म से होता है। **मैकाइवर** (MacIver) ने लिखा है, "पूर्वी सभ्यता में वर्ग एवं प्रस्थिति का मुख्य निर्णायक तत्व जन्म हैतो पाश्चात्य सभ्यता में धन के निर्धारक तत्व के रूप में समान

नोट

अथवा अधिक महत्त्व है तथा धन जाति की अपेक्षा कम अनमनीय तत्व है।" जाति के विभिन्न सदस्यों के व्यवहार को नियमित एवं नियंत्रित करने हेतु जाति-परिषदें होती हैं। यह परिषद् संपूर्ण जाति पर शासन करती है तथा सर्वाधिक शक्तिशाली संगठन होती है जो सभी सदस्यों को उनके उचित स्थानों पर रखती है। जाति की शासक संस्था को पंचायत कहा जाता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है पाँच सदस्यों की संस्था, परन्तु वास्तव में इस संस्था में अधिक व्यक्ति भी निर्णय के समय इकट्ठे हो सकते थे। यह जाति वर्जनाओं के विरुद्ध दोषों का निर्णय करती थी। इन वर्जनाओं में अधिकांशत: ऐसी बातें हुआ करती थीं जो दूसरी जाति के सदस्यों के साथ, खाने, पीने, हुक्का पीने तथा यौन सम्बन्धी बातें, जिनमें जाति से बाहर विवाह मना था, से सम्बन्धित थीं। यह दीवानी एवं फौजदारी मामलों का निर्णय करती थी। पंचायत इतनी अधिक शक्तिशाली होती थी कि यह अंग्रेजी शासन-काल में सरकारी न्यायालयों के द्वारा निर्णीत मुकदमों का पुन: निर्णय किया करती थी। इसके द्वारा दिए गए मुख्य दंड–(क) जुर्माना, (ख) अपने सजातियों को प्रीतिभोज, (ग) शारीरिक दंड, (घ) धार्मिक पवित्रता, यथा गंगा-स्नान आदि एवं (ङ) जाति बहिष्कार आदि हुआ करते थे।

यद्यपि आधुनिक समय में न्यायालयों के विस्तार एवं जाति पंचायत के स्थान पर ग्राम पंचायत की प्रतिस्थापना से जाति पंचायत की सत्ता कुछ कम हो गई है, तथापि अब भी जाति अपने सदस्यों के व्यवहार का नियंत्रित एवं प्रभावित करती है।

*नोट्स* जाति स्वयं अपनी शासक होती है। इसका अपना छोटा एवं पूर्ण सामाजिक संसार होता है। यह अर्द्ध-प्रभु संस्था, अन्तर्मुखी एवं दूसरी जातियों से विलग तथापि विशालतर एवं व्यापक समाज का भाग होती है।

2. **सामाजिक एवं धार्मिक सोपान** (Social and religious hierarchy)–जाति-व्यवस्था का दूसरा महत्त्वपूर्ण लक्षण यह है कि इसमें सामाजिक श्रेष्ठता का एक सुनिश्चित क्रम होता है। प्रत्येक जाति का एक परम्परागत नाम, यथा वैश्य, ब्राह्मण आदि होता है, जो इसे दूसरी जातियों से विलग कर देता है। संपूर्ण समाज विभिन्न जातियों मं विभाजित होता है, जिनमें उच्च तथा निम्न का विचार होता है। इस प्रकार, भारत में सामाजिक सोपान के उच्चतम शिखर पर ब्राह्मणों का स्थान है। **मनु** के अनुसार, "ब्राह्मण सारी सृष्टि का राजन है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति ब्रह्मा के सबसे पवित्र अंग 'मुख' से हुई है। ब्राह्मण के रूप में जन्म मात्र से कोई भी व्यक्ति सनातन नियम का साकार रूप समझा जाता है। ब्राह्मणों को भोजन कराना धार्मिक पुण्य प्राप्त करने का एक मान्य ढंग है। ब्राह्मण का सृष्टि की प्रत्येक वस्तु पर अधिकार है। सारा संसार इसकी सम्पत्ति है तथा दूसरे लोग उसकी कृपा पर जीवित हैं।" इस संबंध में विष्णु मनु से भी आगे हैं। वह लिखता है, "देव तो अदृश्य देवता है; ब्राह्मणों के सहारे संसार खड़ा है; ब्राह्मणों की कृपा से ही देव स्वर्ग में निश्चित होकर आराम करते हैं; ब्राह्मण का कोई शब्द कभी गलत सिद्ध नहीं होता। ब्राह्मण प्रसन्न होकर जो कुछ कह दें, देव उसका अनुसमर्थन कर देंगे; जब दृश्य देव प्रसन्न हैं तो अदृश्य देव भी निश्चित रूप से प्रसन्न होंगे।"

ब्राह्मणों की इस उच्च स्थिति के मुकाबले में शूद्रों की स्थिति पूर्णतया हीन थी। वे सार्वजनिक मार्गों, कूपों, विद्यालयों, मंदिरों आदि का उपयोग नहीं कर सकते थे। दासता शूद्रों की स्थायी स्थिति थी। प्रथम तीन जातियों के सदस्य को शूद्र के साथ यात्रा नहीं करनी चाहिए। उनके स्पर्श मात्र से बिस्तर अथवा आसन दूषित हो जाता है। कुछ अपराधों के लिए शूद्रों को कठोर दंड दिया जाता था। इस प्रकार, **कौटिल्य** के अनुसार, "यदि कोई शूद्र ब्राह्मण स्त्री की पवित्रता को भंग करता है तो उसे जीवित जला दिया जाएगा। यदि वह किसी ब्राह्मण को गाली देता है अथवा उस पर आक्रमण करता है तो उसे उसके दोषी अंग को काट दिया जाएगा।

नोट

3. **भोजन एवं सामाजिक समागम पर प्रतिबन्ध** (Restrictions on feeding and social intercourse)– जाति-व्यवस्था का एक अन्य तत्व यह भी है कि उच्च जातियाँ अपनी रस्मी पवित्रता की सुरक्षा हेतु अनेक जटिल वर्जनाएँ लगा देती हैं। प्रत्येक जाति अपनी उपसंस्कृति का विकास कर लेती है। इस प्रकार, भोजन एवं सामाजिक समागम पर अनेक प्रतिबन्ध होते हैं। किस जाति के सदस्य से कि प्रकार का भोजन स्वीकार किया जा सकता है, इस विषय पर विस्तृत नियम निर्धारित कर दिये जाते हैं। उदाहरणतया, ब्राह्मण किसी भी जाति से घी में पका हुआ भोजन तो स्वीकार कर सकता है, परन्तु वह किसी अन्य जाति से 'कच्चा' भोजन स्वीकार नहीं कर सकता।

   उच्च जातियों द्वारा प्रतिपादित 'दूषण' का सिद्धान्त सामाजिक समागम पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगा देता है। इस प्रकार, दूरी के बारे में प्रतिबन्ध हैं। केरल में नायर को नम्बूदरी ब्राह्मण के निकट आने की आज्ञा तो है, परन्तु वह उसे छू नहीं सकता; तियान (Tiyan) के लिए यह आदेश है था कि वह ब्राह्मण से छत्तीस कदम दूर रहे, जबकि पुलयान (Pulayan) छियानवे कदम दूर रहता था। पुलयान को किसी भी हिन्दू जाति के निकट नहीं आना चाहिए। यदि निम्न जाति के लोग कूपों से पानी लेंगे तो कुएँ भी दूषित हो जाएँगे। जाति के नियम इतने कठोर थे कि ब्राह्मण शूद्र के अहाते में स्नान भी नहीं कर सकता था। "ब्राह्मण वैद्य शूद्र रोगी की नब्ज देखते समय उसका हाथ नहीं छूता था, बल्कि वह उसकी कलाई पर रेशमी वस्त्र बाँधकर नब्ज देखता था, ताकि वह उसके चर्म को छूकर दूषित न हो जाए।"[16]

4. **अन्तर्विवाह** (Endogamy)–व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता था, वह आजीवन उसी जाति में रहता था। प्रत्येक जाति उपजातियों में विभक्त थी, और प्रत्येक उपजाति का यह विधान था कि वह अपने सदस्यों को अपनी उपजाति में ही विवाह की अनुमति दे। इस प्रकार प्रत्येक उपजाति अन्तर्विवाही समूह होता है, "अन्तर्विवाह जाति-व्यवस्था का सार है।" अन्तर्विवाह के नियम केवल कुछेक ही अपवाद हैं, जो अनुलोम (hypergamy) की प्रथा के कारण हैं। परन्तु प्रतिलोम विवाह (hypergamy) सहन नहीं किए जाते थे। अनुलोम के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही उपजाति में विवाह करना होता है। इस नियम का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को जाति से निष्काषित कर दिया जाता है।

5. **व्यवसाय के चयन पर प्रतिबन्ध** (Lack of unrestricted choice of occupation)–जाति-विशेष के सदस्यों से उसी जाति के व्यवसाय को अपनाने की आशा की जाती है। वे दूसरे व्यवसाय को नहीं अपना सकते थे। वंशानुगत व्यवसाय को त्यागना ठीक नहीं समझा जाता था। कोई जाति अपने सदस्यों को यह अनुमति नहीं देती थी कि वे मदिरा निकालने अथवा सफाई करने का अपवित्र पेशा अपनाएँ। ऐसा प्रतिबन्ध न केवल अपनी जाति की ओर से था, परन्तु दूसरी जाति के लोग भी इसे ठीक नहीं समझते थे कि अन्य जाति के लोग उनके पेशे को अपनाएँ। जो व्यक्ति ब्राह्मण के घर में उत्पन्न न हुआ हो, उसे पुरोहित का कार्य करने की अनुमति नहीं थी। परन्तु अभिलेखों से पता चलता है कि ब्राह्मण सभी प्रकार के कार्य किया करते थे। मराठा आंदोलन के दौरान एवं उसके उपरांत वे सैनिक बने। अकबर के शासनकाल में वे व्यापारी तथा खेतिहर बने। आजकल भी भले ही ब्राह्मण विभिन्न प्रकार के व्यवसाय करते हैं, तथापि पुरोहिताई केवल ब्राह्मणों का ही व्यवसाय है। इसी प्रकार आजकल क्षत्रिय एवं वैश्य अपने मूल व्यवसाय के अतिरिक्त भले ही अन्य कई व्यवसाय करते हैं, तथापि वे अधिकांशत: अपने मूल व्यवसाय में ही संलग्न हैं। थोड़े-बहुत अपवादों को छोड़कर प्रत्येक व्यवसाय प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति के लिए खुला हुआ है। **बेन्ज** (Baines) ने लिखा है, "जाति का व्यवसाय परम्परागत है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उस जाति के सभी सदस्य अपनी आजीविका उसी व्यवसाय से कमाते हैं।"[18]

6. **सिविल एवं धार्मिक अक्षमताएँ** (Civil and religious desabilities)–साधारणतया अशुद्ध जातियों को नगर की बाहरी सीमा पर रखा जाता है। दक्षिणी भारत में नगर अथवा ग्राम के कुछेक भागों में छोटी जातियों के लोग नहीं रह सकते। ऐसा उल्लिखित है कि मराठों और पेशवाओं के शासन-काल में पूना नगर के अन्दर तीन बजे दोपहर से नौ बजे प्रात:काल तक महार और मंग जातियों के सदस्यों को आने की अनुमति

नोट

नहीं थी, क्योंकि उक्त समय में उनकी परछाई इतनी बड़ी होती थी कि दूर बैठा उच्च जाति का व्यक्ति भी अपवित्र हो सकता था। सारे भारत में शूद्र जाति के लोगों को उन कुओं से पानी भरने की आज्ञा नहीं थी, जहाँ से उच्च जाति वाले लोग पानी भरते थे। पब्लिक स्कूलों में चमार एवं महार जाति के बच्चों को प्रवेश नहीं मिलता था। शूद्र लोग वेदादि का अध्ययन नहीं कर सकते थे। स्वामी माधवराव के काल में पेशवा सरकार ने यह नियम बनाया था कि चूंकि महार अतिशूद्र हैं, अतएव ब्राह्मण उनके विवाह संस्कार सम्पन्न न करवाएँ। शूद्र मन्दिरों में प्रवेश नहीं कर सकते थे। ब्राह्मण को मृत्यु-दण्ड नहीं दिया जा सकता था। कैद की स्थिति में उसके साथ दूसरों की अपेक्षा उदार व्यवहार किया जाता था।

### 6.1.1 वर्ग एवं जाति में अन्तर

ऊपर हमने जाति-व्यवस्था के लक्षणों का वर्णन किया है, जो साधारणतया वर्ग की अवधारणा में नहीं पाए जाते। जाति तथा वर्ग के बीच अन्तर को स्पष्ट करते हुए **मैकाइवर** (MacIver) ने लिखा है, "जबकि पूर्वी सभ्यताओं के वर्ग एवं प्रस्थिति का मुख्य निर्धारक जन था, पाश्चात्य सभ्यताओं में धन समान अथवा अधिक महत्वपूर्ण वर्ग-निर्धारक तत्व है। धन जन्म की अपेक्षा कम अनमनीय निर्धारक है; यह अधिक स्थूल है, अत: इसके दावों को अधिक सुगमता से चुनौती दी जाती है। यह 'मात्रा' का विषय है। इसमें 'प्रकार' के अन्तर उत्पन्न नहीं होते। ये अन्तर पृथक्करणीय, हस्तांतरणीय एवं उपार्जनीय होते हैं। इसमें भेद की ऐसी स्थायी रेखा नहीं होती जैसी जन्म का तत्व खींच देता है।"[19] वर्ग का जाति से अन्तर स्पष्ट करते हुए **आगबर्न एवं निमकाफ** ने लिखा है, "कुछ समाजों में व्यक्तियों के लिए सामाजिक श्रृंखला में ऊपर या नीचे जाना असामान्य नहीं है। जहाँ ऐसा सम्भव है, वह समाज 'उन्मुक्त' (open) वर्गों का समाज होता है। दूसरे समाजों में ऐसा उतार-चढ़ाव कम होता है, व्यक्ति उसी वर्ग में आजीवन रहते हैं जिनमें उनका जन्म होता है। ऐसे वर्ग 'बन्द' (closed) वर्ग होते हैं और यदि इनके बीच अति विभेद किया जाए तो जाति-व्यवस्था का निर्माण हो जाता है।"[20] जब वर्ग आनुवंशिक बन जाता है तो उसे, कूले के अनुसार, जाति कहते हैं।

वर्ग तथा जाति में अन्तर की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं–

1. **उन्मुक्त बनाम-बन्द** (Open vs. closed)–वर्ग जाति की अपेक्षा अधिक उन्मुक्त होता है। **हिलर** (Hiller) ने लिखा है, "वर्ग व्यवस्था उन्मुक्त व्यवस्था होती है। यदि संस्तरीकरण में उदग्र गतिशीलता (vertical mobility) बंद होती है तो यह वर्ग-व्यवस्था न रहकर जाति-व्यवस्था बन जाती है।"[21] चूँकि वर्ग उन्मुक्त और नमनीय होता है सामाजिक गतिशीलता सुगम होती है। मानव अपने उद्यम एवं परिश्रम से अपना वर्ग बदल सकता है तथा उच्च सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त कर सकता है। यदि कोई मनुष्य मजदूर वर्ग में जन्म लेता है तो उसके लिए आजीवन उस वर्ग में रहना तथा उसी में मृत्यु को पा जाना आवश्यक नहीं है। वह जीवन में सफलता एवं धन के लिए प्रयास करता है, तथा सम्पत्ति से अपनी प्रस्थिति को बदल सकता है। जाति-व्यवस्था में अपनी जाति-प्रस्थिति को बदलना असम्भव है। एक बार मनुष्य का जन्म जिस जाति में हो जाता है, वह आजीवन उसी में रहता है तथा उसके बच्चों का भाग्य भी यही होता है। इस प्रकार, जाति एक बन्द वर्ग है। व्यक्ति का सामाजिक पद उसकी जाति के पद से निर्धारित होता है, उसकी अपनी उपलब्धि का इस पद पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दूसरी ओर, वर्ग की सदस्यता वंशानुगत आधार पर निर्भर नहीं होती, अपितु व्यक्ति की सांसारिक उपलब्धियों पर निर्भर करती है। इस प्रकार, वर्ग-व्यवस्था उन्मुक्त एवं नमनीय व्यवस्था होती है, जबकि जाति-व्यवस्था बन्द एवं अनमनीय होती है।
2. **दैविक-बनाम-धर्मनिरपेक्ष** (Divine vs. secular)–दूसरे, जाति-व्यवस्था को दैविक विधान समझा जाता है। **मैकाइवर** ने लिखा है, "यदि कठोर धार्मिक आग्रह नहीं होते तो जाति के निश्चित सीमांकन का निर्वाह नहीं किया जा सकता था। जाति को अपनी अलौकिक उत्पत्ति की व्याख्या के साथ धार्मिक विश्वास जाति-व्यवस्था की स्थिति के लिए अपरिहार्य है। विजय के पारिणामिक रूप में दासता अथवा अधीनता से हिन्दू जाति-रचना उद्भूत हुई होगी और शायद अन्तर्विवाही समुदाय को दूसरे समुदाय के अधीन करने के द्वारा प्रजाति की शक्ति, प्रतिष्ठा तथा गर्व द्वारा समूहों के सामाजिक पृथक्करण के साथ जाति-प्रथा उत्पन्न

नोट

हुई होगी। वास्तव में ये समूह स्पष्ट सामाजिक चिह्नों से अलग नहीं किए गए हैं, परन्तु उनका पृथक्करण परिणामिक स्थिति के बुद्धिकरण से हुआ है और धार्मिक सदस्यों से वे 'अमर' बनाए गए हैं।"[22] प्रत्येक व्यक्ति का यह धार्मिक दायित्व है कि वह अपने धर्मानुसार अपने जाति-सम्बन्धी कर्त्तव्यों को पूरा करे। भगवद्गीता में ईश्वर ने चारों जातियों के कार्यों एवं कर्त्तव्यों को निर्धारित कर दिया है। व्यक्ति को अपनी जाति के कर्त्तव्यों को पूरा करना चाहिए, अन्यथा उसका पुनर्जन्म निम्न जाति में होगा, तथा उसे मोक्ष-प्राप्ति नहीं होगी। निम्न जाति के लोग यदि अपने कर्त्तव्यों को पूरा करते हैं तो उनका अगला जन्म उच्च जाति में होगा। यदि धर्म ने जाति-व्यवस्था को पवित्र एवं अनुल्लंघनीय न बना दिया होता तो भारत में यह इतनी शताब्दियों तक जीवित न रहती। दूसरी ओर, समाज के वर्गीय स्तरीकरण में दैवीय उत्पत्ति का कोई प्रश्न नहीं है। वर्गों की उत्पत्ति धर्मनिरपेक्ष है। उनका आधार धार्मिक विश्वास नहीं है।

3. **अन्तर्विवाही** (Endogamous)–तीसरे, जाति-व्यवस्था में विवाह-साथियों का चयन जाति के अन्दर ही होता है। सदस्यों को अपनी जाति के अन्दर ही विवाह करना होता है। जाति से बाहर विवाह करने वाले व्यक्ति को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। वर्ग-व्यवस्था में ऐसे कोई प्रतिबन्ध नहीं होते। धनी व्यक्ति निर्धन कन्या से बिना जाति बहिष्कृत हुए विवाह कर सकता है। शिक्षित कन्या अशिक्षित व्यक्ति से शिक्षकों के वर्ग से बाहर निकाले गए बिना विवाह कर सकती है।
4. **वर्ग चेतना** (Class consciousness)–चतुर्थ, वर्ग का निर्माण करने हेतु वर्ग-चेतना आवश्यक तत्व है, परन्तु जाति के सदस्यों में ऐसी किसी आत्मपरक चेतना की अनिवार्यता नहीं है।
5. **प्रतिष्ठा** (Prestige)–पाँचवें, विभिन्न जातियों की सापेक्ष सामाजिक प्रतिष्ठा सुनिर्धारित है, परन्तु वर्ग-व्यवस्था में प्रतिष्ठा का कोई अनमनीय निर्धारित क्रम नहीं होता।

अभी हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय ने मंडल विवाद में अपना निर्णय देते हुये जाति को पिछड़े वर्ग का निर्धारक घोषित किया है एवं तथाकथित अग्रिम जातियों के व्यक्तियों चाहे वह शैक्षिक अथवा आर्थिक रूप में कितने ही पिछड़े हुये हों, को पिछड़े वर्गों की परिभाषा में सम्मिलित नहीं किया है। इस प्रकार, न्यायालय के निर्णय अनुसार, जाति एवं वर्ग समानार्थक हो गये हैं।

### 6.1.2 जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति

जाति-व्यवस्था की ठीक उत्पत्ति की खोज नहीं की जा सकती। इस व्यवस्था का जन्म भारत में हुआ, ऐसा कहा जाता है। भारत-आर्य संस्कृति के अभिलेखों में इसका सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है तथा उन तत्वों का निरन्तर इतिहास भी मिलता है, जिनसे जाति-व्यवस्था का निर्माण हुआ। जिन लोगों को भारत-आर्य कहा जाता है, वे भाषाशास्त्रीय दृष्टि से एक बड़े परिवार भारत-यूरोपीय अथवा भारत-जर्मन से सम्बन्ध रखते हैं। उनमें ऐंग्लो-सैक्सन, कैल्ट (Celts), रोमन, स्पेनिश, पुर्तगीज और ईरानी आदि सम्मिलित हैं। इन लोगों का एक वर्ग, जो ईसापूर्व 2500 वर्ष भारत पहुँचा, भारत-आर्य कहलाया।

1. **प्रजातीय सिद्धान्त** (Racial theory)–**डॉ. मजूमदार** के अनुसार जाति-प्रथा का जन्म भारत में आर्यों के आगमन के पश्चात् हुआ। अपना पृथक् अस्तित्व बनाए रखने के लिए भारत-आर्यों के कुछेक व्यक्तियों के समूहों के लिए 'वर्ण' शब्द का प्रयोग किया। इस प्रकार उन्होंने 'दास वर्ण' शब्द को दास लोगों के लिए प्रयुक्त किया। ऋग्वेद में आय तथा दास के अन्तर को स्पष्ट रूप से बतलाया गया है। केवल रंग में ही नहीं, अपितु बोलचाल, धार्मिक प्रथाओं एवं शारीरिक लक्षणों में भी अन्तर था। ऋग्वेद में तीन वर्गों ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य का बहुधा वर्णन आता है। चौथे वर्ग 'शूद्र' का वर्णन केवल एक बार मिलता है। प्रथम दो वर्ग, अर्थात् ब्राह्मण एवं क्षत्रिय कवि-पुरोहित तथा योद्धा के दो व्यवसायों को क्रमशः प्रतिनिधित्व करते थे। वैश्य वर्ग में सभी सामान्य लोग थे। शूद्र वर्ग में घरेलू नौकर, जिनकी स्थिति दास-जैसी थी, शामिल थे। इन चारों वर्गों के परस्पर सम्बन्धों के बारे में ऋग्वेद में कोई विशिष्ट वर्णन नहीं है, तथापि ब्राह्मण को निश्चित रूप से क्षत्रिय से श्रेष्ठ बतलाया गया है।

नोट

2. **राजनीतिक सिद्धान्त** (Political theory)–इस सिद्धान्त के अनुसार जाति-व्यवस्था ब्राह्मणों द्वारा स्वयं को सामाजिक सोपान में उच्चतम स्तर पर रखने हेतु अविष्कृत चतुर युक्ति है। **डॉ. घुरये** (Ghurye) ने लिखा है, "जाति भारत-कार्य संस्कृति का ब्राह्मणिक बच्चा है, जिसका पालन गंगा के मैदान में हुआ, जो वहाँ से भारत के दूसरे भागों में हस्तांतरित किया गया।"[23] उत्तर-वैदिक युग' के ब्राह्मणीय साहित्य में कुछ संकर तथा बहिष्कृत जातियों का उल्लेख है। चार वर्णों में आर्य एवं शूद्र के अन्तर का द्विज एवं शूद्र के नाम से वर्णित किया गया है। प्रथम तीन वर्णों को 'द्विज' (दो बार जन्मा) कहा गया है क्योंकि उनका यज्ञोपवीत संस्कार होता है, जो पुनर्जन्म का द्योतक है। शूद्र को 'एक जाति' कहा गया। इसके बाद 'जाति' शब्द का प्रयोग 'वर्ण' के विभिन्न उपभागों के लिए किया गया। परन्तु इस अन्तर को कठोरतापूर्वक पालन नहीं किया गया। कभी-कभी 'जाति' शब्द का प्रयोग 'वर्ण' के लिए भी हुआ। ब्राह्मण युग में ब्राह्मणों की स्थिति में कई गुना वृद्धि हुई। निम्न तीन वर्गों को ब्राह्मण की शिक्षा के अनुसार जीवन व्यतीत करने का आदेश दिया गया। राजा को भी अपना आचरण उनकी शिक्षा के अनुसार नियमित करने के लिए कहा गया। ब्राह्मण की सर्वश्रेष्ठता ने उसको कानून-निर्माताओं से अनेक सामाजिक विशेषाधिकार दिलवा दिए। यह कथन कि 'शूद्र' को ईश्वर ने भी सभी का दास बनने के लिए उत्पन्न किया, बार-बार दोहराया गया तथा उसे 'पादज' (चरणों से उत्पन्न) कहा गया।

   जैसे-जैसे भारत में पुरोहित वर्ग का प्रभाव बढ़ता गया, रीति एवं आचरण के जटिल नियमों का निर्माण हुआ, जिन्हें धार्मिक पुस्तकों मं सम्मिलित किया गया। ब्राह्मणों ने अपने वर्ग को बन्द कर लिया तथा दूसरे वर्गों पर अपनी श्रेष्ठता बनाए रखने का प्रयत्न किया। यह ठीक है कि प्रारम्भ में अनमनीय प्रतिबन्ध नहीं थे, परन्तु धीरे-धीरे पृथकत्व की अवधारणा कठोर बनती गई। रीतिगत पवित्रता ने कालान्तर में उग्र रूप धारण कर लिया। पवित्र एवं अपवित्र वस्तुओं के बीच अन्तर किया जाने लगा। भोजन एवं पान की वस्तुओं पर प्रतिबन्ध लगाए गए। जब ब्राह्मणों ने अपने वर्ग को बन्द कर लिया तो स्वाभाविकतया अन्य वर्गों ने भी उनका अनुसरण किया।

3. **व्यावसायिक सिद्धान्त** (Occupational theory)–इस सिद्धान्त के अनुसार जाति-प्रथा का उद्गम लोगों के विभिन्न समूहों द्वारा किए गए सामाजिक कार्य के स्वरूप एवं गुण में खोजा जा सकता है। अच्छे एवं सम्मानित समझे जाने वाले व्यवसायों को करने वाले व्यक्ति, उन व्यक्तियों की अपेक्षा जो गन्दे व्यवसाय करते थे, उच्च समझे गए। **नैसफील्ड** (Nesfield) के अनुसार, "केवल व्यवसाय ही भारत में जाति-संरचना के उद्गम का कारण है। प्रकार्यात्मक विभेदीकरण ने व्यावसायिक विभेदीकरण को जन्म दिया तथा विभिन्न उपजातियों, यथा लोहार, सोनार, चमार, बढ़ई, पटवा, तेली, नाई, धोबी, तम्बोली, कहार, गड़रिया, माली आदि का जन्म हुआ।"

4. **परम्परागत सिद्धान्त** (Traditional theory)–इस सिद्धान्त के अनुसार, जाति-व्यवस्था का उद्गम दैवीय है। वैदिक साहित्य में कुछ ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिनमें कहा गया है कि जातियाँ ब्रह्मा, सर्वोच्च निर्माता, द्वारा निर्मित की गई, ताकि लोग समाज के अस्तित्व-हेतु विभिन्न सामाजिक कार्यों को समरसतापूर्वक पूरा करते रहें। **डॉ. मजूमदार** के अनुसार, "यदि हम वर्णों के दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त को समाज के प्रकार्यात्मक विभाजन की आलङ्कारिक व्याख्या मानें तो यह सिद्धान्त व्यावहारिक महत्व प्राप्त कर लेता है।"

5. **गिल्ड सिद्धान्त** (Guild theory)–**डेंजिल इब्बतसन** (Denzil Ibbetson) के अनुसार, जातियाँ गिल्डों का परिवर्तित रूप हैं। उसके विचार में जाति-व्यवस्था तीन तत्वों की अन्त:क्रिया की उपज है। ये तत्व हैं–1. जनजातियाँ, 2. गिल्ड, एवं 3. धर्म। जनजातियों ने कुछेक निश्चित व्यवसायों को अपनाया एवं गिल्डों का रूप धारण किया। प्राचीन भारत में पुरोहितों को बड़ा सम्मान प्राप्त था। वे आनुवंशिक एवं अन्तर्विवाही समूह थे। अन्य गिल्डों ने भी समान रीतियों को अपनाया, जो कालान्तर में जातियाँ बन गईं।

नोट

6. **धार्मिक सिद्धान्त** (Religious theory)–**होकार्ट** (Hocart) तथा **सेनार्ट** (Senart) इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक हैं। **होकार्ट** के अनुसार, सामाजिक स्तरीकरण की उत्पत्ति धार्मिक नियमों एवं रीति-रिवाजों के कारण हुई। प्राचीन भारत में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान था। राजा को ईश्वर का प्रतिबिम्ब समझा जाता था। पुरोहित राजा विभिन्न व्यावसायिक समूहों को विभिन्न पद प्रदान करते थे। सेनार्ट ने कड़े सांस्कारिक भोजन-सम्बन्धी वर्जनाओं के आधार पर जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। उसका विचार है कि भिन्न पारिवारिक कर्त्तव्यों के कारण सांस्कारिक भोजन के बारे में कुछेक प्रतिबन्धों का जन्म हुआ। किसी विशेष देवता के अनुयायी स्वयं को समान पूर्वज की संतान मानते थे, एवं अपने देवता को विशिष्ट प्रकार का भोजन श्रद्धांजलि के रूप में भेंट करते थे। समान देवता में विश्वास करने वाले लोग स्वयं को उन लोगों से भिन्न सकझते थे, जो अन्य किसी देवता के उपासक थे।

7. **विकासवादी सिद्धान्त** (Evolutionary theory)–इस सिद्धान्त के अनुसार, जाति-व्यवस्था का जन्म अचानक किसी एक नियत तिथि को नहीं हुआ। यह सामाजिक विकास की लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है। वर्तमान जाति-व्यवस्था के विकास में अनेक तत्वों ने योगदान दिया है। इन तत्वों में प्रमुख निम्नलिखित हैं–

   (*i*) आनुवंशिक व्यवसाय;

   (*ii*) ब्राह्मणों की स्वयं को पवित्र रखने की इच्छा;

   (*iii*) राज्य के कठोर एकात्मक नियन्त्रण का अभाव;

   (*iv*) कानून एवं प्रथा के क्षेत्र में समान नियमों को लागू करने के बारे में शासकों की अनिच्छा तथा विभिन्न समूहों के भिन्नात्मक रीति-रिवाजों को मान्यता प्रदान करने की तत्परता;

   (*v*) पुनर्जन्म एवं कर्म के सिद्धान्त में विश्वास;

   (*vi*) एकान्तिक परिवार, पूर्वजों की पूजा एवं सांस्कारिक भोजन-सम्बन्धी विचार;

   (*vii*) विरोधी संस्कृतियों विशेषतया पितृसत्तात्मक एवं मातृसत्तात्मक प्रणालियों का संघर्ष;

   (*viii*) प्रजातियों का संघर्ष, वर्ण-पूर्वाग्रह एवं विजय;

   (*ix*) विभिन्न विजेताओं, विशेषतया अंग्रेजों द्वारा अनुसरित विचारपूर्ण आर्थिक एवं प्रशासकीय नीतियाँ;

   (*x*) भारतीय द्वीप का भौगोलिक पृथकत्व;

   (*xi*) हिंदू समाज का गतिहीन स्वरूप;

   (*xii*) विदेशी आक्रमण;

   (*xiii*) ग्रामीण सामाजिक संरचना।

उपर्युक्त सभी तत्वों ने समय-समय पर तुच्छ आधारों पर छोटे-छोटे समूहों के निर्माण को प्रोत्साहित किया। धीरे-धीरे इन समूहों मं एकता एवं सामुदायिक भावना का विकास होता गया और ये समाज के स्थायी समूह बन गए। फिर भी यह ध्यान रहे कि जाति-व्यवस्था पर भारत का ही एकाधिकार नहीं है। यह संसार के अनेक भागों में थी और अब भी वर्तमान है। मध्ययुगीन यूरोप की सामन्ती व्यवस्था, जाति-व्यवस्था का ही एक अंग थी। कुछेक प्रजातीय समूह, यथा यहूदियों एवं हब्शियों को अमेरिका सहित अब भी अनेक सभ्य देशों में निम्न जाति का समझा जाता है। हिंदू जाति-व्यवस्था की विचित्र बात यह है कि इसमें कुछेक समूहों को अस्पृश्य एवं अगम्य समझा जाता है।

### 6.1.3 भारतीय जाति-व्यवस्था के गुण एवं दोष

समय-समय पर भारतीय जाति-व्यवस्था की विभिन्न लेखकों द्वारा आलोचना की गई है। समाज में जितनी बुराइयाँ हैं, उन सबके लिए जाति-व्यवस्था को दोषी ठहराया गया है। परन्तु एक मात्र यही तथ्य कि इतने आक्षेपों के बावजूद भी यह पहले की भाँति अभी तक चल रही है, इस बात का प्रमाण है कि यह व्यवस्था इतनी बुरी नहीं है, जितनी

नोट

समझी जाती है। ब्राह्मणों ने 2,000 वर्ष तक अपनी प्रभुता को स्थिर रखा, यह उनकी योग्यता को प्रमाणित करता है। जाति-व्यवस्था के लाभ निम्न हैं–

1. **ट्रेड यूनियन एवं अनाथालय** (Trade union and orphanage)–जाति-व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति को स्थिर सामाजिक पर्यावरण प्रदान करती है। **हटन** (Hutton) के शब्दों में, "व्यक्ति को समितियों का एक स्थायी निकाय मिल जाता है, जो उसके सम्पूर्ण व्यवहार एवं सम्पर्कों को नियंत्रित करते हैं। उनकी जाति विवाह-साथी के चयन में दिशा प्रदान करती है, उसके ट्रेड यूनियन के रूप में कार्य करती है। यह उसके लिए क्लब और अनाथालय है, स्वास्थ्य बीमा है तथा आवश्यकता पड़ने पर दाह-क्रिया तक का प्रबन्ध करती है।"
2. **सहयोग की भावना** (Spirit of co-operation)–जाति-व्यवस्था एक ही जाति के सदस्यों में सद्भावना एवं सहयोग की भावना का विकास करती है। निर्धन एवं जरूरतमंदों की सहायता करती है, जिससे राज्य-सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह ईर्ष्या अथवा सुख को कम कर देती है।
3. **आर्थिक व्यवसायों का निर्धारण** (Defines economic pursuits)–यह व्यक्ति के आर्थिक व्यवसाय का निर्धारण करती है। प्रत्येक जाति का एक विशिष्ट व्यवसाय होता है, जिससे न केवल बच्चे का भविष्य ही निश्चित हो जाता है, अपितु उसे प्रशिक्षु (apprenetice) होने का भी उचित अवसर प्राप्त होता है। चूँकि जाति के साथ व्यवसाय का तादात्म्य होता है, जिसमें परिवर्तन की ओर कम ध्यान दिया जाता है, अतएव कारीगरी में गर्व अनुभव होता है। प्राचीन भारत में कारीगरों की कई पीढ़ियाँ होती थीं, जो अपने कौशल में सिद्धहस्त थे। इस प्रकार खेतिहर भी अपने काम में निपुण हुआ करते थे।
4. **प्रजातीय शुद्धता** (Racial purity)–अन्तर्जातीय विवाहों पर प्रतिबंध लगाकर इसने उच्च जातियों की प्रजातीय शुद्धता को सुरक्षित बनाए रखा है। इसने सांस्कारिक शुद्धता पर बल देकर सफाई की आदतों का विकास किया है।
5. **मानसिक निर्माण को प्रभावित करती है** (Influences intellectual make-up)–यह व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता को प्रभावित करती है। चूँकि जाति व्यक्ति को भोजन, संस्कार और विवाह सम्बन्धी जातिगत नियमों के पालन का आदेश देती है, अत: राजनीतिक एवं सामाजिक विषयों पर उसके विचार उसकी जातीय प्रथाओं द्वारा प्रभावित हो जाते हैं। इससे समूहों में समानता की भावना का भी विकास होता है।
6. **देश का एकीकरण** (Integration of the country)–वर्ग-संघर्ष की वृद्धि किए बिना यह वर्ग-चेतना का विकास करती है। इसने वर्ग-संघर्षों एवं गुटों को जन्म दिए बिना हिन्दू समाज के दक्ष संगठन को जन्म दिया है। विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों के लोगों को एक ही समाज को संगठित करने की यह सर्वोत्तम युक्ति थी। इसने देश को संघर्षरत प्रजातीय समूहों में विभक्त होने से बचाया। इसने भारतीय समाज को एक विशाल एवं बहुरंगी समुदाय में समन्वित किया तथा देश को सुरक्षा एवं निरन्तरता का सुनिश्चित आधार प्रदान किया, जिससे समाज की स्थिर एवं व्यवस्थित संरचना सम्भव हो सके।
7. **विभिन्न कार्यों की व्यवस्था** (Provides for various functions)–यह सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक विभिन्न कार्यों "शिक्षा से लेकर सफाई तक, शासन से लेकर घरेलू सेवा तक का प्रबंध करती है और यह व्यवस्था धार्मिक विश्वास कर्म सिद्धान्त में विश्वास की संपुष्टि लेकर करती है, जिससे कार्यों के विषम विभाजन को भी संसार का दैवी विधान समझ कर स्वीकार कर लिया जाता है।" यह यूरोपीय वर्ग-व्यवस्था की अपेक्षाकृत अधिक उत्तम-श्रम-विभाजन की व्यवस्था करती है।
8. **सांस्कृतिक विसरण** (Cultural diffusion)–जाति-व्यवस्था समूह के अंदर सांस्कृतिक विसरण में सहायता करती है। जातीय प्रथाएँ, विश्वास, कौशल, व्यवहार एवं व्यापारिक रहस्य स्वमेय एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित हो जाते हैं। इस प्रकार संस्कृति एक युग से दूसरे युग में पहुँच जाती है।
9. **सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का पृथकीकरण** (Separation of social from political life)–इसने सामाजिक जीवन को राजनीतिक जीवन से पृथक् रखकर अपनी स्वतंत्रता को राजनीतिक प्रभावों से मुक्त

नोट

रखा है। **एस. सी. हिल** (S-C. Hill) का कहना है, "हिन्दुओं का सामाजिक जीवन राजनीतिक अवस्थाओं से पूर्णतया अछूता रहा है।" यह एक महान् मन्दिर का कार्य भी करती है तथा जातीय देवताओं की पूजा द्वारा अपनी धार्मिक अवस्था को बनाए रखा है।

परन्तु इस व्यवस्था ने कुछ दोषों को भी जन्म दिया है–

1. **श्रम की गतिशीलता पर प्रतिबंध** (Denies mobility of labour)–चूँकि व्यक्ति को अपनी जातीय व्यवसाय को ही करना पड़ता है, जिसे वह अपनी इच्छा अथवा अनिच्छा के अनुसार बदल नहीं सकता, अतएव इसने श्रम की गतिशीलता को रोका है। इससे गतिहीनता उत्पन्न हुई है।
2. **अस्पृश्यता** (Untouchability)–इसने अस्पृश्यता को जन्म दिया है। **महात्मा गाँधी** के अनुसार, "अस्पृश्यता जाति-व्यवस्था की सबसे अधिक घृणात्मक अभिव्यक्ति है।" अधिकांश लोग दासता की स्थिति को पहुँच गए हैं। इसके अतिरिक्त इसने अन्य दोषों, यथा बाल-विवाह दहेज-प्रथा, परदा-प्रणाली और जातिवाद को जन्म दिया है।
3. **एकता में बाधक** (Solidarity retarded)–इसने एक जाति को दूसरी जाति में पृथक् करके तथा उनके बीच किसी भी सामाजिक समागम को प्रतिबंधित करके हिंदू समाज में सद्भावना एवं एकता के विकास को रोका है। इसने हिंदू समाज का विघटन किया तथा इसे निर्बल बना दिया।
4. **व्यवसाय में अनुपयुक्त व्यक्ति** (Wrong man in occupation)–व्यक्ति को कई बार गलत व्यवसाय को अपनाना पड़ता है। यह आवश्यक नहीं कि पुरोहित का पुत्र भी पुरोहित बनना पसन्द करे अथवा उसमें सफल पुरोहित बनने की योग्यता हो। जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत वह अन्य कोई व्यवसाय नहीं अपना सकता, भले ही उसमें तदर्थ योग्यताएँ एवं रुचि हों। यह लोगों की असमर्थता एवं क्षमताओं का पूर्ण उपयोग नहीं करती, जिससे यह अधिकतम उत्पादन में बाधक सिद्ध होती है।
5. **राष्ट्रीय एकता में बाधक** (Obstacle to national unity)–जाति-व्यवस्था देह में राष्ट्रीय एकता के विकास में बड़ी भारी बाधक सिद्ध हुई है। निम्न जातियाँ अपने प्रति सामाजिक व्यवहार पर असन्तोष महसूस करती हैं। **घुरये** ने लिखा है, "जाति-भक्ति की भावना ने दूसरी जातियों के प्रति घृणा उत्पन्न की; इससे एक अस्वस्थ वातावरण पैदा हुआ, जो राष्ट्रीय चेतना के विकास के लिए अनुकूल नहीं था।" **ई. श्मिट** (E. Schimidt) का भी विचार कि जाति-व्यवस्था का सबसे अधिक दुखदायी परिणाम यह है कि इसने सामान्य राष्ट्रीय चेतना के विकास को रोका है।
6. **सामाजिक प्रगति में बाधक** (Obstacle to social progress)–यह राष्ट्र की सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति में बड़ी भारी बाधक रही है। चूँकि लोग कर्म के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं, अतएव वे परम्परावादी हो जाते हैं, और चूँकि उनकी आर्थिक स्थिति निश्चित होती है, इससे उनमें जड़ता आ जाती है तथा उनका उपक्रम एवं उद्यम समाप्त हो जाता है।
7. **अप्रजातंत्रीय** (Undemocratic)–अन्त में, जाति-व्यवस्था अप्रजातंत्रीय है, क्योंकि इसमें सबको जाति, रंग अथवा विश्वास के भेदभाव के बिना समान अधिकार नहीं दिए जाते। निम्न जाति के लोगों के मार्ग में विशेषतया सामाजिक रुकावटें खड़ी कर दी जाती हैं, जिन्हें मानसिक एवं शारीरिक विकास की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती तथा तदर्थ अवसर भी प्रदान नहीं किए जाते।
8. **जातिवाद को बढ़ावा** (Pramotes Casteism)–जाति व्यवस्था ने जातिवाद को जन्म दिया है। किसी जाति के सदस्यों में जातिगत भावनाएँ होती हैं और वह न्याय, समता, भातृत्व एवं औचित्य के स्वस्थ सामाजिक मानकों को भुलाकर अपनी जाति के प्रति अंधभक्ति प्रदर्शित करते हैं। शब्द 'ब्राह्मणवाद', 'क्षत्रियवाद' जातिवाद के द्योतक हैं। जातिवाद के प्रभावहीन एक जाति के सदस्य अन्य जाति के सदस्यों के हितों को हानि पहुँचाने से भी नहीं हिचकते। जातिवाद भ्रातृत्व के स्थान पर निरंकुशता को बढ़ावा देता है। राजनीतिज्ञ जातिवाद की भावना का राष्ट्रीय हितों का बलिदान करते हुये अपने लाभ हेतु शोषण करते हैं।

नोट

जाति-व्यवस्था के गुणों एवं दोषों की तुलनात्मक व्याख्या के उपरांत यह स्पष्ट है कि इसके दोष अधिक हैं, गुण कम। जाति-व्यवस्था स्थिर एवं सुस्त समाज को जन्म देती है। चूँकि प्रस्थिति का निर्धारण जन्म के आधार पर होता है, जिसे व्यक्ति अपने कार्यों से न बदल सकता है और न ही उन्नत कर सकता है, अतएव विशिष्ट प्रयासों को कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता। बहुत कम लोग उनसे अपेक्षित काम को पूरा करेंगे और कुछ तो बिल्कुल ही नहीं करेंगे। कुलीन चाहे काम करे या खेले, कुलीन ही रहेगा। भले ही हरिजन व्यक्ति कितना ही परिश्रम करे, वह दासता से बच नहीं सकता। यह भारतीय जाति-व्यवस्था का बन्द स्वरूप ही है, जिसके कारण भारत के लोगों में उपक्रम का अभाव है तथा समाज समग्र रूप में जड़ और उदाहरण है। **जेम्स ब्राइस** (James Bryce) ने कहा है, "सामाजिक संरचना महत्वपूर्ण तत्व है। जहाँ लोग भाषा, धर्म, प्रजाति अथवा व्यवसाय पर आधारित जातीय भेदों के कारण विभक्त हो जाते हैं, वहाँ पारस्परिक अविश्वास एवं शत्रुता उत्पन्न हो जाती है, जिससे उनके लिए इकट्ठे मिलकर कार्य करना अथवा प्रत्येक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के अधिकारों को समान समझना कठिन हो जाता है।"[25] जब तक जातीय अवरोधों को समाप्त नहीं कर दिया जाता, ताकि निम्न प्रस्थिति के व्यक्ति को व्यक्तिगत प्रयत्नों का लाभ सम्भव हो सके, ऐसे प्रयत्न नहीं होंगे और समाज को अन्ततः हानि होगी।

### 6.1.4 जातियों को अन्योन्याश्रिता

जाति-व्यवस्था, जैसा कि हमने ऊपर देखा है, भारतीय समाज की एक विचित्र विशेषता है। ग्रामीण क्षेत्रों में नगरों की अपेक्षा इसका अधिक चलन है। अति सामाजिक व्यवहार के नियमों को निश्चित करती है, जिनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति अपने सदस्यों पर अपना प्रभुत्व बनाए रखने तथा उनके व्यवहार को नियंत्रित करने का प्रयत्न करती है। एक जाति की प्रथाएँ, रीतियाँ एवं व्यवहार के नियम दूसरी जाति से भिन्न होते हैं। यद्यपि विभिन्न जातियाँ सामाजिक स्तर पर एक-दूसरे से पृथक् रहती हैं, तथापि अनेक सामाजिक अवसर ऐसे आते हैं, जब एक जाति को दूसरी जाति से सहायता लेनी पड़ती है। जातियों की ऐसी निर्भरता को श्रीनिवास ने उदग्र (vertical) एकता कहा है। इसे 'जजमानी' व्यवस्था भी कहा गया है, जिसमें प्रत्येक समूह दूसरी जातियों के लिए कुछ स्तरीय सेवाएँ प्रदान करता है। ऐसी महत्वपूर्ण जातियाँ, जो अन्य जातियों को सेवाएँ प्रदान करती हैं, निम्नलिखित हैं–

1. **ब्राह्मण** (Brahamans)–ब्राह्मण जाति का प्रमुख कर्तव्य विभिन्न धार्मिक एवं संस्कारिक रीतियों को कराना है। बालक के जन्म पर ब्राह्मण को जन्म का समय लिखने तथा उसकी जन्मपत्री तैयार करने के लिए बुलाया जाता है। वह 'चौथी' एवं 'बारह' की तिथि और समय भी निश्चित करता है। वह 'मुंडन' संस्कार का दिन एवं समय भी निकालता है। विवाह के समय वह वैवाहिक रीतियों को कराता है तथा मंत्रों को उच्चारित करता है। मृत्यु के समय वह अन्तिम संस्कार कराने के लिए बुलाया जाता है। यदि उसे कुछ अपशकुन दिखलाई दे तो वह उनसे बचने की विधियाँ भी बतलाता है। अपनी सेवाओं के बदले में ब्राह्मण को नकद तथा वस्तु आदि के रूप में अदायगी मिलती है। साधारणतया, जमींदार लोग नकद नहीं लेते अपितु कटाई के समय फसल का कुछ अंश देते हैं। ब्राह्मण आज भी उपर्युक्त सेवाएँ सभी जातियों के लिए करता है।
2. **कुम्हार** (Kumhars)–कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाता है। देहातों में लोग अनाज का भंडार रखने एवं अन्य घरेलू कार्यों के बर्तनों का उपयोग करते हैं। इन बर्तनों की पूर्ति कुम्हारों द्वारा होती है। वे जन्म, विवाह एवं मृत्यु के समय भोजादि के लिए 'कुल्हड़' भी देते हैं। अपने द्वारा दिए गए बर्तनों के बदले उन्हें नकद धन अथवा अनाज मिलता है। कभी-कभी उनको वस्त्र भी मिल जाते हैं।
3. **नाई** (Nai)–नाई अनेक सामाजिक धार्मिक उत्सवों के लिए महत्त्वपूर्ण सेवक है। जन्म, विवाह एवं मृत्यु के समय वह परिवार के सदस्यों के बाल काटता है। वह सगे-सम्बन्धियों को विवाह अथवा मृत्यु संदेश भी ले जाता है। कभी-कभी वह विवाह की बातचीत कराने में मध्यस्थ की भूमिका भी निभाता है, अपनी सेवा के प्रतिफल के रूप में उसे वस्त्र एवं फसलों का अंश मिलता है।
4. **धोबी** (Dhobi)–धोबी अपने जजमान के वस्त्रों को धोता है। अपनी सेवा के बदले उसे कुछ अनाज मिलता है। विवाह अथवा जन्म के विशेष अवसरों पर उसे वस्त्र अथवा बर्तन भी मिलते हैं।

नोट

5. **बढ़ई एवं लोहार** (Barhi and Lohar)–बढ़ई तथा लोहार कृषकों के परम्परागत कृषि के यंत्रों की मरम्मत अथवा उनका निर्माण करते हैं। वे दरवाजे अथवा खिड़कियाँ आदि बनाने का कार्य भी करते हैं। वे विभिन्न सेवाओं के बदले निश्चित अदायगी की दरें प्राप्त करते हैं। इन जातियों की सेवाओं की सभी जातियों को आवश्यकता पड़ती है।
6. **दर्जी** (Dargi)–दर्जी नए वस्त्र तैयार करता है अथवा पुराने वस्त्रों को ठीक करता है। उसकी सेवाओं की भी सभी जातियों को आवश्यकता होती है। साधारणतया, दर्जी पुराने वस्त्रों को नि:शुल्क ठीक करता है, परन्तु नए वस्त्रों को सीने के लिए वह निश्चित मूल्य प्राप्त करता है। कुछ परिवारों में उसे कटाई के समय फसलों का अंश भी मिलता है।
7. **चमार** (Chamar)–चमार साधारणतया जूते बनाने अथवा मरम्मत करने का कार्य करते हैं। अन्य अवसरों पर भी उनकी सेवाओं की जरूरत पड़ती है। वे निम्न कार्य, यथा पशु-गृहों को साफ करने एवं पशुओं की देखभाल का कार्य करते हैं। वे पशुओं की लाशों को भी उठाते हैं। वे कृषक-मजदूर का भी कार्य करते हैं। उन्हें भोजन, अनाज अथवा नकद के रूप में भुगतान मिलता है। पशुओं की लाश उठाने के बदले में उन्हें पशु की खाल भुगतान के रूप में मिलती है।
8. **गड़रिया** (Gadaria)–गड़रिया गाय, भैंस, बकरी एवं भेड़ आदि पशुओं को पालता है। वे दूध बेचते हैं तथा नकद भुगतान पाते हैं। कटाई के पश्चात् वे पशुओं को खेतों में ले जाते हैं, ताकि भूमि उर्वर हो सके। गड़रिए भूमि भी जोतते हैं।
9. **भंगी** (Bhangi)–भंगी अथवा जमादार सफाई का कार्य करते हैं। गाँवों में फ्लश या सदा स्वच्छ रहने वाले शौचालय नहीं होते। भंगी घरों से विष्टा को उठाकर गाँव से दूर फेंकते हैं। सांस्कारिक अवसरों पर उनकी सेवा विशेषतया महत्वपूर्ण होती है, जिसके लिए उन्हें नकद एवं वस्तु दोनों रूप में भुगतान किया जाता है। वे कृषक-मजदूर का कार्य भी करते हैं, जिसके लिए उन्हें कटाई के समय फसल का भाग मिलता है। उन्हें अपने जजमानों से पहनने के लिए पुराने वस्त्र भी मिलते हैं।
10. **बनिया** (Bania)–बनिया साधारणतया ग्रामीणों को दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ नकद अथवा उधार बेचता है। वह कृषकों एवं अन्य जातियों को ऋण भी देता है। ब्याज सामान्यतया मिश्रधन होता है। ऐसे ऋण बैल, कृषि के यंत्र खरीदने अथवा वैवाहिक व्ययों की पूर्ति के लिए दिए जाते हैं। कृषक अपनी भूमि को बन्धक भी रख देते हैं।

जजमानी व्यवस्था के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से निम्नलिखित विशेषताओं का पता लगता है–

1. **जजमानी सम्बन्ध स्थायी होती हैं** (Jagmani relations are permanent)–जजमानी अधिकार स्थायी होते हैं। जजमान अपने 'प्रजन' को इच्छानुसार हटा नहीं सकता। उसकी कठिनाई उसको हटाने में नहीं होगी, अपितु उसका प्रतिस्थापन खोजने में होगी।
2. **जजमानी व्यवस्था वंशानुगत है** (Jagmani system is hereditary)–जजमानी अधिकार सम्पत्ति अधिकार है, अतएव उत्तराधिकारिता के नियमों के अनुसार ही ये हस्तांतरित होते हैं।
3. **वस्तु-विनिमय व्यवस्था** (Barter system)–सेवाओं का अदल-बदल धन प्रणाली पर नहीं, अपितु वस्तु-विनिमय प्रणाली पर आधारित होता है। सेवक परिवार को सेवा के प्रतिपादन में वस्तुएँ मिलती हैं, यद्यपि कुछेक मामलों में धन भी मिल जाता है। वस्तुत: जजमान एवं प्रजन के मध्य सम्बन्ध मालिक और नौकर का नहीं होता। जजमान अपने प्रजन की सारी आवश्यकताओं की देखभाल करता है तथा जब भी आवश्यकता होती है, उसकी सहायता करता है।

जजमानी व्यवस्था लाभदायक है, क्योंकि–

1. यह व्यवसाय की सुरक्षा प्रदान करती है, व्यवसाय वंशानुगत होते हैं;

नोट

2. यह आर्थिक सुरक्षा प्रदान करती है, क्योंकि जजमान अपने सेवक परिवार की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है;

3. यह जजमान तथा प्रजन के सम्बन्धों को दृढ़ बनाता है जो आर्थिक की अपेक्षा वैयक्तिक अधिक होते हैं।

परन्तु जजमानी व्यवस्था ने, जो किसी समय भारतीय समाज में लाभदायक थी, धीरे-धीरे निम्न जातियों के शोषण का रूप धारण कर लिया है। उच्च जातियाँ निचली जातियों के लोगों का शोषण करती हैं, जो स्वयं को अपने अभिभावकों की धनशक्ति के सामने असहाय अनुभव करते हैं। जजमानी व्यवस्था में जाति-व्यवस्था के सभी दोष वर्तमान हैं। नगरीकरण के प्रभाव एवं यातायात के द्रुतगामी साधनों के विकास के कारण जजमानी व्यवस्था विघटित हो रही है, तथापि इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि जातियों की प्रकार्यात्मक अन्योन्याश्रितता देहातों में भारतीय जाति-व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता है।

### 6.1.5 भारतीय जाति-व्यवस्था की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

जाति-व्यवस्था की विशेषताओं का उल्लेख करते समय हमने कहा था कि जाति-व्यवस्था अनमनीय व्यवस्था है। परन्तु निरंकुश जाति-व्यवस्था को बनाए रखना सम्भव नहीं है। भारत में यह व्यवस्था कभी भी पूर्ण नहीं रही। मुसलमानों और अंग्रेजों से बहुत समय पूर्व भारत में ऐसे तत्व थे, जिन्होंने इस व्यवस्था के विरुद्ध कार्य किया। वस्तुतः ऐसी व्यवस्था, जिसमें निरंकुश सामाजिक असमानता के आदर्श पर बल होता है, स्वयमेव विरोधात्मक है। यह न केवल आंतरिक रूप से अस्थिर, अपितु सामाजिक आवश्यकताओं के अनुपयुक्त होती है। कार्यरूप में परिणत होने के लिए इस आदर्श को स्थिर सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता होती है, परन्तु कोई भी समाज पूर्णतया स्थिर नहीं होता। जिन बाह्य अवस्थाओं में समाज रहता है, एवं जिनके प्रति इसे स्वयं को जीवित रखने के लिए समंजित करना होता है, निरन्तर परिवर्तनशील है। सामाजिक परिवर्तन को सामाजिक अनुकूलन की आवश्यकता है। सामाजिक व्यवस्था को परिवर्तित दशाओं से अवश्य ही समंजन करना चाहिए। इस प्रकार के समंजन से अवश्य ही सामाजिक गतिशीलता की कुछ मात्रा उत्पन्न होती है, जिसके परिणामस्वरूप प्रस्थिति के निरंकुश स्थिरीकरण नियम का उल्लंघन होता है।

प्राचीन भारत में, निरंकुश अनमनीयता कभी भी नहीं रही। यहाँ-वहाँ कुछ नमनीयता दृष्टिगत होती है, उदाहरणतया विश्वामित्र, जो शूद्रों का पुरोहित और वशिष्ट का प्रतिद्वंद्वी था, परम्परानुसार क्षत्रिय था। आधुनिक समय में जाति-व्यवस्था के इस अनमनीय तत्व में अनेक परिवर्तन आ गए हैं। इन परिवर्तनों को देखकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पुराने बन्धन धीरे-धीरे ढीले हो रहे हैं। विभिन्न तत्व जिनके कारण जाति-व्यवस्था में परिवर्तन आया है, निम्नलिखित हैं–

1. **सुधार आन्दोलन** (Reformist movements)–जाति-व्यवस्था की जड़ों पर प्रहार करने वाला प्रथम महत्वपूर्ण तत्व पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार था। अंग्रेज अपने साथ भारत में जातिहीन संस्कृति तथा मानव-स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों से परिपूर्ण साहित्य लाए। जिन भारतीयों ने अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन किया, उन पर अंग्रेज लेखकों के विचारों का प्रभाव पड़ा। **स्वामी विवेकानन्द** ने कहा, "जाति व्यवस्था धर्म अथवा वेदान्त के विपरीत है। हमारे सभी उपदेशकों ने इसे समाप्त करने का प्रयास किया है। बुद्धमत से लेकर प्रत्येक मत ने जाति के विरुद्ध आवाज उठायी है। परन्तु प्रत्येक बार इसने अपनी पकड़ को अधिक मजबूत बना लिया।" सुधारक यथा राजाराम मोहन राय एवं देवेन्द्र नाथ टैगोर ने भ्रातृभाव के लक्ष्य को लेकर आंदोलन आरम्भ किए। ब्रह्म समाज का आदर्श ऐसे समाज की स्थापना थी, जिसमें जाति के आधार पर मनुष्यों का विभाजन नहीं होगा। स्वामी दयानन्द ने आधुनिक जाति-पाँति की विभिन्नता का खण्डन कर प्राचीन चार वर्णों की स्थापना का आन्दोलन चलाने हेतु 'आर्य समाज' नामक संस्था स्थापित की, जिसका उद्देश्य वैदिक समाज की प्राचीन पवित्रता को जागृत करना था। आर्य समाज का प्रमुख केन्द्र पंजाब था। पूना में, ज्योतिराव फोक्ले माली जाति के साधारण एवं कम पढ़े-लिखे व्यक्ति ने 1873 में जाति के भेदभाव बिना

नोट

मनुष्यों के मूल्य को जताने हेतु सत्यशोधक समाज की स्थापना की। उसने स्थानीय निकायों, सरकारी सेवाओं एवं संस्थाओं में हिन्दुओं की सभी श्रेणियों के प्रतिनिधित्व की माँग की तथा पूना में तथाकथित अस्पृश्य लोगों के लिए स्कूल की स्थापना की। श्री केशव चन्द्रसेन ने अंतरजातीय विवाहों के माध्यम से जाति-व्यवस्था के विरुद्ध आंदोलन चलाया। थ्योसिफिकल आंदोलन ने भी जाति प्रथा के उन्मूलन हेतु कार्य किया। विशेषतया 1893 से जब एनी बीसेंट इस समाज की अध्यक्ष बनी। अन्य सुधार आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन था जिसने महात्मा गाँधी के नेतृत्व में जन-आंदोलन आरम्भ किये। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने अछूतोद्धार को राष्ट्रीय समस्या का रूप दिया। उनका नाम इस सम्बन्ध में सदैव स्मरणीय रहेगा।

2. **ब्रिटिश शासन-काल में विधान** (Legislation during British rule)–भारतीय सुधारकों के प्रयत्नों के अतिरिक्त, अंग्रेज शासकों ने देश पर प्रभुत्व स्थापित कर लेने के उपरांत पाश्चात्य संस्कृति को भारत पर थोपने का प्रयास किया और ऐसा करने में उनका इस देश में वर्तमान जाति-व्यवस्था से संघर्ष हुआ। ब्रिटिश न्यायालयों एवं समान दंड संहिता की स्थापना से जातीय पंचायतों के क्षेत्राधिकार से अनेक मामले छीन गए। इसके उपरांत ब्रिटिश शासकों ने दीवानी मामलां की ओर ध्यान दिया। 1856 में विधवा पुनर्विवाह अधिनियम पारित हुआ, जिसमें निचली जातियों के रीति-रिवाजों के विपरीत नियम थे। 1876 में बम्बई के उच्च न्यायालय ने घोषित किया कि कानून की अदालतें किसी विवाह को अवैध घोषित करने अथवा किसी स्त्री को पुनर्विवाह करने की अनुमति देने के बारे में जाति के प्राधिकार को मान्यता नहीं देती। इसके बाद विभिन्न उच्च न्यायालयों ने निर्णय दिया कि लोग किसी भी पुरोहित की सेवा प्राप्त कर सकते हैं, उनके लिए वंशानुगत पुरोहित की ही सेवाओं को प्राप्त करना बाध्यकारी नहीं है। इससे विभिन्न जातियों को इकट्ठा रखने वाला तत्व सामान्य पुरोहिता समाप्त हो गई। 1850 के जाति असमर्थता उन्मूलन अधिनियम ने जाति की एकता पर एवं अन्य प्रहार किया। इस अधिनियम ने धर्म-परिवर्तन की, सम्पत्ति के अधिकार को प्रभावित किए बिना अनुमति दी। इसके बाद 1872 में विशेष विवाह अधिनियम (Special Marriage Act) पारित हुआ, जिसने किसी भी जाति अथवा धर्म के व्यक्ति को किसी अन्य जाति अथवा धर्म विवाह करने की अनुमति दे दी, बशर्ते कि ऐसे विवाह का पंजीकरण कराया जाए, जिसमें यह घोषणा करनी होगी कि वे किसी धर्म को नहीं मानते। इस धारा को 1923 के संशोधन अधिनियम द्वारा बदल दिया गया। यह अधिनियम अब केवल हिन्दुओं जिसमें जैन, सिक्ख और ब्राह्म शामिल हैं, पर लागू होता है। ब्रिटिश शासकों ने अछूत लोगों की नागरिक अयोग्यताओं को दूर करने के लिए एक और अन्य कदम उठाया। उन्होंने अछूतों के शिक्षा-सम्बन्धी अधिकार को एवं सभी सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करने के अधिकार को मान्यता दे दी। 1925 में मद्रास में सभी सार्वजनिक कुओं एवं पब्लिक स्कूलों को सभी जातियों के लिए खोल दिया गया। पिछड़ी जातियां के बच्चों के शुल्क में छूट एवं सरकारी वजीफे दिए गए। मांटैग्यू चैम्सफोर्ड सुधार के अधीन पिछड़ी जातियों को विशेष प्रतिनिधित्व दिया गया।

इस प्रकार ब्रिटिश सरकार ने समय-समय पर विभिन्न कानून पारित किए, जिन्होंने कुछ सीमा तक निचली जातियों की अयोग्यताओं को दूर किया। परन्तु इन कानूनों तथा ब्रिटिश सरकार द्वारा की गई अन्य कार्यवाहियों ने जाति की समस्या के समाधान में कोई अधिक योगदान नहीं दिया। ब्रिटिश सरकार की अधिकांश गतिविधियाँ प्रशासन के हित को सम्मुख रख कर की गई, न कि जाति-प्रथा की कठोरता को दूर करने के उद्देश्य से। ब्रिटिश शासकों ने जाति-प्रथा की समस्या पर कोई अधिक ध्यान नहीं दिया, न ही उन्होंने जाति को अहानिकर बनाने हेतु कोई साहसी कदम उठाने की इच्छा व्यक्त की। उनके द्वारा निर्मित कानून खंडशः एवं अधमने थे, जिनको ब्रिटिश प्रभुता की सुरक्षा को ध्यान में रखकर बनाया गया था।

3. **औद्योगिक क्रांति का प्रभाव** (Impact of industrial revolution)–औद्योगिक क्रांति भी हिंदू सामाजिक संरचना को बदलने में एक उत्तरदायी तत्व रहा है। भारतीय जाति-व्यवस्था काफी सीमा तक ग्रामीण उद्योगों एवं हस्तकलाओं से सम्बद्ध है। ग्रामीण हस्तकलाओं एवं वंशानुगत व्यवसायों के पतन ने, जो औद्योगीकरण का अपरिहार्य परिणाम है, अनेक प्रकार से सामाजिक संरचना को प्रभावित किया है। पुराने व्यवसायों के

नोट

समाप्त हो जाने पर नए व्यवसायों का जन्म हुआ, जिनमें ब्राह्मण एवं शूद्र स्वतन्त्रतापूर्वक मिल-जुल कर काम करते हैं। पुराने समय की अपेक्षा व्यवसाय के चयन में आज अधिक स्वतन्त्रता है। वर्तमान समय में ब्राह्मण जाति के लोग लगभग प्रत्येक व्यवसाय, भंगी के व्यवसाय को छोड़ कर, में लगे हुए हैं। विभिन्न शिल्पी जातियों के अनेक सदस्य दुकानदार, बैंक-लिपिक एवं शिक्षक हैं। जाति द्वारा व्यवसाय के चयन पर लगाए गए प्रतिबन्ध अब समाप्त हो गए हैं। औद्योगीकरण जनता के नगरीकरण को जन्म देता है। ग्रामीण लोग जो जाति-पाँति का अत्यधिक ध्यान रखते हैं, नगरों की ओर भागे जा रहे हैं। नगर में लोगों को अपने रूढ़िगत विचारों को त्याग देना पड़ता है तथा दूसरी जाति के लोगों द्वारा तैयार भोजन खाना पड़ता है। संचार के साधनों के अनुसार से वैयक्तिक सम्पर्कों में वृद्धि हुई है, जिससे जातियों को पृथक् करने वाले विचारों पर प्रभाव पड़ा है। जाति पंचायतों का स्थान श्रमिक-संघों, कानूनी अदालतों एवं ऐसे ही अन्य निकायों ने ले लिया है। श्रमिक-संघ में प्रत्येक श्रमिक, चाहे वह किसी जाति का हो, सदस्य होता है। कारखाने में जातीय प्रतिबंधों को क्रियान्वित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वहाँ तो निचली श्रेणी के सदस्य उच्च श्रेणी के सदस्यों के साथ कंधे से कंधा मिला कर काम करते हैं।

जातीय समितियों का स्थान व्यावसायिक समितियों ने ले लिया है। प्राध्यापक संघ, सिविल सेवा समुदाय, एवं अनेक व्यापारी तथा सेवा समितियाँ उभर कर सामने आये हैं जहाँ विभिन्न जातियां के लोग स्वतंत्र रूप से मिलते-जुलते हैं। भोजन करते हैं एवं अपने सामान्य लक्ष्यों की पूर्ति हेतु रणनीति तैयार करते हैं।

4. **भारतीय संविधान द्वारा प्रहार** (Attack by Indian Constitution)—जाति-व्यवस्था पर सबसे क्रमबद्ध एवं प्रतिभाशाली प्रहार भारतीय संविधान द्वारा किया गया है। इसकी प्रस्तावना में उद्घोषणा की गई है कि भारत के लोगों ने स्वयं को प्रजातन्त्रीय, धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी, प्रभुसत्तात्मक गणराज्य में संगठित कर लिया है तथा संविधान का लक्ष्य भारत के सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय; विचारों, विश्वास तथा उपासना की स्वतंत्रता; प्रस्थिति एवं अवसर की समानता प्रदान करना तथा व्यक्ति के मान को विश्वस्त करते हुए सभी लोगों में भ्रातृभाव को उन्नत करना है। इस प्रकार न केवल अवसर, अपितु प्रस्थिति की समानता का भी आश्वासन दिया गया है। प्रस्थिति की समानता केवल वर्गहीन समाज, जातिहीन में भी नहीं, में ही जीवित रह सकती है।

समानता के अधिकार की गारंटी देते हुए भारतीय संविधान की धारा 15 में लिखा है–

1. राज्य किसी भी नागरिक के विरुद्ध धर्म, वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर भेदभाव नहीं करेगा।
2. कोई भी नागरिक धर्म, वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर निम्न बातों के लिए अयोग्य व प्रतिबंधित नहीं किया जाएगा–
   (*i*) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों तथा साव्रजनिक मनोरंजन के स्थानों में जाने से;
   (*ii*) कुओं, तालाबों, नहाने के घाटों व सैर के स्थानों, जिनकी आंशिक अथवा पूर्ण राज्य के खजाने से देखभाल की जाती है अथवा जो सार्वजनिक प्रयोग के लिए खोले गए हैं।

धारा 16 के अन्तर्गत राज्य के अधीन किसी भी कार्यालय में रोजगार अथवा नियुक्ति के मामलों में सभी नागरिकों धर्म, जाति, वंश, लिंग, निवास-स्थान, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के भी भेदभाव के बिना अवसर की समानता प्राप्त होगी। धारा 17 ने अस्पृश्यता का उन्मूलन करते हुए इसे अपराध घोषित किया है। धारा 19 के अन्तर्गत प्रदत्त स्वतंत्रता के अधिकार में किसी प्रतिबंध के बिना किसी भी वैध व्यवसाय को करने की स्वतंत्रता है।

इस प्रकार संविधान ने जाति एवं इसके निरर्थक रीति-रिवाजों का उन्मूलन कर दिया है। संविधान का यह पवित्र वायदा है कि विधान मंडल एक ऐसे समाज का निर्माण करने का प्रयत्न करेगा, जिसमें प्रस्थिति की असमानता नहीं होगी। उपर्युक्त प्रावधानों के अतिरिक्त, संविधान में निम्न जातियों की सामाजिक दशा को सुधारने हेतु अन्य अनेक व्यवस्थायें की हैं। अनुच्छेद 46 में उल्लिखित है कि "राज्य कमजोर वर्गों विशेषतया अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित

नोट

जनजातियों के व्यक्तियों के शैक्षिक एवं आर्थिक हितों के वर्द्धन हेतु विशेष उपाय करेगा एवं उन्हें सामाजिक अन्याय तथा शोषण के सभी रूपों से सुरक्षा प्रदान करेगा।"

अनुच्छेद 330 के अंतर्गत अनुसूचित जातियों/जनजातियों हेतु लोकसभा में स्थान आरक्षित किये गये हैं। अनुच्छेद 332 के अंतर्गत प्रत्येक राज्य विधानसभा में भी उनके लिये स्थान आरक्षित हैं। ऐसा आरक्षण राज्य में उनकी जनसंख्या के अनुपात में होगा। अनुच्छेद 338 में उनके हितों की सुरक्षा एवं कल्याण हेतु एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति का प्रावधान है। अनुच्क्षेद 16 एवं 335 के अंतर्गत सार्वजनिक सेवाओं में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गयी है।

सरकार ने अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के उत्थान हेतु अनेक कार्यक्रम भी आरम्भ किये हैं। इन कार्यक्रमों में प्रमुख हैं : मैट्रिकोपरान्त छात्रवृत्ति जिससे इन जातियों के विद्यार्थी उच्च शिक्षा ग्रहण कर सकें, पुस्तक बैंक योजना मेडिकल एवं इंजीनियरिंग महाविद्यालयों में शिक्षा ग्रहण कर सकें, पुस्तक बैंक योजना मेडिकल एवं इंजीनियरिंग महाविद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करने वाले अनुसूचित जातियों/जनजातियों के विद्यार्थियों के लिये; अनुसूचित जातियों के लिए कन्या छात्रावास, विभिन्न प्रतियोगात्मक परीक्षाओं जिसमें संघ लोक सेवा आयोग द्वारा संचालित परीक्षा भी सम्मिलित है, के लिये इन जातियों के उम्मीदवारों को विशेष कोचिंग प्रदान करना। राज्यों में अनुसूचित जातियों के व्यक्तियों को विभिन्न व्यवसायों में वित्तीय सहायता देने हेतु अनुसूचित जाति विकास निगमों की स्थापना की गयी है ऐसी स्वैच्छिक संस्थाओं जो अनुसूचित जातियों/जनजातियों के कल्याण कार्यों में संलग्न हैं, को शत-प्रतिशत वित्तीय सहायता दी जाती है।

इस प्रकार, भारतीय संविधान एवं संवैधानिक प्रावधानों के अनुसरण में आरम्भ किये गये विभिन्न कार्यक्रमों द्वारा जाति व्यवस्था को समाप्त करने तथा अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों की सामाजिक एवं आर्थिक दशाओं को उन्नत करने का प्रयास कियास गया है।

**भारत में जाति-व्यवस्था का भविष्य** (Future of caste system in India)–भारत में जाति-व्यवस्था के दोषों को दूर करने के लिए अभी तक किए गए अपायों के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यद्यपि जाति-व्यवस्था का प्रभाव धीरे-धीरे घट रहा है, तथापि यह पूर्व की भाँति जीवित है तथा लोगों के विचारों एवं अभिवृत्तियों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। जाति का अन्तर्विवाही स्वरूप लगभग उसी प्रकार चल रहा है, केवल इतना अन्तर आया है कि जहाँ पहले जाति से बाहर विवाह करना सोचा भी नहीं जा सकता था, अब कुछ प्रेम-विवाह के इच्छुक नवयुवक और नवयुवतियाँ जाति के बंधन को तोड़ने के लिय तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार के विवाह में नारी संगिनी पुरुष संगी से निम्न जाति की होती है। पुरानी पीढ़ी अब भी जातीय अर्थों में ही सोचती है। व्यक्ति को अब भी संकटमय स्थितियों में, यथा विवाह एवं मृत्यु के समय अपनी ही जाति पर मुख्यतया निर्भर रहना पड़ता है। नागरिक जीवन में अनेक नेताओं का सम्बन्ध केवल अपनी जाति के उद्धार से है। भारत में निर्वाचन जातिवाद के आधार पर लड़े जाते हैं। मतदाताओं से अपनी जाति के उम्मीदवार को वोट देने के लिए कहा जाता हैं, अतएव चुनावों के बाद भी निर्वाचित नेता जातिवाद को स्थिर रखते है। राजनीतिक दल भी किसी विशेष निर्वाचन-क्षेत्र से ऐसा उम्मीदवार खड़ा करते हैं, जिसकी जाति के लोगों की संख्या का उस क्षेत्र में बहुमत हो। सरकारी सेवाओं एवं विधान मंडलों में जातिवाद अब भी जीवित है। सरकारी सेवाओं तथा विधान मंडलों में अनुसूचित एवं पिछड़ी हुई जातियों के लिए स्थान सुरक्षित किए गए हैं। उन्हें शिक्षा हेतु विशेष सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। जातीय पत्रिकाएँ भी प्रकाशित की जाती हैं। मंडल विवाद में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय ने जातिवाद को कानूनी मान्यता प्रदान कर दी है। इस निर्णय से जातिवाद का विष अधिक फैल जायेगा। इस प्रकार भारतीय प्रजातंत्र ने जाति-व्यवस्था को निरुत्साहित करने की अपेक्षा उसे प्रोत्साहित किया है। **घुरये** (Ghurye) ने ठीक ही कहा है कि भारत में जाति-व्यवस्था तथा के निकट भविष्य में समाप्त होने का कोई भय नहीं है। उसके अनुसार, "पुरानी व्यवस्था तथा समकालीन व्यवस्था मे केवल इतना अन्तर है कि जहाँ प्राचीन संगठन में जाति-व्यवस्था के उपर्युक्त तथ्य सार्वभौमिक रूप से प्रचलित थे, आत समाज का एक वर्ग–आधुनिक शिक्षित लोग–जिसकी संख्या थोड़ी परन्तु महत्त्वपूर्ण है, जातीय प्रतिबंधों से ऊपर उठ गया है।"[28] जातियों में पारस्परिक अविश्वास एवं बहिर्मुखीपन की मनोवृत्तियाँ अब भी जीवित हैं। केवल कानूनों से

नोट

पाँच हजार वर्ष पुरानी सामाजिक संस्था का उन्मूलन नहीं किया जा सकता। आवश्यकता है जनमत को शिक्षित करने एवं जाति-भक्तिवाद की प्रभावशाली ढंग पर निन्दा करने की। जहाँ कानूनी व्यवस्थाओं द्वारा युगीन अस्पृश्यता को समाप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है, वहाँ दूसरी और, राजनीतिक लाभ उठाने के लिये जातिवाद को सरंक्षण दिया जा रहा है। स्वतंत्रता के 41 वर्षों उपरांत भी हम अभी समस्या का निदान खोजने का प्रयास कर रहे हैं तथा निम्न जातियों को राष्ट्र की मुख्यधारा में विलीन करने के स्थान पर उन्हें विभिन्न प्रकार के सरंक्षण एवं आरक्षण देकर जातिवाद को बढ़ावा दे रहे हैं। इन जातियों में उच्च श्रेणियों के व्यक्ति यथा अधिकारी, विधायक, मंत्री आयकर-दाता भी अपनी विशेष सुविधाओं को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है जैसा कि 'creamy layer' के विषय पर प्रसाद समिति द्वार दी गयी सिफारिशों पर उत्पन्न विरोध से प्रगट है। तब भी आशा की जा सकती है विस्तरीकरण-व्यवस्था अब भी भारतीय समाज की जड़ों में दृढ़ता से जमी हुई है। नवयुवकों के उत्साह अवश्य ही जाति के कृत्रिम बंधनों को निश्चित रूप से तोड़ने में सफल होगा। शिक्षा के प्रसार एवं आर्थिक स्थिति के उन्नत होने से भारतीय लोग समय की पुकार को समझ कर जाति-व्यवस्था को उखाड़ फेकेंगे।

### 6.1.6 सामाजिक गतिशीलता

स्तरीकरण सभी समाजों की विशिष्टता है। यह वर्गों एवं व्यक्तियों को सामाजिक मूल्य-मान के अनुसार उनके द्वारा गृहीत विशेषताओं के आधारमय पर उच्च अथवा विशेषताओं में कोई परिवर्तन विभिन्न वर्गों की प्रस्थिति भी परिवर्तन ला देता है। इस प्रकार विभिन्न समाजों अथवा उसी समाज मे विभिन्न समय पर विभिन्न व्यवसायों को प्रतिष्ठा की विभिन्न मात्रा प्राप्त होती है। भारत में किसी सम पुरोहित वर्ग के सदस्यों को अन्य वर्गों के सदस्यों की अपेक्षा अधिक उच्च समझा जाता है। परन्तु आज ऐसा नहीं है। डाक्टर अथवा इंजीनियर को अब अधिक सम्मान प्राप्त है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति साधारण दुकानदार से मंत्री बन जाता है तो उसकी प्रस्थिति भी उच्च हो जाती है। दूसरी और, यदि मंत्री अपना मंत्रिपद खो देता है तथा पुरानी दुकान पर लौट आता है तो मंत्री के रूप में उसकी जो प्रस्थिति थी, वह भी समाप्त हो जाती है। इस प्रकार समाज में लोगों को प्रस्थिति मान में ऊपर-नीचे जाते देखा जा सकता है। इस गति को सामाजिक गतिशीलता कहा जाता है। गतिशीलता (mobility) स्थानान्तरण (migration) से भिन्न है, क्योंकि स्थानान्तरण का अर्थ है भौगोलिक स्थान में गति।

गतिशीलता को क्षैतिज (horizontal) एवं उदग्र (vertical) में वर्गीकृत किया गया है। क्षैतिज गतिशीलता का अर्थ निवास-स्थान अथवा व्यवसाय के परिवर्तन से है, जिसमें प्रस्थिति का परिवर्तन नहीं होता। उदाहरणतया, एक अध्यापक एक स्कूल में चला जाता है, अथवा कारखाने में कल्याण अधिकारी बन जाता है। उदग्र गतिशीलता जीवन के तीनों क्षेत्रों, अर्थात् वर्ग, व्यवसाय एवं सत्ता या किसी एक क्षेत्र में गति से संबंधित है। ऊपर या नीचे व्यक्ति की गतिशीलता इस तथ्य का माप है कि उसकी प्रदत्त प्रस्थिति एवं प्रा।प्त स्थिति में क्या सम्बन्ध है।

**सामाजिक गतिशीलता अपरिहार्य है** (Social mobility is inevitabel)—परिवर्त्तनशील वर्ग अथवा जाति-व्यवस्था असम्भाव्य है। सामाजिक परिवर्तन प्राकृतिक क्रिया है और जिस क्षण सामाजिक परिवर्तन होता है, उसी क्षण सामाजिक गतिशीलता भी होती है। संभवत: कोई भी समाज सामाजिक गतिशीलता का पूर्णतया निषेध नहीं करता और न ही कोई समाज अगतिशील होता है। उदारहरणतया, यदि हम यह चाहें कि प्रत्येक जाति पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसी प्रस्थिति को प्राप्त किए रखे तो प्रत्येक जाति में जनसंख्या प्रतिस्थापन की दर समान होनी आवश्यक है। परन्तु जैसा कि प्रकृति का नियम है, कुछ जातियों की जनसंख्या में वृद्धि आती है तो अन्य में घट जाती है। उन जातियों के लिए, जिनकी जनसंख्या में वृद्धि होती है, कुछेक नए व्यवसायों को खोजना होगा, जबकि घटने वाली जातियों के धंधों को करने के लिए अन्य जातियों से प्रतिस्थापना करनी होगी। इस प्रकार, जनसंख्या में अन्तर विभिन्न जातियों की जनसंख्या का घटना अथवा बढ़ना सामाजिक अगतिशीलता को असम्भव बना देता है।

इसी प्रकार, भौगोलिक अनूकुलन सामाजिक अनुकूलन को आवश्यक बना देते हैं। समाज की भौगोलिक स्थापना में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती है, अधिक आवासीय स्थान का प्रबंध करने हेतु वनों और खेतों को समाप्त कर दिया जाता है। नए संकट एवं रोग जन्म लेते रहते हैं। नए आर्थिक एवं राजनीतिक विकास होते हैं।

नोट

स्वाभाविकतया, सामाजिक व्यवस्था को भौतिक अवस्थाओं में परिवर्तनों के साथ स्वयं को समंजित करना होगा। ऐसे समंजन में अपरिहार्य रूप में सामाजिक गतिशीलता की कुछ मात्रा निहित होती है।

इसके अतिरिक्त, प्रत्येक समाज वैयक्तिक आकांक्षा के लिए भी कुछ अवसर प्रदान करता है। यदि ऐसा न होता तो कोई प्रगति न होती। प्रत्येक व्यवस्था में विभिन्न उपलब्धियों के लिए विभिन्न पुरस्कार होते हैं, तथा मनुष्य सबसे अधिक पुरस्कृत उपलब्धि को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यह विश्वास कि व्यक्ति अपने वैध प्रयत्नों से उन्नति कर सकता है, सामाजिक प्रगति का आधार है। सामाजिक मान मूल्यों के मान से संबंधित एवं उसके ऊपर आधारित है। कोई समूह जो अपने मानकों को उन्नत करता है, अपनी सामाजिक प्रस्थिति को भी उन्नत कर लेगा और अपरिहार्य रूप से कुछ समूह स्वयं को उन्नत करने का प्रयास करेंगे। इस प्रकार, विभिन्न विशेषताओं के लिए विभिन्न मूल्यों की व्यवस्था स्वयं ही लोगों को सामाजिक प्रस्थिति के मान में ऊपर जाने के लिए अभिप्रेरित करती है।

उन तत्वों में जो किसी समाज में गतिशीलता की कुछ मात्रा को अपरिहार्य बनाते हैं, हेनरी एम. जानसन ने निम्नलिखित को महत्त्वपूर्ण बतलाया है–

1. सामाजिक प्रतिष्ठा अन्ततः स्वीकृत मूल्य-व्यवस्था पर निर्भर होती है। यदि उपलब्धियों के कुछेक गुणों को सामाजिक रूप में मूल्यवान् समझा जाता है, तो कुछ लोग उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे।
2. बुद्धि एवं अन्य प्रकार की क्षमताएँ केवल उच्च श्रेणियों की बपौती नहीं हैं। कृषकों एवं श्रमिकों के बच्चों के लिए समाज में सर्वोच्च पदों तक पहुँचना असामान्य नहीं है।
3. विभिन्न प्रकार के कौशल की माँग में गति की भिन्न दरों पर परिवर्तन सदा होते रहे हैं।
4. प्रत्येक वर्ग की जन्म-दर उस वर्ग के सभी पदों को पूर्ण रूप से नहीं भर पाती।
5. उच्च वर्गों में जन्म कभी-कभी अनेक व्यक्तियों में आत्मतृप्ति की भावना विकसित कर देती है।

इस प्रकार हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि समाज में अवसर की असमानता के बाधक तत्व के बावजूद भी प्रत्येक समाज में काफी गतिशीलता घटित होती रहती है। समाजशास्त्री सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन किसी सामाजिक संरचना की सापेक्ष उन्मुक्ता का पता लगाने के लिये करते हैं।

*टास्क* सामाजिक गतिशीलता पर टिप्पणी लिखिए।

### गतिशीलता की मात्रा (Amount of Mobility)

सामाजिक गतिशीलता ऊर्ध्वगामी अथवा अधोगामी हो सकती है। अधोगामी गतिशीलता प्रत्येक समाज में स्वीकृत है। यदि उच्च वर्ग का सदस्य उस वर्ग से अपेक्षित मानकों का पालन नहीं करता, तो वह वर्ग प्रस्थिति से नीचे गिर जाएगा। भारत में किसी व्यक्ति को अपनी जाति से निचली जाति में विवाह कर लेने पर जाति से बहिष्कृत किया जा सकता है। जहाँ तक ऊर्ध्वगामी का प्रश्न है, किसी भी समाज में इसका पूर्ण निषेध नहीं होता, परन्तु इसकी सुगमता एवं मात्रा कुछेक तत्वों पर निर्भर है। ये तत्व निम्नलिखित हैं–

1. **सामाजिक परिवर्तन** (Social change)–साधारणतया गतिशीलता के लिए अनुकूल अथवा बाधक तत्व सामाजिक परिवर्तन की मात्रा है। तीव्र सामाजिक परिवर्तन की स्थितियाँ यथा औद्योगिक क्रान्ति अथवा प्रदेशीय विस्तार सामाजिक गतिशीलता का अवसर प्रदान करती हैं, जबकि अत्यल्प प्रौद्योगिक अथवा प्रदेशीय परिवर्तन व्यक्ति को प्रदत्त प्रस्थिति से ऊँचा उठने का कम अवसर देती है। यह ध्यान रहे कि राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक अथवा अन्य क्रान्तिय तीव्र सामाजिक गतिशीलता को जन्म दे सकती हैं, जिससे उच्च श्रेणी के लोग सामाजिक मान के निम्नतम स्तर पर तथा निम्न स्तर के लोग उच्च श्रेणियों में पहुँच जाते हैं।

नोट

2. **संचरण** (Communication)–कोई ऐसी व्यवस्था जो वर्गों के मध्य संचरण को परिसीमित करती है, अथवा जीवन-अवस्थाओं के ज्ञान को अपने वर्ग तक ही सीमित रखती है, सामाजिक गतिशीलता को निरुत्साहित करती है। इसके विपरीत, ऐसी व्यवस्था जिसमें सभी वर्गों के सदस्य दूसरे वर्गों की जीवन-अवस्थाओं से परिचित होते हैं गतिशीलता को सुगम बनाती है। निस्संदेह, गतिशीलता की सीमा का निर्धारण उन अवसरों एवं आवश्यकताओं से, जो विभिन्न वर्गों में विद्यमान हैं, तथा उन परम्पराओं से जो दूसरे वर्ग के सदस्यों के प्रवेशों पर प्रतिबंध लगाती हैं, होगा।

3. **श्रम-विभाजन** (Division of labour)–अन्त में, सामाजिक गतिशीलता पर किसी समाज में विद्यमान श्रम-विभाजन की मात्रा का भी प्रभाव होता है। यदि श्रम-विभाजन अत्यधिक विकसित अवस्था में है, तथा विशेषीकरण एवं कुशल प्रशिक्षण की मात्रा बहुत उन्नत है, तो एक वर्ग के सदस्य के लिए दूसरे वर्ग में प्रवेश कठिन होता है। इसी प्रकार ऐसी पूर्ण परिभाषित जातियाँ, जिन्हें कुछेक परम्परागत कार्य सुपुर्द किए गए हैं, इस तथ्य के बावजूद भी कि अन्य दशाएँ सामाजिक गति के अनुकूल हैं, सामाजिक गतिशीलता को अवरुद्ध कर सकती हैं।

यहाँ इस तथ्य पर बल देना आवश्यक है कि आर्थिक प्रगति किसी देश में गतिशीलता की दर को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण तत्व है। आर्थिक प्रगति औद्योगिकरण से संबद्ध है तथा औद्योगीकरण गतिशीलता को ऊँची दर से। इस विषय पर, एक समाजशास्त्री, **ओसोवास्की** (Ossowaski) का कथन महत्त्वपूर्ण है, "समाजवादी व्यवस्था में पूँजीवादी व्यवस्था की अपेक्षा आर्थिक विकास की अधिक आवश्यकता है। अतएव, समाजवादी राज्यों के नेताओं का एक तात्कालिक लक्ष्य औद्योगीकरण, नगरीकरण, संचार के साधनों के विकास एवं जनशिक्षा में अधिक उन्नत पूँजीवादी देशों के स्तर को प्राप्त करना था। इन सभी प्रक्रियाओं में समाजवादी तथा अन्य देशों में भी सामाजिक गतिशीलता की वृद्धि निहित है।"

हम इस बात पर पुनः बल देना चाहते हैं कि सभी देशों में सामाजिक गतिशीलता की दर समान नहीं होती। यह विभिन्न देशों में विभिन्न होती है। औद्योगीकृत देशों में भी यह समान नहीं होती। भारत में सामाजिक गतिशीलता की दर जाति-व्यवस्था तथा कृषि-संस्कृति के कारण स्वाभाविकतया कम है। यद्यपि आधुनिक परिवर्तनों के प्रभावाधीन निम्न सामाजिक मान के लोग ऊपर उठ रहे हैं, तथापि दर धीमी है।

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–**

1. "जब वर्ग पूर्णतया आनुवंशिकता पर आधारित होता है, तो हम उसे जाति कहते हैं।" यह किसने कहा–
   (क) ब्लंट (ख) कूले (ग) मैकाइबर (घ) इनमें से कोई नहीं।
2. प्रस्थिति का निर्धारण किससे होता है–
   (क) जन्म (ख) व्यवसाय (ग) अनुवंशिकी (घ) इनमें से कोई नहीं।
3. किसके अनुसार–ब्राह्मण सारी सृष्टि का राजन है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति ब्रह्मा के सबसे पवित्र अंग 'मुख' से हुई है–
   (क) मनु (ख) घुरिये (ग) केतकर (घ) इनमें से कोई नहीं।
4. ईश्वर ने चारों जातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) के कार्यों एवं कर्तव्यों को किसमें निर्धारित किया है–
   (क) उपनिषद् में (ख) पुराण में
   (ग) भगवद्गीता (घ) इनमें से कोई नहीं।
5. किस सिद्धांत के अनुसार जाति-व्यवस्था का उद्गम दैवीय है–
   (क) राजनीतिक सिद्धांत के (ख) परम्परागत सिद्धांत के
   (ग) गिल्ड सिद्धांत के (घ) इनमें से कोई नहीं।

नोट

6. सामाजिक परिवर्तन को आवश्यकता है–
   (क) सामाजिक अनुकूलन की (ख) सामाजिक प्रतिकूलन की
   (ग) सामाजिक बदलाव की (घ) इनमें से कोई नहीं।
7. आर्य समाज की स्थापना किसने की–
   (क) राजाराम मोहन राय (ख) स्वामी दयानन्द सरस्वती
   (ग) देवेन्द्र नाथ टैगोर (घ) इनमें से कोई नहीं।
8. विधवा पुनर्विवाह अधिनियम कब पारित हुआ–
   (क) 1852 में (ख) 1854 में (ग) 1856 में (घ) इनमें से कोई नहीं।
9. गतिशीलता का वर्गीकृत किया गया है–
   (क) क्षैतिज (ख) उदग्र
   (ग) क और ख दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।

## 6.2 जाति व्यवस्था स्तरीकरण की व्यवस्था के रूप में (Caste System as a System of Stratification)

जाति को सामाजिक संबंधों की एक व्यापक व्यवस्था के रूप में समझा गया है। यह भी कहा जा सकता है कि कुछ विद्वानों ने जाति को हिन्दू समाज के समान ही माना है। भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद् द्वारा प्रस्तुत एक निबन्ध में सुरजीत सिन्हा ने जाति पर हुए अध्ययनों में जिन मुद्दों पर बल दिया है, वे इस प्रकार हैं : ग्रामीण अध्ययन, जाति और राजनीति, जाति, वर्ग और सामाजिक आर्थिक विकास, जाति और पट्टदारी, जाति, वर्ग और सामाजिक असमानता, जाति श्रेणीकरण का विशिष्ट अध्ययन, जाति व्यवस्था में गतिशीलता, जाति की सामाजिक संरचना, जाति और परिवर्ती विधि व्यवस्था, जाति की जनांकिकी, नगरीय परिवेश में जाति, भारत और पाकिस्तान में गैर-हिन्दुओं में जाति, विभिन्न सभ्यताओं में जाति का अध्ययन, जाति और भारतीय सभ्यता, जनजाति-जाति निरन्तरता, जाति, व्यक्तित्व संरचना, जाति और सामाजिक बोली। सिन्हा ने जाति व्यवस्था में निम्न प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है :

1. जाति प्रथा की उत्पत्ति के बारे में काल्पनिक सिद्धान्तों का वर्णन बन्द हो गया है। असली बात तो यह है कि आज हम उत्पत्ति की चर्चा नहीं करते हैं, बल्कि भारतीय समाज में जाति के उद्भव के स्तरों की व्याख्या करते हैं।
2. जाति पर अधिकतर कार्य सामाजिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र की पद्धति द्वारा बहु जाति गाँवों का अध्ययन का आधार मानकर किया जाता है।
3. इन अध्ययनों में नई परिस्थितियों और परिवर्तनों की शक्तियों के साथ जाति की अनुकूलता को समझने पर बल दिया गया है।
4. अन्तर्जातीय प्रस्थिति के श्रेणीकरण का अध्ययन तथ्यों के विश्लेषण द्वारा किया जाता है।
5. जाति व्यवस्था में संरचनात्मक (अनुलम्बीय), स्थितिक (समस्तरीय) सामाजिक गतिशीलता और परिवर्तनों के अध्ययन भी किए गए हैं।
6. पवित्रता अपवित्रता के द्विचर प्रतिकूलता पर आधारित सोपान की अवधारणा पर काफी बल दिया गया है। ड्यूमो के मतानुसार, द्विचर प्रतिकूलता का तात्पर्य यह है कि जाति व्यवस्था में प्रत्येक वस्तु को पवित्र और अपवित्र के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। पवित्र अपवित्र को घेरे रखता है। दूसरे शब्दों में पवित्र उच्च और श्रेष्ठ है और अपवित्र निम्न और अधीनस्थ है। इस तरह से वे एक-दूसरे के प्रतिरोधी हैं। परन्तु पवित्र-अपवित्र और अपवित्र-पवित्र में विद्यमान है क्योंकि वे एक ही मूल्य व्यवस्था के अंग हैं।
7. भारत में अन्तरर्क्षेत्रीय और भारतीय सभ्यता के परे अन्य व्यवस्थाओं से जाति की तुलनाएँ की गई हैं।

नोट

इन मुद्दों के अतिरिक्त जाति व वर्ग ध्रुवता, सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन के लिए जाति, वर्ग, शक्ति उपागम, और जाति को एक सांस्कृतिक पहलू या संरचनात्मक स्वरूप के रूप में अध्ययन करने की आवश्यकता है। वास्तव में जाति व्यवस्था की विचारधारा या सिद्धान्त, जाति समूहों की संरचना और जाति संरचना को प्रभावित करने वाली प्रक्रियाओं की जाँच करने की आवश्यकता है।

### 6.2.1 जाति, वर्ण और वर्ग

वर्ण एक अखिल भारतीय रचना है जिसके अन्तर्गत हिन्दू समाज चार कोटियों, अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित है। जाति भी एक अखिल भारतीय प्रघटना है, परन्तु विशिष्ट जातियाँ स्थानीय या उप क्षेत्रीय इकाइयों के रूप में पाई जाती हैं। किसी एक गाँव या एक क्षेत्र के बहुत से गाँवों में अनेक जाति समूह पाए जाते हैं। यह जाति ही एक प्रभावकारी अन्त: क्रियात्मक इकाई, एक स्थानिक तथ्य, शक्ति या स्रोत या एक गाँव में गुटों के निर्माण के आधार के रूप में पाई जाती है। ये जातियाँ जो गाँव या कस्बे में रहती हैं, सामाजिक संसर्ग व वैवाहिक सम्बन्धों में सहभोजी और वैवाहिक नियमों का पालन करती हैं।

जाति एक व्यवस्था के रूप में वृहद् विचारधारा बन चुकी है जिसका प्रवेश हिन्दुओं के सभी पहलुओं में दिखाई देता है।

*क्या आप जानते हैं* सभी सामाजिक संबंधों का उद्गम जाति की विचारधारा से होता है।

दूसरे शब्दों में सोपान अपवित्रता-पवित्रता, और समावेश-वर्णन की धारणाओं द्वारा ही सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति निर्णीत होती है। जाति आदर्शात्मक व्यवस्था और वास्तविक सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था दोनों है।

अत: प्रश्न है : जाति से हमारा क्या अभिप्राय है? इस प्रश्न का उत्तर दे पाना आसान नहीं है। एक जाति के सदस्य एक-दूसरे के साथ प्रतियोगिता करते हैं, और वे एक-दूसरे का सहयोग भी करते हैं। आज अन्त:जातीय वर्ग आधारित विभेद बहुत स्पष्ट दिखाई देते हैं। एक गाँव में किसी एक जाति के सदस्यों के बीच आर्थिक विभेदों को भारत की वर्ग संरचना की प्रमुख बहुशाखाओं के रूप में देखा जा सकता है। यह अलग बात है कि विवाह के नियमों का पालन करते समय विभिन्न जातियों के सदस्य वैवाहिक गठबन्धनों में वर्ग या प्रस्थिति को अधिक महत्व देते हैं।

### 6.2.2 जाति एक विचारधारा के रूप में

लुई ड्यूमों जाति प्रथा पर आधारित असमानता को एक विशेष प्रकार की असमानता मानते हैं। लोगों के वास्तविक और अवलोकनीय व्यवहार को जानने के लिए "विचार और मूल्य" आधारीय हैं। ड्यूमो के अनुसार, जाति सोपान के लिए पवित्र और अपवित्र का विचार प्रमुख है। सोपान एक "सार्वभौमिक आवश्यकता" हैं। ड्यूमो का मत है कि भारतीय समाज स्थिर रहा है। समाज के अन्दर परिवर्तन हुआ है, परन्तु समाज का परिवर्तन अनुपस्थित रहा है। एक विशिष्ट ग्रामीण या नगरीय सन्दर्भ में जाति को एक आनुभाविक वास्तविकता के रूप में ढूंढ़ा जा सकता है। इन सन्दर्भों में जाति एक विशेष प्रस्थिति समूह के रूप में दिखाई देती है। परन्तु वृहद् स्तर पर जाति एकात्मकता का एक साधन है। वृहद स्तर पर जाति अनौपचारिक और दैनिक सम्बन्धों की एक प्रकार्यकारी वास्तविकता नहीं है। उदाहरण के लिए, एक तमिल ब्राह्मण और उत्तर प्रदेश के एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण के बीच इस वृहद स्तर पर जाति विवाह का आधार नहीं होती है। परन्तु फिर भी एक तमिल और एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण में एक ही सामाजिक वंश के होने की भावना पाई जा सकती है, और सामान्य हित के लिए, विशेषकर संकट की परिस्थितियों में वे सहयोग भी कर सकते हैं।

दूसरा प्रश्न है : क्या जाति एक हित समूह है? अवश्य ही जाति मनोवैज्ञानिक और सामाजिक सन्दर्भों में एक "संसाधन" है। परन्तु जाति की संसाधनता जाति की श्रेणी पर निर्भर करती है, और जाति के सदस्य आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक हितों को विभिन्न स्तरों पर प्रकट करते हैं।

नोट

### 6.2.3 भारतीय समाज का जाति मॉडल

जैसा कि हम पहले संकेत दे चुके हैं कि लुई ड्यूमो भारतीय समाज को एक "जाति समाज" के रूप में मानते हैं। इस प्रकार "जाति" तार्किक आधार पर "वर्ग" व्यवस्था के विपरीत है। आंद्रे बेत्तेई ने भारतीय समाज के जाति मॉडल की निम्न मुख्य विशेषताएँ बतलाई हैं :

1. यह मॉडल समाज के कुछ अनुभागों के विचारों या उनके द्वारा प्रकट विचारों पर प्रमुखत: आधारित है, न कि लोगों के अवलोकित व्यवहार पर। "आदर्श" और "वास्तविक" के बीच सदैव अन्तर पाया जाता है।
2. धर्म ग्रन्थों में वर्णित जाति को इस मॉडल में एक प्रकार का प्राथमिक और सार्वभौमिक महत्व दिया गया है, लेकिन तथ्य तो यह है कि जाति बहुत बदल चुकी है और परिवर्तित परिस्थितियों में जाति ने नए आयाम और भूमिकाएँ ग्रहण कर ली हैं।
3. सम्पूर्ण जाति व्यवस्था कुछ निश्चित सिद्धान्तों या "खेल के नियमों" से शासित होती है।
4. ऐसा समझा जाता है कि विभिन्न जातियाँ मानार्थ प्रकार्य पूरा करती हैं और उनके परस्पर सम्बन्ध "अविरोध ात्मक" हैं। यहां पर तात्पर्य जजमानी प्रथा से हैं, जिसके अन्तर्गत वंशानुगत आधार पर विभिन्न जातियों के सदस्यों को निश्चित प्रकार्य पूरे करने का उत्तरदायित्व दिया जाता है।

बेत्तेई का मत है कि यह मॉडल एक व्यापक योजना के रूप में किसी समाज के विशिष्ट गुणों का बोध कराने में सहायक नहीं है। दूसरी बात यह है कि यह मॉडल अपने विशिष्ट स्वरूप में आर्थिक और राजनैतिक जीवन की मुख्य विशेषताओं की व्याख्या नहीं करता है। अत: यह मॉडल विचारों और मूल्यों से ही मुख्यत: जुड़ा हुआ है। इसकी उपयोगिता धार्मिक अवस्थाओं की व्याख्या करने में अधिक है। भारतीय समाज के "जाति मॉडल" की मदद द्वारा "हितो", राजनैतिक, आर्थिक समस्याओं, और अन्तर समूह सम्बन्धों का अध्ययन अधूरा ही रहता है। इस मॉडल को अपनाने से एक सांस्कृतिक व्यवस्था के रूप में जाति का अध्ययन भी सीमित हो जाता है।

जब जाति को एक सांस्कृतिक या वैचारिक व्यवस्था मानते हैं, तब जाति के संरचनात्मक पहलू पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता है। निम्न व उच्च जातियों, भूस्वामी, भूमिहीन जातियों, जजमान और कमीन जातियों के बीच सम्बन्धों को समझने के लिए जाति का संरचनात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन करना होगा। संरचनात्मक परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत, उदाहरण के लिए प्रभुत्व और अधीनस्थता, अतिरेक बचत और शोषण, विशेषाधिकार तथा वंचन संदर्भ मुद्दे होते हैं। सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में विचारों और मूल्यों पर बल दिया जाता है, अर्थात् अपवित्रता–पवित्रता, विवाह के नियम और अन्तर्जातीय सम्बन्धों के नियम आदि का अध्ययन किया जाता है।

### 6.2.4 जाति के सांस्कृतिक और संरचनात्मक पहलू

नि:संदेह जाति प्रथा की बहु–आयामी और जटिलता के कारण जाति की एक सुनिश्चित परिभाषा देने में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। हमने इस बात का पहले ही उल्लेख किया है कि जाति के बारे में दो प्रमुख मत हैं : (1) जाति का संरचनात्मक पहलू इस स्तरीकरण का एक आम सिद्धान्त स्वीकार करने से समझ सकते हैं, और (2) जाति की सांस्कृतिक व्यवस्था को इस अपवित्रता–पवित्रता और सोपान की धारणाओं, पृथक्करण और समष्टिता के सन्दर्भ में समझते हैं। संरचनात्मक दृष्टिकोण का अर्थ है कि स्तरीकरण एक सार्वभौमिक वास्तविकता है। इसीलिए जाति इस वास्तविकता का एक पहलू है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अनुसार, जाति एक विशिष्ट प्रघटना है और यह विशेषकर भारत में ही पाई जाती है।

कुछ विद्वान जाति को सामाजिक स्तरीकरण की एक "बन्द व्यवस्था" समझते हैं। परन्तु अन्य विद्वान जाति को "बन्द व्यवस्था" समझते हैं। परन्तु अन्य विद्वान जाति को "बन्द" और "खुला" दोनों मानते हैं। बन्द व्यवस्था के रूप में जाति की प्रकृति "सावयवी" है, अर्थात विभिन्न जातियाँ सामाजिक–सांस्कृतिक और आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के वास्ते एक–दूसरे पर निर्भर रहती हैं। "खुली" व्यवस्था के रूप में जाति की प्रकृति खण्डित है, अर्थात् विभिन्न जातियाँ एक दूसरे से कुछ स्वतंत्र रहती हैं क्योंकि भारत में "विभेदीकृत संरचनाओं" का प्रादुर्भाव हुआ है। इन विश्लेषणात्मक अन्तरों के कारण भी जाति की एक सामान्य परिभाषा बनाने में बाधा आती है। इन मतों से यह

नोट

तो स्पष्ट होता है कि जाति कुछ मायनों से स्तरीकरण की अन्य व्यवस्थाओं के समान है, जबकि कुछ अन्य सन्दर्भों में जाति बिल्कुल अनूठी व्यवस्था है।

वास्तव में, जाति एक बहुत लचीली व्यवस्था नहीं है, परन्तु इतिहास से मालूम होता है कि प्राचीन काल से आज तक "जाति गतिशीलता आन्दोलन" होते रहे हैं। एम. एन. श्रीनिवास के अनुसार, संस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा निम्न जाति के लोग अपनी प्रस्थिति में सुधार करने की दृष्टि से उच्च जातियों की जीवन शैलियों, धार्मिक कृत्यों और व्यवहारों का अनुकरण करते हैं। जाति व्यवस्था में गतिशीलता की ऐसी प्रक्रिया से समस्तरीय विभेद आए है या श्रीनिवास के शब्दों में "स्थितिक" परिवर्तन हुए हैं। स्थितिक परिवर्तन से जाति परिवर्तित नहीं होती है, जाति में परिवर्तन आता है। "संरचनात्मक" परिवर्तन का अर्थ सामाजिक संरचना की विषमस्तरीय व्यवस्था में परिवर्तन से है, यह परिवर्तन अन्त में व्यवस्था का परिवर्तन होता है। संरचनात्मक परिवर्तन वृहद् और लघु दोनों स्तरों पर होता है, परन्तु सामाजिक व्यवस्था का "स्वरूप" में अधिक और उसके "सार" में कम होता है।

एक जाति को जाति व्यवस्था के मानकों द्वारा निर्देशित होकर रहना पड़ता है। जाति उन्हीं पहलुओं में स्वतन्त्र रह सकती है जो कि परिवर्तित हो चुके हैं और उनके स्थान पर नए उपाय ढूंढ़ लिए गए हैं। एक जाति, जाति व्यवस्था से बँधी हुई रहने के उपरान्त भी अपने रिवाजों, सांस्कारिक कृत्यों और दूसरी जातियों से अपने अधिकारों की रक्षा करने में स्वतन्त्र हैं। वास्तविकता तो यह है कि जाति ने अपने आपको प्रतिरोधी तथा प्रतिकूल परिस्थितियों के साथ ढाल लिया है, और परम्परागत प्रकार्यों या मानकों के स्थान पर नए उपाय ढूंढ़ निकाले हैं। आज भी एक गाँव में रहने वाली विभिन्न जातियाँ सामाजिक अवसरों और कृषि क्रियाओं में एक निश्चित प्रकार के पारस्परिक सहयोग की आपेक्षा रखती हैं।

यह कहना भी भ्रामक है कि जातियाँ अवश्य ही एक-दूसरे के साथ सहयोग करती हैं। अविरोध और सोपान दोनों ही नियम प्रतिज्ञप्ति कोटियाँ हैं। असलियत में विभिन्न जातियों के बीच अवहेलना और संघर्ष अथवा हितों का टकराव साधारण बात है। यह मत कि जाति का आशय सहयोग से है और प्रतियोगिता (या संघर्ष) वर्गों से जुड़ी हुई है–सहज और अवास्तविक है। यदि यह सत्य है कि उच्च जातियाँ अपने प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए निम्न जातियों प्रभु जातियों से समर्थन प्राप्त करने के लिए एक-दूसरे के साथ प्रतियोगिता करती हैं। एक प्रभु जाति संख्यात्मक बाहुलता भूस्वामित्व, उच्च सांस्कारिक प्रस्थिति, सामाजिक एवं राजनैतिक सम्पर्कों के आधार पर परिभाषित की जा सकती है। एक निश्चित समय पर एक विशिष्ट जाति का प्रभुत्व एक या इन गुणों के मिश्रण के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है।

जिस प्रतियोगिता का हमने उल्लेख किया है वह कोई नई बात नहीं है। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच एक क्षेत्र के ऊपर अधिकार प्राप्त करने के लिए झगड़े लगातार होते रहते थे। अन्तर्जातीय संघर्षों के अतिरिक्त, निम्न जातियाँ उच्च जातियों के विरुद्ध बराबर विद्रोह करती रहीं हैं, और यह तथ्य जाति की ऐतिहासिकता का अंग बन चुका है।

### 6.2.5 हिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य समुदायों में जाति

हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि जाति पूर्णतया एक हिन्दू संस्था है, परन्तु कुछ अध्ययनों से पता चलता है कि मुसलमानों, सिखों, और ईसाइयों में भी जातियाँ पाई जाती हैं। स्वतन्त्रता के पूर्व जनगणना आयुक्तों ने वर्णन किया है कि भारत में जाति जैसे अन्त:विवाही स्तर अहिन्दुओं में भी पाए जाते हैं। कलकत्ता और उत्तर प्रदेश के मुसलमानों, सिख, जैन व यहूदी समुदायों में जाति व्यवस्था की तरह सामाजिक और आर्थिक सम्बन्ध प्रतिमानित होते हैं। इन समुदायों में वंशानुगत व्यावसायिक समूह अन्त:विवाही श्रेणीकृत उप समूहों के रूप में पाए जाते हैं। अनेक निम्न जाति के हिन्दुओं ने इस आशा के साथ इस्लाम धर्म अपना लिया कि वे अपनी प्रस्थिति में सुधार कर सकेंगे क्योंकि इस्लाम में जाति की तरह के विभेद नहीं पाए जाते थे। परन्तु ये लोग अपनी जाति प्रस्थिति में परिवर्तन लाने में सफल नहीं हुए। भारत में मुसलमान जाति प्रथा के लगभग समानान्तर ही समूहों में विभक्त हैं। यद्यपि इस्लाम में अपवित्रता और छुआछूत की धारणाओं के लिए कोई स्थान नहीं है, फिर भी ये मुसलमानों में पाई जाती है।

नोट

भारत में मुसलमान अशरफ और गैर अशरफ समुदायों में बँटे हुए हैं। अशरफ उच्च वंश के हैं और मुख्यत: शहरों में रहते हैं जबकि गैर अशरफ हिन्दू धर्म छोड़कर मुसलमान बने हुए लोग हैं और मुख्यत: गाँवों में रहते हैं। मुसलमानों में भंगी, कमीन, सक्का, नाई और जमींदार आदि पर आधारित विभेद भी हैं और इन विभेदों के साथ सांस्कारिक मूल्य भी जुड़ा हुआ है। सिखों और अन्य समुदायों में वृत्तिमूलक जातियाँ भी पाई जाती हैं जिनके साथ कुछ अंश तक अपवित्रता और अस्पृश्यता भी जुड़ी हुई है।

यहाँ तक कि श्रीलंका में भी जाति समूह पाए जाते हैं जहाँ पर सिंहली लोग बौद्ध धर्म को मानते रहे हैं। बर्मा, जापान और कुछ अन्य देशों में भी इसी प्रकार जातियों के उदाहरण मिलते हैं। अमेरिका के काले लोगों की तुलना भारत के अछूतों से की गई है। जिस तरह से जाति एक विचारधारा बनकर पूरे हिन्दू समाज में प्रविष्ट कर गई है, उस रूप में अन्यत्र नहीं पाई जाती है, और इसीलिए जाति सांस्कृतिक दृष्टि से विशिष्ट और अनूठी व्यवस्था है।

## क्या जातियाँ वर्गों के विपरीत हैं?

पश्चिमी विद्वानों और विशेषकर ब्रिटिश प्रशासकों और नृजाति विशेषज्ञों के अनुसार जाति और वर्ग एक-दूसरे के बिलकुल विपरीत हैं। उनकी मान्यता है कि जाति और वर्ग भिन्न प्रकार के सामाजिक स्तरीकरण हैं। वर्ग व्यवस्था में व्यक्ति श्रेणीकृत इकाइयाँ होती हैं और जाति में समूह श्रेणीकृत होते हैं। इस मत के अनुसार जाति से वर्ग की और, सोपान से स्तरीकरण की और, बन्द से खुली अवस्था की तरफ और सावयवी से सखण्डीयता की और परिवर्तन हो रहा है। जाति और वर्ग में इस तरह का विभेद यांत्रिक किस्म का है।

कुछ विशेष गुणों आधार पर प्रस्थितियों के वस्तुनिष्ठ निर्धारण को वर्ग समझा जाता है जो कि एक संकीर्ण दृष्टिकोण है। वर्ग को "तरलता" और जाति को "कठोरता" का उदाहरण मानने से इन दोनों सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्थाओं का एक पक्षीय और अनुचित वर्णन प्राप्त होगा। इस प्रकार के विभेद को स्वीकार करने का स्पष्ट अर्थ यह है कि जाति को प्रस्थिति कठोरता और स्थिरता, सावयवी एक प्राणता और प्रकार्यात्मक आत्मनिर्भरता, सम सोपानीयता और पवित्रता की अवधारणाओं के सन्दर्भ में परिभाषित किया जाता है। इसके विपरीत व्यक्तिवाद की विचारधारा, प्रतियोगिता और समानता के लक्षणों द्वारा वर्ग को परिभाषित किया गया है। जाति और वर्ग की ऐसी रचनाएँ पूर्णत: गलत हैं।

जाति सामाजिक स्तरीकरण की एक व्यवस्था के रूप में कठोरता और तरलता, सहयोग और प्रतियोगिता, साकल्यवाद और व्यक्तिवाद, सावयवी और सखण्डीय प्रभाग, अन्तर्निर्भरता और स्वायत्तता, असमानता और समानता का रूप है। इन ध्रुवीय विशेषताओं की उत्पत्ति गैर जातीय पश्चिमी समाज की श्रेष्ठता की धारणा से हुई है। जाति और वर्ग के बीच के ये विभेद "विश्लेषणात्मक" हैं, न कि "ऐतिहासिक" और अनुभवात्मक विषयसूची पर आधारित।

अत: यह विभेद करना कि जाति एक "वास्तविक" प्रघटना है, और वर्ग एक कोटि, एक गुणात्मक रचना है, तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है। जाति और वर्ग दोनों वास्तविक और आनुभाविक हैं। दोनों अन्त:क्रियात्मक और सोपानुगत हैं और एक-दूसरे में प्रविष्ट हैं। अन्य गलत धारणा यह हैं कि "वर्ग" का अर्थ भारतीय समाज के लिए केवल मार्क्सवादी ही है। जजमान और कमीन, भूस्वामी और कृषक, तथा उच्च जातीय गरीब लोगों के बीच "एकता" और "तालमेल" के तथ्य को स्वीकार करना होगा। यह बात सही है कि इन विसंगतियों से शक्तिशाली और कमजोर वर्गों के बीच विरोधाभासों और उनसे उत्पन्न होने वाले संघर्षों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। भारतीय संदर्भ में शक्ति एक शून्य-तुल्य वास्तविकता नहीं है। केवल वे ही लोग नहीं है जो चोटी पर हैं और धरातल पर हैं। भारतीय समाज एक बहु-स्तरित और पेचीदी सामाजिक संरचना है। अत: जाति में अन्तिमता और पूर्ण व्यवस्था नहीं है। इसमें गत्यात्मकता और विरोधाभास भरे हुए हैं। जाति के मानकों के उल्लंघन से जाति सामाजिक स्तरीकरण के एक सिद्धान्त के रूप में पदच्युत नहीं होती है।

चूँकि जाति में वर्ग सम्मिलित हैं और वर्ग में जाति शामिल है, इसलिए न तो केवल "जाति दृष्टिकोण" और न "वर्ग दृष्टिकोण" ही भारत की सम्पूर्ण सामाजिक वास्तविकता को समझने में सक्षम है। सत्य तो यह है कि स्वतन्त्रता से पूर्व जाति, वर्ग और शक्ति के बीच पूर्ण सामंजस्य कभी नहीं रहा। गतिशीलता और प्रवास साधारण क्रियाएँ थीं और

नोट

विशेषकर सत्ता प्राप्त करने हेतु किए गए युद्ध के परिणाम ऐसी गतिविधियाँ हुआ करती थीं निम्न जातियों पर जुल्म और अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह भी हुए थे। पिछले वर्षों में भूमि सुधार, वयस्क मताधिकार और कुछ संवैधानिक प्रावधानों के द्वारा "प्रस्थितियों के संकलन" में विसंगतियाँ आई हैं।

हमने पिछले पृष्ठों में प्राचीन युग में ब्रिटिश काल तक वर्ग सम्बन्धों का वर्णन किया है। भौतिक और सांस्कृतिक परम्पराएँ समन्वित रूप में विद्यमान थीं। वर्ग रूपान्तरण नए राज्यों, स्थायी कृषि, व्यापार, नगरों, बैंकिंग और व्यवसायी संघों के रूप में एक महत्वपूर्ण तथ्य था। ए. आर. देसाई का अवलोकन है कि जाति में वर्ग का अर्द्धविकसित परन्तु सम्भत: विस्फोटक रूप निहित है। देसाई के अनुसार, भारतीय राज्य अपने सार और वास्तविकता में "पूँजीवादी" हैं क्योंकि राज्य के पास आर्थिक शक्ति है, और जनता को आर्थिक शक्ति प्रदान करने या मना करने के लिए राज्य राजनैतिक शक्ति का उपयोग करता है।

अत: वर्ग और दोनों भारत की सामाजिक संरचना के वास्तविक आयाम हैं, और ये दोनों एक-दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते। वर्ग केवल एक अवधारणात्मक अमूर्तिकरण, कुछ विशेषताओं या लक्षणात्मक सूचकों पर आधारित सूचना नहीं है, यह एक मूर्त वास्तविकता है। भूस्वामियों, भूमिहीन मजदूरों, व्यापारियों और साहूकारों के वर्ग भी भारतीय समाज के संरचनात्मक अंग हैं। उनमें अन्त:क्रियात्मक संबंध उनके जीवन की परिस्थितियों से जुड़े हुए हैं।

कैथलीन गैफ ने सामाजिक संरचना के रूप में उत्पादन बहुलक के विश्लेषण में जाति और वर्ग के अन्तर्सम्बन्धों पर प्रकाश डाला है जिसमें जाति, राजस्व, परिवार और विवाह के अन्त:सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियों तथा उत्पादन सम्बन्धों के साथ पाए जाते हैं। गैफ की मान्यता है कि वर्ग संबंधों को भारत में जाति और बंधुता के अध्ययन में अनुक्षेत्र मान्यता के रूप में स्वीकार करते हैं। कई विद्वानों ने वर्ण और जजमानी प्रथा को वर्ग सम्बन्धों और उत्पादन के तरीकों के रूप में समझाया है।

जाति और वर्ग बहुत हद तक एक ही संरचनात्मक आवश्यकता का प्रतिनिधित्व करते हैं। जाति और वर्ग अभिबंध के बारे में योगेन्द्र सिंह की टिप्पणी का उल्लेख करना उचित होगा। "यह स्थिति परिवर्तन के 'समपार्श्वीय' प्रारूप के जैसी है जिसमें जाति और बंधुता से जुड़े हुए परम्परात्मक मनोभावों में अनुकूली रूपान्तरण होता है, परन्तु वर्गों या सामूहिक समूहों में पूर्ण रूप से 'विवर्तित' हुए बिना ऐसा होता है। वर्ग जातियों के ढाँचे में कार्य करते हैं" जाति संघर्ष को हम वर्ग संघर्ष ही कहेंगे क्योंकि सामाजिक स्थिति की दृष्टि से उच्च और निम्न जातियाँ उच्च और निम्न वर्गों के समानान्तर हैं। जातियों वर्गों की तरह कार्य करती हैं क्योंकि वे हितबद्ध गुटों की तरह कार्य करती हैं। जाति पंचायतें अपने सदस्यों के लिए अनेक आर्थिक और राजनैतिक कार्य करती हैं। जोन मेन्चर के अवलोकन के अनुसार, "जाति निम्न जातियों का शोषण करने की एक प्रभावकारी व्यवस्था है।" उच्च जातियों ने निम्न जातियों (वर्गों) में जाति चेतना का प्रादुर्भाव नहीं होने दिया, क्योंकि उच्च जातियों को अपनी संस्थापित प्रस्थिति के लिए वर्ग चेतना में खतरा दिखाई देता था।

## जाति और वर्ग सम्बन्धों में परिवर्तन

भारत की वर्ग संरचना का विश्लेषण कैसे किया जा सकता है? उदाहरण के लिए, रूढ़िवादी मार्क्सवादी भारतीय कृषि क्षेत्र में केवल दो वर्ग : (1) दीर्घ भूस्वामियों का वर्ग, और (2) कृषि श्रमिकों का वर्ग मानते हैं। दूसरा मत यह है कि वर्तमान में कृषि में श्रमिक, गरीब कृषकों, मध्यम कृषकों, धनी कृषकों और भूस्वामियों के रूप में वर्ग विभेदीकरण पाया जाता है और ऐसा पहले भी पाया जाता था। मार्क्सवादी इन वर्गों के बीच के सम्बन्धों को "पूँजीवादी" प्रकृति का मानते हैं, इसीलिए "धनाढ्य" और "निर्धन" के बीच अन्तर करते हैं। ए. आर. देसाई का मत है कि भारत में राज्य ने विकासकारी उपाय के रूप में पूँजीवादी समाज के सम्पत्ति मानकों को ग्रहण कर लिया है। रूढ़िवादी मार्क्सवाद में निहित आर्थिक निर्धारणवाद का विरोध देशी अवधारणाओं के उपयोग द्वारा किया जाता है।

अर्थशास्त्री वी. एम. डांडेकर ने भारतीय समाज में वर्ग और वर्ग संघर्ष की प्रकृति की जाँच करते हुए पाँच प्रमुख वर्गों का वर्णन किया है। ये वर्ग हैं: (1) पूर्व पूँजीवाद (कृषक, कृषि श्रमिक और घरेलू उद्योग), (2) पूँजीवादी समाज में स्वतन्त्र उद्यमी, (3) नियोजक, (4) श्वेत वस्त्र कर्मचारी, और (5) नीला वस्त्र कर्मी। प्रमुख वर्गों को इस प्रकार भी माना जा सकता है : (1) कृषक वर्ग, (2) उद्योगत वर्ग, (3) व्यावसायिक वर्ग, और (4) व्यापारिक वर्ग।

नोट

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**2. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–**

1. ..... एक अखिल भारतीय रचना है।
2. ..... आदर्शात्मक व्यवस्था और वास्तविक सामाजिक संबंधों की व्यवस्था दोनों है।
3. ..... के अनुसार, जाति सोपान के लिए पवित्र और अपवित्र का विचार प्रमुख है।
4. ..... के अनुसार, जाति एक विशिष्ट प्रघटना है और यह विशेषकर भारत में पाई जाती है।
5. ..... में मुसलमान अशरफ और गैर अशरफ समुदायों में बँटे हुए हैं।
6. जाति और वर्ग बहुत हद तक एक ही संरचनात्मक आवश्यकता का ..... करते हैं।

## 6.3 सारांश (Summary)

- अंग्रेजी भाषा का शब्द 'caste' स्पेनिश शब्द 'casta' से लिया गया है। 'कास्टा' शब्द का अर्थ है 'नस्ल, प्रजाति अथवा आनुवंशिक तत्वों या गुणों का संग्रह'। पुर्तगालियों ने इस शब्द का प्रयोग भारत के उन लोगों के लिए किया, जिन्हें 'जाति' के नाम से पुकारा जाता है। अंग्रेजी शब्द 'caste' मौलिक शब्द का ही समंजन है।
- मेगस्थनीज, ईसापूर्व तीसरी शताब्दी के चीनी यात्री, ने जाति-व्यवस्था के दो लक्षण बतलाए थे। वह लिखता है, "इसे अन्य जाति के व्यक्ति के साथ विवाह करने की अनुमति नहीं होती है, न ही एक व्यवसाय या व्यापार को छोड़कर दूसरा व्यवसाय या व्यापार, तथा न ही एक व्यक्ति को एक से अधिक व्यवसाय करने की अनुमति होती है, सिवाय दार्शनिक जाति के सदस्य को, जिसे उसकी प्रतिष्ठा के कारण ऐसा करने की अनुमति दे दी जाती है।
- जाति-व्यवस्था के अंतर्गत समाज के अनेक जातियों में विभक्त होता है। प्रत्येक जाति का अपना जीवन होता है, जिसकी सदस्यता जन्म के आधार पर निर्धारित होती है। व्यक्ति की प्रस्थिति उसके धन पर नहीं, अपितु उस जाति के परम्परागत महत्व पर निर्भर करती है, जिसमें उसे जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। जाति आनुवंशिक होती है। धन, पश्चाताप अथवा प्रार्थना की कोई माया उसकी जाति-स्थिति को नहीं बदल सकती। प्रस्थिति का निर्धारण व्यवसाय से नहीं, अपितु जन्म से होता है।
- जाति तथा वर्ग के बीच अन्तर को स्पष्ट करते हुए **मैकाइवर** (MacIver) ने लिखा है, "जबकि पूर्वी सभ्यताओं के वर्ग एवं प्रस्थिति का मुख्य निर्धारक जन था, पाश्चात्य सभ्यताओं में धन समान अथवा अधिक महत्वपूर्ण वर्ग-निर्धारक तत्व है। धन जन्म की अपेक्षा कम अनमनीय निर्धारक है; यह अधिक स्थूल है, अत: इसके दावों को अधिक सुगमता से चुनौती दी जाती है। यह 'मात्रा' का विषय है। इसमें 'प्रकार' के अन्तर उत्पन्न नहीं होते। ये अन्तर पृथक्करणीय, हस्तांतरणीय एवं उपार्जनीय होते हैं। इसमें भेद की ऐसी स्थायी रेखा नहीं होती जैसी जन्म का तत्व खींच देता है।"
- जाति-व्यवस्था की ठीक उत्पत्ति की खोज नहीं की जा सकती। इस व्यवस्था का जन्म भारत में हुआ, ऐसा कहा जाता है। भारत-आर्य संस्कृति के अभिलेखों में इसका सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है तथा उन तत्वों का निरन्तर इतिहास भी मिलता है, जिनसे जाति-व्यवस्था का निर्माण हुआ। जिन लोगों को भारत-आर्य कहा जाता है, वे भाषाशास्त्रीय दृष्टि से एक बड़े परिवार भारत-यूरोपीय अथवा भारत-जर्मन से सम्बन्ध रखते हैं। उनमें ऐंग्लो-सैक्सन, कैल्ट (Celts), रोमन, स्पेनिश, पुर्तगीज और ईरानी आदि सम्मिलित हैं।
- समय-समय पर भारतीय जाति-व्यवस्था की विभिन्न लेखकों द्वारा आलोचना की गई है। समाज में जितनी बुराइयाँ हैं, उन सबके लिए जाति-व्यवस्था को दोषी ठहराया गया है। परन्तु एक मात्र यही तथ्य कि इतने

नोट

आक्षेपों के बावजूद भी यह पहले की भाँति अभी तक चल रही है, इस बात का प्रमाण है कि यह व्यवस्था इतनी बुरी नहीं है, जितनी समझी जाती है। ब्राह्मणों ने 2,000 वर्ष तक अपनी प्रभुता को स्थिर रखा, यह उनकी योग्यता को प्रमाणित करता है।

- "सामाजिक संरचना महत्वपूर्ण तत्व है। जहाँ लोग भाषा, धर्म, प्रजाति अथवा व्यवसाय पर आधारित जातीय भेदों के कारण विभक्त हो जाते हैं, वहाँ पारस्परिक अविश्वास एवं शत्रुता उत्पन्न हो जाती है, जिससे उनके लिए इकट्ठे मिलकर कार्य करना अथवा प्रत्येक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के अधिकारों को समान समझना कठिन हो जाता है।" जब तक जातीय अवरोधों को समाप्त नहीं कर दिया जाता, ताकि निम्न प्रस्थिति के व्यक्ति को व्यक्तिगत प्रयत्नों का लाभ सम्भव हो सके, ऐसे प्रयत्न नहीं होंगे और समाज को अन्ततः हानि होगी।
- जजमानी व्यवस्था ने, जो किसी समय भारतीय समाज में लाभदायक थी, धीरे-धीरे निम्न जातियों के शोषण का रूप धारण कर लिया है। उच्च जातियाँ निचली जातियों के लोगों का शोषण करती हैं, जो स्वयं को अपने अभिभावकों की धनशक्ति के सामने असहाय अनुभव करते हैं। जजमानी व्यवस्था में जाति-व्यवस्था के सभी दोष वर्तमान हैं। नगरीकरण के प्रभाव एवं यातायात के द्रुतगामी साधनों के विकास के कारण जजमानी व्यवस्था विघटित हो रही है, तथापि इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि जातियों की प्रकार्यात्मक अन्योन्याश्रितता देहातों में भारतीय जाति-व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता है।
- प्राचीन भारत में, निरंकुश अनमनीयता कभी भी नहीं रही। यहाँ-वहाँ कुछ नमनीयता दृष्टिगत होती है, उदाहरणतया विश्वामित्र, जो शूद्रों का पुरोहित और वशिष्ट का प्रतिद्वंद्वी था, परम्परानुसार क्षत्रिय था। आधुनिक समय में जाति-व्यवस्था के इस अनमनीय तत्व में अनेक परिवर्तन आ गए हैं।
- भारत में जाति-व्यवस्था के दोषों को दूर करने के लिए अभी तक किए गए अपायों के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यद्यपि जाति-व्यवस्था का प्रभाव धीरे-धीरे घट रहा है, तथापि यह पूर्व की भाँति जीवित है तथा लोगों के विचारों एवं अभिवृत्तियों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है।
- आर्थिक प्रगति किसी देश में गतिशीलता की दर को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण तत्व है। आर्थिक प्रगति औद्योगिकरण से संबद्ध है तथा औद्योगीकरण गतिशीलता को ऊँची दर से। इस विषय पर, एक समाजशास्त्री, **ओसोवास्की** (Ossowaski) का कथन महत्त्वपूर्ण है, "समाजवादी व्यवस्था में पूँजीवादी व्यवस्थाकी अपेक्षा आर्थिक विकास की अधिक आवश्यकता है। अतएव, समाजवादी राज्यों के नेताओं का एक तात्कालिक लक्ष्य औद्योगीकरण, नगरीकरण, संचार के साधनों के विकास एवं जनशिक्षा में अधिक उन्नत पूँजीवादी देशों के स्तर को प्राप्त करना था। इन सभी प्रक्रियाओं में समाजवादी तथा अन्य देशों में भी सामाजिक गतिशीलता की वृद्धि निहित है।"
- जाति को सामाजिक संबंधों की एक व्यापक व्यवस्था के रूप में समझा गया है। यह भी कहा जा सकता है कि कुछ विद्वानों ने जाति को हिन्दू समाज के समान ही माना है। भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद् द्वारा प्रस्तुत एक निबन्ध में सुरजीत सिन्हा ने जाति पर हुए अध्ययनों में जिन मुद्दों पर बल दिया है, वे इस प्रकार हैं : ग्रामीण अध्ययन, जाति और राजनीति, जाति, वर्ग और सामाजिक आर्थिक विकास, जाति और पट्टदारी, जाति, वर्ग और सामाजिक असमानता, जाति श्रेणीकरण का विशिष्ट अध्ययन, जाति व्यवस्था में गतिशीलता, जाति की सामाजिक संरचना, जाति और परिवर्ती विधि व्यवस्था, जाति की जनांकिकी, नगरीय परिवेश में जाति, भारत और पाकिस्तान में गैर-हिन्दुओं में जाति, विभिन्न सभ्यताओं में जाति का अध्ययन, जाति और भारतीय सभ्यता, जनजाति-जाति निरन्तरता, जाति, व्यक्तित्व संरचना, जाति और सामाजिक बोली।
- वर्ण एक अखिल भारतीय रचना है जिसके अन्तर्गत हिन्दू समाज चार कोटियों, अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित है। जाति भी एक अखिल भारतीय प्रघटना है, परन्तु विशिष्ट जातियाँ स्थानीय या उप क्षेत्रीय इकाइयों के रूप में पाई जाती हैं।

नोट

- भारतीय समाज स्थिर रहा है। समाज के अन्दर परिवर्तन हुआ है, परन्तु समाज का परिवर्तन अनुपस्थित रहा है। एक विशिष्ट ग्रामीण या नगरीय सन्दर्भ में जाति को एक आनुभाविक वास्तविकता के रूप में ढूंढ़ा जा सकता है। इन सन्दर्भों में जाति एक विशेष प्रस्थिति समूह के रूप में दिखाई देती है।
- लुई ड्यूमो भारतीय समाज को एक "जाति समाज" के रूप में मानते हैं। इस प्रकार "जाति" तार्किक आधार पर "वर्ग" व्यवस्था के विपरीत है।
- जब जाति को एक सांस्कृतिक या वैचारिक व्यवस्था मानते हैं, तब जाति के संरचनात्मक पहलू पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता है। निम्न व उच्च जातियों, भूस्वामी, भूमिहीन जातियों, जजमान और कमीन जातियों के बीच सम्बन्धों को समझने के लिए जाति का संरचनात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन करना होगा।
- जाति पूर्णतया एक हिन्दू संस्था है, परन्तु कुछ अध्ययनों से पता चलता है कि मुसलमानों, सिखों, और ईसाइयों में भी जातियाँ पाई जाती हैं।
- भारत में मुसलमान अशरफ और गैर अशरफ समुदायों में बँटे हुए हैं। अशरफ उच्च वंश के हैं और मुख्यत: शहरों में रहते हैं जबकि गैर अशरफ हिन्दू धर्म छोड़कर मुसलमान बने हुए लोग हैं और मुख्यत: गाँवों में रहते हैं।
- जाति और वर्ग बहुत हद तक एक ही संरचनात्मक आवश्यकता का प्रतिनिधित्व करते हैं। जाति और वर्ग अभिबंध के बारे में योगेन्द्र सिंह की टिप्पणी का उल्लेख करना उचित होगा। "यह स्थिति परिवर्तन के 'समपार्श्वीय' प्रारूप के जैसी है जिसमें जाति और बंधुता से जुड़े हुए परम्परात्मक मनोभावों में अनुकूली रूपान्तरण होता है, परन्तु वर्गों या सामूहिक समूहों में पूर्ण रूप से 'विवर्तित' हुए बिना ऐसा होता है।

## 6.4 शब्दकोश (Keywords)

- **विसरण** : चारों तरफ फैलना।
- **समागम** : संगम होना, मिलन होना, कई लोगों का एक स्थान पर मेल-मिलाप।

## 6.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. जाति की परिभाषा दीजिए। इसका वर्ग से अंतर बतलाइए।
2. वर्ग की परिभाषा कीजिए। यह आर्थिक अन्तर पर किस सीमा तक आधारित है?
3. जाति-व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं? जाति-व्यवस्था के उत्पत्ति-विषयक सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
4. जाति-व्यवस्था के गुण-दोषों का वर्णन कीजिए। क्या जाति सामाजिक स्तरीकरण का अधिक कठोर रूप है?
5. भारतीय जाति-व्यवस्था में क्या परिवर्तन हो रहे हैं? भारत में जाति-व्यवस्था का भविष्य क्या है?
6. जातियों की अन्योन्याश्रितता से क्या अभिप्राय है? भारतीय समाज में जाति-अन्योन्याश्रितता का सोदाहरण वर्णन कीजिए।
7. जाति-व्यवस्था स्तरीकरण व्यवस्था के रूप में किस प्रकार कार्य करती है?
8. भारतीय समाज के जाति मॉडल की व्याख्या कीजिए।
9. क्या जातियाँ वर्गों के विपरीत होती हैं? प्रकाश डालिए।

### उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

**1.** 1. (ख) 2. (ख) 3. (क) 4. (ख) 5. (ख)
6. (क) 7. (ख) 8. (ग) 9. (ग)

नोट

**2.** 1. वर्ण 2. जाति 3. ट्यूमो 4. सांस्कृतिक दृष्टिकोण
5. भारत में 6. सामाजिक संरचना 7. प्रतिनिधित्व।

## 6.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. जी. एस. धुरये; *कॉस्ट क्लास एंड आकुपेशन*, पॉपुलर बुक डिपो, बॉम्बे।
2. दीपांकर गुप्ता; 2009, "*सोशल स्ट्रैटिकफिकेशन*", इन वीना दास हैंडबुक ऑफ इंडियन सोशियोलॉजी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।
3. पी. ए. सोरोकिन 1964, *सोशल एंड काल्चर मोबीलिटी*, द फ्री प्रेस ऑफ ग्लेनको, लंदन।

नोट

# इकाई–7: वर्ग (Class)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

7.1 सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्था के रूप में वर्ग की अवधारणा (Concept and as a System of Stratification)

7.2 वर्ग और गतिशीलता तथा व्यवसाय और गतिशीलता (Class and Mobility, Occupation and Mobility)

7.3 सारांश (Summary)

7.4 शब्दकोश (Keywords)

7.5 अभ्यास–प्रश्न (Review Questions)

7.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्था के रूप में वर्ग की अवधारणा की व्याख्या करने में।
- वर्ग और गतिशीलता तथा व्यवसाय और गतिशीलता को समझने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

वर्ग की संरचना को बहुत स्पष्ट पदों में समझाना बड़ा कठिन कार्य है। सामान्यतया यह समझा जाता है कि वर्ग वह समूह है जिसकी सामान्य कार्य और बाज़ार की स्थितियों में बराबरी की भागीदारी होती है। किसी भी एक औद्योगिक समाज में वर्ग व्यवस्था पायी जाती है। इस पद की व्याख्या कठिन इसलिए है कि आम आदमी वर्ग का मतलब कारखानों और बाज़ार में काम करने वाले लोग हैं, दूसरी और सफेदपोश लोग हैं। और सब से ऊपर उच्च या अभिजन लोग हैं। मार्क्सवादी इसका अर्थ सम्पत्ति संबंधों के आधार पर करते हैं। उनके अनुसार पूँजीवादी–औद्योगिक व्यवस्था में प्राय: दो वर्ग पाये जाते हैं–(1) पूँजीपति वर्ग, और (2) श्रमिक वर्ग। उत्पादन के साधनों पर पूँजीपति वर्ग का स्वामित्व होता है। श्रमिक वर्ग अपनी मेहनत को पूँजीवादी समाज में बेचकर अपनी जीविका उपार्जित करता है। मार्क्स ने इस वर्ग को सर्वहारा वर्ग भी कहा है।

## 7.1 सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्था के रूप में वर्ग की अवधारणा (Concept and as a System of Stratification)

भारत में वर्ग की संरचना में बड़ी रुचि ली जाती है। परम्परागत हिन्दू समाज में स्तरीकरण का आधार जाति व्यवस्था थी। बाद में चलकर जब भारतीय समाज औद्योगिक समाज बनने लगा तब यहाँ के परम्परागत स्तरीकरण में एक और आयाम जुड़ गया। अब हम वर्ग की संरचना को जाति के संदर्भ में देखते हैं। **जाति का आधार जन्म, पवित्र और**

नोट

**अपवित्र की धारणा और धर्मविधि है जबकि वर्ग का आधार आर्थिक है। जाति, धर्म द्वारा अनुमोदित संरचना है जबकि वर्ग बिना किसी धार्मिक अथवा कानूनी अनुमोदन के एक ठोस यथार्थपरक संरचना है। वर्गों में सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण धन, सम्पत्ति, निजी उपलब्ध और व्यक्तिगत क्षमता से होता है। जाति का मौलिक आधार अन्योन्याश्रयता, पारस्परिक सहयोग और सामूहिकता है जबकि वर्ग प्रतिस्पर्द्धा तथा वैयक्तिकता पर आधारित है।**

समाजशास्त्र में वर्ग व्यवस्था को अर्जित प्रस्थिति के साथ जोड़ा जाता है। वर्ग आज की पूँजीवादी औद्योगिक व्यवस्था के प्रमुख समूह हैं। भारत में इसकी समझ नई है **और यह समझा जाता है कि उत्पादन की प्रक्रिया में एक जैसी क्रिया करने वाले, धन तथा सम्पति की दृष्टि से एक जैसे स्तर वाले तथा समान जीवन शैली के लोग एक वर्ग से सम्बद्ध माने जाते हैं। वर्ग के लोगों के समान आर्थिक हित और उनमें वर्ग चेतना पायी जाती है।**

कुछ समाजशास्त्रियों का मानना है कि सामाजिक वर्गों की धारणा और इनकी संरचना की कसौटियों का ठोस, वस्तुपरक और वैज्ञानिक आधार नहीं है। समाजशास्त्रियों ने परिवार, धन-सम्पत्ति, जीवन शैली, प्रतिष्ठा, नगर के प्रतिष्ठित इलाकों में निवास, मकानों की बनावट, बच्चों के विद्यालय, समितियों तथा क्लबों की सदस्यता के आधार पर वर्गों की विशेषताओं पर विचार किया है।

कई बार यह कहा जाता है कि भारत की जातियाँ वर्ग बन रही हैं। कुछ समाजशास्त्रियों ने यह भी कहा है कि **जाति एक बंद वर्ग है और वर्ग एक खुली जाति है।** जाति को इस तरह देखने का दृष्टिकोण बहुत सीमित है। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक जाति में वर्ग होते हैं और इन वर्गों का सम्बन्ध सामान्य वर्गों से होता है। उदाहरण के लिए ब्राह्मण एक जाति है। लेकिन इस जाति में गरीब ब्राह्मण भी हैं, और अमीर भी। इस तरह से देखें तो जाति एक वंशानुगत समूह होकर भी वर्गों में विभाजित है। इधर यूरोपीय और अमेरिका के देशों में वर्ग आर्थिक होकर **इथनिक** (Ethnic) भी होते हैं। ईसाई धर्मावलम्बन एक **इथनिसीटी** (Ethnicity) है। इस धर्मावलम्बन के लोग गरीब भी हो सकते हैं और अमीर भी। हमारे यहाँ जैसे जाति व्यवस्था है वैसे इन देशों में इथनिसीटी यानी धर्म, भाषा और राष्ट्रीयता होते हैं। हमारे यहाँ जैसे जाति की इथनिसीटी में वर्ग होते हैं वैसे ही वहाँ एक इथनिसीटी में कई वर्ग होते हैं।

जब हम वर्ग की व्याख्या खुलासे से करते हैं तब **मैक्स वेबर** को अपना आधार बनाते हैं। उनका कहना है कि वर्ग का निर्धारण **शक्ति** (Power) के आधार पर किया जाता है। वेबर तो कहते हैं कि वर्ग वस्तुतः एक **प्रतिष्ठा समूह** (Status Group) है जिसके पास शक्ति होती है। **एंथोनी गिडेन्स** ने वर्ग की व्याख्या इस भाँति की है–

*वर्ग एक वृहत् स्तर पर लोगों का समूह है जिनकी आर्थिक संसाधनों में समान भागीदारी होती है। वे लोग दृढ़ता से विशेष प्रकार की जीवन पद्धति को प्रभावित करते हैं। वर्ग विभेदीकरण के दो आधार हैं–(1) धन का स्वामित्व और (2) इससे जुड़ा हुआ व्यवसाय।*

**वेबर** द्वारा दी गयी वर्ग की परिभाषा एक अधिकृत परिभाषा समझी जाती है। वे वर्ग को बाज़ार के संदर्भ में देखते हैं–

*वर्ग व्यक्तियों का एक समूह है। इसके सदस्य बाज़ार अर्थ व्यवस्था में अधिक से अधिक लाभ लेने के लिए प्रतियोगिता करते हैं। बाज़ार वह है, जहाँ वस्तुओं का विनिमय होता है। किसी भी व्यक्ति की व्यावसायिक योग्यता का प्रतिफल बाज़ार भाव से ही मिलता है।*

मार्क्सवादियों ने वर्ग को उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व को लेकर परिभाषित किया है। **मार्क्स** कहते हैं–

*जब लाखों परिवार ऐसी आर्थिक दशा में जीवनयापन करते हैं तो उन्हें उनकी जीवन पद्धति, उनके हेतुओं और उनकी संस्कृति से अन्य वर्गों से विमुख कर देती है और उन्हें शत्रुतापूर्ण विरोधी खेमें में ला देती है, वर्ग कहलाती है।*

वर्ग की अवधारणा भारतीय परम्परा में नई है और इसी कारण इसका जो शास्त्रीय अर्थ विदेशों में लिया जाता है, उसका हमें खुलासा करना चाहिये। मुख्य बात यह है कि वर्ग खुले होते हैं। आज का मजदूरी करने वाला व्यक्ति कल एकाएक उद्यमी होकर उच्च वर्ग में पहुँच सकता है। वर्ग के दरवाजे खुले होते हैं। कोई भी उनमें प्रवेश कर सकता है और कोई भी उनसे बाहर निकल सकता है। गाँवों में जब हरित क्रान्ति आयी तो देखते ही देखते कई किसानों का उत्पादन बढ़ गया। उनकी फसलें नगद फसलें हो गयीं और वे बड़े किसान बन गये। इसका तात्पर्य यह

नोट

हुआ कि **वर्ग व्यक्तियों की उपलब्धियों पर निर्भर है।** एक और विशेषता वर्ग समाज में देखने को मिलती है। **एक ही वर्ग के लोग वर्ग चेतना रखते हैं।** जब किसान आंदोलन होता है तब छोटे और बड़े सभी किसान एक होकर रैली में सम्मिलित हो जाते हैं। मजदूरों में भी वर्ग चेतना देखने को मिलती है। एक ही वर्ग के लोगों की जीवन शैली भी समान होती है। खान-पान, पहनावा एक ही प्रकार के होते हैं।

*नोट्स* वर्ग एक आर्थिक संरचना है जिसका आधार धन, प्रतिष्ठा और शक्ति (Wealth, Prestige and Power) होते हैं।

## 7.2 वर्ग और गतिशीलता तथा व्यवसाय और गतिशीलता (Class and Mobility, Occupation and Mobility)

भारतीय समाज की वर्ग संरचना का कोई भी विश्लेषण जोखिम से खाली नहीं है। दीपांकर गुप्ता कहते हैं कि हमारे यहाँ वर्ग का बहुत बड़ा आधार **उपभोग** (Consumption) है। ऐसा समझा जाता है कि जितना ऊँचा वर्ग होगा, उतना ही ऊँचा उसका उपभोग का स्तर होगा। उदाहरण के लिए भारत में लगभग आधे करोड़ लोगों के पास टेलिविजन है, लगभग दो करोड़ लोगों के पास हाथ घड़ी है। इस देश में लगभग तीन करोड़ लोगों के पास अपनी खुद की मोटरगाड़ी है। ये सब वस्तुएँ उपभोग की हैं और इनके आधार पर उच्च, मध्यम और निम्न वर्गों का निर्धारण होता है। हमारे यहाँ वर्गों को विशुद्ध रूप से आर्थिक स्तर पर देखा जाता है। यह देखने का प्रयास कभी नहीं किया जाता कि वर्गों को प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों में कितना विश्वास है। इसकी अपेक्षा यह देखा जाता है कि किस वर्ग पर कितने अधिक लोग आश्रित हैं। हमारे यहाँ आम आदमी गरीब है और जो गरीबों को संरक्षण देता है, वह वर्ग में अपना स्थान ऊँचा बना लेता है। आर्थिक आधारों के अतिरिक्त हमारे यहाँ वर्ग का निर्धारण सामाजिक आधार पर भी किया जाता है। यह देखा जाता है कि किस वर्ग का आदमी कितना नियम-उपनियम को तोड़ता है, अपने आपको कानून से ऊपर समझता है। जितनी अधिक ऐसी घटनाओं को वह करेगा उतना ही अधिक वर्ग व्यवस्था में ऊँचा स्थान प्राप्त कर लेगा। वर्ग में ऊँचा उठने के लिए यह भी देखा जाता है कि व्यक्ति पश्चिमी सभ्यता को कितना अपना लेता है। दीपांकर गुप्ता कहते हैं कि हमारे यहाँ के वर्ग पश्चिमी ज़हर के नशे में डूबे रहते हैं। पश्चिमी में जो सार्वभौमिक नियम होते हैं, उनमें इन भारतीय वर्गों का कोई विश्वास नहीं होता। इन्हीं सब कारणों से हमें भारतीय वर्ग व्यवस्था को समझना बहुत कठिन हो जाता है।

जब भारतीय वर्ग व्यवस्था का स्तरीकरण के रूप में विश्लेषण किया जाता है तब हमें वर्गों के ऐतिहासिक संदर्भों को भी देखना चाहिये। **योगेन्द्र सिंह** कहते हैं कि **परम्परागत भारतीय समाज में वर्ग का सम्बन्ध उत्पादन पद्धतियों, सम्पत्ति के स्वामित्व, शहरों के विस्तार, बाज़ार, बैंकिंग व्यवस्था के फैलाव, और राजनीतिक शक्ति के केन्द्र से जुड़ा हुआ है। इस युग में राजा, सामन्त, पुरोहित, व्यापारी, कारीगर, किसान और मजदूर भी वर्ग बनाते थे। इस वर्ग व्यवस्था में केवल कुलीन वर्ग ही नहीं थे बल्कि व्यापारी भी थे।** जापान और चीन जैसे देशों में और यहाँ तक कि यूरोप के महाद्वीप में भी व्यापारियों को सामाजिक स्तरीकरण में निम्न स्थान प्राप्त था। **पी. सी. जोशी** कहते हैं कि हमारे यहाँ सामाजिक व्यवस्था में व्यापारी का स्थान बहुत ऊँचा था। हर नगर में एक या दो **नगर सेठ** हुआ करते थे। बात यह है कि व्यापारियों के वर्ग का तालमेल उनकी जाति सदस्यता से होता था। कुछ विचित्र बात **हमारे यहाँ यह रही कि वर्ग व्यवस्था खुली होकर के भी जाति व्यवस्था में काम करती है।**

हमारे देश में वर्ग संरचना का विश्लेषण करना बहुत कठिन है। जाति और वर्ग इस भाँति घुल-मिल गये हैं कि उन्हें पृथक करना मुश्किल है। रूढ़िवादी-मार्क्सवादी विचारक भारत में कृषि के क्षेत्र में केवल दो वर्ग मानते हैं–

नोट

(1) भू-स्वामियों का वर्ग, और (2) कृषि श्रमिकों का वर्ग। गैर-मार्क्सवादी विचारक कृषि में श्रमिकों, गरीब कृषकों, मध्यम कृषकों, धनी कृषकों और भू-स्वामियों के रूप में वर्गीकरण करते हैं। मार्क्सवादी वर्गों के बीच के सम्बन्धों को पूँजीवादी प्रकृति के सम्बन्ध मानते हैं और इसीलिये 'धनाढ्य' और 'निर्धन' के बीच अन्तर करते हैं। **ए. आर. देसाई** का मत है कि "भारत में राज्य ने विकासकारी उपाय के रूप में पूँजीवादी समाज के सम्पत्ति मानकों को ग्रहण कर लिया है। रूढ़िवादी-मार्क्सवाद में निहित आर्थिक निर्धारणवाद का विरोध देशी अवधारणाओं के उपयोग द्वारा किया जाता है।"

**वी. एम. डाण्डेकर** (V. M. Dandekar) ने जो भारतीय अर्थशास्त्रियों में जाने-माने हस्ताक्षर हैं, भारतीय समाज में वर्ग और वर्ग संघर्ष की प्रकृति की जाँच की है। उन्होंने भारतीय वर्गों को पाँच प्रकारों में रखा है–

1. पूर्व पूँजीवादी वर्ग संरचना (कृषक, कृषि श्रमिक और घरेलू उद्योग);
2. पूँजीवादी समाज स्वतन्त्र उद्यमी;
3. नियोजक;
4. सफेद पोश कर्मचारी; और
5. ब्ल्यू कॉलर कर्मी।

इन सभी वर्ग श्रेणियों को इस तरह भी माना जा सकता है–(1) कृषक वर्ग, (2) उद्योगरत वर्ग, (3) व्यावसायिक वर्ग और व्यापारी वर्ग **डाण्डेकर ने वर्गों के वर्गीकरण में मार्क्सवादी उपागम को अधिक उपयोगी नहीं समझा है। हमारे यहाँ बाहरी देशों की तुलना में उद्योग-धन्धों का अधिक विकास नहीं हुआ है।** श्रमिक संघों और श्रमिकों द्वारा सामूहिक सौदेबाजी की भूमिका का मूल्यांकन भी सही नहीं किया गया है। वर्ग संघर्ष के साथ-साथ वर्ग सामंजस्य भी जीवन का एक तथ्य है। **के. एल. शर्मा** कहते हैं:*धनी और निर्धन वर्गों के बीच अनेक वर्ग पाये जाते हैं और उनका विश्लेषण करना भी उतना ही आवश्यक है। भारतीय समाज में ब्रिटिश काल में नये वर्गों के प्रादुर्भाव और इनसे अधिक स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के आधार पर एक साधारण द्वि-वर्ग सिद्धान्त को स्वीकार करना कठिन होगा। यह सही है कि सर्वहारा वर्ग सम्पत्तिविहीन है परन्तु इस वर्ग के जीवन में बुर्जुआकरण के अवसर की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता। वेतन भोगी एक कोटि के रूप में अस्पष्ट है क्योंकि इसमें रु. 200/- से रु. 2000/- कमाने वाले को शामिल किया जाता है। इस प्रकार बुर्जुआ लोगों की तरह सर्वहारा लोग भी एक विषम रूप इकाई है। बहुत से श्रमिक संगठन भी नहीं है।*

योगेन्द्र सिंह का कहना है कि भारत में वर्ग के तत्त्व सावयवी दृष्टि से जाति स्तरीकरण से जुड़े हुए हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि भारत में जो वर्ग की सरंचना है वह सार्वभौमिक यानी यूरोप व अमेरीका में जैसी मिलती है वैसी है या जाति व्यवस्था के साथ मिलजुलकर विशेष रूप में आ गयी है। सिद्धान्त रूप से इस सम्बन्ध में मार्क्सवादी और गैर मार्क्सवादी समाजशास्त्रि यह कहते हैं कि वर्ग तो ही है चाहे वह यूरोप में हो या भारत। इस सम्बन्ध में योगेन्द्र सिंह का कथन महत्त्वपूर्ण है–

*वर्ग का तत्त्व यह माना जाता है कि सांस्कृतिक विभिन्नताओं के होते हुए भी ऐतिहासिक रूप से सभी समाज़ों में समान है।*

योगेन्द्र सिंह इस धारणा से सहमत होते हुए भी यह स्वीकार करते हैं कि भारत में कहीं-कहीं जातियों के साथ मिलकर वर्ग का स्वरूप बदल भी जाता है। इस धारणा का विश्लेषण हम ग्रामीण भारत में वर्ग के जो तथ्य हैं उन्हें लेकर करेंगे।

### 1. ब्रिटिशकाल में वर्ग : भू-पति (Classes in British Period : Landlords)

अंग्रेजों के आने से पहले ग्रामीण भारत में भूमि के स्वामित्व को लेकर कोई वर्ग नहीं थे। भूमि का स्वामित्व तो जैसा ए. आर. देसाई कहते हैं सम्पूर्ण गाँव का था, जो चाहे जितनी भूमि को जोत ले, राज्य का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। इसी कारण **हेनरी मेन** ने कहा था कि भारत का प्रत्येक गाँव एक **गणतन्त्र** (Republic) है। इसके बाद ब्रिटिश सरकार ने भूमि बंदोबस्त किया। सरकार ने भूमि को जोतने के लिए सम्पूर्ण ठेका

नोट

कुछ ऐसे लोगों को दे दिया जो जमींदार बन गये। जमींदारों का यह कर्त्तव्य था कि वे अंग्रेजी सरकार को निश्चित लगान चुका दे। नये प्रकार के भू-स्वामी सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए भू-पतियों के समान थे। इस व्यवस्था के फलस्वरूप, एक ही दिन में अपनी ही भूमि के किसान खातेदार बन गये। जमींदारी व्यवस्था का यह सूत्रपात 1793 ई. में लार्ड कार्नवालिस ने बंगाल, बिहार, उड़ीसा तथा मद्रास के कुछ जिलों में की थी। बाद में इसका विस्तार बम्बई, पंजाब, सिंधु आदि के भागों में भी लागू कर दिया गया। **इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप भारत में पहली बार जमींदारों का एक वर्ग पैदा किया जो रैयत का शोषण करता था।**

देशी रियासतों में जमींदारी व्यवस्था नहीं थी। यहां जागीदारी व्यवस्था थी। ठाकुर या सामन्त कतिपय गाँवों को जागीरदारी को दे देता था। ये जागीरदार किसानों से लगान लेते थे। इस तरह रियासतों में जो नया वर्ग पैदा हुआ वह जागीरदारी का था। जमींदार और जागीरदार उच्च वर्ग के थे और रैयत अर्थात् किसान निम्न वर्ग के। यहाँ वर्ग व्यवस्था ने एक स्थानीय विशेषता ग्रहण कर ली। जहाँ यूरोप में वर्ग आदमी की अर्जित योग्यता पर था वहाँ जमींदार और जागीरदार प्रदत्त वर्ग के हो गये थे। इस अन्तर के होते हुए भी यह निश्चित है कि गाँवों में पहली बार जमींदारों और जागीरदारों का एक नया वर्ग पैदा हुआ। इस वर्ग को दोहरे रूप में इस तरह रख सकते हैं–एक ओर **भू-पति** था ओर दूसरी और **खातेदार।**

*क्या आप जानते हैं* भूमि का स्वामित्व गाँव से हटकर सरकार का हो गया और सरकार ने इस स्वामित्व को जमींदारों को सौंप दिया। इस बंदोबस्त के बाद भूमि के ये जमींदार वंशानुगत स्वामी हो गये।

## 2. स्वतन्त्र भारत में नये वर्ग : कृषक व्यवसायी, खेतीहर मजदूर और दस्तकार (New Classes in Independent India : Peasants Businessmen, Cultivator and Artisans)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ग्रामीण वर्ग व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन आये। क्रान्तिकारी इसलिये कि कांग्रेस जब आज़ादी की लड़ाई लड़ रही थी तब इसने अपने वार्षिक सम्मेलनों में बराबर यह दोहराया था कि जब भारत स्वतन्त्र हो जायेगा तब भूमि सुधार के क्षेत्र में बहुत बड़ा बदलाव किया जायेगा। भारत का किसान जमींदारों और जागीरदारों के शोषण से तबाह हो गया था। हिन्दी और प्रादेशिक साहित्यों यथा बंगला, मराठी और तेलगु में बराबर यह कहा जाता था कि भूमि बंदोबस्त में आम किसान परेशान था। प्रेमचन्द ने तो हिन्दी में कुछ ऐसे उपन्यास लिखें हैं–रंगभूमि और गोदान जो बड़ी बारीकी के साथ जमींदारी व्यवस्था के विनाशकारी परिणामों का उल्लेख करते हैं। इसी कारण स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यह पूरा प्रयत्न किया गया कि भूमि सुधार आन्दोलन को नई गति दी जाये। **इस गति ने जहाँ एक और बिचोलियों अर्थात् मध्यस्थों को हटा दिया वहीं दूसरी और नये वर्गों को जन्म दिया। हमारा तर्क यह है कि गाँवों में जहाँ पिछले वर्ग समाप्त हो गये वहाँ नये वर्गों का उदय हुआ।**

भूमि सुधारों के प्रथम चरण का उद्देश्य जमींदारों जैसे मध्यस्थों को हटाना था। जमींदारी प्रथा 1950 में समाप्त कर दी गयी तथा सर्वप्रथम उत्तर प्रदेश में भूमि सुधार लागू किये गये। **इसका उद्देश्य किसानों के साथ राज्य का सीधा सम्बन्ध स्थापित करना था। अब किसान अपना भूमि कर जमींदार को न देकर सीधा सरकारी खजाने में जमा कराता था। अतः वास्तविक किसान खातेदार को व्यावसायिक अधिकार या भूमि स्वामित्व का अधिकार देना इस सुधार का उद्देश्य था।**

मध्यस्थों के समाप्त होने पर नये वर्गों का गठन हुआ। हुआ यह कि भूमि सुधारों से पहले जो खातेदार ज़मीनों पर खेती कर रहे थे और जिनको ज़मीनों से बेदखल कर दिया गया था उनमें से अधिकांश भूमिहीन,

नोट

खेतिहर मजदूर बन गये। नतीजतन किसानों का दरिद्रीकरण हुआ। लेकिन इसके अतिरिक्त किसानों की एक ऐसी समृद्ध श्रेणी भी थी जो भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित (Land Ceiling) होने के कारण हुई अतिरिक्त जमीन को सरकार द्वारा निर्धारित पर्याप्त रूप से कम दरों पर जमींदारों से खरीद पाये। **अर्थशास्त्री खुसरो** (1975) का कहना है कि भूमि सुधार आन्दोलन ने गाँवों में किसानों का एक ऐसा नया वर्ग बनाया जिसने खेती को एक नये उद्यम रूप में चुना।

गाँवों में वर्ग स्तरीकरण को अधिक शक्तिशाली बनाने में कुछ और भी कारक रहे हैं। हुआ यह है कि पुराने जमींदार व जागीरदार और पुराने खातेदार अब भारतीय कृषि में पूँजीवादी कृषि के अग्रणी बन गये। इन भूतपूर्व बड़े किसानों ने सरकार द्वारा शुरू किये गये हरित क्रान्ति कार्यक्रम का अधिकतम लाभ उठाया। ये किसान एक नया वर्ग बनाते हैं। इन्हें **प्रगतिशील किसान या जेण्टलमेन फारमर–भद्र किसाना** कहा जाता है। ये किसान पढ़े लिखे होते हैं और कृषि विज्ञान में उनके पास प्रशिक्षण भी होता है। इन किसानों ने कृषि को एक व्यवसाय के रूप में अपनाया। ये लोग अपना धन कृषि की फसलों में लगाते हैं जिनकी नकद कीमत अधिक होती है। इस तरह ये लोग नकद फसलें लेने वाले कृषक हो गये। यही लोग उन्नत किस्म के बीज और रसायनिक खाद को काम में लेते हैं।

यह निश्चित है कि ग्रामीण भारत में आज जो भी वर्ग व्यवस्था हमें देखने मिलती है वह भूमि सुधार कार्यक्रम के परिणामस्वरूप आयी है। गाँवों में वर्गों के बनने के पीछे काम करने वाले भूमि सुधारों के अतिरिक्त और भी कई कारण हैं। खाद्यान्नों की उपज में वृद्धि के लिये प्रत्येक राज्य में कृषि विश्वविद्यालय बने हैं। फसलों की ऐसी नस्लें पैदा की गई हैं जो उत्पादन को बढ़ाती हैं। कृषि में यंत्रीकरण आया है। कृषि में राजनीति भी है। यह सभी जानते हैं कि महाराष्ट्र राज्य और पश्चिमी उत्तरप्रदेश के चुनाव गन्ने की खेती करने वाले किसानों की लॉबी पर लड़े जाते हैं। अब कृषि केवल उत्पादन की प्रक्रिया नहीं रही, उसमें पूँजी का विनियोग भी होता है और राजनीति भी होती है। इन सब प्रक्रियाओं ने किसानों के निम्न वर्ग पैदा कर दिये हैं–(1) **कृषक व्यवसायी** या धनी किसान, मध्यम किसान और निर्धन किसान, (2) **खेतिहर** और (3) **दस्तकार**। इन वर्गों का हम सिलसिले से वर्णन करेंगे:

*(i)* **कृषक व्यवसायी या धनी किसान, मध्यम किसान और निर्धन किसान** (Big Peasants, Middle Peasants & Poor Peasants)–किसानों का यह वर्ग है जिसके पास **पर्याप्त जोतें** (Land Holdings) हैं। ये किसान भद्र किसान हैं और स्वयं खेती नहीं करते। ये खेत पर उपस्थित भी नहीं होते। इन किसानों को पूँजीवादी किसान कहा जा सकता है। इनकी जमीन पर छोटे किसान काम करते हैं; खेतिहर मजदूर काम करते हैं। इन्हें कूलक किसान भी कहते हैं। गाँव का यह सबसे ऊँचा वर्ग है। यह वर्ग अधिक शक्तिशाली इसलिये भी हो जाता है कि इसकी राजनीति में सक्रिय भागीदारी होती है। कृषक का काम तो इन्हें आयकर से मुक्त होने में भी सहायता देता है।

**मध्यम किसान** के पास मध्यम की जोतें होती हैं। ये प्राय: आत्मनिर्भर होते हैं। ये अपने खेत पर ही कार्य करते हैं और इन्हें बाहर से खेतिहर मजदूर नहीं रखने पड़ते। इनका कृषि उत्पादन अपने परिवार के सदस्यों की मजदूरी से ही हो जाता है।

**निर्धन किसान** सामान्य किसान होता है जिनके पास इतनी भूमि नहीं है कि ये अपनी आजीविका चला सकें और इसलिये ये बँटाईदारी से खेती करते हैं और समय आने पर अपनी आय को बढ़ाने के लिए दूसरों के खेतों पर मजदूरी करते हैं। कृषक जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग निर्धन किसानों का है। यह रुचिकर बात है कि कृषि भूमि का बहुत बड़ा भाग बहुत थोड़े धनी किसानों के हाथों में है और बहुत थोड़ा भाग बहुत अधिक निर्धन किसानों के हाथों में है। इसका मतलब हुआ कि कृषक वर्ग व्यवस्था में बहुत थोड़े लोग उच्च वर्ग में हैं जबकि बहुत अधिक लोग निम्न वर्ग में हैं।

नोट

(*ii*) **खेतिहर** (Cultivator)–खेतिहर मजदूर सामान्यतया बहुत सीमित ज़मीन के मालिक होते हैं। देखा जाये तो खेतिहर मजदूर पहले भी तीन प्रकार के थे और आज भी यही प्रकार उपलब्ध है। कुछ के पास ज़मीन के छोटे टुकड़े का स्वामित्व था और इसके साथ-साथ वे अपना श्रम बेचकर आजीविका की पूर्ति करते थे। **दूसरे** खेतिहर मजदूर वे थे जो केवल मजदूरी बेचकर जीवन यापन करते थे। मजदूरी के बदरले में खेतिहर मजदूरों को वेतन मिलथा था, जो बहुत कम होता था। इन खेतिहर मजदूरों के पास अपनी स्वयं की कोई भूमि नहीं थी। **तीसरे** प्रकार के खेतिहर मजदूर वे थे जो कृषि पर नगद मजदूरी के साथ वस्तुओं के रूप में भी मजदूरी मिलती थी।

देश के अनेक भागों में दूसरे प्रकार के खेतिहर मजदूर पाये जाते थे। इनकी प्रस्थिति लगभग बँधुआ या अर्द्ध-बँधुआ मजदूर की होती थी। गुजरात में दुबला व हाली, तमिलनाडु में पड्यिल दूसरे प्रकार के मजदूरों के दृष्टान्त हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद खेतिहर मजदूर की स्थिति में कुछ सुधार हुए हैं। 1972 में कानूनी रूप से बँधुआ मजदूरी समाप्त कर दी गयी है। भूमि सुधार कार्यक्रमों के कारण खेतिहर मजदूरों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। यह कहा जाता है कि पश्चिमी बंगाल राज्य ने भूमि सुधार के कदम काफी सक्रियता से उठाये हैं। वहाँ सामान्य कृषक की वार्षिक औसत आय में भी वृद्धि हुई है। लेकिन अभी अन्य राज्य खेतिहर मजदूरों के वर्ग के लिये कोई विशेष काम नहीं कर पाये हैं।

(*iii*) **दस्तकार** (Artisans)–जब हम ग्रामीण वर्ग व्यवस्था पर विश्लेषण करते हैं तब हमें दस्तकारों और कारीगरों का उल्लेख अवश्य करना चाहिये। यह वर्ग व्यवस्था का एक अभिन्न भाग है। दस्तकार प्राचीन समय से अस्तित्व में है तथा भारतीय गाँव की आत्मनिर्भर छबि में योगदान देते हैं। बढ़ई, लोहार, कुम्हार आदि ग्रामीण दस्तकार हैं। यह अवश्य है कि दस्तकारी इन वर्गों का परम्परागत पेशा है लेकिन इनके पास थोड़ी बहुत कृषि भूमि अवश्य होती है। यदि कुम्हार बरतन बनाता है तो उसके पास एक दो खेत अवश्य होते हैं। इस भाँति गाँवों में दस्तकारी के साथ-साथ कृषि भी अवश्य होती है।

आज ग्रामीण दस्तकारी सीमान्त धन्धा हो गया है। इनके धंधें में मध्यस्थ आ गये हैं और लाभ का बहुत बड़ा भाग ये मध्यस्थ ले जाते हैं। मध्यप्रदेश के चंदेरी की साड़ियाँ सारे देश में लोकप्रिय हैं लेकिन यहाँ के दस्तकारों की आर्थिक स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ है। लाभ का बहुत बड़ा हिस्सा मध्यस्थ ले जाते हैं।

ब्रिटिश काल में भारत में कृषि, जमींदारों और जागीरदारों के हाथों में थी। इसलिये ग्रामीण क्षेत्र में वर्ग व्यवस्था का सूत्रपात इन्हीं समूहों द्वारा हुआ था। इधर अंग्रेजों के उपनिवेशवाद ने देश में एक औद्योगिक समाज की स्थापना भी कर दी। 18वीं शताब्दी में जो औद्योगिक क्रान्ति यूरोप में आयी थी, अंग्रेजी उपनिवेशवाद के परिणामस्वरूप यह क्रान्ति हमारे देश में भी आयी। यहाँ कल-कारखाने लगे, उद्योग-धन्धे चले, छपाई मशीन आयी और संचार साधनों का शुभारम्भ हुआ। यह लगा कि इस देश में भी औद्योगिक समाज आ गया है। जहाँ एक और ग्रामीण समाज में नये वर्ग उभर रहे थे, वहीं बड़े-बड़े शहरों में जहाँ उद्योग धन्धे चल पड़े थे, नये वर्ग उभरकर आये। ये वर्ग औद्योगिक समाज की उपज थे।

*टास्क* वर्ग संरचना से आप क्या समझते हैं?

भारतीय समाज में अंग्रेजी उपनिवेशवाद के परिणामस्वरूप और स्थानीय निवेश के कारण जो नये वर्ग आये, वे इस तरह है–

नोट

1. व्यापारी एवं औद्योगिक वर्ग,
2. व्यावसायिक वर्ग,
3. लघु व्यापारी एवं दुकानदार, तथा
4. श्रमिक वर्ग।

अब हम इन औद्योगिक और शहरी वर्गों का सिलसिले से विवेचन करेंगे–

### 1. व्यापारी एवं औद्योगिक वर्ग (Business and Industrial Class)

अंग्रेज जब सन् 1600 में भारत में आये, उनका प्रवेश एक कारोबार करने वाली कम्पनी के रूप में था। तब इसका नाम था–ईस्ट इण्डिया कम्पनी। बात यह थी कि औद्योगिक क्रान्ति के कारण इंग्लैण्ड में कारखानों का उत्पादन बहुत अधिक हो गया था। वहाँ के व्यापारी चाहते थे कि यदि एशिया में नया बाजार खुल जाये तब उन्हें बिक्री के नये अवसर मिलेंगे। कच्चे माल के आयात से भी उन्हें लाभ होगा। यह तो एक संयोग था कि व्यापार करने वाले अंग्रेज यहाँ शासक बन गये। बाज़ार की इसी तलाश में फ्रान्स की कम्पनियाँ भी इस देश में आयी। इस नये बाज़ार में आयात-निर्यात के व्यापार को आगे बढ़ाया। अब देश में व्यापारियों का मध्यम वर्ग आस्तित्व में आया। रेल की स्थापना के साथ इस धनी व्यापारी मध्यम वर्ग की संचित बचत ने अन्य वृहत् स्तरीय उत्पादित माल एवं आधुनिक उद्योगों में निवेशित होने वाली पूँजी का रूप ले लिया। "अंग्रेजों की भाँति जिन्होंने भारत में उद्योगों की स्थापना में अगुवाई की, भारतीयों ने भी, चाय बागानों, सूती वस्त्र, एवं जूट के कारखानों में अपना निवेश किया। इस प्रकार भारतीय समाज की संरचना में मिल मालिक, खान मालिक जैसे नये समूह उभर कर आये।" **यह होने के बाद इन व्यापारियों ने औद्योगिक गतिविधि के क्षेत्र का विभेदीकरण किया। आर्थिक एवं सामाजिक रूप से यह वर्ग भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली वर्ग बन गया।**

यह सही है कि अंग्रेज़ों ने जितना निवेश उद्योग में किया, उसकी तुलना में भारतीय पूँजीपतियों जैसे टाटा, गोदरेज तथा बिड़ला का निवेश बहुत कम था। इसका कारण यह था कि अंग्रेज नहीं चाहते थे कि भारतीय व्यापारी आयात-निर्यात के क्षेत्र में आगे आयें। अंग्रेजों के साथ हितों के टकराव के परिणामस्वरूप भारतीय व्यापारी और औद्योगिक वर्गों ने स्वतन्त्र संगठन बनाये। इस वर्ग ने उन व्यावसायिक वर्गों को समर्थन देकर स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लिया जो कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के आधार थे। हमारे देश में सभी जानते हैं कि बिड़ला और बजात घरानों ने आज़ादी की लड़ाई में गाँधीजी को बड़ी आर्थिक सहायता दी थी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश ने औद्योगिकरण पर जोर दिया। नेहरूजी को यह विश्वास था कि जब तक देश औद्योगिक रूप से आगे नहीं बढ़ेगा, देश का आधुनिकीकरण नहीं हो सकेगा। लेकिन उसी समय गाँधीजी की विचारधारा भी शक्तिशाली थी। उनका कहना था कि देश में **ग्राम स्वराज्य** आना चाहिये। इसका मतलब हुआ स्वदेशी और स्वावलम्बन ही देश को आगे बढ़ाने के साधन थे। गाँधीजी ने चर्खे, करघे और कुटीर उद्योगों पर ज़ोर दिया। इन दानों विचारधाराओं में नेहरूजी ने समझौता किया। उन्होंने **मिश्रित अर्थव्यवस्था** (Mixed Economy) को प्रोत्साहित किया। मिश्रित अर्थ व्यवस्था का अर्थ है–भारत में अर्थ-व्यवस्था को **सार्वजनिक** (Public) और **निजी** (Private) क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाये। परिणामस्वरूप कृषि, उद्योग व व्यापार जैसे प्रमुख क्षेत्र निजी क्षेत्र के व्यक्तियों के लिये छोड़ दिये गये। **राज्य क्षेत्र ने आधारभूत संरचना के विकास तथा भारी और महत्त्वपूर्ण उद्योगों की स्थापना का उत्तरदायित्व स्वयं उठाया। इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था के कारण पूँजीपतियों के स्वामित्व वाले तथा उनके द्वारा नियंत्रित उद्योगों की संख्या में असाधारण वृद्धि हुई।** इस सरकारी नीति के कारण व्यापारियों का एक नया वर्ग आया। देखा जाये तो स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के काल पर व्यापारी एवं वाणिज्यिक वर्ग आकार व संख्या दोनों में बढ़ा। ये उद्योग, वस्त्र उद्योग, जूट, खान, बागान जैसे पारम्परिक क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रहे। हुआ यह कि इस्पात उद्योगों, कागज़ मिलों तथा अनेक इस्पात निर्मित माल के उद्योगों में भारी विस्तार हुआ। व्यापारी और उद्योगों वर्ग आज प्रतियोगिता की एक लम्बी चूहा दौड़ में हैं। देखा यह जा रहा है कि देश की बहुत बड़ी सम्पत्ति का भाग कुछ व्यापारिक घरानों में आकर सिमट गया है।

नोट

**सेलिग हेरिसन** ने तो **इण्डियाज़ मोस्ट डेन्जरस डिकेड्स** (India's Most Dangerous Decades) में कहा है कि देश की अर्थव्यवस्था के लिये यह बहुत खतरनाक बात है। देश की सम्पत्ति का बहुत बड़ा भाग बिड़ला,ख डालमिया, बजाज, सिंघानिया, अम्बानी आदि के हाथों में आकर सिमट गया है। हेरिसन की इस चेतावनी ने नेहरूजी को भी परेशान कर दिया था।

## 2. व्यावसायिक वर्ग (Business Class)

औद्योगिक समाज की दूसरी उपज व्यावसायिक वर्ग है। अंग्रेज अपने शासन को भारत में सुदृढ़ करना चाहते थे। वे अपनी जड़ें गहरी करना चाहते थे। इसके लिये उन्हें ऐसे कुशल भारतीयों की आवश्यकता थी जो प्रौद्योगिकी, चिकित्सा, अर्थव्यवस्था, प्रशासन आदि में कारगर रूप से काम कर सकें। इसी आवश्यकता ने **मेकाले** को अंग्रेजी शिक्षा इस देश में लागू करने के लिये प्रेरित किया। परिणामस्वरूप यहाँ आधुनिक शिक्षण संस्थाओं को विशाल स्तर पर लागू किया गया। इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप भारत में व्यावसायिकों के रूप में एक नया वर्ग उभरकर आया। इस व्यावसायिक वर्ग में आधुनिक वकील, चिकित्सक, अध्यापक, आधुनिक वाणिज्यिक एवं अन्य उद्योगों में कार्यरत प्रबन्धक व अन्य सरकारी प्रशासनतन्त्र में कार्यरत अधिकारी, इंजीनियर, तकनीशियन, कृषि वैज्ञानिक और पत्रकार आदि आते हैं। **राष्ट्रीय आन्दोलन में इस वर्ग की भूमिका निर्णायक थी। वस्तुतः ये लोग अगुआ तथा नये आयाम व गति स्थापित करने वाले थे। देश में प्रगतिशील सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलनों के पीछे इन्हीं लोगों की शक्ति थी।** जब भारत ने पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से औद्योगीकरण एवं शहरीकरण को बढ़ावा दिया तो देश में कई नये रोज़गार के अवसर आये। इसी के साथ सरकार ने पूरे देश में जटिल प्रशासनिक ढाँचे से बनी विशाल संस्थात्मक रचना सृजित की। इसने बहुत बड़े पैमाने पर रोज़गार दिये हैं। इन निजी या सरकारी क्षेत्रों में रोज़गार के लिये शिक्षण, प्रशिक्षण, विशेष योग्यता आदि जैसी योग्यताएँ निर्धारित की गयी। प्रशासनिक अधिकारी, प्रबन्धकीय अधिकारी, तकनीकी प्रबन्धक, चिकित्सक, वकील, शिक्षक, आदि कुछ श्रेणियाँ हैं जिनके पास ऐसी योग्यता है।

"ये सब परिस्थितियाँ स्वतन्त्रता के पश्चात् संख्या व आकार में बढ़ी हैं। इस व्यवस्था में सर्वोच्च स्थानों पर कुछ अधिक वेतन प्राप्त अधिकारी हैं। दूसरी और, इनमें से अधिकांश का वेतन गैर–मेहनकश कामगारों से कुछ ही अधिक होता है। इनके काम की स्थिति तथा पदोन्नति के अवसरों में भी पर्याप्त अन्तर होता है। ये लोग अपनी जीवन शैली में भी भिन्न होते हैं।"

## 3. लघु व्यापारी, दुकानदार एवं असंगठित मजदूर (Small Traders, Shopkeepres and Unorganized Labour)

महानगर, शहर और कस्बे बढ़ते हुए औद्योगिक समाज के दायरों को बताते हैं। बड़े शहरों में व्यापारी और औद्योगिक वर्ग सामाजिक संरचना को नया चरित्र देते हैं। इन बड़े नगरों की सड़कों पर अगणित कारों और मोटरों के धुएँ को कभी भी देखा जा सकता है। शाम होते–होते तो यह प्रदूषण स्वास्थ्य के लिए खतरा पैदा कर देता है। किसी भी सड़क पर चलिये रास्ता 'जाम' मिलेगा। ये शहर झोपड़ पट्टी और गंदी बस्तियों से लदे पड़े हैं। और दूसरी और भव्य और आलीशान मकान सभी और देखने को मिलते हैं। ऐसी बसावटों में जहाँ व्यापारी एवं औद्योगिक वर्ग और इसी तरह व्यावसायिक वर्ग अपना प्रभुत्व बनाये रखते हैं, वहीं इन बड़ी बसावटों में लघु व्यापारी, दुकानदार और असंगठित मजदूर भी होते हैं। जहाँ शहरों का विकास हुआ है वहीं इन वर्गों का विकास भी हुआ है। छोटे व्यापारी और दूकानदार एक ऐसी कड़ी है जो उत्पादकों तथा थोक विक्रेताओं को जोड़ते हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद लघु व्यापारियों, दुकानदारों और असंगठित मजदूर वर्गों में भी वृद्धि हुई है। शहरीकरण की प्रक्रिया में शहरों की अभूतपूर्व वृद्धि ने इस वर्ग को प्रोत्साहित किया है। उदाहरण के लिये दिल्ली शहर को लीजिये, यहाँ प्रतिदिन कोई 10 लाख लोग आते हैं। यहाँ का सदर बाज़ार एशिया का सबसे

नोट

बड़ा बाज़ार है। यह शहर प्रशासन का केन्द्र भी है; शिक्षा केन्द्र भी है और कई ऐसे अगणित प्रतिष्ठान हैं जहाँ हजारों लोगों का आना-जाना बना रहता है। शहरीकरण, रोज़गार तथा नये कार्यकलापों का विभिन्नता प्रदान करता है। बढ़ती शहरी जनसंख्या अनेक प्रकार की आवश्यकताओं व सेवाओं की माँग सृजित करती है। "लघु व्यापारी व दूकानदार, शहरी जनसंख्या की इन आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।"

शहरों में असंगठित मजदूर भी होते हैं। संगठित क्षेत्रों में रोज़गार के अवसर कम होते हैं क्योंकि इसके लिये शैक्षणिक तथा व्यावसायिक कुशलता की आवश्यकता होती है। अधिकांश ग्रामीण प्रवासियों में ये योग्यताएँ नहीं अत: उनके लिये संगठित क्षेत्र बन्द रहता है। ऐसी अवस्था में ये ग्रामीण लोग असंगठित क्षेत्र का सहारा लेते हैं। ये लोग लघु स्तरीय उद्योगों, दस्तकारी या मेहनतकश व्यवसाय में काम करते हैं। इनका वेतन थोड़ा होता है। इन्हें वे लाभ भी नहीं मिलते जैसे आवास, चिकित्सा, सवेतन अवकाश जो संगठित क्षेत्र के कामगारों को मिलता है।

असंगठित मजदूर, एक बिखरी हुई श्रेणी है। इसके अन्तर्गत दुकानदार, व्यापारी, ठेले वाले मजदूर होते हैं। दूसरी और संगठित क्षेत्र में काम करने वाले मजदूर अर्द्ध-निपुण व अनिपुण श्रमिक होते हैं। भारत के शहरी समूहों में यह वर्ग सबसे कम संगठित होता है।

### 4. श्रमिक वर्ग (Labour Class)

औद्योगिक समाज में वर्ग की जो संरचना होती है वह ग्रामीण समाज से भिन्न होती है। वहाँ वर्ग की संरचना कृषि आधारित होती है और औद्योगिक समाज में यह संरचना उद्योग आधारित होती है। जहाँ उद्योग होते हैं वहाँ व्यापार भी होता है। अत: शहरों का एक बहुत बड़ा वर्ग श्रमिकों का होता है। इस वर्ग का उदय अंग्रेजी शासनकाल में हुआ। उस समय में यह वर्ग रेल उद्योग, चाय बागान आदि में काम करता था। जैसे-जैसे भारत में बागान, कारखाना, खान उद्योग, यातायात, रेल, और अन्य औद्योगिक क्षेत्र विकसित हुए वैसे-वैसे यह वर्ग भी बढ़ा। **देखा जाये तो शहरों का श्रमिक वर्ग निर्धन किसानों का है जो गाँव छोड़कर शहर आ गये है; परेशानी दस्तकारों की है जो ग्रामीण दस्तकारी को छोड़कर शहर आ गये हैं।** बहुत थोड़े मे कहना चाहिये, शहरी श्रमिक वर्ग का आधार गाँव है।

सरकार ने श्रमिकों की स्थिति को सुधारने के लिये कई अधिनियम बनाये हैं। इन अधिनियमों में **कामगार क्षतिपूर्ति अधिनियम** (Workman's Compensation Act), **उद्योग अधिनियम** (Factories Act), **खनन अधिनियम** (Miner's Act), जैसे पारित किये हैं। यह सब होते हुए भी औद्योगिक क्षेत्र में यह माना जाता है कि ये अधिनियम उचित रूप से श्रमिकों को संरक्षण नहीं दे पाते। स्वयं श्रमिकों ने भी अपने संगठन बनाये हैं। इनकी विशेषता यह है कि ये संगठन सावयवी रूप से किसी न किसी राजनैतिक दल के साथ अवश्य जुड़े हुए हैं।

## 7.2.1 भारत में मध्यम वर्ग के उद्‌गम की परिस्थितियाँ

भारत में मध्यम वर्ग इतिहास की उपज है। इस देश में जब उद्योग-धन्धे बहुत थोड़े थे और इसकी प्रकृति एक कृषि प्रधान देश की थी, तब यहाँ मध्यम वर्ग नहीं था। गाँवों में परम्परागत धनाढ्य वर्ग था जो वंशानुगत था। जमींदार, जागीरदार और द्विज जातियों के लोग सामाजिक व्यवस्था में उच्चस्थान रखते थे। इस वर्ग को छोड़कर बाकी सब जनता थी। इस धनिक वर्ग में एक **नशा** था जो इसे दूसरे वर्गों से पृथक् कर देता था। हिन्दी के कहानीकार प्रेमचन्द ने एक कहानी लिखी थी जिसका शीषक **नशा** था। इस कहानी का नायक ईश्वरी है जो जमींदार मित्र के घर एक अतिथि की तरह गर्मियों की छुट्टियाँ बिताने जाता है। शाम के धुँधलके में वह अपने कमरे में बैठा है। पास में लालटेन और माचीस पड़ी है। और वह स्वयं लालटेन जलाता नहीं है। उसे अंधेरा पसंद है। वह कहता है कि लालटेन जलाने का काम उसका नहीं है। इसे तो जमींदार का नौकर ही जलायेगा। यह जमींदारी का नशा है। परम्परागत मध्यम वर्ग इस देश में व्यापारीकरण और औद्योगिकरण के बाद आया।

नोट

योगेन्द्रसिंह ने अपनी पुस्तक **सोशल चेन्ज इन इण्डिया : क्राइसेस एण्ड रेजीलेन्स** (Social Change in India : Crises and Resilience, 1993) में कहा है कि भारत में मध्यम वर्ग का उद्‌गम व्यापारीकरण की वृद्धि और औद्योगिक विकास के साथ आया है। अंग्रेजों ने हमारे यहाँ औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। इसके कारण विदेशी और स्थानीय धनिकों ने पूँजी का निवेश उद्योग और तकनीकी दोनों में किया। इसका परिणाम यह हुआ कि यहाँ **उद्यमशीलता** (Entrepreneurship) का तेज़ी से विकास हुआ। परिणाम यह हुआ कि शहरों में मध्यम वर्ग का आविर्भाव हुआ और इधर गाँवों में भी इसी तरह का एक नया वर्ग पैदा हुआ। अब कड़ी तादात में सरकारी कर्मचारी गाँवों में प्रवेश करने लगे। इससे पहले गाँवों में यदि कोई सरकारी कर्मचारी था तो वह पटवारी था, पुलिस का सिपाही था या जंगल का गार्ड था। मध्यम वर्ग के नाम पर ये इने-गिने तीन चार लोग थे। लेकिन जब 1950 के बाद सामूदायिक विकास खण्ड प्रारम्भ किये गये तब एक पूरा का पूरा सरकारी यन्त्र गाँवों में पैदा हो गया। ग्राम सेवक से लेकर विकास अधिकारी तक ग्रामीण विकास के ओहदेदार बनकर आ गये और इधर दूसरी और कृषि में पंचवर्षीय योजनाओं के कारण उत्पादन बढ़ गया। उत्पादन अब बाज़ार में आने लगा। मतलब हुआ उत्पादन अब किसान स्वयं के उपभोग का न होकर बाज़ार में बिक्री के लिए आने लगा। हरित क्रान्ति आयी और कृषि में पूँजीवादी का सूत्रपात हुआ। इन सब कारकों ने गाँवों में भी मध्यम वर्ग को पैदा किया। यहाँ हम सिलसिले से भारत में मध्यम वर्ग के आविर्भाव का उल्लेख करेंगे–

1. **व्यापारिक और औद्योगिक उद्यमशीलता** (Business and Industrial Entrepreneurship)

   पंचवर्षीय योजनाओं के परिणामस्वरूप भारत में व्यापारिक वर्ग का उदय हुआ। यह वर्ग उत्पादकों की जो भी पण्य वस्तु होती है उसे बाज़ार में पहुँचाते हैं। प्रारम्भ में यह व्यापारी वर्ग परम्परागत वर्ग था। व्यापारिक वर्ग की सामाजिक पृष्ठभूमि बहुत सीमित थी। कुछ जातियाँ परम्परागत पेशे के अनुसार व्यापार करती रही हैं। इन जातियों को बनिया कहते हैं। राजस्थान से बाहर सारा देश इन जातियों को मारवाड़ी कहता है। अग्रवाल, माहेश्वरी, खण्डेलवाल, पोरवाल आदि व्यापारी जातियाँ हैं। अब इस नये दौर में व्यापारियों की पृष्ठभूमि बहुत विस्तृत हो गयी। अब गैर व्यापारी जातियाँ भी खुलकर व्यापार के व्यवसाय में आ गयी। बाज़ार बनियों का ही नही रहा, सभी जातियों के लिये खुला था। परिणाम यह हुआ कि वर्गों ने **व्यापार** (Mercantile) को अपना व्यवसाय बना लिया। 10–20 वर्षों में शहरों में मध्यम वर्ग का आकार दुगुना हो गया।

   जहाँ व्यापार का विकास हुआ वहीं एक नई संस्कृति, औद्योगिक पूँजीवादी की आयी। योगेन्द्रसिंह कहते हैं कि व्यापारी और औद्योगिक पूँजीवाद ने एक नई प्रक्रिया को प्रारम्भ किया और यह प्रक्रिया आधुनिकीकरण की थी। आधुनिकीकरण ने मध्यम वर्ग के लोगों को विकास के नये अवसर दिये और इस तरह मध्यम वर्ग औद्योगिक शहरों व गाँवों में भी विकसित हो गया।

2. **उपनिवेशवाद** (Colonialism)

   पवन कुमार वर्मा ने मध्यम वर्ग की उत्पत्ति को उपनिवेशवाद के साथ जोड़ा है। उनका कहना है कि उपनिवेशवाद ने और विशेषकर 1835 में मैकाले ने अपने विख्यात शिक्षा सम्बन्धी कार्यवृत विवरण में मध्यम वर्ग का उल्लेख किया। उन्होंने कहा–

   *हमें इस समय एक एसे वर्ग की रचना करने के लिए भरसक कोशिश करनी चाहिये जो हम और हमारे करोड़ों शासितों के बीच दुभाषिये की भूमिका निभा सके अर्थात् व्यक्तियों का एक ऐसा वर्ग जो रक्त व त्वचा के रंग में तो भारतीय हो लेकिन रुचि, अभिमत, नैतिक मानदण्डों और प्रतिभा में अंग्रेज हो।*

   अंग्रेजों की इस नीति ने मध्यम वर्ग को स्थापित करने में सफलता दी। स्थिति यह हो गयी कि धीरे-धीरे एक नया वर्ग बन गया और इसने अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पश्चिमी संस्कृति को स्वीकार कर लिया। हमारे देश में भी एक नया आंदोलन चला जिसे पुनरूत्थानवादी आन्दोलन कहते हैं। इसके अग्रणी ब्रह्म समाज और

नोट

आर्य समाज थे 1830 में ब्रह्म समाज की स्थापना करने वाले राजा राममोहनराय स्वयं भी अंग्रेजी शिक्षा के महान् समर्थक थे। उपनिवेशवादी इस नीति के मध्यम वर्ग के आविर्भाव में एक सशक्त भूमिका निभाई। यहाँ यह अवश्य कहना चाहिये कि उपनिवेशवाद के मध्यम वर्ग ने विदेशी सत्ता को बनाये रखने में बड़ी मदद की। 1873 में बंकिमचन्द्र चटर्जी ने इस मध्यम वर्ग की गतिविधियों पर कटाक्ष करते हुए लिखा था–

*ये बाबू काफी बातूनी, एक खास विदेशी भाषा में पारंगत और अपनी मातृभाषा को नीची निगाह से देखने वाले होंगे ...कुछ बेहद योग्य बाबू तो ऐसे भी होंगे कि अपनी मातृभाषा में बातचीत तक कर पाने में अक्षम निकलेंगे। विष्णु की तरह उनके भी दस अवतार होंगे–क्लर्क, अध्यापक, ब्रह्म समाज के सदस्य, मुनीम, डॉक्टर, वकील, मजिस्ट्रेट, जमींदार, सम्पादक और बेरोजगार.....*

*ये बाबू घर में जलपान और दोस्तों के घर पर सुरापान करेंगे। ये तवायफों के अड्डों पर गालियाँ और मालिकों के यहाँ फटवार खायेंगे।*

अंग्रेजी शासनकाल में जो मध्यम वर्ग पैदा हुआ उसकी मुख्य चिन्ता सरकारी ढाँचे में नौकरी और सेवा योजन पर केन्द्रित थी। जिन्हें नौकरी मिल गयी थी और खासतौर से जिन्होंने थोड़े ऊँचे हल्कों में नौकरी हॉसिल कर ली थी उनके आचरण का उल्लेखनीय पहलू अंग्रेज अफसरों की तर्ज पर अपने व्यक्तित्व का विकास करने की कोशिश थी। नेहरूजी मध्यम वर्ग के इस प्रकार के आविर्भाव से चिन्तित थे। उन्होंने कहा कि अफसरी और नौकरी का यह महौल सम्पूर्ण भारतीय मध्यम वर्ग पर छा गया था। उनकी दृष्टि में यह मध्यम वर्ग बुद्धिजीवियों, वकालत करने वालों और डॉक्टरी करने वालों ने विशेष रूप से अपना लिया था। अर्द्धशासकीय विश्वविद्यालयों के अकादमीय विभाग भी ऐसे लोगों से भर गये थे। गाँधीजी भी अंग्रेजी शासन काल में विकसित हुए मध्यम वर्ग से परेशान थे। 1903 में शुरू हुए स्वदेशी आंदोलन ने गणपति और शिवाजी महोत्सव जैसे परम्परागत लोकप्रिय त्यौहारों व मेलों पर ज़ोर देकर तथा बंगाल के जात्रा जैसे लोकनाट्य रूपों का इस्तेमाल करकें राष्ट्रीय नेताओं ने मध्यम वर्ग को तोड़ने की कोशिश की। लेकिन इसका असर न तो टिकाऊ साबित हुआ और न ही शहरी मध्यम वर्ग से आगे बढ़ पाया। आज़ादी की लड़ाई में इस मध्यम वर्ग ने हाशिये पर खड़े होकर इस सारे तमाशे को देखा। इतिहासकार रविन्द्रकुमार ने आज़ादी की लड़ाई का लेखा-जोखा करके कहा कि 1930 के दशक तक राष्ट्रीय आंदोलन में मध्यम वर्ग की भूमिका नगण्य थी।

### 3. स्वतन्त्र भारत (Independent India)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद नेहरू जी ने भारत की राष्ट्रीय नीति का आधुनिकीकरण किया। उन्होंने औद्योगीकरण पर ज़ोर दिया। अब हमने निर्दिष्ट परिवर्तन को अपना लक्ष्य बनाया। इन नीतियों के निर्माण में मध्यम वर्ग के हितों को प्राथमिकता दी गयी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि राजकीय नीति के कार्यान्वयन में मध्यम वर्ग की भूमिका महत्त्वपूर्ण बन गयी। इस नीति को गाँवों में भी मध्यम वर्ग ने ही लागू किया और इस तरह गाँव में भी मध्यम वर्ग सशक्त बन गये। देखा जाये तो आज़ादी के पहले और बाद में भी सरकारी नीतियों में मध्यम वर्ग हमेशा लाभ की स्थिति में ही रहा।

### 4. वैश्वीकरण (Globalization)

मध्यम वर्ग के विकास में वैश्वीकरण की भूमिका भी हाल के एक दशक में महत्त्वपूर्ण हो गयी है। वैश्वीकरण का बहुत बड़ा उद्देश्य विशाल संसार की उसके छोटे आकार में ले आना है। इसके माध्यम से जहाँ एक और तकनीकी माध्यमों से दुनियाँभर के देशों में संचार स्थापित होता है वहीं गैर-बराबरी को दूर करने का एक प्रयास भी चलता है। इस उद्देश्य के पीछे उदारीकरण और मुक्त पूँजीनिवेश संरचनात्मक कार्यों की तरह काम करते हैं। वैश्वीकरण की इस प्रक्रिया ने मध्यम वर्ग को यह अवसर दिया है कि वह अपने प्रभुत्व को बढ़ाये। विश्व बाज़ार ने मध्यम वर्ग को उपभोक्तावाद का सिरमौर बना दिया है। भारत ही नहीं विकासशील देशों में मध्यम वर्ग का स्थान आज अधिक से अधिक ऊँचा हो रहा है।

नोट

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. सही विकल्प चुनिए** (Choose the correct option)–

1. परम्परागत हिन्दू समाज में स्तरीकरण का आधार थी–
   (क) जाति व्यवस्था (ख) वर्ग व्यवस्था
   (ग) (क) और (ख) दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।
2. वर्ग का निर्धारण किया जाता है–
   (क) प्रतिष्ठा (ख) शक्ति
   (ग) (क) और (ख) दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।
3. भारतीय समाज में वर्ग और वर्ग संघर्ष की प्रकृति की जाँच की है–
   (क) वी.एम. डाण्डेकर (ख) दीपांकर गुप्ता
   (ग) (क) और (ख) दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।
4. किसका कहना है कि भारत में वर्ग के तत्व सावयवी दृष्टि से जाति स्तरीकरण से जुड़े हुए हैं–
   (क) योगेन्द्र सिंह (ख) दीपांकर गुप्ता
   (ग) (क) और (ख) दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।
5. भारत में जमींदारी प्रथा कब समाप्त कर दी गयी–
   (क) 1947 में (ख) 1950 में
   (ग) 1952 में (घ) इनमें से कोई नहीं।
6. किसानों के वर्ग हैं–
   (क) कृषक व्यवसायी (ख) खेतिहर
   (ग) (क) और (ख) दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।
7. कानूनी रूप से बँधुआ मजदूरी कब समाप्त कर दी गयी थी–
   (क) 1968 में (ख) 1970 में
   (ग) 1972 में (घ) इनमें से कोई नहीं।
8. भारत में व्यापारिक वर्ग का उदय कब हुआ–
   (क) पंचवर्षीय योजनाओं के परिणामस्वरूप (ख) औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप
   (ग) औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप (घ) इनमें से कोई नहीं।

## 7.3 सारांश (Summary)

- भारत में वर्ग की संरचना में बड़ी रुचि ली जाती है। परम्परागत हिन्दू समाज में स्तरीकरण का आधार जाति व्यवस्था थी। बाद में चलकर जब भारतीय समाज औद्योगिक समाज बनने लगा तब यहाँ के परम्परागत स्तरीकरण में एक और आयाम जुड़ गया।
- समाजशास्त्र में वर्ग व्यवस्था को अर्जित प्रस्थिति के साथ जोड़ा जाता है। वर्ग आज की पूँजीवादी औद्योगिक व्यवस्था के प्रमुख समूह हैं। भारत में इसकी समझ नई है **और यह समझा जाता है कि उत्पादन की प्रक्रिया**

नोट

**में एक जैसी क्रिया करने वाले, धन तथा सम्पति की दृष्टि से एक जैसे स्तर वाले तथा समान जीवन शैली के लोग एक वर्ग से सम्बद्ध माने जाते हैं। वर्ग के लोगों के समान आर्थिक हित और उनमें वर्ग चेतना पायी जाती है।**

- कई बार यह कहा जाता है कि भारत की जातियाँ वर्ग बन रही हैं। कुछ समाजशास्त्रियों ने यह भी कहा है कि **जाति एक बंद वर्ग है और वर्ग एक खुली जाति है।** जाति को इस तरह देखने का दृष्टिकोण बहुत सीमित है। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक जाति में वर्ग होते हैं और इन वर्गों का सम्बन्ध सामान्य वर्गों से होता है।
- वर्ग की अवधारणा भारतीय परम्परा में नई है और इसी कारण इसका जो शास्त्रीय अर्थ विदेशों में लिया जाता है, उसका हमें खुलासा करना चाहिये। मुख्य बात यह है कि वर्ग खुले होते हैं। आज का मजदूरी करने वाला व्यक्ति कल एकाएक उद्यमी होकर उच्च वर्ग में पहुँच सकता है।
- भारतीय समाज की वर्ग संरचना का कोई भी विश्लेषण जोखिम से खाली नहीं है। दीपांकर गुप्ता कहते हैं कि हमारे यहाँ वर्ग का बहुत बड़ा आधार **उपभोग** (Consumption) है। ऐसा समझा जाता है कि जितना ऊँचा वर्ग होता, उतना ही ऊँचा उसका उपभोग का स्तर होगा।
- **परम्परागत भारतीय समाज में वर्ग का सम्बन्ध उत्पादन पद्धतियों, सम्पत्ति के स्वामित्व, शहरों के विस्तार, बाज़ार, बैंकिंग व्यवस्था के फैलाव, और राजनीतिक शक्ति के केन्द्र से जुड़ा हुआ है। इस युग में राजा, सामन्त, पुरोहित, व्यापारी, कारीगर, किसान और मजदूर भी वर्ग बनाते थे। इस वर्ग व्यवस्था में केवल कुलीन वर्ग ही नहीं थे बल्कि व्यापारी भी थे।**
- हमारे देश में वर्ग संरचना का विश्लेषण करना बहुत कठिन है। जाति और वर्ग इस भाँति घुल-मिल गये हैं कि उन्हें पृथक करना मुश्किल है। रूढ़िवादी-मार्क्सवादी विचारक भारत में कृषि के क्षेत्र में केवल दो वर्ग मानते ह
- योगेन्द्र सिंह का कहना है कि भारत में वर्ग के तत्त्व सावयवी दृष्टि से जाति स्तरीकरण से जुड़े हुए हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि भारत में जो वर्ग की सरंचना है वह सार्वभौमिक यानी यूरोप व अमेरीका में जैसी मिलती है वैसी है या जाति व्यवस्था के साथ मिलजुलकर विशेष रूप में आ गयी है।
- स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ग्रामीण वर्ग व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन आये। क्रान्तिकारी इसलिये कि कांग्रेस जब आज़ादी की लड़ाई लड़ रही थी तब इसने अपने वार्षिक सम्मेलनों में बराबर यह दोहराया था कि जब भारत स्वतन्त्र हो जायेगा तब भूमि सुधार के क्षेत्र में बहुत बड़ा बदलाव किया जायेगा।
- ब्रिटिश काल में भारत में कृषि, जमींदारों और जागीरदारों के हाथों में थी। इसलिये ग्रामीण क्षेत्र में वर्ग व्यवस्था का सूत्रपात इन्हीं समूहों द्वारा हुआ था। इधर अंग्रेजों के उपनिवेशवाद ने देश में एक औद्योगिक समाज की स्थापना भी कर दी। 18वीं शताब्दी में जो औद्योगिक क्रान्ति यूरोप में आयी थी, अंग्रेजी उपनिवेशवाद के परिणामस्वरूप यह क्रान्ति हमारे देश में भी आयी।
- अंग्रेज जब सन् 1600 में भारत में आये, उनका प्रवेश एक कारोबार करने वाली कम्पनी के रूप में था। तब इसका नाम था–ईस्ट इण्डिया कम्पनी। बात यह थी कि औद्योगिक क्रान्ति के कारण इंग्लैण्ड में कारखानों का उत्पादन बहुत अधिक हो गया था। वहाँ के व्यापारी चाहते थे कि यदि एशिया में नया बाजार खुल जाये तब उन्हें बिक्री के नये अवसर मिलेंगे।
- **राज्य क्षेत्र ने आधारभूत संरचना के विकास तथा भारी और महत्त्वपूर्ण उद्योगों की स्थापना का उत्तरदायित्व स्वयं उठाया। इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था के कारण पूँजीपतियों के स्वामित्व वाले तथा उनके द्वारा नियंत्रित उद्योगों की संख्या में असाधारण वृद्धि हुई।**
- महानगर, शहर और कस्बे बढ़ते हुए औद्योगिक समाज के दायरों को बताते हैं। बड़े शहरों में व्यापारी और औद्योगिक वर्ग सामाजिक संरचना को नया चरित्र देते हैं। इन बड़े नगरों की सड़कों पर अगणित कारों और

नोट

मोटरों के धुएँ को कभी भी देखा जा सकता है। शाम होते-होते तो यह प्रदूषण स्वास्थ्य के लिए खतरा पैदा कर देता है। किसी भी सड़क पर चलिये रास्ता 'जाम' मिलेगा। ये शहर झोपड़ पट्टी और गंदी बस्तियों से लदे पड़े हैं। और दूसरी और भव्य और आलीशान मकान सभी और देखने को मिलते हैं। ऐसी बसावटों में जहाँ व्यापारी एवं औद्योगिक वर्ग और इसी तरह व्यावसायिक वर्ग अपना प्रभुत्व बनाये रखते हैं, वहीं इन बड़ी बसावटों में लघु व्यापारी, दुकानदार और असंगठित मजदूर भी होते हैं।

## 7.4 शब्दकोश (Keywords)

- **सावयवी** : सभी अंगो के साथ, संपूर्ण रूप में।
- **बुर्जुआकरण** : पुरातन धारणा।
- **रैयत** : जमींदार, किसान।

## 7.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. स्तरीकरण व्यवस्था के रूप में वर्ग की अवधारणा को समझाइए।
2. स्वतंत्र भारत में नये वर्ग के उदय पर प्रकाश डालिए।
3. भारतीय समाज में अंग्रेजी उपनिवेशवाद के परिणामस्वरूप तथा स्थानीय निवेश के कारण जो नये वर्ग आए है उनकी व्याख्या कीजिए।
4. भारत में मध्यम वर्ग के उद्‌गम की परिस्थितयाँ बताइए।

**उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)**

**1.** 1. (क) 2. (ख) 3. (क) 4. (क) 5. (ख)
6. (ग) 7. (ग) 8. (क)

## 7.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. सिंह यादव; *सोशल स्ट्रैटिफिकेशन एडं चेंज इन इंडिया*, मनोहर, न्यू दिल्ली, 1977।
2. पी. के. वर्मा; *भारत के मध्य वर्ग की अजीब दास्तान*, राजकमल प्रकाशन, न्यू दिल्ली, 1999।

नोट

# इकाई–8: प्रजाति एवं नृजातीयता (Race and Ethnicity)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

8.1 प्रजाति (Race)

8.2 प्रजातीयता समूह (Racial Group)

8.3 नृाजातीयता समूह (Ethnic Group)

8.4 अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक संबंध (Minority and Majority Relations)

8.5 सारांश (Summary)

8.6 शब्दकोश (Keywords)

8.7 अभ्यास–प्रश्न (Review Questions)

8.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- प्राजाति, प्रजातीयता समूह, नृजाति समूह को जानने में।
- अल्पसंख्यक तथा बहुसंख्यंक के संबंध को सफलता पूर्वक समझने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

प्रजाति की अवधारणा ने इतिहास में कभी–कभी युद्धों एवं अत्याचारों को जन्म देकर नाटकीय भूमिका अदा की है। परन्तु इसके द्वारा उत्पन्न उत्तेजना के बावजूद भी प्रजाति के विषय पर अत्यन्त भ्रान्ति है। इस विषय से संबंधित इतनी विरोधी सामग्री है कि राजनैतिक पूर्वाग्रहों को वैज्ञानिक निष्कर्षों से अलग करना कठिन हो जाता है। नृजातीय (एथनिक) पद प्रजाति का बोध कराता है। पर जब हम नृजातीय समुदाय की बात करते है तो बल मुख्यत: समूह की भिन्न सांस्कृतिक अस्मिता पर होता है। प्रजाति समूह भेद के जैविकीय पक्ष को इंगित करने की प्रवृत्ति दर्शाता है जबकि नृजाति सांस्कृतिक पक्ष और एक जैसे उद्‌भव–मूल और वंश के कारण सशक्त जैविकीय तत्व के संयोजन का द्योतक है।

## 8.1 प्रजाति (Race)

'प्रजाति' शब्द को अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। यूनानियों ने संपूर्ण मानव जाति को ग्रीक अथवा यवनों में वर्गीकृत किया था, परन्तु इनमें से किसी भी समूह को प्रजाति नहीं कहा जा सकता। 'प्रजाति' शब्द को कभी–कभी राष्ट्रीयता (nationality) का समानार्थक समझकर प्रयुक्त किया जाता है। उदाहरणतया, फ्रेंच, चीनी एवं जर्मनी को प्रजाति कहा जाता है। जर्मन एवं फ्रेंच राष्ट्र हैं। सर्वश्री हक्सले और हैडेन आदि विद्वानों का विचार है कि राष्ट्र और प्रजाति में कोई अंतर न मानने का ही फल है कि यूरोप में उग्र राष्ट्रवाद हिंसक प्रजातिवाद के रूप में व्यक्त हुआ।

नोट

इसलिए राष्ट्र की प्रजाति के रूप में कल्पना करना उचित न होगा। कभी-कभी प्रजाति भाषा एवं धर्म का समानार्थक समझा जाता है। उदाहरणतया, आर्य प्रजाति शब्द के प्रयोग में। परन्तु आर्य नाम की कोई प्रजाति नहीं है, केवल आर्यभाषा है। किसी विशिष्ट भाषा का प्रयोग किसी की प्रजाति को निर्दिष्ट नहीं करता। हब्शी अंग्रेज भाषा बोलते हैं, परन्तु इससे वे अंग्रेज नहीं बन जाते। कभी-कभी प्रजाति शब्द का प्रयोग त्वचा के रंग के आधार पर मानवों के वर्गीरकण को निर्दिष्ट करने हेतु किया जाता है, यथा श्वेत प्रजाति अथवा काली प्रजाति। परन्तु प्रजाति को त्वचा के रंग के साथ नहीं मिलाया जा सकता। कभी-कभी प्रजाति शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है, यथा हम सभी मानव प्राणियों को सम्मिलित करके मानव जाति शब्द का प्रयोग करते हैं।

**प्रजाति एक जैविकीय अवधारणा** (Race is a biological concept)–उपर्युक्त भ्रांति का कारण इस तथ्य को न समझना है कि प्रजाति विशुद्ध रूप में जैविकीय अवधारणा है। यह एक जैविकीय श्रेणी का बोध कराता है। **ग्रीन** (Green) के अनुसार, "प्रजाति एक बड़ा जैविकीय मानव-समूह है जिसमें अनेक विशेष आनुवंशिक लक्षण पाए जाते हैं, जो कुछ सीमा के अन्दर भिन्न होते हैं" भाषा एवं धर्म सांस्कृतिक अवधारणाएँ हैं, अतएव उनके आधार पर प्रजाति जो जैविकीय अवधारणा है, कि परिभाषा नहीं की जा सकती। मनुष्यों के मध्य वंशीय भेद रक्त के कारण होते हैं। उन्हें वंशानुगत द्वारा जैविकीय माध्यम से आँख, त्वचा एवं केश के रंग जैसी शारीरिक विशेषताओं के साथ-साथ प्राप्त किया जाता है। 'प्रजाति' शब्द से मानवशास्त्रियों का अर्थ व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जिसमें सामान्य वंशानुगत लक्षण पाए जाते हैं तथा जो उन्हें अन्य समूहों से विभेदित कर देते हैं। **बीसंज** (Biesanz) के अनुसार, "प्रजाति मनुष्यों का विशाल समूह है जो वंशानुगत प्राप्त शारीरिक अन्तरों के कारण अन्य समूहों से भिन्न है।" यह "मानव जाति के एक उपभाग का बोध कराती है जिसके सदस्यों में कुछ समान आनुवांशिक शारीरिक विशेषताएँ पाई जाति हैं तथा जो उन्हें अन्य उपभागों से अलग कर देती हैं।" **लिंटन** (Linton) के अनुसार, "प्रजाति में अनेक नस्लें होती हैं जिनमें कुछ शारीरिक विशेषताएँ पाई जाती हैं।" यह व्यक्तियों का संग्रह है जो जैविकीय आनुवंशिकता द्वारा हस्तांतरणीय कुछ समान प्रेक्षणीय लक्षणों के भागी होते हैं। **मैकाइवर** (MacIver) ने लिखा है, "जब 'प्रजाति' शब्द का ठीक प्रयोग किया जाता है तो उससे एक जैविक श्रेणी सूचित होती है। उससे जनन की दृष्टि से विभेदित मानव-कुल एक-दूसरे के प्रति अपनी विभिन्नताओं के लिए ऋणी, प्रधान मानव-प्ररूप तथा पैतृकता के दूरस्थ पृथक्करण सूचित होते हैं"[4] **पाल ए. एफ.** (Paul, A.F.) के अनुसार, "प्रजाति मानव प्राणियों का एक विशाल विभाग है जो अन्य से सापेक्षतया कुछ स्पष्ट शारीरिक विशेषताओं द्वारा विभेदित है जो विशेषताएँ वंशानुगत समझी जाती हैं तथा जो अपेक्षाकृत अनेक पीढ़ियों तक स्थिर रहती हैं" **प्रोफेसर डन** (Dunn) के अनुसार, "प्रजातियाँ एक ही जाति–मेधावी मानव–के अंदर जैविकीय उपसमूह हैं जिसमें संपूर्ण जाति में सामान्य रूप से प्राप्त समान आनुवंशिकता से भिन्न विशेषताएँ मिलती हैं।" **ए. एल. क्रोबर** (A. L. Kroeber) के अनुसार, "प्रजाति एक वैध जैविकीय अवधारणा है। यह आनुवंशिकता द्वारा संयुक्त एक समूह, जाति अथवा जननिन उपजाति है।" **हाबेल** (Hoebel) के अनुसार, "प्रजाति विशिष्ट जननिक रंचना के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले शारीरिक लक्षणों का एक विशिष्ट संयोग रखने वाले अन्त:सम्बन्धित मनुष्यों का एक वृहत् समूह है।" **मजूमदार** (Mazumdar) के अनुसार, "व्यक्तियों के समूह को उस समय प्रजाति कहा जाता है, जब इसके सभी सदस्यों में कुछ समान महत्वपूर्ण शारीरिक लक्षण पाए जाते हैं जो आनुवंशिकता के माध्यम द्वारा वंशानुगत रूप से हस्तांतरित होते हैं।"

एक प्रजाति को दूसरी प्रजाति से भिन्न करने वाले लक्षण आनुवंशिक होते हैं तथा पर्यावरण में परिवर्तन के बावजूद भी सापेक्षतया स्थिर रहते हैं। इसके अतिरिक्त ये लक्षण एक वृहत् समूह में सामान्य होने चाहिए। एक ऐसे परिवार को, जिसमें कुछ भिन्न आनुवंशिक लक्षण पाए जाते हैं, प्रजाति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह अत्यधिक छोटा समूह है। परन्तु यदि इस परिवार का विस्तार हो जाए, और यह किसी भौगोलिक क्षेत्र में फैल जाए तो इसे प्रजाति कहा जा सकता है।

कुछ लेखकों का विचार है कि प्रजाति की जैविकीय व्याख्या यथेष्ठ नहीं है। प्रजाति को वंशानुगतता पर आधारित करना गलत है, क्योंकि प्रजातियाँ अधिकतया वर्णसंकर रही हैं। अतएव इस शब्द का प्रयोग जननिक अर्थ में किया जाना चाहिए। पैनीमान (Penniman) के अनुसार, प्रजाति एक जननिक वर्ग है, जिसमें अनेक अनिश्चित एवं

नोट

पारस्परिक संबंधित जननिक विशेषताएँ होती है, जिनके आधार पर इसे दूसरे वर्गों से पृथक् किया जा सकता है। हक्सले भी प्रजाति के जैविकीय अर्थ से सहमत नहीं है। वह 'प्रजाति' शब्द के स्थान पर **'नृवंशीय समूह'** (ethiic group) का प्रयोग करना चाहता था। लापियर, हडसन एवं गेटिस ने भी 'प्रजाति' शब्द के स्थान पर 'नृवंशीय समूह' शब्द का प्रयोग किया है।

**हार्टन एवं हंट** (Horton and Hunt) के अनुसार, प्रजाति को केवल जैविकतया भिन्न समूह के रूप में परिभाषित करना उचित नहीं है। उनके अनुसार यह सामाजिक रूप से महत्वपूर्ण संकल्पना भी है। अतएव वे 'प्रजाति' शब्द की परिभाषा इस प्रकार करते हैं कि यह "दूसरे समूहों से आनुवंशिक शारीरिक विशेषताओं में **कुछ भिन्न व्यक्तियों का समूह है, परन्तु प्रजाति लोकप्रिय सामाजिक परिभाषा द्वारा भी तत्वतः निर्धारित होती है।**"[8] इस प्रकार कोई व्यक्ति नीग्रो है अथवा नहीं, यह इस तथ्य पर निर्भर करता है कि क्या लोग उसे ऐसा समझते हैं न कि उसके बालों की आकृति, सिर के आकार अथवा त्वचा के अधिक कालेपन पर। क्या कोई व्यक्ति नीग्रो है अथवा नहीं, यह इस बात से निर्धारित होता कि क्या उसकी नीग्रो आनुवंशिकता है।

*नोट्स* प्रजाति व्यक्तियों का वृहत् समूह है जिसमें वंशानुगत हस्तांतरण के कारण विशिष्ट शारीरिक समानता पाई जाती है।

### 8.1.1 प्रजाति के निर्धारक तत्व (Determinants of Race)

प्रजाति के निर्धारण में शारीरिक लक्षणों पर ध्यान दिया जाता है, परन्तु बहुधा यह निश्चित करना कठिन होता है कि लक्षणों की विभिन्नताएँ आनुवंशिकता के कारण हैं, पर्यावरणीय परिवर्तनों के कारण नहीं। महत्वपूर्ण शारीरिक लक्षण जिन पर ध्यान दिया जाता है, निम्नलिखित हैं–

1. सिर, मुख एवं शरीर पर केशों का प्रकार, रंग एवं विभाजन। केशों के प्रकारों को–1. कोमल सीधे केश जैसे मंगोल एवं चीनी लोगों के, 2. कोमल घुँघराले केश, जैसे भारत पश्चिमी यूरोप, आस्ट्रेलिया एवं उत्तरी-पूर्वी अफ्रीका के निवासियों के, तथा 3. घने घुँघराले केश जैसे नीग्रो लोगों के, में श्रेणीबद्ध किया गया है।
2. शरीर, कद, वक्ष एवं कंधों का व्यास।
3. सिर की बनावट, विशेषतया कपाल एवं मुख की लम्बाई तथा चौड़ाई, नाक की लम्बाई एवं चौड़ाई। सिरों के तीन भेद किए गए हैं–1. **दीर्घ कपाल** (dalichocepalic). 2. **मध्य कपाल** (mesocephalic) एवं 3. **पृथु कपाल** (brachy-cephalic)।
4. मुखाकृति की विशेषताएँ, यथा नासिका की बनावट, ओष्ठ की बनावट, पलकों की बनावट, कपोल की हड्डियाँ, ठोड़ी, कान एवं जबड़ों की बनावट। नासिकाओं के तीन भेद किए गए हैं–1. पतली या लम्बी नासिका (leptorhine), 2. मध्य या चपटी नासिका (mesorrhine) एवं 3. चौड़ी नासिका (platyrrhine)।
5. त्वचा एवं आँखों का रंग। त्वचा के रंग के तीन भेद किए गए हैं–1. गोरा रंग (leucoderm), 2. पीला रंग (xanthoderm) एवं 3. काला रंग (melanoderm)।
6. भुजाओं एवं टाँगों की लम्बाई।
7. रक्त-प्रकार। रक्त चार प्रकार का होता है, O, A , B एवं AB । O प्रकार के रक्त को A, B एवं AB से मिलाया जा सकता है, परन्तु अन्य तीनों को एक-दूसरे के साथ साधारणतया संयुक्त नहीं किया जा सकता।

### 8.1.2 प्रजातियों का वर्गीकरण

प्रजाति के आधार पर कुछ शारीरिक विशेषताओं के अनुसार लोगों को वर्गीकृत किया गया है। सामाजिक समूहों के सदस्य त्वचा के रंग, सिर की बनावट एवं अन्य प्रेक्षणीय अन्तरों के विषय में भिन्न होते हैं। मानवशास्त्रियों ने अनेक

नोट

प्रकार के वर्गीकरण प्रस्तुत किए हैं जो एक-दूसरे से काफी भिन्न हैं। लिनीयस (Linnaeous) एवं क्यूवीर (Cuvier) ने मानव-समूह को छः प्रजातियों में बाँटा था। हीकेल (Heakel) ने चौंतीस प्रजातियों को गिनाया है। **आर्थर कीथ** (Arthur Keith) ने चार वर्गों का वर्णन किया है। आधुनिक काल में **जी. इलियट स्मिथ** ने छः प्रजातियों में मानव जाति को विभक्त किया है। सरगी (Sergi) ने मानव जाति को यूर-अफ्रीकन (Eurafrican) एवं यूरेशियन (Eurasian) में विभक्त किया है। कुछ मानवशास्त्री हक्सले के वर्गीकरण को अपनाते हैं जिसने पाँच प्रजातियों, अर्थात् नीग्रायड (Negroid), आस्ट्रेलायड (Australoid), मंगोलायड (Mongoloid), जैन्थोक्रायड (Xanthochroid) एवं मेलोनोक्रायड (Melanochroid) का उल्लेख किया है। कुछ लेखकों ने चार प्रजातियों, यथा काकेशियन (Causcasian), मंगोल (Mangol), नीग्रो (Negro) तथा आस्ट्रेलियन (Australian) का उल्लेख किया है, एवं काकेशियन को नार्डिक (Nordic) तथा आस्ट्रेलियन (Australian) का उल्लेख किया है, एवं काकेशियन को नार्डिक (Nordic), अल्पाइन (Alpine) एवं भूमध्यसागरीय (Mediterranean) में उपविभाजित किया है।

**वंशावलिक वर्गीकरण** (Genealogical classification)–इस प्रकार मानवशास्त्रियों में इस विषय पर कोई सहमाति नहीं है कि प्रजातियों को किस प्रकार वर्गीकृत किया जाए। प्रजाति की उचित अवधारणा एवं इसके उचित आधारों के अभाव के कारण प्रजातियों के उतने ही वर्गीकरण हैं, जितने लेखक। **डैनीकर** (Denikar) 'प्रजाति' शब्द की वर्तमान जनसंख्या में वास्तविक रूप से मिलने वाले लक्षणों के समूह के अर्थ में व्याख्या करता है। दूसरी और, **रिपले** (Ripley) ने आदर्श प्रकारों जो किसी समय विशुद्ध रूप में वर्तमान समझे जाते हैं को खोजन का प्रयत्न किया है। अनेक लेखक विभिन्न प्रजातियों की एक-दूसरे के साथ समानताएँ खोजने तथा उस आधार पर आनुवंशिक वर्गीकरण के प्रयास को निराशापूर्ण समझते हैं। इस प्रकार फिशर (Fischer), मेटीगका (Matiegka) एवं मारटन (Martan) ने वंशावलिक वर्गीकरण के प्रयत्न का परित्याग कर दिया। **श्री हैडन** (Haddon) ने स्पष्ट उल्लिखित किया है कि "उसका वर्गीकरण वह वर्गीकरण नहीं हैं, जिस अर्थ में प्राणिशास्त्री एवं वनस्पतिशास्त्री इस शब्द की व्याख्या करते हैं, क्योंकि इस वर्गीकरण में भौगोलिक बातों को सम्मिलित किया गया है।" प्रजाति-प्रकार मुख्यतः हमारे मस्तिष्क में वर्तमान होती है। वह अन्य स्थान पर लिखता है कि "मानवता का प्रजातियों में स्थिर वर्गीकरण का कार्य असम्भव है।"

**कोई विशुद्ध प्रजाति नहीं है** (NO pure race)–भौतिक मानवशास्त्रियों की कठिनाई यह है कि व्यक्तियों में उस प्रजाति, जिससे वे सम्बन्धित हैं, के सभी लक्षण वर्तमान नहीं होते। प्रजाति की अवधारणा पूर्णतया स्पष्ट एवं निश्चित नहीं होते। प्रजाति की अवधारणा पूर्णतया स्पष्ट एवं निश्चित नहीं है तथा न ही यह हो सकती है। मनुष्य सदैव प्रवास करता आया है, जनजातियों एवं राष्ट्रीयताओं ने इस भूमंडल पर प्रयाण एवं प्रतियान किया है, लोगों ने अपरिचितों के साथ यौन सम्बन्ध रखे हैं, जिसने संकरण सार्वभौमिक बन गया है। प्रजातीय लक्षण मानव जाति के विभिन्न समूहों में व्यापक रूप से मिश्रित है। इस विषय पर संदेह हो सकता है कि क्या इतिहास में कभी कोई विशुद्ध प्रजाति रही है। **डन** एवं **डाबझैंस्की** (Dunn and Dobzhansky) ने लिखा है, "सम्पूर्ण लिखित इतिहास में प्रजाति-मिश्रण वर्तमान रहा है। मानव-अवशेषों के अध्ययन से प्राप्त अकाट्य साक्ष्य दर्शाता है कि प्रागैतिहासिक काल में भी मानवता के उद्भव के समय विभिन्न नस्लों का मिश्रण होता था। मानव जाति सदैव संकर रही है और अब भी है।"[11] **प्रोफेसर फ्लीर** (Fleure) के अनुसार, "ब्रिटेन में अधिकांश लोग बीच के लोग हैं, न कि पूर्णतया एक अथवा दूसरी प्रकार के।" प्रजाति-संकरता के इस तथ्य के कारण वर्गीकरण की किसी योजना पर सहमत होना कठिन है।

एक महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रजातीय वर्गीकरण सामाजिक संरचना अथवा संस्कृति प्रतिमानों के साथ सहसम्बन्ध नहीं हैं। कपोल की ऊँची हड्डियों का लाल भूरी त्वचा से कुछ सम्बन्ध हो सकता है, काले-भूरे बालों का भूरी-काली त्वचा से सम्बन्ध है। परन्तु इनमें से किसी को बुद्धि अथवा जाति संरचना, अथवा गायन योग्यता अथवा ईश्वर में आस्था अथवा बहुपत्नी प्रथा अथवा अन्य किसी सामाजिक विशेषता से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। आनुवंशिक शारीरिक विशेषतायें जिनके आधार पर प्रजातियों का वर्गीकरण किया जाता है, वे सामाजिक व्यवहार के साथ सम्बन्धित नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ वर्गीकरण सहायक होने की अपेक्षा हानिकारक अधिक सिद्ध हुए हैं, क्योंकि उन्होंने व्यक्तियों

नोट

को यह मान लेते में प्रोत्साहित किया है कि कुछ प्रजातियाँ अन्य से मानसिकतया श्रेष्ठ हैं तथा शारीरिक लक्षणों एवं बुद्धि में परस्पर सम्बद्ध हैं। परन्तु जैसा हम बाद मे वर्णन करेंगे, ऐसी मान्यता बहुधा ठीक नहीं होती। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि मानव जाति को शारीरिक लक्षणों के आधार पर वर्गीकृत करने के कोई प्रयत्न नहीं किए जाने चाहिए।

**तीन मुख्य प्रजातियाँ** (Three main races)–प्रजातियों का नीग्रो, मंगोलायड एवं काकेशियन में वर्गीकरण सामान्यत: स्वीकृत किया गया है। यद्यपि उनको पृथक् करने वाली स्पष्ट रेखाएँ नहीं हैं, तथापि प्रत्येक प्रजाति के कुछ विशिष्ट लक्षण हैं जो इसके सभी सदस्यों में पाए जाते हैं। नीग्रो लोगों की त्वचा काली, जबड़े आगे की और, चौड़ी नासिका तथा घुँघराले केश होते हैं। इसमें मलेनेशियन लोग भी सम्मिलित हैं जिनकी त्वचा कुछ हल्की एंव नासिका नीग्रो समूह से कुछ भिन्न होती है। मंगोल प्रजाति की त्वचा का रंग पीला-सा अथवा ताम्र-गेहुँआ-सा होता है। इनके होंठ साधारणतया मोटे और ठोढ़ी गोल होती हैं। आँखें अधखुली होती हैं तथा उनका रंग बादामी या गहरा बादामी होता है। इस समूह में अमेरिकन इंडियन्स सम्मिलित हैं। कुछ मानवशास्त्री श्वेत जाति को पृथक् प्रजाति मानते हैं, जबकि अन्य इस मंगोल प्रजाति की उपशाखा ही मानते हैं। काकेशियन प्रजाति में पूर्वोक्त दोनों प्रजातियों के लक्षण धुले-मिले हैं।

इन तीन प्रजातीय भागों को उपप्रजातियों में विभक्त किया गया है, यद्यपि इन उपप्रजातियों प्रजाति की उपप्रजातियाँ कहा जाता है।

**भारत में प्रजातियाँ** (Race in India)–**सर हर्बर्ट रिजले** (Sir Herbert Risley) के अनुसार भारत में सात प्रजातियों के प्रकार मिलते हैं–

1. **द्रविड़ीय-पूर्व प्रकार** (Pre-Dravidian type)–जो पहाड़ियों एवं वनों में आदिम जनजातियों में अब भी वर्तमान है, यथा भील।
2. **द्रविड़ियन प्रकार** (Dravidian type)–जो गंगा घाटी तक दक्षिण प्रांयद्वीप में आवासी हैं।
3. **इंडो-आर्यन प्रकार** (Indo-Aryan type)–जो काश्मीर, पंजाब एवं राजपूताना में है।
4. **आर्य-द्रविड़ियन प्रकार** (Aryo-Dravidian type)–जो गंगा घाटी में पाई जाती है।
5. **साइथो-द्रविड़ियन प्रकार** (Cytho-Dravidian type)–जो सिंध कू पूर्व में स्थित है।
6. **मंगोलायड प्रकार** (Mongoloid type)–जो आसाम एवं पूर्वी हिमालय की तराइयों में पाई जाती है।
7. **मंगोल-द्रविड़ियन प्रकार** (Mongolo-Dravidian type)।

**हटन** (Hutton) के मतानुसार, नेग्रिटो (Negrito) प्रजातियाँ सम्भवत: भारत की मौलिक वासी थीं। तत्पश्चात् प्रोटो-आस्ट्रेलायड प्रजातियों का आगमन हुआ, जिनके पूर्वज फिलिस्तीन में थे। उसके उपरांत भूमध्यसागरीय प्रजाति आई। 4,000 ईसापूर्व इंडो-आर्यन प्रजाति भारत में आई।

### 8.1.3 प्रजाति-पूर्वाग्रह (Race Prejudice)

यहाँ पर हम प्रजाति-पूर्वाग्रह अथवा प्रजाति-भेदभाव के प्रश्न पर विचार करेंगे, जिसने मानव जाति को विरोधी गुटों में विभक्त कर दिया है। एक प्रजाति द्वारा दूसरी प्रजाति पर काफी अत्याचार किया जाता है, यथा प्रजाति दासता में मनुष्य की मनुष्य के प्रति दानवता प्रजाति पर अधिकांशतया आधारित होती है। अधिकारों, अवसरों एवं प्रस्थिति के बारे में किसी प्रजाति के विरुद्ध गंभीर भेदभाव किया जाता है।

पूर्वाग्रह "एक मनोवृत्ति है जो व्यक्ति को किसी समूह अथवा इसके व्यक्तिगत सदस्यों के प्रति अनुकूल अथवा प्रतिकूल ढंग से विचारने, विरचने, अनुभव करने एवं कार्य करने के लिए प्रवृत करती हैं।"

पूर्वाग्रह का अर्थ है पूर्व-निर्णय करना। हम अपनी भावनाओं के प्रभाव में बिना विवेकयुक्त विचार के शीघ्र ही पूर्वनिर्णय कर लेते हैं। तीव्र भावना विचार को कुंठित कर देती है एवं हमें अंधविश्वास की और प्रेरित करती है। एक बार पूर्वाग्रह की स्थापना हो जाने पर वास्तविक तथ्य भी इसे दूर नहीं कर पाते। पूर्वाग्रह किसी व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति अथवा समूह के प्रति तीव्र रूप से अनुकूल अथवा प्रतिकूल बना देता है। पूर्वाग्रह भेदभाव से भिन्न है। भेदभाव

नोट

व्यक्तियों के बीच विभेदक व्यवहार है। यह साधारण रूप से पूर्वाग्रह की स्पष्ट अथवा व्यावहारिक अभिव्यक्ति है, परन्तु यह पूर्वाग्रह के बिना भी प्रकट हो सकता है। प्रजाति-पूर्वाग्रह इस मान्यता पर आधारित है कि नृवंशीय अन्तर रक्त के अंतर के कारण है तथा ऐसे अन्तर शारीरिक लक्षणों, यथा आँख, त्वचा एवं केश के रंग की भाँति जैविकतया हस्तांतरित होते हैं; परन्तु जैसा ऊपर वर्णित किया गया है कि यह विचार कि कुछ प्रजातियाँ मानसिक रूप से अन्य प्रजातियों से कुछ विशिष्ट जैविक लक्षणों के कारण श्रेष्ठ हैं, अभी तक प्रमाणित नहीं हुआ है। यदि सभी प्रजातियाँ जैविक रूप में समान उत्पन्न हों तब भी प्रजाति-पूर्वाग्रह समाप्त नहीं होगा। प्रजातियों में तब भी संघर्ष होंगे, ठीक उसी प्रकार जैसे राष्ट्रों के बीच युद्ध होते हैं।

*क्या आप जानते हैं* प्रजाति पूर्वाग्रह अथवा रंगभेद संसार में वर्तमान का सबसे बड़ा कलंक है जो विश्व-शांति के लिए भी भय है।

**प्रजातीय पूर्वाग्रह जन्मजात नहीं है (Racial Prejudice is not inborn)**

अतएव प्रथम ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि प्रजाति-पूर्वाग्रह जन्मजात नहीं होता। बालक किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह को लेकर जन्म नहीं लेता। हम बहुधा बच्चों को दूसरी प्रजातियों के बच्चों के साथ बिना किसी पूर्वाग्रह अथवा भेदभाव के खेलते देखते हैं। पूर्वाग्रह सामाजिक शिक्षा (indoctrination) का परिणाम है जो विश्वासों एवं मनोवृत्तियों को इस प्रकार उत्पन्न कर देती है कि वे अभ्यस्तता की प्रक्रिया द्वारा सुदृढ़ रूप धारण कर लेते हैं। बच्चा पूर्वाग्रह को धीरे-धीरे प्राप्त करता है। यह समाजीकरण की प्रक्रिया की उपज है जहाँ 'मेरा' 'हमारा' बन जाता है तथा बालक अपने समूह के सदस्यों को दूसरे व्यक्तियों से प्रत्येक क्षेत्र में श्रेष्ठ समझने लगता है। वह दूसरे व्यक्तियों को श्रेष्ठता-हीनता के शब्दों में विभेदित एवं मूल्यांकित करता है एवं उनके प्रति जो उसके पूर्वाग्रहों में भागी हैं, अनुराग एवं निष्ठा रखने लगता है। अतएव समूह-पूर्वाग्रह जन्मजात नहीं है, अपितु शिक्षाजनित है। कभी-कभी पूर्वाग्रह के बीच बालक के प्रारम्भिक जीवन में ही बो दिए जाते हैं जिससे वह जन्मजात दिखलाई देता है, परन्तु वस्तुत: यह अर्जित होता है। पूर्वाग्रह के कारणों का वर्णन निम्नलिखित है–

1. **आर्थिक लाभ** (Economic advantages)–प्रजाति-पूर्वाग्रह का एक महत्वपूर्ण कारण आर्थिक लाभ है जो कुछ परिस्थितियों में प्रभुत्वशाली समूह को प्राप्त होता है। प्राचीन यूनान एवं रोम में कुलीन वर्ग ने दासों के हितों को बलिदान कर समृद्धि प्राप्त की, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में दक्षिणी राज्यों के नीग्रो ने विस्तारशील अर्थ-व्यवस्था को सस्ता श्रम प्रदान किया। इन व्यक्तियों को हीन समझा जाता था, अतएव इन्हें निम्न पद दिए जाते थे जिनसे उन्नति की कोई आशा नहीं थी। ये हीन जनजाएँ प्रतिष्ठा की निचली सीढ़ियों पर रह जाती हैं और समान कार्य के लिए समान वेतन, समान शिक्षा, सार्वजनिक सुविधाओं के समान उपयोग से वंचित होकर स्वतंत्र समूह बन गई। इन अधिकारों एवं सुविधाओं के प्रतिरोधन का समर्थन इस आधार पर किया जाता था कि वे हीन व्यक्ति है, अतएव कम पात्र हैं। उनके लिए कुछेक व्यवसाय, जहाँ तक कि योग्य एवं प्रशिक्षित व्यक्तियों के लिए भी, प्रतिबंधित थे। पृथक्करण एवं विभेदीकरण से नीग्रो जाति में निहित व्यावसायिक हित का उत्थान हुआ जो गोरे नियोक्ताओं के आर्थिक हितों के अनुरूप भी था।
2. **राजनीतिक लाभ** (Political advantages)–कभी-कभी प्रभुत्वशाली समूह अपनी राजनीति सर्वोच्चता को सुदृढ़ करने अथवा स्थिर रखने के लिए भी प्रजाति-पूर्वाग्रहों को प्रोत्साहित करता है। दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों, तथाकथित काले लोगों को मतदान एवं सार्वजनिक पद के अधिकार से वंचित रखा गया है, ताकि गोरे लोगों की राजनीतिक शक्ति स्थिर रहे। संयुक्त राज्य के कुछ राज्यों में भी ऐसा ही व्यवहार नीग्रो लोगों के साथ किया जाता है। राजनीतिक नेता उसी सीमा तक शक्ति प्राप्त करते हैं जहाँ तक वे मतदाताओं के आदर्श नियमों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐसे व्यक्तियों जो इन आदर्श नियमों का समर्थन नहीं करते, के निर्वाचित होने की संभावना नहीं होती। इस प्रकार जब इन नेताओं को शक्ति प्राप्त हो जाती है तो वे स्थिति

नोट

को ज्यों का त्यों रखने हेतु और अधिक प्रभाव प्रयुक्त करते हैं। दक्षिणी अमेरिका के पृथकवादी नेताओं के हितों की संतुष्टि नीग्रो के प्रति प्रजाति-पूर्वाग्रहों को स्थिर रखने से होती है।

3. **संजाति-केन्द्रीयता** (Ethnocentrism)—संजाति-केन्द्रीयता वह भावना है जिसके द्वारा देशीय लोग विदेशियों से घृणा करते हैं एवं स्वयं को श्रेष्ठ समझते हैं। जब यह भावना चरम सीमा पर पहुँच जाती है तो उग्र राष्ट्रीयता को जन्म देती है जिसमें व्यक्ति अपने देश के प्रति तर्कहीन एवं उच्छृंलन अहं तथा विदेशी राष्ट्रो के प्रति घृणा दिखलाते हैं। संजाति-केन्द्रीयता का एक प्रसिद्ध उदाहरण चीन के सम्राट् चाइन लुंग (Chien Lung) के द्वारा इंग्लैड के राजा जार्ज-तृतीय को 1793 में भेजे गए संदेश में मिलता है। संदेश में लिखा था—"तुम, अरे राजा, अनेक समुद्रों के पार रहते हो, तथापि तुमने हमारी सभ्यता के लाभों से भाग लेने की विनम्र आकांक्षा से संप्रेरित होकर सादर एक प्रतिनिधि मंडल अपने अभ्यावेदन सहित भेजा है।"

   यदि तुम्हारा विचार है कि हमारे अलौकिक राजकुल के प्रति तुम्हारी श्रद्धा ने हमारी सभ्यता सीखने की आकांक्षा उत्पन्न की है तो मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि हमारे संस्कार एवं नियमावलियाँ तुम्हारे से पूर्णतया इतने विभिन्न हैं कि यदि तुम्हारा राजदूत हमारी सभ्यता की आरम्भिक बातें भी प्राप्त कर सके, तो तुम हमारे रीति-रिवाजों एवं जीवन-विधियों को अपनी विदेशी भूमि पर संभवत: प्रतिरोपित नहीं कर सकते।

   हमारे राजकुल के गौरवमय गुण इस आकाश के नीचे प्रत्येक देश में प्रवेश कर चुके हैं तथा सभी राष्ट्रों के राजाओं ने समुद्री एवं भूमि मार्ग से अपनी बहुमूल्य श्रद्धांजलियाँ भेजी हैं। तुम्हारा राजदूत स्वयं देख सकता है कि हमारे पास सभी वस्तुएँ हैं। मैं विदेशी अथवा अजनबी वस्तुओं को कोई महत्व नहीं देता एवं तुम्हारे देश की निर्मित वस्तुओं का हमारे लिए कोई उपयोग नहीं है।"

4. **निराशा की क्षतिपूर्ति** (Compensation for frustration)—कभी-कभी अल्पसंख्यक समूह को सामाजिक एवं आर्थिक अशांति के लिए दोषी समझा जाता है एवं उसे प्रभुत्वशाली समूह द्वारा अजमेध (scapegoat) बनाया जाता है जिससे इस समूह को अपनी सामाजिक अथवा व्यक्तिगत निराशा, जिसका कारण संभवत: शासक समूह की अकुशलता अथवा बेईमानी हो सकती है, कि क्षतिपूर्ति मिल जाती है। जर्मनी में नाजियों ने प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मन की पराजय के लिए यहूदियों को दोषित किया। अमेरिका में नीग्रो, रोमन-कैथोलिकों एवं सामान्यतया विदेशियों को सामाजिक व्यवस्था में होने वाले दोषी घोषित किया जाता है। इन व्यक्तियों को सामाजिक विघटन का कारण अथवा देश की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिरता के लिए भय समझा जाता है। यहूदियों को विशेषतया ऐसी दु:खद प्रसिद्धि प्रदान की गई है। इसके जो कुछ भी कारण रहे हों, यह कथन विवेकयुक्त होगा कि उन्हें जबकि देश में उनकी अल्पसंख्या है, सामाजिक विघटन का कारण नहीं समझा जा सकता। वस्तुत: अपनी असफलताओं के लिए स्वयं की अकुशलता को दोषी न ठहरा कर किसी अन्य समूह जिसे हीन, तुच्छ एवं निर्लज्ज समझा जाता है, के व्यक्तियों की साजिशों एवं चालों को दोष देना मानवीय स्वभाव है।

5. **उचित शिक्षा का अभाव** (Lack of propere ducation)—यह प्रजाति-पूर्वाग्रह का सबसे महत्वपूर्ण कारण है। जैसा ऊपर वर्णित किया गया है, प्राजाति-पूर्वाग्रह जन्मजात नहीं होता, अपितु शिक्षाजनित होता है। शिक्षा व्यक्ति में पूर्वाग्रह-मनोवृत्तियों को जन्म दे देती है। जैसे व्यक्ति सामाजिक विरासत के अन्य तत्वों को प्राप्त करता है, वह पूर्वाग्रह को भी प्राप्त कर लेता है। सोवियत रूस में नवयुवक को प्रत्येक ऐसे व्यक्ति से जो साम्यवाद मे विश्वास नहीं करता, घृणा करना सिखाया जाता है। इस प्रकार बाल्यावस्था से ही कुछ समूहों के बारे में प्रतिकूल रूढ़िबद्ध प्ररूपों का निर्माण हो जाता है। व्यक्तियों को उनके वैयाक्तिक गुणों के आधार पर सम्बोधित नहीं किया जाता, अपितु उस नाम से संबोधित किया जाता है, जिससे आधार पर सम्बोधित नहीं किया जाता, अपितु उस नाम से संबोधित किया जाता है, जिससे उनके समूह को निदित किया जाता है। **रोस** (Rose) का कथन है कि "रूढ़िबद्ध" प्ररूप अल्पसंख्यक समूह के कूछ सदस्यों में वर्तमान कुछेक शारीरिक लक्षणों अथवा सांस्कृतिक विशेषताओं की अतिशयोक्तियाँ होते हैं जिन्हें समूह के सभी सदस्यों पर आरोपित कर दिया जाता है। ये रूढ़िबद्ध प्ररूप अन्य व्यक्तियों के बारे में हमारे ज्ञान को एक अकेले फार्मूला

नोट

में संक्षेपित करने की भूमिका की पूर्ति करते हैं।" चीनियों को 'लांड्रीमैन' (Laundrymen), स्काट-निवासियों को दृढ़ मुष्टिबद्ध कहा जाता है। इसका परिणाम होता है अन्य समूह के प्रति तुच्छ एवं आधारहीन पूर्वाग्रह। यह भी ध्यान रहे कि किसी समूह के प्रति एक बार पूर्वाग्रह सुस्थापित हो जाने पर उस समूह से संबंधित भावनाएँ आदर्शात्मक महत्व प्राप्त कर लेती हैं। ये भावनाएँ सामाजिक आदर्श नियमों का भाग बन जाती हैं। समूह के सदस्यों से अपेक्षा की जाती है कि प्रत्येक इन भावनाओं में विश्वास करेगा। यदि कोई सदस्य इन भावनाओं का पालन नहीं करता तो उसके विरुद्ध सकारात्मक एवं नकरात्मक शास्तियों का समूह द्वारा प्रयोग किया जाता है। यह भी देखा गया है कि जो व्यक्ति समूह के आदर्श नियमों को पूर्वाग्रह-सहित प्रबल समर्थन प्रदान करते हैं, नेतृत्व का पद प्राप्त करते हैं।

**प्रजाति-पूर्वाग्रह को किस प्रकार समाप्त किया जाए?** (How to eradicate race prejudice?)–इस प्रकार पूर्वाग्रह, वैमनस्य एवं समूहगत भेदभाव स्वयं ही उत्पन्न नहीं हो जाते, अपितु इनके द्वारा उन समूहों, जो इनसे बँधे रहते हैं, को कुछ लाभ प्राप्त होते हैं अथवा कम से कम उन्हें लाभकारी समझा जाता है। प्रजाति ने बुरी है, न अच्छी। प्रजातिवाद निश्चित रूप से हानिकारक एवं बुरा है। यह सहयोगी सामाजिक क्रिया के मार्ग में शक्तिशाली बाधा है। यह भेदभाव एवं अन्याय को जन्म देता है। कभी-कभी यह विश्व-शांति के लिए घातक बन जाता है, जब इसे निरकुश शक्ति द्वारा आरोपित किया जाता है, जैसा नाजी संजाति-उन्मादियों ने किया। प्रजाति-पूर्वाग्रह को समाप्त करने हेतु केवल प्रजातीय श्रेष्ठता की आधारहीन मान्यता की दुर्बलता को सिद्ध करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु नवयुवकों को उचित दिशा में प्रशिक्षित करना एवं निर्विवाद तथ्य कि त्वचा का रंग, वर्ग, धार्मिक विश्वास, भौगोलिक अथवा राष्ट्रीय उद्गम, सामाजिक अनुकूलनीयता के कोई परीक्षण नहीं हैं, को बतलाना भी आवश्यक है। यदि पूर्वाग्रहित अमेरिकन गोरे नवयुवकों को यह ज्ञात हो जाए कि नीग्रो लोग, जिन्हें वे घृणा करते हैं, दयालु, सुपोषित एवं बुद्धिमान हैं तो उनके पूर्वाग्रह दूर हो जाएँगे। नागरिक का मूल्यांकन उसकी त्वचा के रंग से नहीं, अपितु सामाजिक संरचना में उसके द्वारा स्वयं को अनुकूलित करने की तत्परता तथा देश के विकास में उसके योगदान के आधार पर होना चाहिए। संचार-साधनों के विस्तार से भी जिससे सम्पर्कों की संख्या में वृद्धि हुई है, प्रजातीय अवरोधकों की समाप्ति में सहायता मिलेगी। प्रजाति के विषय का सही ज्ञान, संस्कृतियों का विकास किस प्रकार होता है एवं वे भिन्न क्यों हैं, का ज्ञान तथा इस तथ्य कि प्रजातीय पूर्वाग्रह आर्थिक अथवा राजनीतिक रूप में अन्ततः लाभदायक नहीं होता, की स्वीकृति प्रजातीय पूर्वाग्रह को दूर करने में काफी सहायक होंगे। 'प्रजातीय सम्बन्धों' के विषय पर शिक्षण-संस्थाओं में व्याख्यान भी दिए जाने चाहिए।

इस सम्बन्ध में यह बतलाना आवश्यक है कि हाल ही में समाजविज्ञानवेत्ताओं ने प्रजातीय पूर्वाग्रहों पर सशक्त नियंत्रण पाने के सिद्धान्तों, इसकी विधियों एवं प्रणालियों में बारे के अनुसंधान को अपने विषय-क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया है। मानवशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों एवं समाजशास्त्रियों ने इस दिशा में पर्याप्त काम किया है। विशिष्ट संगठनों, यथा यूनेस्को द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय तनावों की स्थितियों का अध्ययन किया जा रहा है, एवं सामाजिक पूर्वाग्रह को मिटाने के सम्मिलित प्रयत्न किए जा रहे हैं। यूनेस्को ने गणमान्य समाजशास्त्रियों, मानवशस्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों का एक सम्मेलन भी बुलाया जो सितम्बर, 1952 में हुआ। इस सम्मेलन ने प्रजाति की समस्या पर निम्नलिखित निष्कर्षों की घोषणा की–

1. मूलतः सम्पूर्ण मानव जातियों का समान उद्गम है तथा सभी मनुष्य मेधावी मानव (homosapiens) हैं।
2. मनुष्यों के शारीरिक लक्षणों में भिन्नता आनुवंशिकता एवं पर्यावरण दोनों के कारण होती हैं।
3. प्रजातीय विशुद्धता की अवधारणा केवल मात्र कल्पना है।
4. मानवी प्रजातियों का वर्गीकरण किया जा सकता है, परन्तु इन वर्गीकरणों का मानसिक अथवा बौद्धिक श्रेष्ठता अथवा हीनता से कोई सम्बन्ध नहीं है।
5. बुद्धि एवं संस्कृति के विकास की क्षमता प्रत्येक प्रजाति में समान रूप से पाई जाती है। बुद्धिमान व्यक्ति सभी प्रजातियों में पाए जाते हैं।
6. प्रजातियों का सम्मिश्रण हानिकारक है, यह विचारणा गलत है।

नोट

7. विभिन्न मानवीय समूहों के मध्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक भिन्नताओं पर प्रजाति का कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं है। प्रजातीय एवं सामाजिक परिवर्तनों में कोई सह सम्बन्ध नहीं है।
8. यह संभव है कि किसी राष्ट्र में प्रजातीय भिन्नता की मात्रा अन्य किसी राष्ट्र की अपेक्षा अधिक हो सकती है।

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. निम्नलिखित कथनों में ☑ अथवा ☒ का निशान लगाएँ** (State whether the following statements are 'right' or 'wrong' )–

1. प्रजाति शब्द को राष्ट्रीयता का समानार्थक समझकर प्रयुक्त किया जाता है। ☐
2. प्रजाति के निर्धारण में शारीरिक लक्षणों पर ध्यान नहीं दिया जाता है। ☐
3. 1,500 वर्ष ईसापूर्व इंडो-आर्यन प्रजाति भारत में आई। ☐
4. पूर्वाग्रह सामाजिक शिक्षा का परिणाम है। ☐
5. प्राजातीय विशुद्धता की आवधारणा केवल कल्पना मात्र नहीं है। ☐
6. प्रजाति-पूर्वाग्रह जन्मजात नहीं होता। ☐

## 8.2 प्रजातीयता समूह (Racial Group)

भारत में राष्ट्र निर्माण और आर्थिक विकास की प्रक्रिया ने उन सामाजिक शक्तियों को उभरने का अवसर दे दिया है जिन्हें संभवत: इसके इतिहास और सभ्यता के संदर्भ में अधिक अच्छे ढंग से समझा जा सकता है। भारतीय सभ्यता की विराट ऐतिहासिक गहनता, बहुमुखी सामाजिक और सांस्कृतिक अंत:संयोजनों और 'महान परंपरा' की परिधि में विद्यमान अधिसंख्य लघु परंपराओं को ध्यान में रखते हुए इसकी प्रकृति को संपूर्णता में समझ पाना आसान नहीं है। पुन:, जहां तक स्वयं महान परंपरा का प्रश्न है, भारत में इसकी संख्या भी केवल एक ही नहीं है। तात्पर्य यह कि यद्यपि हिन्दूवादी परंपरा ने हमेशा अपनी असाधारण सार्थकता को अक्षुण्ण रखा है, भारत में इसके अतिरिक्त इस्लाम, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, सिख धर्म और अनेकानेक जनजातीय परंपराओं तथा जीवन-शैलियों की एक विलक्षण समष्टि भी मौजूद है। सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, वैधानिक और राजनैतिक संस्थाओं की पाश्चात्य परंपरा का प्रभाव भारतीय सभ्यता की इस अनेक परंपराओं से अधिक व्यापक है और इसने ऐतिहासिक रूप से अपने आपको स्वदेशी सभ्यता पर अध्यारोपित कर दिया है। बड़े सुसंगत ढंग से इस स्थिति का वर्णन करते हुए के.एम. पनिक्कर कहते हैं–

> *"भारत को जो विरासत प्राप्त हुई है यह केवल आंशिक रूप से हिन्दू और भारतीय है। अनेक क्षेत्रों में पश्चिम से प्राप्त विरासत कम महत्वपूर्ण नहीं है। आधुनिक भारत मनु द्वारा प्रतिपादित कानूनों की छत्रछाया में जीवित नहीं है। यद्यपि यह भारतीय परंपरा के स्थायित्व द्वारा बहुत हद तक प्रभावित है, इसकी मानसिक पृष्ठभूमि और उपादान सौ वर्षों से अधिक लंबी उस पाश्चात्य शिक्षा व्यवस्था के सांचे में ढलने के बाद ही अपने वर्तमान रूप को प्रापत कर पाए हैं जो व्यावहारिक तौर पर मानसिक क्रियाकलाप के हर क्षेत्र में व्याप्त है। इसके सामाजिक आदर्श हिन्दू समाज द्वारा लंबे समय तक संपोषित आदर्श नहीं हैं बल्कि पश्चिम की देन हैं जिनमें से अधिकांश के मूल फ्रांस की क्रांति के सिद्धांतों में निहित है। संख्यात्मक दृष्टि से अपेक्षाकृत बहुत कम पर अपनी सीमा में निरन्तर व्यापक होते कुछ आदर्श ऐसे भी हैं जिनका उद्‌भव मार्क्स के उपदेशों तथा सोवियत प्रयोग की सीखों से हुआ है। विगत सौ वर्षों के दौरान हिन्दुत्व की धार्मिक आस्था की धाराओं में भी व्यापक परिवर्तन हुआ है। वस्तुत: यह कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अभिनव भारतीय राज्य उन परंपराओं, आदर्शों तथा सिद्धांतों को निरूपित करता है जो पूर्व और पश्चिम के बीच प्रभावशाली परन्तु अपूर्ण संश्लेषण के परिणाम है।"*

नोट

पश्चिम के साथ **मुखामुखम** भारतीय सभ्यता के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती थी क्योंकि पश्चिमी सभ्यता जिन सिद्धातों को निरूपित करती थी वे भारतीय सभ्यता के पारंपरिक सिद्धांतों से बहुत अधिक भिन्न थे। हमने वर्गानुक्रम (हायरार्की), समष्टिवाद (होलिज्म), सातत्य और ज्ञानातीतत्व (ट्रांसेंडेंस) सदृश भारतीय हिन्दुत्ववादी सभ्यता के उनपरंपरागत सिद्धांतों का उल्लेख किया है जिन्होंने कई शताब्दियों तक अन्य सांस्कृतिक परंपराओं पर अपना वर्चस्व कायम किए रखा। इनमें वर्गानुक्रम का तत्व अनेक गैर-हिन्दू सांस्कृतिक परंपराओं में भी व्याप्त था। यह बात समष्टिवाद के सिद्धांत के संदर्भ में भी सत्य थी। दूसरे शब्दों में, सांप्रदायिक बंधनों तथा सामाजिक स्तृतों के धार्मिक-प्रथागत अलगाव पर बल भारत के अधिकांश समुदायों और सांस्कृतिक समूहों का एक विशिष्ट गुण था और इस दृष्टि से भारत के कुछ भागों में रहनेवाले आदिवासी जन-समुदाय संभवत: एकमात्र अपवाद थे। जिस पश्चिमी सभ्यता ने भारतीय परंपरा से साक्षात्कार किया वह राजनैतिक दृष्टि से न केवल औपनिवेशिक तथा विस्तारवादी थी बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय परंपरा के लिए एक अत्यंत सशक्त प्रतिगामी शक्ति को द्योतित करती थी। यह फ्रांस की क्रांति और औद्योगिक क्रांति की संतति थी और कम-से-कम सिद्धांत रूप में समानता नागरिक-वैयक्तिकता, ऐतिहासिकता और उपयोगितावादी तार्किकता के इसके संबोध पारंपरिक भारतीय सभ्यता के मापदंडात्मक सिद्धांतों के एकदम विपरीत थे (योगेन्द्र सिंह–1973)। पाश्चात्य सभ्यता के साथ इस साक्षात्कार ने भारत में परिवर्तन की जिस प्रक्रिया का सूत्रपात किया है उसका परिणाम बहुत हद तक अनुकूली रूपांतरणों के रूप में सामने आया है। यह भारत में कई शताब्दियों तक चलनेवाली सांस्कृतिक **आत्मसात्करण** की उस प्रक्रिया के कारण संभव हो पाया है जिसने इसकी सभ्यता को आंतरिक समुत्थानपरकता का एक सुदृढ़ मापदंड प्रदान किया। भारतीय सभ्यता की इस विशेषता पर प्रकाश डालते हुए लार्ड मेश्चन ने लिखा–

> *"उसकी अपनी प्राचीन संस्कृति और पश्चिम से आयातित विदेशी संस्कृति के बीच द्वंद्व या तनाव की स्थिति नजर नहीं आई है या अगर ऐसा हुआ है तो बहुत कम अथवा नगण्य रूप में; इनके बीच विचारों या पद्धतियों के स्तर पर किसी प्रकार का हिंसक विवाद प्रकाश में नहीं आया है और न ही एक सामाजिक व्यवस्था का दूसरी व्यवस्था द्वारा बलात विस्थापन की स्थिति दृष्टिगोचर हुई है। अलंकारिक तौर पर यह कहना कि भारतीय परंपराओं और जीवन के सागर में नए चिंतन तथा कार्य-व्यवहार की एक स्रोतस्विनी प्रवहमान हो उठी है, अधिक समीचीन होगा। हम कम-से-कम एक खास समय के लिए समुद्र की सतह पर फैले नदी-जल के विशिष्ट रंग की पहचान कर सकते हैं; पर चूंकि हमारे पास भारत के बारे में सोचने का अक्सर कोई कारण होता ही है, महासागर के अथाह गर्भ में इसके प्रभाव के बारे में हम थोड़ी बहुत बात भी कैसे कह सकते हैं?"*

### 8.2.1 विविधता, एकता और भारतीय सभ्यता

यहां हम भारतीय परंपराओं और संस्कृति की विविधता तथा सभ्यता की एकता की प्रक्रिया पर इसके प्रभाव की समस्या से साक्षात्कार करते हैं। यह एकता अनेक स्तरों पर विशेषकर पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृति से अंत:क्रिया से पूर्व के कालों में दिखाई दे सकती है। सांस्कृतिक और प्रोद्योगिकीय संचार तथा अंत:क्रिया की प्रक्रियाओं में एकता के एक महत्वपूर्ण स्रोत का अवलोकन किया जा सकत है। एन.के. बोस ने उन घुमंतू फकीरों, व्यापारियों, कथावाचकों, शिल्पियों और कलाकारों द्वारा पारंपरिक भारतीय समाज में निभाई गई भूमिका का जिक्र किया जिन्होंने विभिन्न क्षेत्रों ओर सांस्कृतिक परंपराओं के बीच एकता के सेतु स्थापित किए। तीर्थाटन, मेलों और पर्व-त्यौहारों की संस्थाओं ने विविधता की परिधि के अंदर सांस्कृतिक एकता के भाव के संप्रेषण व संचार के लिए एक अन्यसमागम बिन्दु प्रदान किया। बोस लिखते हैं–"यद्यपि भारत कुल मिलाकर निरक्षर था, ऐसे कुछ सुनिश्चित 'मैकेनिज्म' पहले से अस्तित्व में थे जिनके द्वारा संस्कृति के बौद्धिक और भावात्मक तत्व उन सबसे दूरवर्ती समुदायों के दरवाजों तक पहुँच पाए जो अपनी भौगोलिक अवस्थिति या सामाजिक अलगाववाद की प्रवृत्ति को मिलनेवाले प्रोत्साहन के कारण शेष दुनिया से कटे हुए थे"। इन अभिकरणों के अतिरिक्त सामाजिक संरचना और अर्थव्यवस्था ने विभिन्न क्षेत्रों, समूहों और सांस्कृतिक परंपराओं के बीच पारस्परिकता तथा अंत:क्रिया के संपर्क-सूत्र स्थापित किए। इसके दृष्टांत भारत में भद्रलोक समुदाय की सांस्कृतिक तथा प्रशासनिक निरंतरता पर केन्द्रित अध्ययनों में मिलते हैं। विश्ववादी या

नोट

अभिजात्य (कुलीन) परंपराओं के स्थानीकरण और स्थानीय परंपराओं के वैश्वीकरण के कारण लोकसम्मत और कुलीन या अभिजात्य स्तरों पर भारतीय सांस्कृतिक परंपरा के संघटन में आपसी आदान-प्रदान के तत्व अब तक पर्याप्त परिमाण में विद्यमान रहे हैं। इसकी परिधि सामाजिक व्यवस्था के अंदर सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिशीता के स्तरों तक व्यापक होने में भी सफल रही।

यद्यपि यह बहुत अधिक विस्तृत कभी नहीं थी, पारंपरिक भारत में साम्राज्यवादी व्यवस्था की राजनैतिक अर्थव्यवस्था ने उन प्रशासिकन, शैक्षिक, प्रौद्योगिकीय और सांस्कृतिक संस्थाओं तथा कर्मिकों को जन्म दिया जिनकी भूमिका स्थानीय होने के बजाय वैश्विक थी। ये संस्थाएं स्थानीय सामाजिक व्यवस्थाओं एवं सांस्कृतिक परंपराओं के बीच सेतुओं का काम करती रहीं। यह बात पारंपरिक भारतीय सामाजिक ढांचे की अंतरसंरचनात्मक स्वायत्तता में भी परिलक्षित होती रही जिसके तहत राजव्यवस्था, सांस्कृतिक प्रतिमानों और सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्थाओं से संबद्ध वैश्विक संस्थाओं ने स्थानीय संस्थाओं के लिए विविधता, स्वतंत्रता और सर्जनात्मकता का एक मानदंड प्रदान किया। वस्तुत: कारीगरों, शिल्पियों जैसे व्यावसायिक समूहों तथा धोबी, नाई, कुम्हार आदि जैसे रोजगारोन्मुखी समुदायों की जातीय पंचायतों एवं ग्राम पंचायतों को, जो जजमानी व्यवस्था के अंतर्गत परस्पर एक-दूसरे से संपृक्त थे, न केवल स्वशासन की दृष्टि से बल्कि वृहत्तर समाज के साथ पारस्परिकता के नियमों को क्रियान्वित करने के लिहाज से भी स्वायत्तता हासिल हो गई। उनकी प्रकार्य प्रणाली में विश्ववादी राजनैतिक तथा प्रशासनिक संस्थाओं की भूमिका असाधारण स्थितियों में अपील के आधार पर सुनवाई करने तक ही सीमित होकर रह गई। तकनीकी और कलात्मक कौशल से संबंधित कामगारों का स्थानीय स्तर से वैश्विक स्तरों तक प्रसार और गतिशरलता अपनी प्रकृति में अवछिन्न थी। यह एक ऐसी प्रक्रिया थी जिसमें गांव से छोटे कस्बे और वहां से राजधानी नगर तक गतिशीलता विभिन्न क्षेत्रों में उपलब्धियां हासिल करने वाले लोगों के लिए एक स्वाभाविक परिणति हो जाती थी। पारंपरिक भारत के सांस्कृतिक और सामाजिक रूपों की इस विविधता के जरिए एकता सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं, पेशों या व्यवसायों और प्रौद्योगिकी, व्यापार, बाजार तथा परिवहन आदि की सर्वमान्य विशेषताओं में व्यक्त होती थी जिन्होंने विविध सांस्कृतिक समूहों की अस्मिताओं के बीच प्रकार्यात्मक अंत-निर्भरता के मानदंड को जन्म दिया। इसे संतुलन प्रदान करने में जनसंख्या के आकार के अपेक्षाकृत अधिक स्थायी स्तर एवं भूमि की पुनर्प्राप्ति के कारण भूसंसाधनों के सहज ढंग से उपलब्ध होने का भी योगदान रहा। पुन: अन्यान्य माध्यमों से और विशेषकर संस्कृति एवं अर्थव्यवस्था के क्षेत्रों में प्रौद्योगिकीय दृष्टि से अभिनव प्रयोगों की मंथर गति के कारण भी यह स्थिति उत्पन्न हुई। इन विशेषताओं ने एक ओर तो सांस्कृतिक-सामाजिक अस्मिताओं के अलगाव और संरक्षण को बढ़ावा दिया जबकि दूसरी ओर संचार प्रक्रिया को मूर्त बनाया जिसके कारण औपचारिक और सारगर्भित-दोनों स्तरों पर एकता के पुत्र स्थापित हुए।

### 8.2.3 प्रजातीयता और भारतीय सभ्यता

इस बात को लेकर कि 'प्रजातीयता' का संबोध भारतीय समाज में सांस्कृतिक और सामाजिक अस्मिता निर्माण की प्रक्रियाओं को विश्लेषण के योग्य माना जाए। या नहीं, भारत के समाज विज्ञानियों के बीच अत्यधिक मतवैभिन्य है। सामान्य समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में भी 'प्रजातीय' पद 'किसी एक राष्ट्र और विशेषकर किसी विधर्मी या धर्मभ्रष्ट राष्ट्र से संबंधित जनसमुदाय को इंगित करने के लिए प्रयुक्त हुआ था। 'ए न्यू डिक्सनरी आफ सोशियोलोजी' में इसका उल्लेख इसी प्रकार से हुआ है। वैसे तो यह पद अपने प्रथागत तौर तरीकों और संस्कृति के साथ जीवित किसी समूह को द्योतित करता है परन्तु अपनी अर्थवत्ता में यह राष्ट्रीयता की अवधारणा से अधिक व्यापक है क्योंकि इसके कारण "निरक्षर जनसमूह सामाजिक समष्टियों के साथ उसी तरह तादात्म्य स्थापित कर सकता है जिस तरह अधिक उन्नत जनसमुदाय और राष्ट्र। जर्मन, यहूदी जिप्सी और कांगो के बौने तथा ट्रोब्रिएंडर–ये सब प्रजातीय समूह हैं"। 'डिक्शनरी आफ सोशियोलोजी' नामक एक अन्य शब्दकोष में 'प्रजातीय समूह' पद के प्रति आलोचनात्मक रवैये का परिचय दिया गया है जिसका कारण इसका भ्रामक गूढ़ार्थ है जो सामूहिक एकात्मकता के आधार के रूप में जन्म या नस्ल सदृश कारक घटक पर अधिक बल देता प्रतीत होता है। समाजशास्त्र के लिए यह दृष्टिकोण मान्य नहीं है क्योंकि यह इस बात को स्वीकार नहीं करता है कि मानव-समूहों का संबोध केवल उनके उत्पत्तिमूलक या

नोट

आनुवंशिक संघटन तक ही सीमित हो सकता है। इसके बजाय यह इस संबोध का एक व्यापक प्रक्रिया के विविध चरणों के रूप में सूत्रबद्ध करता है और इस दृष्टि से अस्मिता या पहचान की उस चेतना को संस्कृति, प्रथा, जीवन-शैली और भाषा आदि जैसे भिन्न-भिन्न परिप्रेक्ष्यों के आलोक में प्रस्तुत करता है जो प्रभुत्व या नियंत्रण का प्रबलतापूर्वक प्रतिनिधित्व करनेवाले अन्य समूहों के साथ साक्षात्कारों के क्रम में उभरकर सामने आती है। इस दृष्टिकोण के प्रवर्तक कहते हैं–"जो समूह प्रजातीय वैशिष्ट्य का दावा करता है और जिस समूह पर राजनैतिक संघर्ष के एक खास संदर्भ में राजनैतिक दृष्टि से अधिक सशक्त समूह द्वारा वैशिष्ट्य आरोपित किया जाता है। उनमें अंतर है। अत: प्रजातीयता राष्ट्रीय अलगाव अथवा राजनैतिक वशीकरण के लिए आधार का काम कर सकती है। इस प्रकार 'प्रजातीय समूह' की परिभाषा का द्विअर्थीपन विशिष्ट और अंतर्वेशी समूह की सदस्यता के इर्दगिर्द केन्द्रित समाज में व्याप्त राजनैतिक संघर्ष का परिचायक है"।

भारत में जनजातीय, भाषाई, धार्मिक और सांस्कृतिक समूहों पर केन्द्रित अनेक अध्ययन हो चुके हैं जिनमें प्रजातीयता की सामाजिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण करने के लिए इसके संबोधों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रयोग किया गया है। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो अधिकांश अध्ययन परिवर्तनोन्मुखी परिप्रेक्ष्य में प्रजातीय अस्मिता पर प्रकाश डालने की संवेदनशीलता दर्शाते हैं। यह परिप्रेक्ष्य यदाकदा एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्रव्रजन की प्रक्रिया, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक मुखरता, आंदोलनों, आदि उपजा होता है। इनमें से अधिकांश अध्ययनों ने विश्लेषण के लिए एक केन्द्रीय अवधारणा के रूप में प्रजातीयता का प्रयोग करने के बजाय पृथक जनजातीय, प्रादेशिक, धार्मिक और राजनैतिक आदि अस्मिताओं के उद्‌भव के साथ समाज में हो रहे सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक परिवर्तनों के संपर्क-सूत्रों पर प्रकाश डाला है। सामाजिक और सांस्कृतिक मानवशास्त्रियों ने आमतौर पर और विशेष रूप से उत्तरी अमेरिका में, जहां से इन अवधारणा को अधिक व्यापक ढंग से प्रसारित होने का अवसर मिला, प्रजातीयता के संबोध का जिस तरह प्रयोग किया उससे अभिनव सामूहिक अस्मिताओं का कोई तालमेल हो यह हमेशा आवश्यक नहीं है।

हमारी दृष्टि में बहुलतावादी भारतीय सभ्यता के सामाजिक यथार्थ का वर्णन करने के लिए 'प्रजातीयता' या 'प्रजातीय समूह' पद का प्रयोग अनेक कारणों से असंगत है। सबसे पहला कारण तो यह है कि प्रजातीयता के संबोध की विश्लेषण-शक्ति खास तौर पर इसकी तथ्यपरकता में नहीं बल्कि एक प्रक्रिया के रूप में इसके परिचालन में निहित है। विभिन्न समूहों की सांस्कृतिक, भाषाई और सामाजिक-राजनैतिक आत्मसजगता की प्रक्रिया के रूप में प्रजातीयता शेष परिदृश्य से एकदम अलग-थल, किसी समाजशास्त्रीय प्रघटना की सार्थकता का बोध नहीं कराती है। इस तरह की आत्मसजगता या अस्मिताबोध सभी सांस्कृतिक समूहों की एक विश्वव्यापी प्रघटना है। सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन की प्रक्रिया के दौरान, इस सामाजिक आत्मसजगता को प्रजातीय चेतना में बदलनेवाला तथा सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं आर्थिक मांगों की संभावना उत्पन्न करनेवाला कारक राज्य व्यवस्था की देन होता है अथवा आर्थिक और सामाजिक विकास की मुक्त बाजारीय शक्तियों की सक्रियता का परिणाम होता है। अत: प्रजातीय चेतना की सार्थकता 'अन्य' समूह, समुदाय, स्थान या संगठन का उल्लेख की परिधि में निहित होती है जिसे स्वदेशी समूह के संदर्भ में सहानुभूतिरहित, वैमनस्यपूर्ण या शोषणपरक माना जाता है। अत: प्रजातीयता के रूप में जिस समाजशास्त्रीय प्रघटना का वर्णन किया जाता है या किसी ठोस समाजशास्त्रीय कोटि के बजाय एक प्रक्रिया है। इसका दृष्टांत यह तथ्य है कि प्रजातीय संघर्ष और प्रजातीय आत्मसजगता निरंतर किसी खास समूह द्वारा किसी अन्य समूह पर स्थापित अराजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक अथवा सामाजिक प्रभुत्व या उसके वशीकरण के अवगम्य या वास्तविक अनुभवों से उपजते हैं। अत: अनुभववादी दृष्टि से अपने आप में प्रजातीय समूह की विशेषताओं को आत्मसात किए बिना संसाधनों तक पहुंच बनाने के लिए अपनी प्रतिस्पर्धात्मक खोजबीन के क्रम में कोई, जातीय, जनजातीय, भाषाई, धार्मिक या सांस्कृतिक समूह किसी प्रजातीय समूह के प्रकार्यात्मक समतुल्य की छवि प्राप्त कर सकता है। यह बात उन समाजों के परिप्रेक्ष्य में सत्य है जिनकी सभ्यता की ऐतिहासिक परिधि अपेक्षाकृत अधिक व्यापक होती है और जहां नाना प्रकार के सांस्कृतिक एवं सामाजिकव्यवहार, प्रथाएं और मूल्य एक साथ फलते-फूलते हैं। अत: किसी 'सभ्यता मूलक समाज' का संदर्भ यदि प्रजातीयता की ठोस सार्थकता को पूरी तरह

नोट

खंडित नहीं भी करता है तो इसकी अर्थवत्ता को परिवर्तित अवश्य कर देता है। भारत में प्रजातीय प्रक्रियाओं के अध्येता इसकी समाजशास्त्रीय सार्थकता के इस पक्ष की पड़ताल करने में अबतक सक्षम नहीं हो पाए हैं क्योंकि उनके विश्लेषण की परिधि के अंदर भारतीय समाज में तथाकथित रूप से विद्यमान प्रजातीय प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालने की दृष्टि से सभ्यता की प्रासंगिकता चर्चा का विषय नहीं बन पाती है।

परन्तु भारतीय समाज के भीतर प्रजातीय प्रक्रियाओं के अध्ययनों के दो प्रकारों के बीच हम विभाजन की एक स्पष्ट रेखा खींच सकते हैं। पहली कोटि के अंतर्गत धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं तथा देशीय पक्षपात, प्रान्तीयता एवं सांप्रदायिकता की शक्तियों को **अलोड़ित**-उत्तेजित करने की उनकी क्षमता का पड़ताल करनेवाले अध्ययनों की चर्चा की जा सकती है। सभ्यता में प्रतिवाद के तत्व को अनदेखा कर पाना शायद इन अध्ययनों के लिए संभव नहीं है। दूसरी कोटि में उन प्रजातीय प्रक्रियाओं के अध्ययनों का जिक्र किया जा सकता है जो हिन्दुत्व, इस्लाम, ईसाई धर्म या बौद्ध धर्म सदृश किसी विश्व धर्म से विचारात्मक प्रेरणा ग्रहण नहीं करते हैं परन्तु अपनी मांग को विशुद्ध स्वदेशी परंपराओं और सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक वंचना की दशाओं के आलोक में तर्कसंगत करार देते हैं। महाराष्ट्र में शिव सेना जैसे सांप्रदायिक प्रादेशिक आंदोलन पहली कोटि से संबंध रखते हैं। अपनी अनेक भिन्नताओं के बावजूद असम में होनेवाला आंदोलन भी इसी कोटि से सादृश्य दर्शाता है। परन्तु पश्चिम बंगाल में गुरखा लोगों का आंदोलन, पंजाब में सिखों का आंदोलन और नागालैंड, मेघालय तथ बिहार में जनजातीय समूहों के आंदोलन दूसरी कोटि से संबद्ध हैं। मुम्बई में शिव सेना आंदोलन के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हुई है कि इस आंदोलन (दशीय पक्षपात) की 'व्यावहारिक विचारधारा' हिन्दुत्व की एक ऐसी खास 'विश्वदृष्टि' के सांचे में ढली हुई है जिसका प्रचार इसके नेताओं ने किया है। इस्लामी कट्टरपंथी आंदोलनों से भी इसी तरह के दृष्टांत मिलते हैं जहां आस्था के लिए उत्पन्न होनेवाला खतरा या इसका पतन विशिष्ट सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक मांगों की अभिव्यक्ति के लिए सामान्य सांचा तैयार करता है। उस खास आस्था से जुड़े लोगों के एकात्मीकरण और उनके संगठित आंदोलनों को जारी रखने के लिए आवश्यक संसाधनों की उत्पत्ति से लाभान्वित होने के क्रम में धर्म और खासकर 'विश्व धर्म' शब्द का जानबूझकर बार-बार प्रयोग किया जाता है। प्रजातीय स्तर पर इस लामबंदी का एक अन्य प्रकार जो विशुद्ध रूप से देशज या स्थानीय (लघु) परंपराओं पर आधारित है, अपनी विचारधारा के लिए समर्थन लोगों के दैन्य और वंचना की मुख्यत: अस्तित्व मूलक तथा भावात्मक दशाओं से प्राप्त करता है। यद्यपि गुरखा लोग हिन्दुत्व सदृश 'विश्व धर्म' से ही संबद्ध हैं, इस धार्मिक जुड़ाव को आधार बनाकर वे शायद ही कभी अपने आंदोलन को उचित ठहराने की चेष्टा करते हैं। उनके संदर्भ में जो बात महत्वपूर्ण है वह है एक वंचित और उपेक्षित समूह के रूप में अस्मिताबोध पर आधारित उनकी सामुदायिक शक्ति।

भारत के सभ्यताभिमुखी स्वदेशी आंदोलनों और स्थानीय या लघु परंपराओं में पूरी तरह रचे-बसे आंदोलनों के बीच स्पष्ट विभाजन-रेखा खींची जा सकती है। पहली कोटि के आंदोलनों की अपेक्षा परवर्ती कोटि के आंदोलनों के परिप्रेक्ष्य में प्रजातीय आंदोलन की अवधारणा का प्रयोग अधिक सुसंगत प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि भारतीय सामाजिक ढांचे और सभ्यता के संदर्भ में प्रजातीय आंदोलन के संबोध की विशेषताओं को अंत:क्रिया के स्तर तथा अस्मिताओं की अभिव्यक्ति के आलोक में स्पष्टकरने की आवश्यकता पड़ सकती है। प्रदेश, भाषा, सांस्कृतिक और प्रथा सदृश आयामों के परिप्रेक्ष्य में प्रजातीय समूह संस्कृति और सामाजिक ढांचे के समांगीपन या एकरूपता को द्योतित करता है। ऐसे समूह भारत में सीमित संख्या में पाए जाते हैं। इसके बजाय हम यह देखते हैं कि जाति, जनजाति, समुदाय, वर्ग, भाषा, धर्म और क्षेत्र जैसी असाधारणात्मक कोटियों के जरिए भारतीय सामाजिक परिदृश्य की पहचान सहजतापूर्वक की जाती है। क्षितिजीय आधारों पर जातीय समूहों के राजनैतिक लामबंदी या एकीभवन ने बड़े पैमाने पर 'जातीय संगठनों' को जन्म दिया है जिनका गहन अध्ययन हो चुका है। आबादी के स्थानीयकरण और संरचनात्मक-सांस्कृतिक समांगीपन के कारण प्रकाश में आने वाले कुछ खास-खास जनजातीय आंदोलनों को भी प्रजातीय आंदोलनों की कोटि में रखा जा सकता है जिन्होंने राजनैतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक क्षेत्रों में स्वायत्तता की मांगों के प्रति रूझान दर्शाई है। वैसे ऐक्य के इन पक्षों को यदि अलग रख दें तो यह बात सर्वविदित है कि जिस जनजाति के लोग इस तरह के किसी आंदोलन में भाग लेते हैं वह धर्म (परिवर्तित और अपरिवर्तित) एवं बोलियों,

नोट

धन-सम्पदा और शक्ति के स्रोतों तक लोगों की पहुंच और यहां तक कि प्रथागत विधि-व्यवहारों तथा जीवन शैलियों की दृष्टि से आंतरिक तौर पर बंटी होती है। अत: भारतीय संदर्भ में प्रजातीयता अधिक-से-अधिक सामाजिक कोटियों तथा समुदायों की लामबंदी (मोबीलाइजेशन) की उन प्रक्रियाओं को द्योतित करती है जिनका उद्देश्य उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रगतियों की आत्मसजग अभिव्यक्ति है। इसे केवल संबंधित समूहों की संरचनात्मक और सांस्कृतिक समरूपता की विशिष्ट स्थितियों के संदर्भ में ही सही माना जा सकता है। अन्य संदर्भों में एकीकरण या लामबंदी की प्रक्रियाएं जाति, भाषा, प्रदेश, धर्म या राजनैतिक-आर्थिक मुद्दों के आधार पर संपन्न होती हैं।

जाति, भाषा, धर्म और क्षेत्र आदि जैसी सामाजिक कोटियों का चरित्र अखिल-प्रजातीय (पैन-एथनिक) होता है। स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भारत के राज्यों का भाषाई आधार पर पुनर्गठन इस असंगत धारणा से उपजा हुआ सत्य था कि कोई विशिष्ट भाषा समुदाय समरूप या समांगी सामाजिक समूह की प्रघटनाओं को निरूपित करता है। आजादी के चालीस वर्ष बाद हम यह पाते हैं कि भाषा के आधार पर गठित राज्यों के अंदर जाति, धर्म और प्रदेश पर आधारित अभिनव हित समूहों का आविर्भाव हो गया है। भारत के सामाजिक ढांचे और सभ्यता को सामाजिक संघटन के किसी इकलौते सिद्धांत या अवधारणा के आधार पर अर्थात जाति, धर्म, भाषा या समुदाय को केंद्र में रखकर समझ पाना असंभव है। इनमें से प्रत्येक का सामाजिक संबोध और इससे संबंधित यथार्थ भारतीय सामाजिक ढांचे तथा इसकी सभ्यता के अत्यंत आवश्यक तत्वों को प्रकाश में लाता है परन्तु इसकी संपूर्णता को अपनी-अपनी परिधि में समेटने में कोई एक संबोध किसी प्रकार सक्षम नहीं है। सावयवी अनेकरूपता या बहुलता इन सारे संबोधों या अवधारणाओं में अंतर्निहित है जो भारतीय सभ्यता और इसके सामाजिक ढांचे को परिभाषित करते हैं। मूर्त स्तर पर देखें तो जाति एक स्थानीय प्रघटना है और केवल इसकी विचारधारा (वर्ण) की अर्थवत्ता विस्तृत और अपनी प्रकृति में संभवत: अखिल भारतीय है। पर समय बीतने के साथ जाति ने संरचनात्मक और विचारधारात्मक दोनों दृष्टियों से इस्लाम, ईसाई धर्म और सिख धर्म आदि सदृश अन्य अनेक धार्मिक तथा सांस्कृतिक परंपराओं के अंदर घुसपैठ कर ली है। हिन्दू धर्म आदि जैसी धार्मिक व्यवस्था जाति की विचारधारा को जिस तरह से परिभाषित करती है उसके आधार पर भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य में इसकी भूमिका और सार्थकता की व्याख्या नहीं की जा सकती है। इसी तरह यद्यपि एक खास स्तर पर धर्म और भाषा सामूहिक एकता के परिचायक हैं, जाति, क्षेत्र, व्यवसाय और धन-संपत्ति के आधार पर विभिन्न समूहों का विभेदीकरण इसके एकाधिकार की संभावना को निरस्त कर देता है। प्रत्येक धार्मिक, भाषाई, जनजातीय अथवा जातीय समूह के भीतर ऐसे कुछ कारक होते हैं जो उनके आंतरिक सादृश्य को व्यक्त करते हैं, परन्तु कुछ ऐसे भी सशक्त तत्व होते हैं जो प्रत्येक तदनुरूपी बंधन का अतिक्रमण करके विषम सिद्धांतों या अवधारणाओं के आधार पर संयोजित होने की प्रवृत्ति दर्शाते हैं। स्पष्टत: विविधता तो है पर साथ ही एकता का एक खास ढांचा भी व्याप्त है।

## 8.3 नृजातीयता समूह (Ethnic Group)

किसी नृजातीय समूह के सदस्य, किसी वृहत्तर समाज के एक भाग का संघटन करते हैं और खुद अपने बारे में वे और किसी अन्य समूह के सदस्य यह धारणा बनाते हैं कि उनकी एक संस्कृति होती है जिसमें वे सिर्फ अपने सामूहिक अस्तित्व के दायरे मेंएक-दूसरे के साथ हिस्सेदारी करते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस समूह की सदस्यता एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती है (अर्थात् माता-पिता से बच्चे को) जिस कारण किसी जातीय समूह की परिभाषा में जैविकीय निरंतरता एक तत्व हो जाता हैं ये सदस्य ऐसी क्रियाकलापों को अपने जीवन में बरकरार रखते हैं जिनमें उनकी साझी उत्पत्ति और संस्कृति महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। मिसाल के तौर पर उनके द्वारा अपने लोगों अर्थात् स्वजनों को देखने के लिए कहीं जाने और कुछ विशेष अवसरों को अपने त्यौहारों के रूप में धूमधाम से मनाने जैसे क्रियाकलापों का जिक्र किया जा सकता है। यिंगर की परिभाषा में नृजातीयता के जिन तत्वों को रेखांकित किया गया है वे धर्म प्रजाति, भाषा, उद्भव के देश आदि के लिहाज से अपने इर्दगिर्द के लोगो से एक अलग और भिन्न मानते हैं, (*ii*) नृजातीय समूह के सदस्य स्वयं भी कुछ सांस्कृतिक पक्षों की दृष्टि से खुद

नोट

को अपने आसपास के लोगों से एकदम अलग-थलग या भिन्न मानते हैं, (*iii*) दूसरों के साथ सामान्य क्रियाकलापों में हिस्सा लेते हुए नृजातीय के सदस्य खासतौर पर उन गतिविधियों में भी भाग लेते हैं जिन्हें अपना सांस्कृतिक वैशिष्ट्य बरकरार रखने के क्रम में वे अपने लिए एकदम उपयुक्त काम समझते हैं।

### 8.3.1 नृजातीयता–एक विश्वव्यापक प्रघटना

उन्नीसवीं सदी से बीसवीं सदी के अंत तक यह विचार तनरंतर मजबूती ग्रहण कर रहा कि 'राष्ट्र' मनुष्य के सामुदायिक जवन की पूर्णता है। चार या पांच दशक पर भी संयुक्त राज्य अमेरिका और तत्कालीन सोवियत संघ विविध संस्कृतियों के रूप में दिखाई देते थे। विभाजन से पहले और इसके बाद भारत ने विविधता के बीच एक प्रकार की एकता दर्शाई। यह माना गया कि व्यवस्थापन सात्मीकरण (एसिमिलेशन) की प्रक्रियाओं के जरिए आप्रवासी समूह अन्य लोगों के साथ पूरी तरह घुलमिल गए और उनकी पृथक अस्मिता नाममात्र के लिए ही शेष रह गई।

पर पिछले कुछ दशकों से न केवल भारत में बल्कि पूरी दुनिया में सब कुछ पूरी तरह बदल गया है। अत: अब यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि नृजातीयता के दौर का उभरा हुआ मसला है। हाल तक जिन सामाजिक व्यवस्थाओं को समझा जाता था वे अब लगातार अस्थायित्व और हलचल का संकेत दे रही हैं। फिर भी समाज या राजनैतिक व्यवस्था इसके दबावों से मुक्त नहीं है। नृजातीय समूह प्राय: राजनैतिक गठबंधनों से अलग होने के लिए लगातार आवाज उठा रहे हैं। इस तरह अलगाववादी प्रवृत्ति को ताकत और तीव्रता उस समय मिलती है जब नृजातीय या धर्म अस्मिता बनाए रखने का सवाल महत्वपूर्ण हो जाता है। पश्चिमी यूरोप में क्षेत्रीयता परहाल में हुए एक सर्वेक्षण में 50 सक्रिय क्षेत्रीय आंदोलनों की सूची दी गई एक अन्य विवरण के अनुसार केवल फ्रांस में ही ऐसे कम-से-कम 187 नृजातीय कार्यकर्ता संगठनों का अस्तित्व है। सबसे पुराने और अब तक के सबसे स्थायी राष्ट्र (यूनाइटेड किंगडम) में भी विभिन्न क्षेत्रों में शक्ति का विकेन्द्रीकरण एक लोक आंदोलन बन गया है। स्काट और वेल्श-दोनों राष्ट्रीय दल राष्ट्रकुल की सदस्यता के लिए दबाव डाल रहे हैं जो फिलहाल कनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड को हैं। राष्ट्रकुल खेलों में प्रतिस्पर्धा में भाग लेने के लिए इंग्लैंड, वेल्स और स्काट अपनी-अपनी टीम भेजती हैं। सोवियत संघ की अत्यंत केंद्रीकृत व्यवस्था के बाद नृजातीय, धार्मिक और भाषाई भेदों पर आधारित इसके कुछ स्वायत्त गणराज्य अपना अधिकार जोरदार शब्दों में जताना शुरू कर दिया है और वे स्वतंत्र राज्य राष्ट्रकुल (कामनवेल्थ आफ इंडिपेंडेंट स्टेट्स) सरीखे अत्यंत ढीले-ढाले संघीय के अंदर रहने के प्रति भी उदासीनता दिखाने लगे हैं। अलगाववादी रंग में अपनी मांगों के कारण क्यूबेक कनाडा के लिए बहुत बड़ा सिरदर्द साबित हो रहा है।

**भारत में नृजातीय लहर**

भारत में नृजातीय आंदोलनों ने किसी-न-किसी रूप में क्षेत्रीयतावाद का रूप लिया है। आधुनिक भारत में जिस बड़ी संख्या में और जिस विविधता के साथ ये आंदोलन उमड़ रहे हैं उनेक कारण क्षेत्रीयता की समस्या को पूरी तरह पकड़ पाना और कटिबद्ध कर पाना आसान नहीं लगता हैं पर हम इसके कुछ प्रकट रूपों की पहचान इस तरह कर सकते हैं–(*i*) उत्तर-दक्षिण विभाजन-भारतीय राजनैतिक परिदृश्य का भी गंभीर प्रेक्षक इस विभाजन की अनदेखी नहीं कर सकता है। इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं होती है। हम सिर्फ इस बात को याद कर सकते हैं कि अतीत में समय तमिलों की पृथक सांस्कृतिक अस्मिता के आधार पर द्रमुक मुनेत्र कजागम ने भारतीय संघ से अलग होने की मांग की थी। (*ii*) अलग राज्य के लिए कुछ क्षेत्रों के लोगों की मांग-बोडो आंदोलन, उत्तराखंड आंदोलन और झारखंड आंदोलन प्रमुख उदाहरण हैं। वस्तुत: अलग राज्य के लिए मांग असम मं जनजातीय राजनीति की महत्वपूर्ण विशेषता है। (*iii*) कुछ खास क्षेत्रों के लोगों द्वारा भारतीय संघ से होने की मां-अकाली और 'उल्फा' कार्यकर्ता अपनी पृथक सांस्कृतिक अस्मिता वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था के अंतर्गत अपनी दुरवस्था के आधार पर अलग होने की मांग करते रहे हैं। भारत में हर क्षेत्रीयवादी लहर या आंदोलन के मूल में अस्मिता अपनी छवि तलाशने का और दलित-वंचित होने का एक गहरा भाव निहित होता है।

नोट

### 8.3.2 स्थानीय नृजातीय लहर का विवेचन

भारत और भारत से बाहर इन नई घटनाओं के आलोक में कुछ व्याख्याओं और बातों पर विचार करना युक्तिसंगत होगा जो उभरती हुई नृजातीय प्रघटना के संदर्भ प्राप्त किए गए हैं।

काल के नृजातीय लहर की व्याख्या दो चिंतन-संप्रदायों द्वारा दी गई है जिनहें समतावादी (प्राइमोर्डियलिस्ट) और परिस्थितिवादी (सर्कमस्टांशियलिस्ट) संप्रदायों से जाना जाता है।

मौलिकतावादियों के अनुसार, नृजातीय भावना और गौरव की जड़ें अतीत में निहित चीजों के अवशेष अक्सर अपनी पहचान नहीं खोते हैं। "पूर्वी यूरोप ऐसे समुदायों को पड़ा है जो खीष्टाब्द की आरंभिक सदियों में ट्यूटोनिक और स्लाव उत्प्रवास के रूप में अब तक जीवित हैं।?[4] मध्य यूरोप के अनेक वर्तमान राज्य, जैसे मार्ग और रोमानोव साम्राज्य "एक ऐसी संस्कृति को बचाने के प्रयासों की देन समकालीन अलगाव में विकसित हुआ था।"[3] पूरे यूरोप में आर्थिक जीवन के हर समुदाय के विशिष्ट राजनैतिक संगठन ने विविध आत्मकेंद्रित समुदायों रहने के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ पैदा कर ली। पर राष्ट्रवादी भावना की पूरे परिदृश्य को बदल दिया। अल्पसंख्यक समूह प्रभुत्वसंपन्न बहुसंख्यक मांगों के खिलाफ अपने अधिकारों की मुखर अभिव्यक्ति द्वारा अपनी विशिष्ट पहचान को बनाए रख सकते थे। किसी अल्पसंख्यक समूह को लोगों को एक ऐसे समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो अपने प्रजातीय या सांस्कृतिक संलग्नता के कारण स्वयं को सामूहिक भेदभाव के पात्रों के रूप में देखते हैं। "ये समुदाय संभावित राज्यों के रूप में जीवित रहे क्योंकि उनके नेताओं ने पहचान को बचाने का जागरूक प्रयत्न किया और प्रभुत्वसंपन्न समूह के यातना भरे प्रयासों पर अनुक्रिया की।" किसी बोली, वस्त्र, धार्मिक क्रियाकलापों और विधि-विधानों का सार्थक उपयोग एक सांस्कृतिक अस्मिता को निरंतर सुदृढ़ बनाने के लिए किया गया। उदाहरण के लिए यद्यपि उक्राइनी लोग रोमन कैथोलिक चर्च के अनुयायी हैं, वे अपने धार्मिक क्रियाकलापों में उक्राइनी बोली के एक पुराने रूप का इस्तेमाल करते हैं क्योंकि लैटिन रूप आने से वे अपने अधिक शक्तिशाली पड़ोसियों से अभिन्न हो जाएंगे।" रूस की क्रांति के बाद सोवियत संघ की सरकार ने विभिन्न नृजातीय समूहों को "समूह चेतना विकसित करने और विरासत के रूप में प्राप्त भूमि पर या नवजात समुदायों में सरकार से प्रदत्त भूमि पर सांस्कृतिक संस्थाएं स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित किया। इसके बाद में उनसे सिर्फ साम्यवादी विचारधारा और साम्यवादी अर्थव्यवस्था का अनुपालन करने और उनके अनुरूप खुद को ढालने की उम्मीद जरूर की जाती थी। क्रांति के कुछ वर्ष बाद ज्योंहि आजादी की हवाएं बहने लगीं, सैंकड़ों वर्ष पुरानी परंपराएं, पुनरुज्जीवित हो उठीं और अपने पृथक राजनैतिक अस्तित्व के लिए प्रतिबद्ध नृजातीय समूहों को संकल्प का बल मिला।

भारत में स्थिति बहुत भिन्न नहीं है। ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासन-व्यवस्था समाप्ति के बाद जब प्रजातांत्रिक अधिकारों के पक्ष में आवाज बुलंद करने की स्थिति पैदा हो गई तो विभिन्न नृजातीय समूह धीरे-धीरे अपनी अस्मिता (आइडेंटिटी) के जागरूक हो गए। उन्होंने भाषा को अपनी पृथक अस्मिता का प्रतीक और परंपरा का वाहक बना लिया। मसलन अकालियों ने गुरुमुखी लिपि पर बल दिया, नेपाली और साहित्य का संरक्षण गोरखा आंदोलन का भेरीघोष हो गया और संथालों ने अपनी 'अलचिकी' लिपि पर जोर डाला। कालांतर में भाषा ने राष्ट्रीयता के प्रतीक का ले लिया और अलग राजनैतिक अस्तित्व की मांग ने तूल पकड़ ली।

दूसरी ओर परिस्थितिवादी चिंतकों का यह मानना है कि नृजातीय अस्मिता उद्भव पर अधिक गौर करने के बजाय उन परिस्थितियों पर विचार करना ज्यादा समझ है जो हाल के वर्षों में भारत और भारत से बाहर नृजातीय उफान के लिए मुख्यरूप से जिम्मेदार हैं।

इस संदर्भ में एक व्याख्या इस तरह प्रस्तुत की गई है–"आधुनिक दृष्टि से आधुनिकीकरण, शहरीकरण, नए व्यवसायों, सामूहिक शिक्षा और जनसंचार माध्यम वैशिष्ट्यों के कारण पारंपरिक अस्मिताएं खो गई हैं। चूंकि जन समाज में व्यक्ति के लिए राज्य छोटी और परिवार से बड़ी किसी-न-किसी तरह की अस्मिता आवश्यकता अभी शेष है, नई नृजातीय अस्मिताओं का निर्माण हुआ है।"

नोट

एक दूसरी व्याख्या इस तथ्य पर केंद्रित है कि नृजातीय अस्मिता का प्रयोग नृजातीय समूहों की मांग को मजबूत बनाने के लिए किया जाता है। उदाहरणार्थ भारत में भाषा को लेकर होने वाले कुछ आंदोलनों का उद्देश्य रोजगार के अवसर बढ़ाना या कुछ आर्थिक मांगों की पूर्ति के लिए दबाव डालना था। भूतपूर्व पूर्वी पाकिस्तान में भाषाई आंदोलन वहां के लोगों द्वारा पश्चिमी पाकिस्तानियों के आर्थिक शोषण से स्वयं को मुक्त करने की उत्कट अभिलाषा की अभिव्यक्ति था। बांगला भाषा के मुद्दे पर होने वाले आंदोलन ने पश्चिमी पाकिस्तानियों के विरुद्ध संघर्ष को एक नई दिशा दी क्योंकि इसने लोगों में चेतना का संचार किया कि उनकी अस्मिता खतरे में थी। उत्तरी आयरलैंड में संघर्ष एक धार्मिक आंदोलन के रूप में शुरू हुआ था। पर कालांतर में धार्मिक असंतोष के बहाने राजनैतिक शक्ति पर अधिकार, रोजगार और अन्य आर्थिक लाभों के अवसरों का विस्तार आदि जैसे गैर-धार्मिक कारक असली मुद्दे हो गए। धार्मिक अपील या आह्वान मूल रूप से राजनैतिक प्रकृति वाले किसी आंदोलन को मजबूती प्रदान करता है। वर्ग या व्यवसाय जैसे मुद्दों को केंद्र में रखकर जो आंदोलन होते हैं वे अक्सर लोगों के हृदय में उथल-पुथल पैदा नहीं कर पाते हैं। दूसरी ओर "नृजातीय अस्मिता को लेकर जो आह्वान किए जाते हैं वे वर्गीय अस्मिता के प्रति आह्वान की अपेक्षा मानवीय व सामाजिक व्यक्तित्व के भावनात्मक स्तरों को अधिक गहराई तक डूबे हैं। इस तरह का आह्वान किसी व्यक्ति की भाषा और धर्म, सबसे आरंभिक पारिवारिक अनुभव, उसके कायिक आत्मरूप (फिजिकल सेल्फ इमेज) जैसी ठोस चीजों पर आधारित होता है।"

नृजातीय उफान की एक अन्य व्याख्या कहती है कि राजनैतिक व्यवस्था से मोहभंग लोगों को नृजातीय समूहों में समर्थन, ताकत और सुरक्षा ढूंढने के लिए प्रेरित करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य देशों में भी राजनैतिक व्यवस्था में भरोसा और आस्था हमेशा काफी कम रही है। कोई खास प्रत्याशी या सरकार पूरे मुद्दे के मूल में नहीं होते हैं। दरअसल मूल मुद्दा राजनैतिक समुदाय की छवि है जिसकी विश्वसनीयता पहली आधी सदी के दौरान बड़े गंभीर ढंग से आहत हुई है..... इतिहास में अंतर्निहित नृजातीय बंधन बहुधा कृत्रिम बंधन से ज्यादा सशक्त साबित हो रहा है।"

नृजातीयता की हाल में उठने वाली लहर का कारण जो हो, यह सच्चाई अपनी जगह बरकरार है कि इस तरह की लहर कभी स्थायी राजनैतिक समुदायों के रूप में स्वीकृत समुदायों के विघटन की जमीन तैयार करती है। परंपरागत संघीय ढांचा नृजातीय समूहों को अपने भीतर समा पाने में अक्षम हैं क्योंकि इन समूहों के सदस्य काफी उत्तेजित और अपना स्वतंत्र राजनैतिक जीवन हासिल करने के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। इस तरह के नृजातीय विभाजनों से उत्पन्न होने वाला राजनैतिक बहुसमूहवाद भविष्य में अनेक राज्यों को भी अपनी चपेट में ले लेगा। संभवत: इस बात का आस-पास कोई विकल्प नहीं है कि हमें नृजातीय उफान की सच्चाई का सामना करना पड़ेगा। अब जरूरी है कि हम इस नई प्रघटना के अलगाववादी पक्ष से दो-चार होने के नए तरीके और साधन खोजें।

इस संदर्भ में हमें वाइनर महोदय द्वारा इंगित यह महत्वपूर्ण तथ्य अवश्य ही ध्यान में रखना चाहिए कि नृजातीय समूहों के बीच वस्तुपरक भिन्नताएं अनिवार्यत: संघर्ष की ओर नहीं ले जातीं या उसे बढ़ावा नहीं देती हैं। पर जब इस तरह के वस्तुपरक भेदों को व्यक्तिपरक ढंग से आर्थिक, राजनैतिक या शैक्षिक–अर्थात् कुछ निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के रास्ते में बाधाओं के रूप में देखा जाता है तो नृजातीय आंदोलनों में अलगाववादी चरित्र का प्रादुर्भाव होता है। अत: नृजातीय उफान को सीमाओं में कैद करने का एक तरीका किसी खास समूह के लोगों के बारें यह निश्चिय करना है कि वे नृजातीय आधारों पर वंचना के भाव के या अन्याय के शिकार नहीं हैं।

लचीलेपन में समाज एक-दूसरे से काफी भिन्न होते हैं। कुछ समाज इतने कठोर हो सकते हैं कि बदलती परिस्थितियों के साथ तालमेल बैठा पाना उनके लिए संभव नहीं होता। कुछ इतने विस्तृत हो सकते हैं कि इनकी आंतरिक संसक्तता खतरे में पड़ जाती है। कुछ अन्य समाज सामाजिक व राजनैतिक संगठन के सिद्धांतों को अपना सकता है जिनसे खास-खास समूहों की जीवंतता समाप्त हो सकती है। कुछ ऐसे भी समाज हो सकते हैं जो अपने विभिन्न घटकों में होने वाले परिवर्तनों के कारण समूचे राजनैतिक ढांचे में आवश्यक सुधार लाने में असफल सिद्ध होते हैं। इस तरह की अत्यंत जटिल समस्याओं के समाधान के लिए एक लचीले दृष्टिकोण की गंभीर आवश्यकता है। कठोरता के बजाय लचीलापन, संकीर्णता के बजाय मानसिक व्यापकता और परस्पर विरोध विचारधाराओं को पूरी

नोट

तरह नकारने के बजाय उनके प्रति सहिष्णुता का भाव बरत किसी संस्कृति बहुल (प्लूरलिस्ट) समाज में सार्थक और शांतिपूर्ण अस्तित्व की कुंजी है।

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**2. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–**

1. बहुलतावादी भारतीय सभ्यता के सामाजिक यथार्थ का वर्णन करने के लिए ..... पद का प्रयोग अनेक कारणों से असंगत है।
2. गुरखा लोग हिन्दुत्व सदृश्य ..... से ही संबद्ध हैं।
3. ..... की प्रक्रियाएँ जाति, भाषा, प्रदेश, धर्म या राजनैतिक-आर्थिक मुद्दों के आधार पर संपन्न होती हैं।
4. ..... अस्मिता का प्रयोग नृजातीय समूहों की माँगों को मजबूत बनाने के लिए किया जाता है।
5. नृजातीय समूहों के बीच ..... अनिवार्यत: संघर्ष की ओर नहीं ले जाती या उसे बढ़ाना नहीं देती।

## 8.4 अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक संबंध (Minority and Majority Relations)

भारत जैसे देश में धर्म की व्यापकता जीवन के सभी क्षेत्रों में दिखायी देती है। यह कैसी बात है कि संविधान इस राष्ट्र को **धर्म निरपेक्ष** (Secular) बनाने का राष्ट्रीय उद्देश्य निर्धारित करता है, और राष्ट्र में आये दिन धर्म के क्षेत्र में संकट होते रहते हैं। बाबरी मस्जिद को ध्वस्त कर दिया गया और उस स्थान पर राम मंदिर बनाने की पहल अदालत में चल रही है, और राजनीतिक मंचों पर आये दिन चुनौतियाँ दी जा रही हैं। हिन्दू और सिख के बीच में तनाव बढ़ गया और उत्तर भारत के कई नगरों में नर हिंसा हो गयी; ऐसे ही साम्प्रदायिक दंगों में मुम्बई में बहुत बड़ा खून-खराबा हो गया। कई राज्यों में धर्म के आधार पर जातीय संघर्ष चल रहा है। राष्ट्रीय जीवन का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जहाँ के संदर्भ में धर्म न हो और धर्म से पैदा होने वाले संकट न हों। हमारे राष्ट्र के धर्म निरपेक्ष होते हुए भी धर्म के अध्ययन की यहाँ जितनी आवश्यकता है शायद किसी और राष्ट्र में नहीं।

यह सब जानते हैं कि भूतपूर्व समाजवादी देशों में धर्म का कोई सम्मानजनक स्थान नहीं था। मार्क्स कहा करते थे कि धर्म तो एक प्रकार का अफीम है जो जन चेतना को गहरी नींद में सुला देता है। यह होते हुए भी रुचिकर बात यह है कि धर्म का अध्ययन सबसे पहली बार व्यवस्थित रूप में मार्क्सवाद और नवीन हीगलवाद में हुआ। इस दृष्टि से देखें तो भारत के लिए धर्म के समाजशास्त्र का महत्व सबसे अधिक है। हमारे यहाँ जैसा कि **पीपल ऑफ इण्डिया** प्रोजेक्ट में **के.एस. सिंह** कहते हैं कि छ: मुख्य धर्म हैं–हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, सिख, बौद्ध और जैन। इन धर्मों में कुछ धर्मों के अनुयायी अल्पसंख्यक हैं। अल्पसंख्यक धर्मों में इस्लाम, सिख, जैन, बौद्ध, ईसाई, यहूदी, पारसी और आदिवासी हैं।

**रोमिला थापर** हमारे देश में जानी-मानी इतिहासकार हैं। वे भारतीय धर्म, संस्कृति और राष्ट्र पर टिप्पणी करती हुई कहती हैं कि इस देश में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद एक राष्ट्रीय संस्कृति बनाने का प्रयास हुआ है। वास्तव में इस संस्कृति का उदय उपनिवेशवाद के खिलाफ किया गया हमारा आंदोलन था। इस समय भारतीय संस्कृति की जो व्याख्या की गयी वह वस्तुत: मध्यम वर्ग द्वारा की गई व्याख्या थी। इस तरह व्याख्या करने वालों में हमारे **प्रात्य विद्या** (Orientalist) परक विद्वान् थे। उस काल में हमारा उच्च और मध्यम वर्ग द्विज जातियों, भू-स्वामियों और ब्राह्मणों का था। **रोमिला थापर** तो कहती हैं कि **अंग्रेजों ने जब देश को हमें सौंपा तो यह उपनिवेशवादी हस्तान्तरण वास्तव में ऊँची जातियों को दिया गया हस्तान्तरण था।** इन ऊँची जातियों ने ब्राह्मणवाद यानी कर्मकाण्ड को बढ़ावा दिया। यह विचित्र विरोधाभास है कि जिनके हाथों में राजनीतिक शक्ति थी, वे ब्राह्मण धर्म और कर्मकाण्ड से लिप्त थे और संविधान धर्मनिरपेक्ष होने का लक्ष्य निर्धारित करता है। यह सब लिखकर हम इस तथ्य पर जोर देना चाहते हैं कि इस देश में **धर्म के अध्ययन को यह कहकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता कि हमारा देश एक धर्मनिरपेक्ष देश है।**

नोट

### 8.4.1 भारत में धर्म का समाजशास्त्र

समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र के सर्वेक्षण की **ट्रेण्ड रिपोर्टों** (Trend Reports) में धर्म के समाजशास्त्र पर बराबर अनुसंधानों का मूल्यांकन किया जा रहा है। यह मूल्यांकन **सुरजीत सिन्हा, एल.पी. विद्यार्थी** और **बैद्यनाथ सरस्वती** ने किया है। एल.पी. विद्यार्थी ने भारत में धर्म के विश्लेषण में एक नयी परम्परा स्थापित की है। कहना चाहिए कि धर्म के अध्ययन के लिए उन्होंने एक मॉडल रखा है। वे कहते हैं कि हमारे यहाँ कुछ धार्मिक स्थल हैं या एक **पवित्र भूगोल** (Sacred Geography) है जो उत्तर से दक्षिण तक के अंचलों को जोड़ती है। दूसरा, यहाँ धर्म के साथ में **धर्म विधि** (Ritual) महत्त्वपूर्ण है। भगवान का जागना, शयन करना, आदि धर्म विधियाँ हैं और **विद्यार्थी** कहते हैं कि तीसरा हमारे यहाँ धर्मविधियों को करने के लिए विशिष्ट व्यक्ति होते हैं जो पवित्र समझे जाते हैं। एल. पी. विद्यार्थी और उनकी परम्परा में कई विद्यार्थियों ने काम किया है अभी हाल में **डी.के. सामन्त** ने उज्जैन के पवित्र काम्पलेक्स का अध्ययन (1997) प्रस्तुत किया है।

धर्म पर काम करने वालों में वैद्यनाथ सरस्वती का नाम भी महत्वपूर्ण है। उन्होंने काशी यानी वाराणसी का अध्ययन किया है। इनके अनुसार भारत में धर्म के तीन तत्त्व हैं–(1) अति प्राकृत में विश्वास, (2) विश्वास पैदा करने वाला कर्त्ता (पैगम्बर या अवतार), और (3) अति प्राकृत में विश्वास करने वाला व्यक्ति या समूह। यह स्वीकार कर लिया जाना चाहिए कि सरस्वती ने हिन्दू धर्म की व्याख्या बहुत विस्तृत रूप में की है। धर्म के समाजशास्त्र में भारत में **एम.एन. श्रीनिवास** का नाम अग्रणी है। अपनी पुस्तक **रिलिजन एण्ड सोसायटी अमंग कुर्गस् ऑफ साउथ इण्डिया** में इन्होंने धर्म की व्याख्या जाति व्यवस्था के सन्दर्भ में की है। यह इसी पुस्तक की प्राप्ति है कि उन्होंने संस्कृतिकरण की अवधारणा को समाजशास्त्र में रखा है। **मिल्टन सिंगर** ने अपनी पुस्तक **वेन ए ग्रेट ट्रेडिशन मोडर्ननाइज़ेज** में एक सामाजिक प्रक्रिया का उल्लेख यिका है। वे कहते हैं कि इस देश की महान् परम्परा वह है जो संस्कृत ग्रन्थों में हैं। इस परम्परा के साथ आम लोगों की अन्त:क्रिया होती है। परम्परा को परिभाषित करने के बाद सिंगर चैन्नई शहर को अपने अध्ययन का स्थान बनाते हैं और यहाँ वे धर्म के प्रभाव को सामाजिक जीवन में देखते हैं। इन अध्ययनों के अतिरिक्त कुछ और अध्ययन भी धर्म के क्षेत्र में हुए हैं। लेकिन समाजशास्त्रियों ने धर्म और जाति की व्याख्या **धर्मनिरपेक्ष राज्य** (Secular State) के संदर्भ में नहीं की है और आज सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात को देखने की है कि जब हम जाति को स्वीकार नहीं करते, राज्य का कोई धर्म नहीं है यानी धर्म राज्य से पृथक् है, फिर धर्म का सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव है?

### 8.4.2 विभिन्न धार्मिक समूह : उनका आकार, वृद्धि और आँचलिक वितरण

भारतीय जनगणना जातियों की संख्या और उनकी वृद्धि के कोई आँकड़े नहीं देती लेकिन धर्म और धर्मावलम्बियों के आँकड़े अवश्य देती है। यह इन्हीं आकड़ों के आधार पर कि हम विभिन्न धर्मावलम्बियों के आकार को यहाँ दे पाते हैं। 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में 82.41 प्रतिशत लोग जिनमें अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ भी सम्मिलित हैं, हिन्दू धर्म के अनुयायी हैं। वैसे हिन्दू धर्मावलम्बी सभी राज्यों में फैले हुए हैं लेकिन पाँच धर्म अपने परिवेश में बहुत विशाल है। और कठिनाई यह है कि इसकी परिभाषा में भी कोई स्पष्टता नहीं है फिर भी हिन्दुओं को तीन सम्प्रदायों में बाँटा जाता है। ये सम्प्रदाय हैं–(1) वैष्णव, (2) शैव, और (3) शाक्त। वैष्णव सम्प्रदाय के लोग विष्णु को अपना मुख्य आराध्य देव मानते हैं। शैव सम्प्रदाय के अनुयायी मुख्य उपासना शिव की करते हैं। शाक्त सम्प्रदाय के अनुयायी शक्ति यानी काली और उसके विभिन्न स्वरूपों की उपासना करते हैं।

सम्प्रदायों का यह विभाजन कोई बहुत साफ-सुथरा नहीं है। वे लोग जो वैष्णव सम्प्रदाय के हैं शैव और शाक्त सम्प्रदाय के उपास्य देवताओं की भी पूजा-अर्चना करते हैं। लेकिन जब कर्मकाण्ड का विरोध उत्तरवैदिक काल में हुआ तब ये सम्प्रदाय एक-दूसरे के विरोधी थे। संस्कृत का एक श्लोक है जिसका अर्थ है कि एक वैष्णव धर्मावलम्बी के सामने मत्त हाथी आ जाये तब उससे बचने के लिये यदि पास में शिव मंदिर हो तब भी उसमें प्रवेश नहीं करना चाहिए। हाथी के पाँवों के नीचे दबकर मर जाना उसके लिए अच्छा होगा इसकी अपेक्षा कि वह जान

नोट

बचाने के लिए शिव मंदिर में प्रवेश करें। देशी रियासतों में प्रत्येक राजा का अपना एक सम्प्रदाय था और अपने सम्प्रदाय के उपास्य दैव का वह मंदिर बनाता था। सभी सरकारी धार्मिक क्रिया-कलापों का केन्द्र यह सम्प्रदाय हुआ करता था।

भारत में 1991 की जनसंख्या के अनुसार कुल जनसंख्या का 12.12 प्रतिशत भाग मुसलमानों का है। यह जनसंख्या सामान्यतया सारे देश में मिलती है। केरल जैसे राज्य में भी अच्छी संख्या में मुसलमान हैं। बहुसंख्यक मुसलमान जम्मू और कश्मीर, असम तथा पश्चिमी बंगाल में पाये जाते हैं। यदि थोड़ा विस्तार से देखें तो मुसलमानों का प्रतिशत 8 से 29 के बीच में विभिन्न राज्यों में मिलता है। उदाहरण के लिये असम में मुसलमानों का प्रतिशत 28.4 प्रतिशत है, पश्चिमी बंगाल में 23.6, केरल में 23.3, उत्तरप्रदेश में 17.3, बिहार में 4.8, कर्नाटक में 11.6, महाराष्ट्र में 9.7 और आंध्र प्रदेश में 8.9। प्राय: मुसलमानों को लेकर भाषा का एक विवाद प्रस्तुत किया जाता है। यह कहा जाता है कि मुसलमानों की जबान उर्दू है इसलिये यह उनकी मातृभाषा है। इस तरह की धारणा आँकड़ों से मेल नहीं खाती। यह इसलिये कि 12.12 प्रतिशत मुसलमानों में केवल 5 प्रतिशत मुसलमान उर्दू बोलते हैं और शेष स्थानीय भाषाएँ।

हिन्दू और इस्लाम धर्म के अतिरिक्त जैन और सिख धर्म भी अल्पसंख्यक हैं। सामान्यतया सिख धर्म के अनुयायी बड़ी संख्या में पंजाब में मिलते हैं और इसी तरह जैन धम्र के लोग गुजरात, हरियाणा, मध्यप्रदेश, बिहार आदि में अधिक पाये जाते हैं। यद्यपि ये दोनों धर्मावलम्बी उत्तर और मध्यक्षेत्रों में मिलते हैं लेकिन सिखों के लिये यह सभी जानते हैं कि वे दुनियाँ के हर कोने में पाये जाते हैं। यह एकउद्यमी क़ौम है। इसी भाँति जैन धर्मावलम्बी भी उद्यमी हैं और वे दक्षिण भारत में भी अपना प्रभाव रखते हैं। मारवाडियों में जैन धर्मावलम्बी भी सम्मिलित हैं।

ईसाई और पारसी धर्मावलम्बी अल्पसंख्यक हैं। ईसाइयों का केन्द्रीयकरण उन स्थानों पर ज्यादा है जहाँ ब्रिटिश हुकूमत ने अपना व्यवसाय या राजकाज केन्द्रित किया था। इस अर्थ में पश्चिमी बंगाल तथा केरल में ईसाई बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। इस संदर्भ में आदिवासी धर्म के अनुयायियों का उल्लेख भी करना चाहिय। आदिवासी धर्म जनगणना में पृथक् रूप से अंकित किया जाता हैं **घनश्याम शाह** का कहना है कि प्राय: जनगणना में काम करने वाले हिदू गणक आदिवासियों को हिन्दू धर्मावलम्बियों की श्रेणी में रखते हैं फिर भी कुछ राज्यों में जहाँ ईसाई मिशनों का प्रभाव है, आदिवासियों ने ईसाई धर्म को अपना लिया है। ऐसे राज्यों में जहाँ ईसाई आदिवासी हैं, वे मध्यप्रदेश, उड़ीसा, बिहार, गुजरात और राजस्थान हैं।

पारसी धर्मावलम्बियों की संख्या हजारों में हैं। वे केवल 70,000 के लगभग हैं और इनका मुख्य निवास दक्षिण गुजरात और महाराष्ट्र है। पारसी अग्नि की पूजा करते हैं और मुख्य रूप से यह कौम व्यवसायी है।

बौद्ध धर्मावलम्बी प्रतिशत की दृष्टि से 0.60 है।। इनमें कोई जाति प्रथा नहीं हैं और इनका मुख्य केन्द्र बिहार, हिमाचल प्रदेश, और जम्मू कश्मीर है।

### 8.4.3 पीपल ऑफ इण्डिया के निष्कर्ष

**के.एस. सिंह** ने **पीपल ऑफ इण्डिया** प्रोजेक्ट के प्रथम खण्ड में विभिन्न समुदायों का परिचय दिया हैं वे धार्मिक समुदायों के बारे में भी अपनी टिप्पणी करते हैं। इसप्रोजेक्ट में उन्होंने कुल 4635 समुदायों का अध्ययन किया है। धर्म के बारे में उन्होंने कुछ दिलचस्प आँकड़े दिये हैं। उन्होंने विभिन्न धर्मावलम्बियों को समुदायों के आकार पर निम्न श्रेणियों में बाँटा है–

1. ऐसे समुदाय जो केवल एक ही धार्मिक सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। इनमें वे हिन्दू धर्म को सम्मिलित करते हैं। इस दृष्टि से हिन्दुओं का प्रतिशत जो हिन्दू धर्म को ही मानता है 74.4 है। इसी श्रेणी में मुसलमान भी हैं जिनका प्रतिशत 12.6 है, ईसाइयों का 77.3 प्रतिशत, आदिवासी धर्मावलम्बियों का 8.3 प्रतिशत, जैन का 2.2 प्रतिशत और पारसियों का 0.19 प्रतिशत।
2. वे धर्मावलम्बी जो दो धर्मों के अनुयायी हैं। इनमें हिन्दू और सिख धर्मावलम्बी हैं। इसका मतलब है ये लोग हिन्दू और सिख दोनों धर्मों को मानते हैं। इसी तरह इस श्रेणी में हिन्दू और ईसाई, हिन्दू और इस्लाम, हिन्दू और जैनधर्म, सिख और बौद्ध, और इसाई व आदिवासी धर्म मानने वाले हैं।

नोट

3. ऐसे धर्मावलम्बी जो एक साथ तीन धर्मों के अनुयायी हैं। इस श्रेणी में हिन्दु, मुस्लिम और सिख धर्म को मानने वाले हैं। इसी तरह कुछ लोग ऐसे हैं जो एक साथ हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई धर्म को मानते हैं।

### 8.4.4 हिन्दू धर्म के स्तर और स्वरूप

पीपल ऑफ इण्डिया (POI) अंक एक में के. एस. सिंह ने हिन्दु धर्म के स्तरों और स्वरूपों की पहचान की है। इसका अर्थ है धर्म की उपासना परिवार, जाति या गाँव के किस स्तर पर की जाती है। यह भी देखा गया है कि जिस उपास्य दैव की पूजा की जाती है उसका स्वरूप कौनसा है–वह स्थानीय देवी-देवता है, श्रेत्रीय है या महान् परम्परा है। इस पड़ताल से ज्ञात हुआ कि 61.2 प्रतिशत हिन्दु समुदाय परिवार के देवी-देवता की उपासना करते हैं और 31.6 प्रतिशत अपने गौत्र के देवता की पूजा करते हैं। दूसरी ओर अपने गाँव और क्षेत्र की देवी-देवताओं की उपासना करने वाले समुदायों का प्रतिशत 67.7 है। कुल 4635 समुदायों में जिनका अध्ययन प्रोजेक्ट ने किया है उनमें 68.4 प्रतिशत महान् परम्पराओं के देवी-देवताओं यानी ब्रह्मा, विष्णु, शिव और काली की उपासना करते हैं। मुसलमानों में कुल समुदायों में 493 और 428 समुदाय उन पीरों की इबादत करते हैं जिनके साथ उनका व्यक्तिगत और पारिवारिक सम्बन्ध है। प्रोजेक्ट की पड़ताल में यह भी ज्ञात हुआ कि 69.58 प्रतिशत समुदाय जन्म, विवाह और मृत्यु के अवसरों पर पुरोहित या मौलवी को आमांत्रित करते हैं और इधर आदिवासियों में 20 प्रतिशत समुदाय ऐसे हैं जो भुत-प्रेत से बचने के लिये और बीमारियों से निदान पाने के लिये भोपे और शमन (Shaman) के पास जाते हैं।

**यदि हम देवी-देवताओं की उपासनाओं का कोई मोटा विश्लेषण करें तो यह कहा जा सकता है कि आधे से अधिक भारतीय समुदाय अपने स्थानीय देवी-देवताओं और अखिल हिन्दू देवी-देवताओं की उपासना करते हैं। यह उपासना व्यक्तिगत स्तर से लेकर गाँव और अँचल तक पायी जाती है।**

### 8.4.5 विभिन्न धार्मिक समूहों के सामाजिक-शैक्षणिक स्तर

भारतीय समाज का सम्पूर्ण जीवन वृत धर्मविधि और उपासना के इर्द-गिर्द घूमता है। कोई भी दिन सामान्य नहीं जाता । किसी दिन जन्म दिन मनाना होता है, कभी ब्याह-शादी और कभी मृत्यु। तिथि-त्यौहार, व्रत-उपवास तो आते ही रहते हैं। इन सबको मानने वाले लोग कौन से हैं? उनका वर्ग या जाति का क्या सम्बन्ध है? उनका शैक्षणिक स्तर क्या है? ये सब प्रश्न रोचक हैं। इनके मूल में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि क्या विभिन्न धर्मावलम्बी अनपढ़ हैं और इस तरह धर्म का सम्बन्ध अशिक्षा के साथ है। एक और महत्त्वपूर्ण मसला यह भी है क क्या विभिन्न धर्मावलम्बी निम्न जातियों और निम्न वर्गों के हैं? या कहीं ऐसा तो नहीं है कि उच्च जातियाँ और उच्च वर्गों के लोग धर्म उपासना में अधिक समय और धन लगाते हैं? ये सब प्रश्न समाजशास्त्रीय संदर्श से सरोकार रखते हैं।

पिछलने दो दशकों में जो तथ्यात्मक जानकारी हमें भारतीय समाज के बारें में प्राप्त हुई है वह बताती है कि हाल में कुछ नये दवी-देवताओं का आविर्भाव हुआ है। परम्परा में शास्त्रकारों ने हिन्दुओं के चार बड़े धाम बताये हैं–रामेश्वरम्, द्वारका, वाराणसी और उत्तराखण्ड–जिसमें यमनोत्री, केदारनाथ, गंगोत्री और बद्रीनाथ सम्मिलित हैं। इन महान् परम्परा के तीर्थों के अतिरिक्त आज कई नये महान् तीर्थ पैदा हो गये हैं। इन तीर्थों में तिरुपति (बालाजी), नाथद्वारा और वैष्णों देवी सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त कई स्थानीय और क्षेत्रीय देवी-देवताओं का आविर्भाव हुआ है। इनके कारण पर्यटन बेतहासा विकसित हुआ है। ये तथ्य इस बात को बताते हैं कि विभिन्न धर्मावलम्बियों में शिक्षा का प्रसार बढ़ा है। अब उन्हें नये देवी-देवताओं का ज्ञान भी हुआ है। यह निश्चित है कि बढ़ते हुए देवी-देवताओं के साथ साक्षरता का प्रसार भी जुड़ा हुआ है।

विभिन्न धर्मावलम्बियों के सामाजिक और शैक्षणिक स्तर के साथ में पूँजीवादी भावना भी जुड़ी हुई है। जब मेक्स वेबर ने हिन्दु धर्म के विषय में अपना विश्लेषण दिया था तब उन्होंने कहा था कि हिन्दू धर्म में ऐसे आचार नहीं हैं जो पुँजीवाद को विकसित कर सके। हाल में वेबर के इस थीसिस पर जो गोष्ठियाँ और आलोचनाएँ हुई हैं, वे बताती हैं कि यह हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय ही हैं जिन्होंने पूँजीवाद को इस देश में विकसित किया है। हमारे

नोट

यहाँ जैन धर्म वल्लभ सम्प्रदाय जिसकी व्यापकता गुजरात और महाराष्ट्र में है, अपने धर्मों से कई आचार लिये हैं और वे सम्पन्न हैं। एक जैन धर्मावलम्बी देश के दक्षिण छोर में रहते हुए बिहार में अपने धार्मिक स्थलों के दर्शन के लिये जाता है। यह बात वल्लभ समप्रदाय पर भी लागू होती है। एक गुजराती धर्मावलम्बी को देश के किसी भी तीर्थ स्थान पर देखा जा सकता है। आलम यह है कि एक गुजराती प्रवासी अमेरिका से सीधा नाथद्वारा पहुँचता है और अफर अपने घर लौटता है। ये सब तथ्य बताते हैं कि हिन्दू धर्म के विभिन्न धर्मावलम्बी शैक्षणिक और आर्थिक स्तर पर अपेक्षित रूप से ऊँचे स्थान पर हैं। यहाँ हमें यह भी कहना चाहिये कि धर्मावलम्बियों का एक ऐसा समूह भी है जो पढ़ा-लिखा नहीं है लेकिन किसी तरह रुपये-पैसे का जुगाड़ करके अपने तीर्थ स्थलों पर पहुँचता है। यह शायद उसकी रूढ़िवादित है।

मुसलमान धर्मावलम्बी शैक्षणिक स्तर पर लगता है, निम्न स्तर पर आते हैं। आर्थिक और शैक्षण्कि दृष्टि से वे कमज़ोर हैं। यह इसी कारण है कि मुस्लिम धर्मावलम्बी अपने स्थानीय और क्षेत्रीय दरगाह तक ही पहुँच पाते हैं। लेकिन इस सम्प्रदाय में मुट्ठी भर लोग ऐसे हैं जिन्हें अभिजन कहना चाहिये और जो शैक्षणिक और आर्थिक स्तर पर ऊँचे स्थान पर हैं प्रतिवर्ष हज करने वाले हाजियों की संख्या में बराबर वृद्धि दिखायी देती है। यह वृद्धि इस बात का संकेत है कि मुसलमान अभिजन वर्ग शिक्षा तथा धन के क्षेत्र में सम्पन्न हैं।

विभिन्न धर्मावलम्बियों को शिक्षा और आर्थिक स्थिति के साथ जोड़ना बड़ा कठिन है। यह देखा गया है कि अच्छा पढ़ा-लिखा धर्मावलम्बी मंदिर-मस्जिद नहीं जाता; लेकिन यह स्पष्ट है कि अच्छी आर्थिक स्थिति वाला लेकिन अनपढ़ धर्मावलम्बी जब भी अवसर मिले अपने आराध्य दैव तक पहुँचता है। बात यह है कि धर्म का क्षेत्र विश्वास का क्षेत्र है और इसलिए इसका कोई बहुत निकट सम्बन्ध शिक्षा, धन या पिछड़ेपन से जुड़ा हुआ नहीं है।

*टास्क* हिन्दू धर्म का क्या स्वरूप है?

### 8.4.6 धार्मिक अल्पसंख्यकों की समस्याएँ

भारत में अल्पसंख्यक समूह हाल में संकट के दौर से गुजर रहे हैं। पिछले दिनों में सिक्खों के खिलाफ देश के बड़े-बड़े नगरों में दंगे नगरों में दंगे हुए। एक बहुत बड़ा नरसंहार देखने को मिला। हिन्दू-मुसलमानों के दंगे कुछ राज्यों में तो आदतन हो जाया करते हैं। हाल में उड़ीसा और गुजरात में ईसाइयों पर भी हमले हुए हैं। हमारे यहाँ वैसे कई अल्पसंख्यक समूह हैं। इन समूहों में मुसलमान, सिख और ईसाई सबसे अधिक संकट में हैं। जब हम एक ऐसे राष्ट्र के निर्माण में जुटे हैं जो प्रजातान्त्रिक और धर्मनिरपेक्ष है, इसमें अल्पसंख्यकों की कठिनाइयाँ बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। वैसे देखा जाय तो किसी भी नये राष्ट्र के लिये ऐसी समस्याएँ लम्बी अवधि की समस्याएँ नहीं होती। यूरोप के सामने ऐसी ही समस्या देश और धर्म के क्षेत्र में आयी थी। वहाँ धर्म सुधार आन्दोलन के पहले चर्च और राज्य के बीच में जो झगड़े थे, वे वास्तव में शक्ति (Power) के झगड़े थे। और तब प्रोटेस्टेन्ट धर्म ने एक नयी प्रघटन को रखा। इसके अनुसार राज्य में कई अल्पसंख्यक धार्मिक समूहों का उद्‌गम हुआ। धीर-धीरे धर्म और राज्य के झगड़ों को यूरोप ने सुलझाया और तब वहाँ यह निश्चित किया गया कि चर्चा का अस्तित्व राज्य से पृथक् होगा और सभी धर्मावलम्बियों को समान नागरिकता प्रदान की गयी।

भारत के अतिरिक्त दक्षिण एशिया में भी धार्मिक अल्पसंख्यकों की स्थिति संकट काल से गुजर रही है। चीन में प्राय: कन्फ्यूशियस धर्मावलिम्बयों को ऊँचा स्थान दिया जाता है और वहाँ महायान बौद्धों को हाशिये पर ला दिया है। कुछ ऐसी ही स्थिति सिंगापुर और थाईलैण्ड में हैं। यहाँ हिन्दू बहुसंख्यक है लेकिन मुसलमान, सिख और कुछ थोड़े पारसी भी हैं। पाकिस्तान और बांग्लादेश में हिन्दू धर्मावलम्बी अल्पसंख्यक हैं। ईसाई धर्मावलम्बी सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया में अलपसंख्यक हैं। इसका केवल एक अपवाद फिलिपिन्स है; जहाँ रोमन कैथोलिक

नोट

धर्मावलम्बी बहुमत में हैं। श्रीलंका में ईसाई अल्पसंख्यक हैं। और उनके लिये भी आये दिन संकट आते ही रहते हैं। जब हम अल्पसंख्यकों की चर्चा करते हैं। तब समस्या धर्म की आती है। वह धार्मिक समूह जो संख्या की दृष्टि से छोटा है संकट के घेरे में फँस जाता है। इन परिस्थितियों को देखकर कम से कम दक्षिण एशिया में तो धार्मिक अल्पसंख्यक समूहों की समस्याएँ बहुत अधिक हैं।

### 8.4.7 धार्मिक अल्पसंख्यक समूहों का अर्थ

भारतीय संविधान में कहीं भी अल्पसंख्यक समूहों की परिभाषा नहीं है। राजनीतिशास्त्र में अल्पसंख्यकों को अनकी संख्या के आधार पर परिभाषित किया जाता है। यह एक सापेक्षिक (Relative) अवधारण है। उदाहरण के लिये एक समूह किसी एक राज्य में अल्पसंख्यक है लकिन दूसरे राज्य में वह बहुसंख्यक हो सकता है। जम्मू और कश्मीर में मुसलमान बहुसंख्यक हैं लेकिन गुजरात या राजस्थान में वे अल्पसंश्ख्यक हैं। हिन्दु उत्तरप्रदेश या महाराष्ट्र में बहुसंख्यक हैं लेकिन जम्मू और कश्मीर और इसी भाँति मिजोरम, मणिपुर, और नागलैण्ड में वे अल्पसंख्यक हैं। अभी कुछ समय पहले राज्य के उच्च न्यायालय ने एक फैसला दिया है इसके अनुसार अल्पसंख्यक समूह राज्य के बहुसंख्यक समूहों की तुलना में आकार में छोटे होते हैं। अल्पसंख्यक समूह के कई आयाम हैं। इनमें आयाम धर्म है। धर्म के अतिरिक्त भाषा को भी एक महत्त्वपूर्ण लक्षण समझा जाता हैं।

हमारे देश में पिछले कुछ वर्षों में एक नया दौर चला है। धर्म के आधार पर कुछ समूह अल्पसमूह घोषित किये गये हैं। इसका ताजा उदाहरण जैन धर्मावलम्बी हैं। लगभग सभी राज्यों में जैन धर्मावलम्बी अल्पसंख्यक हैं। जब यह घोषणा व्यापक हो जायगी तब प्रत्येक राज्य में ऐसे आंदोलरन चलेंगे जिनमें धार्मिक अल्पसंख्यक अपने आपको अल्पसंख्यक समूह का दर्जा लेने का प्रयास करेंगे।

### 8.4.8 अल्पसंख्यक समूह : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारत में अल्पसंख्यक समूहों के वर्तमान संकट को समझने के लिये हमें इतिहास को देखना पड़ेगा। सन् 1920 के प्रारम्भ से लेकर 1935 तक हमारे यहाँ ब्रिटिश सरकार ने प्रान्तीय धारा सभाओं को बनाने की प्रक्रिया प्रारम्भ की। जब इस प्रक्रिया ने कुछ गति पकड़ी तब हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायवाद उभरकर सामने आया। इस साम्प्रदायिकता ने आजादी कील लड़ाई में व्यवधान पैदा कर दिया। उपनिवेशवादी सरकार को ऐसा लगा कि हिन्दुओं और मुसलमानों में आपसी विश्वार नहीं है। मुसलमानों ने यह माँग रखी के मुसलमान अल्पसंख्यकों के लिये एक पृथक् निर्वाचन क्षेत्र (Separate Electorate) घोषित होना चाहिये। बात यह हुई कि सन् 1906 में आगा खाँ के नेतृत्व में एक मुस्लिम प्रतिनिधि मण्डल लार्ड मिन्टों जो गर्वनर जनरल थे, से मिला। मिन्टों ने इस प्रतिनिधिमण्डल की माँग को स्वीकार कर लिया।

लेकिन मिन्टों की इस स्वीकृति को लार्ड मोरले जो भारत के राज्य मंत्री थे, स्वीकार नहीं किया। उन पर दबाव डाला गया और 1909 में मुसलमानों के लिये पृथक् निर्वाचन क्षेत्र घोषित कर दिया गया। इसके अनुसार आरक्षित स्थानों के लिये केवल मुसलमान ही मतदान कर सकते थे। यहाँ के मतदान के अतिरिक्त मुसलमानों को आम निर्वाचन क्षेत्रों में भी मत देने का अधिकार दिया गया।

मुसलमानों के लिये पृथक् निर्वाचन क्षेत्र का यह विवाद आगे भी चला। सन् 1916 में लखनऊ पूना पेक्ट हुआ और इसने पृथक् मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्र को स्वीकार कर लिया। सन् 1919 में यह माँग भी आयी कि मुसलमानों की तरह सिखों को भी पृथक् निर्वाचन क्षेत्र दे दिया जाये। जब 1947 में भारत का बँटवारा हुआ तब इसके पीछे जो बहुत बड़ा सिद्धान्त था वह यह था कि हिन्दुओं के लिये पृथक राष्ट्र बने और मुसलमानों के लिए अलग। जिन्ना के इस सिद्धान्त को दो राष्ट्रों का सिद्धानत (Two Nation Theory) कहते हैं। पाकिस्तान बन गया और यहाँ से जो मुसलमान वहाँ जाना चाहते थे, चले गये; वहाँ के जो हिन्दु भारत आना चाहते थे, आ गये। इस अवसर पर मुस्लिम अल्पसंख्यकों की स्थिति पर चेस्टर बॉल्स (Chester Bowles) ने एक बहुत बढ़िया टिप्पणी की:

नोट

ऐसी प्रघटनाएँ होती हैं जिनमें राज्य का धर्म में हस्तक्षेप होता है। हमारे यहाँ कई बार जो राजनीतिक दंगे होते हैं उनके पीछे राजनीतिक दलों का राजनीतिकरण होता है। इन तीनों तत्त्वों के सम्बन्ध राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को चलाते हैं। राष्ट्र निर्माण की यह प्रक्रिया एक लम्बी प्रक्रिया है और वर्षों तक चलती रहती है।

### 8.4.16 धर्म परिवर्तन

धर्म के क्षेत्र में हमारे देश में पिछले कुछ दिनों से चिल्ल-पो चल रही है। यह कहा जाता है कि ईसाई मिशनरी आदिवासियों को बड़ी तादाद में ईसाई बना रहे हैं। और ईसाइयों का कहना है कि ये दोनों प्रक्रियाएँ आदिवासियों के सिर पर चढ़ गयी है। एक धार्मिक सम्प्रदाय उन्हें ईसाई बना रहा है और दूसरा हिन्दू। कुछ भी हो इन आदिवासियों को अपनी पहचान तो खोनी ही है। इससे आगे यहाँ ऐसा भी हुआ है कि हज़ारों की तादाद में अछूतों ने बौद्ध धर्म को अपनाया है। यह भी सुना जाता है कि निम्न मुसलमानों को हिन्दू बनाया जा रहा है। कुल मिलाकर इस देश में धर्म परिवर्तन की प्रक्रिया कभी प्रकट होकर चलती है, तो कभी प्रछन्न होकर।

जब हम धर्म परिवर्तन की बात करते हैं तो दो अवधारणाएँ हमारे सामने आती हैं। पहली अवधारणा **धर्म परिवर्तन** (Conversion) की है और दूसरी अवधारणा **धर्म प्रचार** (Proselytization) की है। **धर्म परिवर्तन एक धर्म को छोड़कर अपनी मन की इच्छा से दूसरा धर्म अपनाना होता है। ऐसे परिवर्तन में हृदय परिवतर्न अनिवार्य है।** व्यक्ति दूसरे के धर्म से प्रभावित होता है, उसमें आत्म ज्योति प्रज्ज्वलित होती है और उसे विश्वास हो जाता है कि यह नया धर्म उसे मोक्ष दे देगा; इसे धर्म परिवर्तन कहते हैं। दूसरी अवधारणा धर्म प्रचार की है। **इसमें व्यक्ति दूसरे धर्म के प्रचार से प्रभावित होता है, वह उसके बाहरी लक्षणों को अपना लेता है और इस तरह वह दूसरे धर्म को स्वीकार कर लेता है।** यह धर्म परिवर्तन तो है लेकिन इमसें आध्यात्मिक जागृति नहीं आती। इसी कारण इसे धर्म प्रचार कहते हैं।

### 8.4.17 धर्म परिवर्तन की ऐतिहासिकता

धर्म परिवर्तन का इतिहास सन् 1705 से प्रारम्भ होता है। ब्रिटिशकाल में भारत में कैथोलिक मिशनरी काम करने के लिए हमारे यहाँ आये। उस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक व्यवसायी कम्पनी थी। उसकी यह नीति थी कि वह देश के धार्मिक जीवन में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगी। वह धर्म के मामले में निरपेक्ष थी। धीरे-धीरे ईसाई धर्मावलम्बियों ने धर्म परिवर्तन प्रारम्भ कर दिया और तब 1662 में ब्रिटिश सरकार ने यह घोषित किया कि स्थानीय लोगों का कोई जबरदस्ती धर्म परिवर्तन नहीं होगा और आदिवासी जीवन में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जायेगां यह भी कहा गया कि हिन्दू क्षेत्रों में गाय-वध नहीं होगा। लेकिन 1705 में सरकार तथा ईसाई मिशनों के सम्बन्ध एक निर्णायक अवस्था में पहुँच गये। देखा जाये तो सरकार की मिशनरी का कार्यक्रमों के प्रति दृष्टिकोण एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में भिन्न था। कहीं पर तो यह समझा जाता था कि ईसाई मिशनरी का कार्य एक अच्छा कार्य है और यह प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजों के हितों को बढ़ावा देता है। ऐसा दृष्टिकोण **सकारात्मक** (Positive) था। एक दूसरा दृष्टिकोण यह भी था कि ईसाई मिशनरी यहाँ कि धार्मिक यथास्थिति को गड़बड़ा रहे हैं और इसलिये उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिये। यह दृष्टिकोण **नकारात्मक** (Negative) था।

सन् 1813 में यह तय किया गया कि मिशनरियों का यह कानूनी अधिकार है कि वे ब्रिटिश भारत में प्रवेश करें और ऐसा करने के लिये उन्हें ब्रिटिश सरकार से लाइसेन्स प्राप्त होगा। लाइसेन्स देने के अधिकार से इन मिशनरियों पर सरकार का अंकुश स्थापित हो जाएगा। यह नीति चलती रही और बाद में चलकर स्थानीय दबाव के कारण इस नीति में परिवर्तन करना पड़ा। अब मिशनरियों द्वारा धर्म परिवर्तन होने लगा। जब धर्म परिवर्तन की घटनाएँ अधिक होने लगी तब यह सम्पूर्ण मसला एक विवाद बन गया। यह कहा गया कि मिशनरी धर्म प्रचार करते हैं और इससे प्रभावित होकर यदि कुछ व्यक्ति या लोग अपना धर्म बदल लेते हैं तो उनका अधिकार है। आज के संदर्भ में देखें तो संविधान प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय को **धर्मप्रचार** (Propaganda) करने का अधिकार देता है। वह धार्मिक उपदेश देने का अधिकार देता है और यदि इस प्रचार व उपदेश से प्रभावित होकर कोई अपना धर्म बदलता है तो इसमें सम्प्रदाय का कोई दोष नहीं है।

नोट

सामान्यतया हमारे यहाँ धर्मपरिवर्तन का मसला हिन्दू धर्मावलम्बियों और ईसाइयों के साथ जुड़ा हुआ है। ब्रिटिशकाल से ही लेकर ईसाई आदिवासियों और निम्न जातियों का धर्म परिवर्तन करते आ रहे हैं। हाल में हिन्दू धर्मावलम्बी विभिन्न संगठनों के माध्यम से इस धार्मिक परिवर्तन को रोकना चाहते हैं। वे परिवर्तित लोगों को पुनः परिवर्तित करना चाहते हैं। और यहीं से विवाद प्रारम्भ होता है। हिन्दू धर्मावलम्बियों की शिकायत है कि ईसाई धर्म वस्तुतः एक विदेशी धर्म है और इसलिये इसके द्वारा किया गया धार्मिक परिवर्तन भारतीय संस्कृति को छोड़ना है। ईसाई धर्मावलम्बी हिन्दुओं के इस आरोप का खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि केरल में सीरियन ईसाई चर्च सबसे पुराना है। वहाँ यह धर्म यूरोप के ईसाई धर्म से भी पुराना है और इसलिये ईसाई धर्म भारत का जमीनी धर्म है, यहाँ का मूल धर्म है। दूसरा खण्डन यह है कि ईसाई धर्म पश्चिमी सभ्यता को स्थानीय लोगों पर थोपता नहीं हैं वह तो पश्चिमी सभ्यता का स्थानीयकरण करता हैं सबसे बड़ी बात यह है कि ईसाई धर्म भारत में कभी भी साम्प्रदायिक दंगे नहीं करवाता। उनका तर्क तो बहुत सामान्य है: **हर एक व्यक्ति को अपने धर्म के प्रचार का अधिकार है और दूसरे जब प्रचार से आश्वस्त हो जाते हैं, तब उन्हें अपने धार्मिक विश्वासों को बदलने का अधिकार है।** **सी.पी. मैथ्यू** ने इस प्रकार के धर्म परिवर्तन के लिये एक दृष्टान्त दिया है। वे कहते हैं कि किसी भी चुनाव प्रचार में एक राजनीतिक दल के सामने अपने दल का प्रचार करता है; और उसे यह प्रचार करने का अधिकार है। और यदि कुछ लोग उसके राजनीतिक दल के प्रचार से प्रभावित होकर वोट देते हैं तो इसमें प्रचार करने वाले राजनीतिक दल का क्या दोष है। सच में देखा जाये तो धर्म परिवर्तन का मसला एक व्यक्ति के धर्म से, उसके धार्मिक विश्वास से जुड़ा हुआ है। वस्तुतः यह एक दार्शनिक मसला है और राज्य की इसमें कोई भूमिका नहीं है।

### 8.4.18 धार्मिक रूढ़िवाद

धार्मिक रूढ़िवाद आज हमारे देश में और पश्चिमी एशिया में एक बहुप्रचलित पद है। अफगानिस्तान में तालिबान ने धर्म की दुहाई देकर सामाजिक न्याय का गला काट दिया। सम्पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता को ताक में रख दिया। तालिबान का शब्दिक अर्थ होता है; कुरान या इस्लाम का विद्यार्थी यानी सीखने वाला। यह तालिबान समूह धार्मिक ग्रन्थों से सीखता है और उसे वास्तविक जीवन पर लागू करता है। इस्लाम एक किताबी धर्म है। जो कुछ किताबों में लिखा है वह पक्की लकीर है और उसे लाँघा नहीं जा सकता। इधर पाकिस्तान में मुल्ला और मौलवी इस्लामी रूढ़िवादी हैं। हमारे यहाँ इस देश में रूढ़िवाद वस्तुतः हिन्दुओं और मुसलमानों का कट्टरवादी है जो प्राचीन भारत को पुनः लाना चाहते हैं और दूसरी और मुस्लिम रूढ़िवादी है जो अपनी मौलिक अरब की संस्कृति को यहाँ स्थापित करना चाहते हैं और तीसरी और एक और प्रक्रिया देश में चल रही है। यह प्रक्रिया आधुनिकीकरण की है। योगेन्द्र सिंह के शब्दों में भारतीय परम्पराओं का शीघ्रता से आधुनिकीकरण हो रहा है। एक तरफ तीन प्रक्रियाएँ हैं–हिन्दू कट्टरवाद, मुस्लिम कट्टरवाद और आधुनिकीकरण हो रहा है। एक तरफ तीन प्रक्रियाएँ हैं–हिन्दू कट्टरवाद, मुस्लिम कट्टरवाद और आधुनिकीकरण। और इन तीनों के बीच में भारतीय समाज है और उसकी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक संस्कृति है।

### 8.4.19 धार्मिक रूढ़िवाद का अर्थ

रूढ़िवाद की सैद्धान्तिक व्याख्या **मोन्टगोमेरी वाट** (Montgomery Wat) ने अपनी पुस्तक **इस्लामिक फन्डामेन्टेलिज्म एण्ड मोडरनिटी** (Islamic Fundamentalism and Modernity, 1983) में कट्टरवाद की व्याख्या की है। वे कहते हैं कि वास्तव में यह अवधारणा भ्रामक है। इसके स्थान पर **कट्टरपन या मतान्धता** (Fanaticism) पद का प्रयोग होना चाहिये। जब किसी धर्म विशेष के मतावलम्बी सारी दुनियाँ को अपने धर्म के संदर्भ में ही देखते हैं तो यह रूढ़िवाद है। वास्तव में रूढ़िवाद और कुछ न होकर कट्टरपन का अधिकतम स्वरूप है। रूढ़िवादी न केवल अपने धर्म को लेकिन सम्पूर्ण समाज को रूढ़िवादिता की दृष्टि से देखते हैं। इसमें वे मसले भी आ जाते हैं जो गैर-धार्मिक हैं। **मोन्टागोमेरी वाट** का तो कहना है कि रूढ़िवाद अपने आप में एक **धर्म जागरण** (Revivalism) है जिसके द्वारा धर्म के अतीत के विश्वासों, धर्म विधियों और कार्य-पद्धातियों को नया जीवन दिया जाता है। इस भाँति **भारत और पश्चिमी एशिया में रूढ़िवाद का जो अर्थ लिया जाता है, वह कट्टरपन, मतान्धता तथा पुनर्जागरण है।** हमारे यहाँ रूढ़िवाद का अर्थ हिन्दू-मुस्लिम रूढ़िवाद से है।

नोट

जब भारतीय रूढ़िवाद का दृष्टान्त दिया जाता है तब अयोध्या में 6 दिसम्बर, 1992 का उल्लेख अवश्य किया जाता है जब हिन्दु रूढ़िवादियों ने बाबरी मस्जिद को गिरा दिया। जिन लोगों ने इस मस्जिद को गिराया वे हिन्दुत्व विचारधारा के मानने वाले थे। मुस्लिम रूढ़िवाद का दृष्टान्त कश्मीर में होने वाले ज़िहाद से है। यहाँ पाकिस्तान ही नहीं पश्चिमी एशिया के रूढ़िवादी इस्लाम के नाम पर आंतकवादियों का काम कर रहे हैं। हिन्दू मंचों का ईसाइयों के धर्म प्रचार पर आक्रमण, रूढ़िवाद का दूसरा दृष्टान्त है। रूढ़िवाद तर्क पर काम नहीं करता। वह आँख बंद करके धार्मिक असहिष्णुता को अपना औज़ार बनाता है।

जब हिन्दु रूढ़िवादी अपनी विचारधारा को अमल में लाते हैं तब कहते हैं कि वे अपनी परम्पराओं को जीवित रखना चाहते हैं। हिन्दू या मुस्लिम रूढ़िवाद कहीं भी हो, राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को पीछे धकेल देता है। और भारत जैसे देश में तो जहाँ संस्कृतियों का अनेकत्व है, रूढ़िवाद सम्पूर्ण संविधान को असफल बना देता है। यह अवधारणा हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिये घातक है।

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**3. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–**

1. धर्म तो एक प्रकार का अफीम है जो जनचेतना को गहरी नींद में सुला देता है–यह किसने कहा–
   (क) मार्क्स (ख) के. एस. सिंह (ग) रोमिला थापर (घ) उपयुक्त सभी।
2. वैद्यनाथ सरस्वती के अनुसार भारत में धर्म के कितने तत्व हैं?
   (क) दो तत्व (ख) तीन तत्व (ग) चार तत्व (घ) पाँच तत्व।
3. हिन्दुओं को सम्प्रदायों में बाँटा गया है–
   (क) वैष्णव (ख) शैव (ग) शाक्त (घ) उपयुक्त सभी।
4. अल्पसंख्यकों को उनकी संख्या के आधार पर परिभाषित किया गया है–
   (क) समाजशास्त्र में (ख) अर्थशास्त्र में (ग) राजनीतिशास्त्र में (घ) उपयुक्त सभी।
5. धर्म के आधार पर कुछ समूह अल्पसमूह घोषित किये गये हैं। इसका ताजा उदाहरण है–
   (क) ईसाई धर्मावलम्बी (ख) जैन धर्मावलम्बी (ग) सिख धर्मावलम्बी (घ) उपयुक्त सभी।
6. मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्र कब घोषित किया गया था–
   (क) 1906 में (ख) 1908 में (ग) 1907 में (घ) 1910 में।
7. धार्मिक अल्पसंख्यक समूह हैं–
   (क) मुसलमान (ख) सिख (ग) ईसाई (घ) उपयुक्त सभी।
8. मुसलमानों ने भारत में किस शताब्दी में आक्रमण किए–
   (क) 10वीं (ख) 12वीं (ग) 14वीं (घ) 16वीं।
9. सिखों ने अपना आंदोलन पंजाब में किस दशक में चलाया था–
   (क) 1980 के (ख) 1982 के (ग) 1984 के (घ) 1986 के।

## 8.5 सारांश (Summary)

- नृजातीय (एथनिक) पद प्रजाति का बोध कराता है। पर जब हम नृजातीय समुदाय की बात करते है तो बल मुख्यत: समूह की भिन्न सांस्कृतिक अस्मिता पर होता है। प्रजाति समूह भेद के जैविकीय पक्ष को इंगित करने की प्रवृत्ति दर्शाता है जबकि नृजाति सांस्कृतिक पक्ष और एक जैसे उद्‌भव-मूल और वंश के कारण सशक्त जैविकीय तत्व के संयोजन का द्योतक है।"

नोट

- 'प्रजाति' शब्द को अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। यूनानियों ने संपूर्ण मानव जाति को ग्रीक अथवा यवनों में वर्गीकृत किया था, परन्तु इनमें से किसी भी समूह को प्रजाति नहीं कहा जा सकता। 'प्रजाति' शब्द को कभी-कभी राष्ट्रीयता (nationality) का समानार्थक समझकर प्रयुक्त किया जाता है।
- प्रजाति के निर्धारण में शारीरिक लक्षणों पर ध्यान दिया जाता है, परन्तु बहुधा यह निश्चित करना कठिन होता है कि लक्षणों की विभिन्नताएँ आनुवंशिकता के कारण हैं, पर्यावरणीय परिवर्तनों के कारण नहीं। महत्वपूर्ण शारीरिक लक्षण जिन पर ध्यान दिया जाता है।
- प्रजाति के आधार पर कुछ शारीरिक विशेषताओं के अनुसार लोगों को वर्गीकृत किया गया है। सामाजिक समूहों के सदस्य त्वचा के रंग, सिर की बनावट एवं अन्य प्रेक्षणीय अन्तरों के विषय में भिन्न होते हैं। मानवशास्त्रियों ने अनेक प्रकार के वर्गीकरण प्रस्तुत किए हैं जो एक-दूसरे से काफी भिन्न हैं।
- भौतिक मानवशास्त्रियों की कठिनाई यह है कि व्यक्तियों में उस प्रजाति, जिससे वे सम्बन्धित हैं, के सभी लक्षण वर्तमान नहीं होते। प्रजाति की अवधारणा पूर्णतया स्पष्ट एवं निश्चित नहीं होते। प्रजाति की अवधारणा पूर्णतया स्पष्ट एवं निश्चित नहीं है तथा न ही यह हो सकती है। मनुष्य सदैव प्रवास करता आया है, जनजातियों एवं राष्ट्रीयताओं ने इस भूमंडल पर प्रयाण एवं प्रतियान किया है।
- प्रजातियों का नीग्रो, मंगोलायड एवं काकेशियन में वर्गीकरण सामान्यत: स्वीकृत किया गया है। यद्यपि उनको पृथक् करने वाली स्पष्ट रेखाएँ नहीं हैं, तथापि प्रत्येक प्रजाति के कुछ विशिष्ट लक्षण हैं जो इसके सभी सदस्यों में पाए जाते हैं।
- प्रजाति-पूर्वाग्रह जन्मजात नहीं होता। बालक किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह को लेकर जन्म नहीं लेता। हम बहुधा बच्चों को दूसरी प्रजातियों के बच्चों के साथ बिना किसी पूर्वाग्रह अथवा भेदभाव के खेलते देखते हैं। पूर्वाग्रह सामाजिक शिक्षा (indoctrination) का परिणाम है जो विश्वासों एवं मनोवृत्तियों को इस प्रकार उत्पन्न कर देती है कि वे अभ्यस्तता की प्रक्रिया द्वारा सुदृढ़ रूप धारण कर लेते हैं।
- भारत में राष्ट्र निर्माण और आर्थिक विकास की प्रक्रिया ने उन सामाजिक शक्तियों को उभरने का अवसर दे दिया है जिन्हें संभवत: इसके इतिहास और सभ्यता के संदर्भ में अधिक अच्छे ढंग से समझा जा सकता है। भारतीय सभ्यता की विराट ऐतिहासिक गहनता, बहुमुखी सामाजिक और सांस्कृतिक अंत:संयोजनों और 'महान परंपरा' की परिधि में विद्यमान अधिसंख्य लघु परंपराओं को ध्यान में रखते हुए इसकी प्रकृति को संपूर्णता में समझ पाना आसान नहीं है।
- सामान्य समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में भी 'प्रजातीय' पद 'किसी एक राष्ट्र और विशेषकर किसी विधर्मी या धर्मभ्रष्ट राष्ट्र से संबंधित जनसमुदाय को इंगित करने के लिए प्रयुक्त हुआ था। 'ए न्यू डिक्सनरी आफ सोशियोलोजी' में इसका उल्लेख इसी प्रकार से हुआ है। वैसे तो यह पद अपने प्रथागत तौर तरीकों और संस्कृति के साथ जीवित किसी समूह को द्योतित करता है परन्तु अपनी अर्थवत्ता में यह राष्ट्रीयता की अवधारणा से अधिक व्यापक है क्योंकि इसके कारण "निरक्षर जनसमूह सामाजिक समष्टियों के साथ उसी तरह तादात्म्य स्थापित कर सकता है जिस तरह अधिक उन्नत जनसमुदाय और राष्ट्र। जर्मन, यहूदी जिप्सी और कांगो के बौने तथा ट्रोब्रिएंडर-ये सब प्रजातीय समूह हैं"।
- जाति, भाषा, धर्म और क्षेत्र आदि जैसी सामाजिक कोटियों का चरित्र अखिल-प्रजातीय (पैन-एथनिक) होता है। स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भारत के राज्यों का भाषाई आधार पर पुनर्गठन इस असंगत धारणा से उपजा हुआ सत्य था कि कोई विशिष्ट भाषा समुदाय समरूप या समांगी सामाजिक समूह की प्रघटनाओं को निरूपित करता है।
- भारत जैसे देश में धर्म की व्यापकता जीवन के सभी क्षेत्रों में दिखायी देती है। यह कैसी बात है कि संविधान इस राष्ट्र को **धर्म निरपेक्ष** (Secular) बनाने का राष्ट्रीय उद्देश्य निर्धारित करता है, और राष्ट्र में आये दिन धर्म

नोट

के क्षेत्र में संकट होते रहते हैं। बाबरी मस्जिद को ध्वस्त कर दिया गया और उस स्थान पर राम मंदिर बनाने की पहल अदालत में चल रही है, और राजनीतिक मंचों पर आये दिन चुनौतियाँ दी जा रही हैं। हिन्दू और सिख के बीच में तनाव बढ़ गया और उत्तर भारत के कई नगरों में नर हिंसा हो गयी; ऐसे ही साम्प्रदायिक दंगों में मुम्बई में बहुत बड़ा खून-खराबा हो गया।

- भारत में अल्पसंख्यक समूह हाल में संकट के दौर से गुजर रहे हैं। पिछले दिनों में सिक्खों के खिलाफ देश के बड़े-बड़े नगरों में दंगे नगरों में दंगे हुए। एक बहुत बड़ा नरसंहार देखने को मिला। हिन्दू-मुसलमानों के दंगे कुछ राज्यों में तो आदतन हो जाया करते हैं। हाल में उड़ीसा और गुजरात में ईसाइयों पर भी हमले हुए हैं। हमारे यहाँ वैसे कई अल्पसंख्यक समूह हैं। इन समूहों में मुसलमान, सिख और ईसाई सबसे अधिक संकट में हैं।
- भारत के अतिरिक्त दक्षिण एशिया में भी धार्मिक अल्पसंख्यकों की स्थिति संकट काल से गुजर रही है। चीन में प्राय: कन्फ्यूशियस धर्मावलिम्बयों को ऊँचा स्थान दिया जाता है और वहाँ महायान बौद्धों को हाशिये पर ला दिया है। कुछ ऐसी ही स्थिति सिंगापुर और थाईलैण्ड में हैं। यहाँ हिन्दू बहुसंख्यक है लेकिन मुसलमान, सिख और कुछ थोड़े पारसी भी हैं।
- भारतीय संविधान में कहीं भी अल्पसंख्यक समूहों की परिभाषा नहीं है। राजनीतिशास्त्र में अल्पसंख्यकों को अनकी संख्या के आधार पर परिभाषित किया जाता है। यह एक सापेक्षिक (Relative) अवधारण है। उदाहरण के लिये एक समूह किसी एक राज्य में अल्पसंख्यक है लकिन दूसरे राज्य में वह बहुसंख्यक हो सकता है।
- भारत में अल्पसंख्यक समूहों के वर्तमान संकट को समझने के लिये हमें इतिहास को देखना पड़ेगा। सन् 1920 के प्रारम्भ से लेकर 1935 तक हमारे यहाँ ब्रिटिश सरकार ने प्रान्तीय धारा सभाओं को बनाने की प्रक्रिया प्रारम्भ की। जब इस प्रक्रिया ने कुछ गति पकड़ी तब हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायवाद उभरकर सामने आया। इस साम्प्रदायिकता ने आजादी कील लड़ाई में व्यवधान पैदा कर दिया।
- यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो हमारे यहाँ तीन प्रमुख धार्मिक अल्पसंख्यक समूह है–मुसलमान, सिख और ईसाई। 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में मुसलमानों का कुल जनसंख्या में 12.12 प्रतिशत है, सिख 1.80 प्रतिशत और ईसाई 2.30 प्रतिशत है। स्वतन्त्रता से पहले अल्पंसख्यक होते हुए भी ईसाइयों के लिये कोई संकट नहीं था।
- धर्म के क्षेत्र में हमारे देश में पिछले कुछ दिनों से चिल्ल-पो चल रही है। यह कहा जाता है कि ईसाई मिशनरी आदिवासियों को बड़ी तादाद में ईसाई बना रहे हैं। और ईसाइयों का कहना है कि ये दोनों प्रक्रियाएँ आदिवासियों के सिर पर चढ़ गयी है। एक धार्मिक सम्प्रदाय उन्हें ईसाई बना रहा है और दूसरा हिन्दू।
- धर्म परिवर्तन का इतिहास सन् 1705 से प्रारम्भ होता है। ब्रिटिशकाल में भारत में कैथोलिक मिशनरी काम करने के लिए हमारे यहाँ आये। उस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक व्यवसायी कम्पनी थी। उसकी यह नीति थी कि वह देश के धार्मिक जीवन में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगी। वह धर्म के मामले में निरपेक्ष थी। धीरे-धीरे ईसाई धर्मावलम्बियों ने धर्म परिवर्तन प्रारम्भ कर दिया और तब 1662 में ब्रिटिश सरकार ने यह घोषित किया कि स्थानीय लोगों का कोई जबरदस्ती धर्म परिवर्तन नहीं होगा और आदिवासी जीवन में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जायेगां।

## 8.6 शब्दकोश (Keywords)

- **कपाल** : मस्तक, खोपड़ी
- **पूर्वाग्रह** : पश्चपात् पूर्ण
- **धर्मावलम्बी** : धर्म का आश्रय लेने वाला।

नोट

## 8.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. प्राजाति से आप क्या समझते है? प्रणाली के जैविकीय अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
2. प्राजाति के निर्धारक तत्व कौन-कौन से हैं? प्राजातियों का वर्गीकरण कीजिए।
3. प्राजातीयता और भारतीय सभ्यता में क्या संबंध है?
4. नृजातीयता समूह को स्पष्ट कीजिए। क्या नृजातीयता एक विश्वव्यापी प्रघटना है?
5. अल्पसंख्यक तथा बहुसंख्यक के संबंधों पर प्रकाश डालिए।
6. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए:
   (*i*) प्रजाति
   (*ii*) साम्प्रदायिक तनाव
   (*iii*) हिन्दू मुस्लिम तनाव
   (*iv*) धर्म-परिवर्तन की ऐतिहासिकता

**उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)**

**1.** 1. ✓ 2. X 3. ✓ 4. ✓ 5. X

**2.** 1. प्रजातीयता 2. विश्व धर्म 3. लामबंदी
4. नृजातीय 5. वस्तुपरक विभिन्नताएं

**3.** 1. (क) 2. (ख) 3. (घ) 4. (ग) 5. (ख)
6. (ग) 7. (घ) 8. (क) 9. (क)

## 8.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. दीपांकर गुप्ता; *सोशल स्ट्रैटिफिकेशन*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।
2. के. एल. शर्मा; 1980, *एस्से ऑन सोशल स्टैट्रिफिकेशन*, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एंड दिल्ली।

नोट

# इकाई–9: लिंग एवं स्तरीकरण (Gender and Stratification)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

9.1 लिंग एवं स्तरीकरण (Gender and Stratification)

9.2 पितृसत्ता और महिलाओं का दमन (Patriarchy and the Subordination of Women)

9.3 सारांश (Summary)

9.4 शब्दकोश (Keywords)

9.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

9.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- लिंग एवं स्तरीकरण की व्याख्या करने में।
- पितृसत्ता और महिलाओं के दमन की विवेचना करने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

नारीवादी चिंतन के लगभग दो दशक के सफर के उपरांत स्त्री अध्ययन राष्ट्रवादी इतिहासकार ए.एस. अल्टेकर के दृष्टिकोण के हिस्से के रूप में मिले उस नजरिए से मुक्त हो चुका है जिसका ताल्लुक 'स्त्री की स्थिति' जानने भर से था। अल्टेकर का सरोकार संपत्ति पर अधिकार, विवाह की उम्र-सीमा, विधवाओं पर लादी गई बंदिशों और कर्मकांडों में स्त्रियों की भागीदारी जैसे मसलों तक सीमित था। ये सभी अमूमन ऊंची जातियों की स्त्रियों से जुड़े मसले थे। अब नारीवादी चिंतन का जोर स्त्री की दोयम स्थिति और उसकी जिम्मेदार संरचनाओं पर है। अब यह पता करना महत्त्वपूर्ण नहीं रहा कि स्त्रियों की स्थिति उच्च थी अथवा निम्न, बल्कि स्त्री पराधीनता की प्रकृति और उसके कारणों की पड़ताल ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो गई है। अब हम इस तथ्य से भी वाकिफ हैं कि विश्व के अधिकतर हिस्सों के दर्ज इतिहास की अधिकांश अवस्थाओं में स्त्री पराधीनता का वजूद रहा है। लेकिन इस पराधीनता के हद और स्वरूप का निर्धारण सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कारक करते रहे हैं। दूसरे शब्दों में, स्त्री का परिवेश उसकी पराधीनता की प्रकृति को तय करता रहा है। भारत में लिंग-स्तरीकरण के अध्येताओं ने पितृसत्ताओं के ऐतिहासिक विकास यानी पितृसत्तात्मक संस्थान कैसे, कब और किन संदर्भों में वजूद में आए और तदोपरांत रूप बदलते हुए सदियों का सफर तय किया, उसकी रूपरेखा के आधार पर स्त्री पराधीनता की ऐतिहासिकता अथवा पारिवेशिकता को उजागर करने के प्रयास किए हैं।

## 9.1 लिंग एवं स्तरीकरण (Gender and Stratification)

इस इकाई में हम वर्ग और लिंग के साथ-साथ जाति और लिंग के बीच के संबंध पर विचार करेंगे। जहां तक वर्ग और लिंग के संबंध की बात है तो उस पर भारतीय विद्वानों के साथ-साथ बाहर के विद्वानों ने भी विचार किया है लेकिन

नोट

जाति और लिंग के बीच के संबंध के विवेचन की जिम्मेदारी, स्वभावत: हम पर रही है। गर्डा लर्नर द्वारा वर्ग और लिंग के बीच के संबंध पर किया गया कार्य, उसमें भी खासकर आरंभिक मैसोपोटामिया में स्त्री यौनिकता पर नियंत्रण का स्त्री पराधीनता के केंद्रीय पक्ष के रूप में चिह्नांकन, लिंग-स्तरीकरण के अध्ययन के लिहाज से मार्गदर्शक और महत्त्वपूर्ण है। ऐतिहासिक स्रोतों के तफतीश के क्रम में लर्नर यह देखकर चकित रह गईं कि मैसोपोटामिया की प्राचीन समाज व्यवस्था में स्त्रियां भले ही वर्षों में विभाजित थीं और भले ही उन्हें आर्थिक स्वायत्तता हासिल थी, लेकिन उनकी यौनिकता पर पुरुषों का ही नियंत्रण था। इस तथ्योद्घाटन ने लर्नर को महज आर्थिक प्रश्नों के सरल दायरे से बाहर निकलकर स्त्री यौनिकता पर नियंत्रण और प्रजनन-व्यवस्था के मद्देनजर विचार करने को अग्रसर किया। यानी यह समझ बनी कि उत्पादन-व्यवस्था और उसके नियंत्रक (वर्गीय आयाम) के साथ-साथ प्रजनन-व्यवस्था और उसके नियंत्रक (लिंग संबंधी आयाम) दोनों पर विचार करना जरूरी है। उनके विश्लेषण की तर्ज पर नारीवादी चिंतकों ने भारतीय संदर्भ में जाति और लिंग के संबंध को समझने के प्रयास किए हैं। भारतीय संदर्भ में वर्ग और जाति दोनों को ध्यान में रखकर विचार करने की जरूरत है यानी उत्पादन व्यवस्था क्या स्वरूप लिए हुए थी, इस पर किन जातियों का नियंत्रण था, कौन श्रम करते थे और कौन नहीं, इन सबके साथ-साथ यह पता लगाना भी जरूरी है कि प्रजनन-व्यवस्था क्या स्वरूप लिए हुए थी, स्त्री यौनिकता पर किनका नियंत्रण था और उसे कौन सी धारणाएं अनुमोदन और वैधता प्रदान करती थीं। तो, भारतीय संदर्भ में हमें न केवल वर्ग और लिंग, वर्ग और जाति और लिंग के बीच के गठजोड़ों को समझने की जरूरत है बल्कि उन युक्तियों अथवा तरीकों को भी उद्घाटित करने की जरूरत है जो समूचे तंत्र के पुनरोत्पादन हेतु प्रयोग में लाए जाते थे।

वर्ग, जाति और लिंग तीनों आपस में गुंथे हुए हैं; ये आपस में अंतर्क्रिया करते हुए एक दूसरे का रूप निर्धारित करते हैं—विवाह के रूप, यौनिकता और प्रजनन जाति व्यवस्था का मूलभूत आधार हैं। विवाह-संस्था वर्ग और जाति दोनों ही आधारित स्तरीकरणों और प्रजनन संबंधी कठोर कायदों के माध्यम से समूचे तंत्र का पुनरोत्पादन करती है।

### 9.1.1 जाति व्यवस्था में सजातीय विवाह की जगह

इस तथ्य को हमेशा ध्यान में रखकर चलने की जरूरत है कि वर्ग (उत्पादन व्यवस्था) और जाति (उत्पादन और प्रजनन व्यवस्था) के बीच का भेद भारतीय समाज में विद्यमान स्तरीकरण को अन्य समाजों के स्तरीकरण से न केवल पृथक करता है बल्कि उसमें विशिष्ट जटिलताएं भी लाता है। सजातीय विवाह यानी अपनी ही जाति के दायरे में विवाह संबंध कायम करने के नियम की बुनियाद पर जाति व्यवस्था का ढांचा खड़ा है। जाति और लिंग आधारित स्तरीकरणों की निरंतरता के बने रहने में सजातीय विवाह की भूमिका औजार की है। समाजशास्त्रियों ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि किसी जाति की पहचान शेष अन्य जातियों से उसकी भिन्नता से तय होती है। इसके लिए जरूरी है कि जातियां जुदा रहें, जिसे सजातीय विवाह संभव करता है। सजातीय विवाह खास उत्पादन संबंधों के प्रसार को संभव करने के साथ-साथ जाति व्यवस्था को इस हद तक लचीलापन प्रदान करता है कि प्राक्-जाति समुदाय (वे समुदाय जो जाति व्यवस्था के दायरे से बाहर हों) अपनी सांस्कृतिक खासियतों के साथ इसके दायरे में समाविष्ट किए जा सकें। इन सब कारणों, खासकर समूह (जाति/उपजाति) अलग-अलग चौखट में बने रहें इसके लिए स्त्री यौनिकता को तरजीह दिए जाने की वजह से सजातीय विवाह खुद अपने सूक्ष्म पड़ताल की जरूरत उत्पन्न करता है। वैसे भी भारतीय विवाह व्यवस्था में सजातीय विवाह को प्राथमिक तत्व माना जाता है।

यही कारण है कि स्त्रियों के विनिमय यानी विवाह की विकास-यात्रा और उसके विविध रूपों को जानना हमारे लिए जरूरी हो जाता है। यहां कई सवाल महत्वपूर्ण हो जाते हैं, मसलन, विवाह क्या है? क्या इसकी कोई सर्वसम्मत परिभाषा दी जा सकती है? भारत में विवाह के इतिहासकार के बारे में हम क्या जानते हैं? केंद्रीय दृष्टिकोण से इन प्रश्नों के जवाब भारत में लिंग संबंधों की हमारी समझ को और बेहतर कर सकते हैं। लेकिन अफसोस कि इन प्रश्नों पर ठीक से विचार किया जाना बाकी है। फिलहाल हमारे पास नृशास्त्रियों और पड़ोसी क्षेत्र के प्राचीन इतिहास का लर्नर द्वारा किया गया नारीवादी अध्ययन है।

अपनी जाति को छोड़ किसी अन्य जाति में विवाह निषिद्ध है, पेशा बदलने पर पाबंदी है, कोई भी व्यक्ति एक से ज्यादा पेशे से नहीं लग सकता, केवल दार्शनिक को छोड़कर... **—मेगास्थनीज, *इंडिका*, सीए. ईसापूर्व तीसरी सदी**

नोट

उस स्त्री से विवाह करना उचित है जो कुंवारी हो, मांगलिक लक्षणों वाली हो, कभी विवाहित न रही हो, हृदय को प्रिय हो, समान वर्ण की हो, सपिंड न हो, उम्र में छोटी हो, निरोग हो, अपने परिवार और गोत्र की नहीं हो, भ्रातृहीन न हो... ***याज्ञवल्क्य स्मृति,* I-52-55**

शुद्ध और अशुद्ध की धारणा के तहत अलगाव को महत्व देने का मकसद प्रतयेक जाति का सीमाबद्ध समूह और अलग सामाजिक इकाई के रूप में पुनरोत्पादन होते देना रहा है और सजातीय विवाह इस अलगाव की सिद्धि का प्राथमिक साधन रहा है। चूंकि जो भी विवाह होते हैं उनमें सजातीय विवाह के कायदों का पालन किया जाता है, इसलिए अतीत और वर्तमान दोनों ही समयों के विवाह के रूप/रूपों की तरफ गंभीर तवज्जो देना जरूरी है।

नारीवादी शोध के लिहाज से विवाह और/अथवा समूहों के बीच स्त्रियों के विनिमय और इस विनिमय से जुड़े नियम-कायदों का अध्ययन महत्वपूर्ण विषय क्षेत्र है। नारीवादी विद्वानों का इस तरफ ध्यान गए ज्यादा दिन नहीं हुए हैं इसलिए इस दृष्टिकोण से अभी यह विषय-क्षेत्र ज्यादा विकसित नहीं हो पाया है लेकिन नृशास्त्रियों के लिए यह विषय नया नहीं। नारीवादियों ने नृशास्त्रीय कार्यों का सहारा लेकर समुदायों के बीच स्त्रियों के विनिमय, उनकी यौनिकता और तदोपरांत खुद उनका कबीले/वंश अथवा जाति/उपजाति जैसे समूह, जिसकी वह सदस्य है, के लिए संसाधन बनने की प्रक्रिया के साथ-साथ इस तरह के विनिमय का उनकी पराधीनता पर पड़े प्रभावों को समझने की कोशिश की है। गेल रूबिन के मुताबिक–

स्त्रियों का विनिमय यह इंगित करता है कि नातेदारी व्यवस्था में संबंधों का जो ताना-बाना है उसमें पुरुषों के स्त्रियों पर कुछ अधिकार बनते हैं जबकि स्त्रियों के पुरुषों पर ऐसे कोई अधिकार नहीं बनते। व्यवस्था में स्त्रियों का खुद पर पूर्ण अधिकार नहीं है।

विवाह और कुछ नहीं बल्कि स्त्री-विनिमय को दिया गया आनुष्ठानिक रूप है। स्त्री-विनिमय यानी विवाह के लिए बहिर्गोत्रता (एग्जोगेमी) और सजातीयता (एंडोगेमी) जैसे नियमों का पालन करना अनिवार्य है। बहिर्गोत्रता के तहत उस दायरे को चिह्नित किया जाता है जिसके सदस्य आपस में विवाह नहीं कर सकते। सुविधा वे लिए इस दायरे को विवाह वृत्त (मैरिज सर्किल) कह सकते हैं। सजातीयता के तहत उस दायरे को तय किया जाता है जिसके भीतर ही विवाह-संबंध कायम किए जाने चाहिए। विवाह वृत्त के सदस्य एक दूसरे के इतने नजदीकी होते हैं कि उनके बीच विवाह की बात सोची भी नहीं जा सकती। अमूमन सभी समाज व्यवस्थाओं में विवाह वृत्त किसी न किसी रूप में मौजूद हैं। हमारे यहां गोत्र इसका एक उदाहरण है। इसलिए किसी गोत्र के सदस्यों का आपस में विवाह यानी समगोत्री विवाह अनुचित और अस्वीकार्य माना गया है। जहां तक सजातीयता की बात है तो यह उन समाजों की अनिवार्य खासियत है जिनमें *जन्म (रक्त) के आधार पर स्तरीकरण* होता हो। सीमाबद्ध समूहों (भारत में जाति/उपजाति) के बीच अलगाव और पदानुक्रम बरकरार रहे इसके लिए जरूरी है कि किसी समूह के सदस्य अपने समूह के दायरे में, लेकिन अपने विवाह वृत्त को छोड़कर ही, विवाह करें। इससे प्रत्येक समूह की अपनी खासियत बची और बनी रहेगी। क्लाउड लेवी-स्त्रॉस के मुताबिक, सजातीय विवाह की धारणा वस्तुतः मानव समुदाय के दायरे के बाहर विवाह की संभावना को नहीं पचा पाना ही है। हालांकि 'समुदाय' की कोई एक परिभाषा नहीं है, यह संदर्भित समूह धारणा के सापेक्ष होता है।

किसी जाति की चारित्रिक खासियत और अन्य जातियों से उसकी भिन्नता का बना रहना सजातीय विवाह की रीति पर ही निर्भर करता है। पारंपरिक विवाह यानी वह विवाह जो वर और वधू के परिवार अथवा समुदाय के स्तर पर तय होता है, वस्तुतः सजातीय विवाह के उल्लंघन की स्थिति से बचने का उपाय है।

*नोट्स* वह विवाह जो वर और वधू के परिवार अथवा समुदाय के स्तर पर तय होता है, वस्तुतः सजातीय विवाह के उल्लंघन की स्थिति से बचने का उपाय है।

नोट

### 9.1.2 विवाह के रूप

भारत में अरैंज्ड अथवा पारंपरिक विवाह को ही समुचित विवाह माना जाता है। सजातीय विवाह, जिस पर जाति व्यवस्था का ढांचा टिका है, की रीति की निरंतरता विवाह के इसी रूप पर आधारित है। इस तरह के एक उचित विवाह के लिए वर और वधू का एक ही जाति/उपजाति लेकिन भिन्न गोत्र (विवाह वृत्त) से होना जरूरी है। इसके साथ ही, अलग-अलग क्षेत्रों में इसका अलग-अलग प्रावधान है कि वर और वधू के माता-पिता की कितनी पिछड़ी पीढ़ियों तक विवाह नहीं हो सकता। अब हम यह देखेंगे कि ये नियम जाति व्यवस्था के ताने-बाने में किस भांति आबद्ध हैं। बतौर उदाहरण मैंने यहां एक नृशास्त्री द्वारा बंगाल में किया गया फील्डवर्क लिया है, लेकिन इससे जो बातें उभरकर सामने आई हैं वे विश्वासों अथवा रीतियों के उस व्यापक संदर्भ का उद्घाटन करती हैं जिसके तहत विवाह संबंधी निर्णय लिए जाते हैं।

सामान्य तौर पर हम कह सकते हैं कि विवाह जन्म और रक्त (वंश) के संबंध में लोगों द्वारा गढ़ी गई धारणाओं या रीतियों का ही एक पहलू है। विवाह का उद्देश्य होता है, पुरुष के वंश की शुद्धता और निरंतरता बनाए रखना। इससे उस जाति या उपजाति की शुद्धता अक्षुण्ण रहती है, पुरुष जिसका सदस्य होता है। विवाह सामाजिक रुतबा बचाए रखने के लिए महत्वपूर्ण है। जाति के भीतर मौजूद विभाजनों के बीच कोई जहां अवस्थित होता है उससे उसकी हैसियत तय होती है। इसलिए विवाह से जुड़ी धारणाएं और रीतियां जातिजन्य असमानता की धारणाओं से गुंथी हुई हैं।

विवाह का प्राथमिक उद्देश्य पुरुष के वंश की निरंतरता बनाए रखना है। इसके लिए किसी दूसरे वंश की लड़की को लाने की जरूरत पड़ती है। लड़की के लेन-देन को कर्मकांड के रूप में इस भांति महिमांडित किया गया है कि ऊंची जातियों में लड़की के देने यानी कन्यादानको सबसे बड़ा दान माना जाता है। इस दान से पुण्य प्राप्त होता है, ऐसा माना जाता है। चूंकि यह सबसे बड़ा दान है इसलिए इसे देने के लिए खास तरीके या रीति का प्रावधान है। मसलन, लड़की जिसे दिया जाना है उसे अपनी ही जाति या उपजाति का होना चाहिए। इसके साथ ही, उसे उस विवाह वृत्त के दायरे से बाहर होना चाहिए जिसमें लड़की नहीं दी जा सकती यानी वर का गोत्र भिन्न होना चाहिए और वधू के माता और पिता के वंशों में उसे उतनी पीढ़ियों के दायरे से बाहर होना चाहिए जितनी पीढ़ियों तक निषेध का मामला बनता हो।

विवाह के उपरांत ही पुरुष अपना वंश आरंभ कर सकता है। गौरमतलब है, इस लेन-देन में लड़की एक वंश से बेटी के रूप में निकलती है और दूसरे वंश में पत्नी के रूप में प्रवेश करती है यानी पुरुष के वंश की निरंतरता के लिए बाहर से किसी को लाकर साधन बनाया जाता है। पत्नी के रूप में स्त्री अपने पति के वंश की शुद्धता और अशुद्धता संबंधी सारे कायदों का पालन करती है। पति के घर में स्त्री एकदम से बदली हुई स्थिति में होती है, जिससे उसके माता-पिता का कोई लेना-देना नहीं रहता।

फील्डवर्क से प्राप्त सूचनाएं बताती हैं कि कन्यादान से जुड़ी सांस्कृतिक धारणाएं इसे महज बेटी का दान नहीं मानती हैं बल्कि इसे बेटी के साथ-साथ उसके स्त्रियोचित गुणों, उसके 'स्त्रीपन' (मातृशक्ति) और उसकी प्रजनन-क्षमता का दान माना जाता है। मातृशक्ति पुरुष को प्रदत्त की जाती है ताकि उसके वंश की शुरुआत हो सके। इस तरह हम पाते हैं कि लेन-देन की वस्तु के रूप में स्त्री को वह वंश और गोत्र छोड़ना पड़ता है जिसमें वह जन्म लेती है और नए वंश और गोत्र में प्रवेश करना पड़ता है। वहीं, पुरुष की स्थिति स्थिर रहती है। संक्षेप में कहें तो हिंदू विवाह और जन्म की समूची अवधारणा और प्रतीक योजना वंशों के बीच स्त्रियों के लेन-देन और स्त्री या पुरुष होने के अर्थ की व्याख्या करने, उन्हें परिभाषित और अभिव्यक्त करने के लिए रची गई हैं। कन्यादान की सार्थकता और प्रतीकात्मकता 'दान' (कन्या) द्वारा वंश की रेखा आगे बढ़ाने दोवंशों को जोड़ने, कन्या का दान करने वाले वंश के अमरत्व प्राप्त होने जैसे कार्य-व्यापारों के संपन्न होने में निहित होती है। दान के माध्यम से जाति के रुतबे और उसकी शुद्धता का भी संरक्षण होता है। कारण, कुंवारी कन्या का दान केवल अपने 'जाति भाई' को ही दिया जा सकता है।

नोट

चूंकि विवाह का केंद्रीय सरोकार संतानोत्पत्ति से है इसलिए आदर्श विवाह (नियम-आधारित विवाह) से जन्मे संतान व्यवस्था के संरक्षण और पुनरुत्थान का कार्य करते हैं। जातिजन्य असमानता और पुरुष के वंश का अमरत्व विवाह पर निर्भर करते हैं। ऐसी बात नहीं है कि सजातीय विवाह महज व्यवहार के स्तर पर होते हैं बल्कि धर्मशास्त्रों और रामायण तक में इसके पक्ष में प्रतिमान विद्यमान हैं। कंबण रामायण में सूर्पनखा के विवाह प्रस्ताव को ठुकराते हुए राम कहते हैं, 'मैं क्षत्रिय हूं, जबकि तुम ब्राह्मण हो। मैं तुमसे विवाह नहीं कर सकता।' यहां प्रतिलोम-विवाह की स्थिति बनती थी, इसलिए कायदे से राम सूर्पनखा से विवाह नहीं कर सकते थे। वहीं बाल्मीकी रामायण में सीता ब्रह्म-विवाह के तहत राम से ब्याही जाती है। ब्राह्मणवादी आचार-संहिताओं में जिन आठ तरह के विवाहों का जिक्र है उनमें ब्रह्म-विवाह सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

विवाह में वर और वधू के माध्यम से परिवारों के बी संबंध स्थापित होता है। यही वजह है कि आज भी हिंदू विवाह (ईसाइयों और मुसलिमों में होने वाले विवाह भी) अरैंज्ड होते हैं यानी वर और वधू के माता-पिता अथवा बड़े-बुजुर्ग इसे तय करते हैं। ऐसी मान्यता है कि विवाह के माध्यम से परिवार, बिरादरी और समूह का रुतबा बना या बचा रहता है, कमजोर या मजबूत होता है। इसलिए लड़के या लड़की को इसका स्वयं निर्णय लेने के लिए छोड़ना खतरनाक माना जाता है। बड़े-बुजुर्ग उन्हें समझाते हैं कि उनकी खुशी और परिवार की मान-मर्यादा के लिए ही वे सोच-समझकर लोकोचित और शास्त्रोचित चुनाव कर उनका विवाह कर रहे हैं। पारंपरिक विवाह को ही उचित अथवा आदर्श माना जाता रहा है जबकि 'प्रेम-विवाह' को अनुचित, जिसमें निर्णय लेने वाले खुद वे होते हैं जिन्हें विवाह करना है।

सजातीय विवाह पर ही जाति व्यवस्था के टिके होने के कारण इसका उल्लंघन करने वाले के लिए जाति या बिरदरी से बाहर निकालने जैसे सजा का प्रावधान है। दंडित करने का अधिकार विवाह वृत्त के पास रहा है। आरंभ में यह अधिकार विधिसम्मत था लेकिन धीरे-धीरे इसने स्वाभाविक रूप अख्तियार कर लिया। प्रत्येक विवाह वृत्त को अपने सदस्यों पर हदें तय करने का अधिकार प्राप्त है। वैसे तो प्रत्येक विवाह वृत्त का अपना स्वतंत्र नेतृत्व, अपने नियम-कायदे हैं लेकिन वास्तव में इलाके की वर्चस्वशाली जाति की अकसर सभी विवाह-वृत्तों का आंतरिक व्यवहार तय करती रही है। किसी जाति का सामाजिक सम्मान उसके आंतरिक व्यवहार की शुद्धता पर निर्भर करता रहा है। उल्लंघन करने वालों को जाति से बाहर निकाने का दंड देने की अधिकारी इकाई अत्यधिक लैंगिक रही है यानी इसमें महिलाओं की भागीदारी नहीं रही है। इसके जो भी परिणाम हुए उनके बारे में अध्याय नौ में बात की गई है।

### 9.1.3 जाति व्यवस्था और ब्राह्मणवादी पितृसत्ता

इस किताब के नजरिए से सामाजिक रुतबा, आर्थिक उत्पादन और सामाजिक पुनरोत्पदन का समूचा संश्लिष्ट गठन 'ब्राह्मणवादी पितृसत्ता' (जिसे हाल में नारीवादी चिंतन ने रेखांकित किया है) पर टिका हुआ है। कहना न होगा कि यह स्त्री पराधीनता के विभिन्न रूपों में से कोई एक रूप पर नहीं बल्कि हिंदूवाद और जाति आधारित व्यवस्था से आबद्ध खास संरचना है। भारत के अधिकतर भागों में अब तक जड़ जमा चुकी इस अनूठी पितृसत्तात्मक संरचना की अलग पहचान चिह्नित करने के लिए 'ब्राह्मणवादी पितृसत्ता' का प्रयोग उचित है। यह वस्तुतः नियमों और संस्थानां का ऐसा पुंज है जिसमें जाति और लिंग एक दूसरे से गुंथे हुए हैं, वे एक दूसरे का स्वरूप तय करते हैं और जिसमें स्त्री जातियों के बीच का विभाजन बनाए रखने के लिए बतौर साधन इस्तेमाल होती है। इसने ऐसे कायदे बना रखे हैं कि सीमाबद्ध विवाह वृत्तों की पदानुक्रमता का उल्लंघन हुए बिना जाति व्यवस्था का पुनरोत्पादन होता रहे। इसके साथ ही, स्त्रियों के लिए प्रस्तावित ब्राह्मणवादी कायदे जातियों की स्थिति के सापेक्ष हैं यानी जातियों के पदानुक्रम में किसी जाति की जो स्थिति है और उससे उसकी जो हैसियत बनती है उसी के अनुसार उसके स्त्रियों के लिए ब्राह्मणवादी पितृसत्ता ने कायदे निश्चित कर रखे हैं। इसमें स्त्रियों की यौनिकता पर कठोर नियंत्रण का अधिकार ऊंची जातियों के पास है। यह पतिव्रता और साध्वी स्त्रियों का महिमामंडन करता है और नियमों और संस्थाओं के माध्यम से सहमति अथवा दमन के आधार पर जाति की पदानुक्रमता और लिंग-असमानता बनाए रखता

नोट

है। संक्षेप में कहें तो ब्राह्मणवादी पितृसत्ता ब्राह्मणवादी आचार संहिताओं में प्रस्तावित कायदों का स्थूल रूप है जिसे राजा अाि‍वा उसका प्रतिनिधि लादते रहे हैं। इन कायदों ने विशेषकर ऊंची जातियों के धारणा जगत को रूपाकार प्रदान किया जो आज भी उसके आचार और व्यवहार का आधार हैं। निम्न जातियां पदानुक्रम में ऊपर की ओर रुख करने के लिए अकसर इन कायदों का अनुसरण करना शुरूकर देती हैं। इस तरह ऊपर उठने को तत्पर निम्न जातियों की नजरें यह नहीं देख पाईं कि ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के जाति व्यवस्था से आबद्ध होने के कारण ऊंची और निचली जातियों की स्त्रियों के लिए, विवाह और यौनिकता से संबंधित अलग-अलग कायदों का ऊंची जातियों द्वारा निम्न जातियों के श्रम के दोहन से गहरा संबंध है। यह इस बात की भी व्याख्या करता है कि क्यों एक तरफ तो ऊंची जातियों में विधवा-पुनर्विवाह निषिद्ध है और दूसरी तरफ निम्न जातियों की स्त्रियों पर पुनर्विवाह ही नहीं बल्कि जबरन सहवास तक की संभावना खुली रहती है। श्रम दोहन जाति व्यवस्था का प्रमुख और व्यापक तर्काधार है और उसी ने लिंग से संबंधित कायदों को रूपाकार प्रदान किया है ताकि ऊंची जातियों का हित सध सके।

इस तरह, हम पाते हैं कि ब्राह्मणवादी पितृसत्ता भूमि, स्त्री और आनुष्ठानिकता को बरकरार रखने का उपक्रम है। यहां यदि हम भूमि पर काम करने यानी कृषि-कार्य के लिए श्रम की उपलब्धता को सुनिश्चित करने की आवश्यकता का भी खयाल करें तो हमें यह देखने को मिलता है कि प्राचीन भारत मं जाति और पितृसत्ता के लिए न केवल ऊंची जातियों की स्त्रियों की प्रजनन क्षमता पर नियंत्रण जरूरी था, जिसमें भूमि और आनुष्ठानिक शुद्धता सुरक्षित रहते, बल्कि सभी जातियों की स्त्रियों की प्रजनन क्षमता पर नियंत्रण जरूरी था ताकि श्रम की पर्याप्त उपलब्धता सुनिश्चित रहती।

### 9.1.4 स्त्री–जाति व्यवस्था का प्रवेश द्वार

ब्राह्मणवादी पितृसत्ता में ऊंची जातियों की स्त्रियां जाति व्यवस्था का प्रवेश द्वार सी हैं। निम्न जातियों के पुरुषों की यौनिकता को ऊंची जातियों की रक्त शुद्धता के लिए खतरे के रूप में लिया जाता रहा है। यही वजह है कि ऊंची जातियों की स्त्रियों के साथ उनके यौन संबंध की किसी भी तरह की संभावना से बचने के लिए विवाह के जटिल कायदे बनाए गए। इसके साथ ही, ऊंची जातियों की स्त्रियों की कड़ी निगरानी भी जरूरी होती गई। प्रतिलोमिक वर्णसंकर (जातियों के बीच मिश्रण) अथवा हाइपोगेमस संबंध सुगठित समाज व्यवस्था के पतन का प्रतीक माने गए हैं जिसका चरम रूप कलियुग है। ऐसा समय जब परिवार बिखर जाते हैं, लोग रीति रिवाज भूल जाते हैं, स्त्रियां भ्रष्ट हो जाती हैं, निम्न जातियां और स्त्रियां कायदों को ताक पर रखने लगती हैं...इत्यादि।

जाति व्यवस्था और पितृसत्ता से केवल उन मुट्ठी भर पुरुषों को फायदा है जो समाज व्यवस्था में शीर्ष पर स्थित हैं। शेष जो भी इस व्यवस्था में शामिल हैं वे इसके पुनरोत्पादन में बतौर साधन ही इस्तेमाल होते रहे हैं। यही कारण है कि स्त्री यौनिकता पर नियंत्रण और शुद्ध रक्त/वंश के पुनरोत्पादन के प्रति ब्राह्मणवादी पितृसत्ता की मनोग्रस्ति (ऑब्सेशन) से ऊंची हों या निचली, सभी जातियां इस कदर संक्रमित हैं कि कानूनी बदलाव और उदारवादी धारणाएं भी निष्प्रभावी साबित हुईं। इससे बड़ी त्रासदी और क्या हो सकती है कि निम्न जातियां, खासकर उत्तर भारत में, विवाह के साथ-साथ सामान्य तौर पर भी अपनी स्त्रियों की यौनिकता की कड़ी निगरानी करती हैं। इस क्रम में वे असमानता के बायो-जेनेटिक नक्शे या पटल को पुनरोत्पादित करती हैं, बिना इस बात के प्रति चेतस हुए कि यौन संबंधी वे धारणाएं जिन्हें उन्होंने मजबूती से पकड़ रखा है उसी सामाजिक संरचना अथवा समाज व्यवस्था की उपज हैं जो उन्हें अन्य स्तरों पर अथवा अन्य रूपों में शोषित की हुई हैं।

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–**

1. जाति व्यवस्था का ढांचा किस बुनियाद पर खड़ा है–

   (क) सजातीय विवाह (ख) विजातीय विवाह (ग) क और ख दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।

2. स्त्री-विनिमय को दिया गया आनुष्ठानिक रूप है–

   (क) अलगाव (ख) विवाह (ग) क और ख दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।

नोट

3. प्राचीन इतिहास का नारीवादी अध्ययन किसने किया था–

(क) लर्नर (ख) मेगास्थनीज (ग) क और ख दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।

4. वर्ग, जाति और लिंग का आपस में क्या संबंध है–

(क) आपस में गुंथे हुए हैं (ख) आपस में अंतक्रिया करते हैं

(ग) क और ख दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।

## 9.2 पितृसत्ता और महिलाओं का दमन (Patriarchy and the Subordination of Women)

नृशास्त्री नूर यलमान का मत है कि हिंदू समाज व्यवस्था का मूल मंत्र एक सीमाबद्ध संरचना (क्लोज्ड स्ट्रक्चर) खड़ा करना रहा है ताकि जमीन स्त्री और आनुष्ठानिक खासियतें एक दायरें में संरक्षित रहें। ये तीनों आपस में गुंथे हुए हैं और इनका इस रूप में बने रहना स्त्री यौनिकता पर कठोर नियंत्रण के बिना संभव नहीं। स्त्री समूचे ढांचे का धुरी है। जमीन हो अथवा आनुष्ठानिक खासियत (जाति की शुद्धता), स्त्री पर कड़ी निगरानी के बिना इनका संरक्षण कठिन है। जाति व्यवस्था की धारणा के मुताबिक किसी व्यक्ति का रक्त द्विआयामी होता है अर्थात उसकी आनुष्ठानिकता का निर्माण माता और पिता दोनों की तरफ से होता है। इसलिए दोनों का समान जाति से होना चाहिए। इसे मनुस्मृति समेत सभी धर्मशास्त्रों में बार-बार दुहराया गया है। लेकिन यदि माता और पिता अलग-अलग जातियों से हों तो? इस स्थिति से निपटने के लिए वर्णसंकर सिद्धांत गढ़ा गया। अंतरजातीय संबंधों, जिनमें कई जातियों को जन्म देने वाला धिक्कार्य प्रतिलोम भी शामिल है, के लिए गढ़े गए वर्णसंकर सिद्धांत के बावजूद शास्त्रों में इसकी भर्त्सना ही मिलती है। अवज्ञा करने वालों के लिए कठोर सजा के प्रावधान हैं। मिसाल के लिए, निम्न जातियों के पुरुष के लिए मृत्यु की सजा और दोषी स्त्री के लिए अंग-भंग, शारीरिक दंड और जाति से बाहर निकालने की सजा।

### 9.2.1 कलियुग और व्यवस्था के विध्वंश का भय

हिंदू धार्मिक-वैधानिक ग्रंथों में किए गए प्रावधानों से जाति, वर्ग और लिंग का राजसत्ता के साथ गहरे गठजोड़ का पता चलता है। ब्राह्मणवादी मतानुसार समाज की सबसे पतित अवस्था 'कलियुग' (डिस्टोपिया) है जब सब कुछ उलट-पलट जाता है, कारण, स्त्रियां और निम्न जातियां अपनी-अपनी दायित्वों का निर्वाह करना छोड़ देती हैं। जातियों के बीच भयावह मिश्रण होने लगता है। चौथी या पांचवीं सदी में रचित भागवद्गीता में कलियुग को ऐसा समय कहा गया है जब परिवार टूट जाते हैं, कायदे/संस्कार भुला दिए जाते हैं, स्त्रियों चरित्रहीन हो जाती हैं और इन सब गड़बड़ियों के कारण जातियों के बीच घालमेल हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जातियों के बीच के मिश्रण का जो भय मनु के वर्णसंकर में व्याप्त है वह पहली सहस्राब्दी के उत्तरार्द्ध तक विद्यमान रहा।

ब्राह्मणवादी ग्रंथों से यह पता चलता है कि कायदों के पालन संबंधी निर्देश के प्रति जोर डालने के साथ-साथ उनमें विद्रोही स्त्रियों की ताकत अथवा सभी स्त्रियों का कायदों को न मानने की क्षमता को स्वीकार किया गया है। अर्थात स्त्री हिंदू समाज के गठन को तहस-नहस कर सकती है, इसे ब्राह्मणवादी ग्रंथ स्वीकार करते हैं। स्त्रियों में भी खासकर ऊंची जातियों की स्त्रियां 'नैतिक संत्रास' (मोरल पैनिक)' की पात्र मानी गई हैं। यही कारण है कि स्त्रियों की यौनिकता को शास्त्रों में संस्थानीकृत कर दिया गया यानी कायदों के तहत बांध सा दिया गया और राजसत्ता/राजा इसे लागू करने की ओर अग्रसर हुए। जैसा कि मैसोपोटामिया के संदर्भ में गर्डा लर्नर ने दिखाया है, वहां की व्यवस्था में स्त्रियों की सहभागिता सुनिश्चित करने के लिए विचारधाराख परिवार के पुरुष मुखियाा पर उनकी निर्भरता, वर्गजन्य विशेषाधिकार और अनुशासन में रहने वाली स्त्रियों का महिमामंडन और अंतत: बलप्रयोग जैसे हथकंडे अपनाए गए।

तो हम पाते हैं कि ऊंची जातियों के पुरुषों के मान-सम्मान की संरक्षक मानी जाने वाली स्त्रियों की निगरानी और उनकी यौनिकता का कठोर नियंत्रण जरूरी था। ऊंची जातियों की स्त्रियां जाति व्यवस्था का गेट-वे (प्रवेश-द्वार)

नोट

मानी गई हैं। ऊंची जाति की शुद्धता के लिए निम्न जाति के पुरुषों की यौनिकता एक बड़ा खतरा थी, इसलिए ऐसे कायदे बनाए गए जो ऐसे पुरुषों का ऊंची जातियों की स्त्रियों से किसी भी तरह के संपर्क की संभावना खतम कर दे। नूर यलमान के फील्ड-आधारित शोध से मिली सूचनाओं से ज्ञात होता है कि प्रतिलोम संबंधों के मामलों में जाति-निष्कासन और आनुष्ठानिक तौर पर मृत करने के साथ साथ मां और बच्चे को डुबोने जैसी सजाओं का चलन हाल तक कायम था। ऐसी स्थिति उत्पन्न ही न हो इसके लिए जहां एक तरफ पतिव्रता और स्त्री धर्म जैसी मजबूत धारणाओं के माध्यम से ऊंची जाति की स्त्रियों की व्यवस्था के प्रति सहमति और सक्रिय सहयोग हासिल किए गए वहीं दूसरी तरपु उल्लंघन वालों के लिए राजसत्ता/राजा और सगे-संबंधी (पुरुष) द्वारा हिंसा/दमनात्मक कार्रवाई करने की राह भी खुली रखी गई।[5]

### 9.2.2 स्त्री यौनिकता का नियंत्रण

हमने स्तरीकरण के उदय और स्त्री की जनन क्षमता पर एक तरफ राजा की ओर से और दूसरी तरफ घर-परिवार की ओर से लगाम कसे जाने के प्रयास की बानगी का साक्षात्कार किया। यहां हम स्त्री की यौनिकता पर नियंत्रण के उपक्रमों पर विचार करेंगे। ईसा पूर्व आठवीं से पांचवीं सदी के दरम्यान कृषि आधारित अर्थव्यवस्था और शहरीकरण के दूसरे चरण के आविर्भाव के साथ वर्ग विभाजन और जाति आधारित पदानुक्रम स्थापित करने के प्रयास (हालांकि कमजोर) दिखाई देते हैं। विचार और आचार (कर्मकांड) के स्तर पर झंडाबदारी का जिम्मा ब्राह्मणों को सौंपर गया जिसका वे दावा भी करते आ रहे थे। हालांकि उन्हें कुछ तबकों की तरफ से चुनौतियां मिल रही थीं। जन्म आधारित पदानुक्रम की व्यवस्था तो शुरू नहीं हो पाई थी लेकिन पितृवंशीय उत्तराधिकारता और भूमि पर निजी हक की रीतियां वजूद में आ चुकी थीं।

उत्तर-वैदिक काल में कबीला/नातेदारी आधारित समाज व्यवस्था के ढहने और (खासकर) भूमि और राजगद्दी पर पितृवंशीय निजी उत्तराधिकारता के वजूद में आने का मतलब था कुछ खास श्रेणी की स्त्रियों के यौन-व्यवहारों पर न केवल नियंत्रण बल्कि कड़ी निगरानी भी। इन स्त्रियों में भी, खासकर विवाहिताओं पर पुरुषों के नियंत्रण को जरूरी समझा गया।

*क्या आप जानते हैं* अपस्थंब धर्मसूत्र जिसकी अवधि ईसा पूर्व पांचवीं से तीसरी सदी है, में इस बात का स्पष्ट जिक्र है कि पति अपने पत्नी के पास किसी भी पराए पुरुष को न फटकने दे, इससे पत्नी में पर-पुरुष के 'बीज' के प्रवेश का खतरा रहता है।

पितृवंशीय उत्तराधिकारिता और निजी संपत्ति की व्यवस्था का उदय वह पृष्ठभूमि थी जिसमें मातृत्व और स्त्री यौनिकता के बीच स्पष्ट भेद बरतने की जरूरत उत्पन्न हुई। पितृवंशीय उत्तराधिकारिता को सुनिश्चित करने के लिए स्त्री यौनिकता को इस तरह से बांधे जाने की जरूरत आ पड़ी  कि वह व्यवस्था द्वारा मान्य मातृत्व मात्र की होकर रह जाए। इसके लिए जरूरी था कि स्त्री केवल एक पुरुष से ही यौन संबंध कायम करे यानी वह किसी एक पुरुष की होकर रह जाए। जब जाति व्यवस्था सुदृढ़ रूप लेने लगी तो जाति की शुद्धता के बने और बचे रहने के लिए ऐसे पुरुष का स्त्री की ही जाति से होना भी जरूरी हो गया। इतना ही नहीं, मातृत्व का महिमामंडन कर उसे आनुष्ठानिक बना दिया गया। विवाह, गर्भाधान, पुत्र जनन जैसे कई अनुष्ठानों की बात की गई। इसका विस्तृत विश्लेषण सुकुमारी भट्टाचार्य ने किया है। मां के रूप में स्त्री पूज्य मानी गई। मनु के शब्दों में, 'स्त्रियां' खासकर प्रजनन के लिए ही बनाई गईं, वे पूजनीय हैं, घर की रोशनी हैं। पत्नीत्व से वैध मातृत्व के संक्रमण के लिए स्त्री की यौनिकता को व्यवस्थित करना जरूरी हो गया। इसलिए हमारे लिए जिस बात का पता करना महत्वपूर्ण हो जाता है वह यह कि स्त्री की यौनिकता की व्यवस्था किनके हाथों में थी? इसके साथ ही, यह भी कि उसमें खुद स्त्री की सहभागिता थी अथवा नहीं?

नोट

यह भी वह सामान्य पृष्ठभूमि जिसमें स्त्री का मूल चरित्र अथवा स्वभाव उसकी यौनिकता के रंग में इस तरह रंगता गया कि दोनों एक दूसरे के पर्याय हो गए। जबकि जरूरी नहीं कि ऐसा हमेशा से रहा हो। मोटे तौर पर स्त्री के 'अंतर्जात' स्वभाव को पापमय माना गया। *महाभारत* के मुताबिक जब पांच मूल तत्वों के मेल से स्रष्टा ने स्त्री और पुरुष को रचा तब से ही यानी अपने रचे जाने के समय से स्त्री पापमय रही है। उसे रचते समय आदि मनु ने उसमें झूठ बोलने, समय बर्बाद करने, गहनों के प्रति अत्यधिक मोह, क्रोध, नीचता और छल, और बुरे आचरण की प्रवृत्ति डाल दी। *शतपथ ब्राह्मण* में स्त्री, शूद्र और कौआ झूठ, पाप और अंधेरे का मूर्त रूप माने गए हैं। यहाँ तक कि *रामायण* में भी अधिकांश स्त्री को कमजोर और पापिन माना गया है। इसमें कौशल्या ने स्त्री को अच्छे परिवार, अच्छे कर्म, और बुद्धिमता के प्रति गंभीरता न बरतने वाली और चंचल चित्तधारी कहा है। वहीं, ऋषि अगस्त्य कहते हैं कि सृष्टि के आरंभ से ही स्त्री का यह स्वभाव रहा है कि वह किसी पुरुष से तभी चिपकती है जब वह समृद्धि और खुशहाली की स्थिति में हो, उसके गर्दिश के दिन शुरू होते ही वह उसे छोड़ उड़ जाती है। स्त्री की चंचल वृत्ति की उपमा बिजली के चमकने से दी गई। मनु के 18वीं सदी के एक ब्राह्मण टीकाकार के मुताबिक, स्त्री की 'अशुद्धता' का एक कारण उसका 'ब्रह्महत्या' का दोषी होना है जो इंद्र ने विश्वरूप को मारने के बाद उसके मत्थे मढ़ दिया था। इस मिथक की मानें तो मासिक स्राव, जो कि स्त्री की अंतर्जात अशुद्धता और यौनिकता का प्रतिक है, का संबंध उसका ब्रह्महत्या में शरीक होने से है।

स्त्री की चंचल वृत्ति उसकी अतिरिक्त और अनियंत्रित यौनिकता को व्यवस्थित करने के लिहाज से ध्यानतलब है। उसे राजा और वनलता के समान माना गया है जो उन सबको अपने आगोश में ले लेते हैं जो उनके आसपास होते हैं। उसे स्वभाव से ही व्यभिचारिणी और अतिलोलुप में उसे 'नए-नए चरागाह खोजते गाय की भांति नए-नए पुरुष खोजने वाली के रूप में चित्रित किया गया है।) माना गया है। स्त्री की मूल प्रकृति का उसकी यौनिकता में निहित होने की धारणा का सबसे स्पष्ट और सीधा प्रतिपादन मनु ने किया है, जिसे ब्राह्मण आचार-नियंताओं में सर्वाधिक व्यवस्थिति सिद्धांतकार माना जाता है। मनु ने स्त्री पर दिन-रात नजर रखे जाने की वकालत की है, चाहे वह कम उम्र की हो या ज्यादा उम्र की। स्त्रियों में सबसे ज्यादा महत्ता उसने स्त्री के पत्नी-रूप को दिया है जिसकी निगरानी अथवा जिस पर नियंत्रण रखकर पुरुष अपने परिवार, अपने वंश और अपनी आने वाली पीढ़ी की शुद्धता का संरक्षण करता है। मनु का कहना है कि पत्नी के गर्भवती होने पर पति यानी पुरुष भ्रूण का रूप ले लेता है और इस तरह वह उससे पुनः जन्म लेता है। मनु के शब्दों में,

स्त्री न तो सुंदरता का खयाल करती है और न ही उम्र का। जिसे वह खुद को सौंपती है उसका पुरुष मात्र होना ही उसके लिए पर्याप्त है चाहे वह पुरुष कुरूप हो अथवा सुरूप।

पुरुष के लिए अपनी अत्यधिक चाहत और स्वभावतः सहवाासातुर और हृदयहीन होने के वजह से वह अपने पति के प्रति वफादार नहीं रह पाती, चाहे कितनी ही सावधानी से उसे काबू में रखने का यत्न क्यों न किया जाए।

स्त्री की इस अंतर्जात चंचलवृत्ति से निपटने के लिए मनु यह उपाय सुझाता है–

सृष्टिकर्ता ने उसे रचते समय ही प्रजनन-क्षमता से लैस कर दिया, इसकी कठोर निगरानी हरेक पुरुष का परम दायित्व है।

समाज व्यवस्था की निरंतरता और पुत्रोत्पत्ति के माध्यम से पुरुष का अमरत्व प्राप्त कर पाने की स्थिति में आने के लिहाज से समूची व्यवस्था में स्त्री की महत्वपूर्ण स्थिति और भूमिका को मनु ने स्पष्ट व्यक्त किया है–

बच्चे को जनने, उसके पालन-पोषण और अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन संबंधी बातों के साथ-साथ धार्मिक संस्कारों के निष्पादन, पूवर्जो और खुद के लिए दैवी कृपा के मामलों में पुरुष पत्नी पर आश्रित है।

*लब्बोलुआब* यह कि सामाजिक और नैतिक व्यवस्था की निरंतरता के लिए स्त्री पर निर्भरता को देखते हुए ही स्त्री की यौनिकता की 'समस्या' से निपटने की स्थिति उत्पन्न हुई। संबंधों की नई संरचना में दोयम स्थिति पर होने के बावजूद प्रजनन क्षमता पर स्त्री का वश था। इससे निपटने का एक रास्ता यह निकाला गया कि स्त्री की इस क्षमता यानी स्त्री के अंतर्जात स्वभाव को बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जाए और साथ ही उसे खतरनाक अथवा भयकारी

नोट

घोषित किया जाए। इसका मिसाल प्राचीन भारत में रचे गए आचार और आख्यान दोनों ही संहिताएं हैं। महाभारत में अष्टावक्र को हम यह कहते पाते हैं कि स्त्री के लिए 'सेक्स' से बढ़कर आनंद अथवा 'विनाशकरी आवेग' और कुछ नहीं; उम्रदराज स्त्रियाँ भी यौनावेग ग्रस्त रहती हैं; तीनों लोकों में स्त्री की यौनेच्छा की तृप्ति संभव नहीं।

### 9.2.3 स्त्री स्वभाव और स्त्रीधर्म : प्रजनन/पुनरोत्पादन की संरचनाओं को कायम रखने में विचारधारा की स्थिति

अन्य पराधीन समूहों और स्त्री के बीच एक महत्त्वपूर्ण भेद उसके स्वभाव और उसके धर्म (कर्तव्य) के बीच तादात्म्य का न होना था। निम्न जातियों के लिए ब्राह्मण विधि निर्माताओं ने जो आचार व्यवहार तय कर रखा था वह उनके स्वभाव के प्रतिकूल नहीं ठहरता था। जबकि एक यौनिक अथवा जैविक प्राणी के रूप में स्त्री का जो स्वभाव था वह उसके लिए निर्धारित आचार व्यवहार यानी स्त्रीधर्म के प्रतिकूल ठहरता था। स्त्रीधर्म का तात्पर्य है पतिव्रता बने रहना। लेकिन स्त्री स्वभाव उसे सदैव धर्मच्युत होने के लिए उकसाता रहता है। गौरतलब है, कुछ मिथकों में तो इसका स्पष्ट बखान मिलता है कि 'पाशव' स्वभाव पक्ष उसे मां की तरफ से मिलता है जबकि धर्म पक्ष पिता की तरफ से। स्त्री की यौनिकता काबू में रखने और उसे पाशव और बेलगाम अवस्था से संस्कृति के व्यवस्थित दायरे में लाने के लिए स्त्रीधर्म जरूरी था। ऐसे मिथक संदर्भ यह संकेत करते प्रतीत होते हैं कि प्रागौतिहासिक समाजों में स्त्रियों की प्रजनक शक्ति के प्रति विद्यमान रहे नि:शंक रुख पर उस व्यवस्था का रंग चढ़ गया जिसमें स्त्री यौनिकता पर कड़े नियंत्रण की जरूरत थी। स्त्री के प्राणित्व के अनिवार्य और स्वाभाविक हिस्से के रूप में देखी जाने वाली उसकी यौनिकता और मातृत्व शक्ति पर वर्ग/जाति आधारित उदीयमान समाजों में वर्चस्व प्राप्त तबके के पुरुषों द्वारा गठित की जा रही नई सामाजिक-राजनीतिक संरचनाओं के हित-पोषण के लिए पुरुष-तंत्र का नियंत्रण जरूरी था।

*टास्क* वर्तमान समाजिक संरचना को ध्यान में रखते हुए आप किस प्रकार के विवाह को समर्थन देना पसंद करेंगे?

इस अवस्था में स्त्री परीधीनता अनिवार्य थी। कारण, तभी स्त्री यौनिकता पर नियंत्रण का उपक्रम वस्तुत: प्रभावी हो पाता। स्त्रियों को उत्पादन के स्त्रोतों से अनधिकृत करके न केवल आर्थिक स्तर पर बल्कि उसे कायदों के दायरे में लाकर पुरुषों के अधीन कर दिया गया। वस्तुत: *प्रजनक* और उत्पादक दोनों ही के रूप में स्त्रियां खुद पुरुषों की संपत्ति बन गईं। प्रमुख घरेलू कर्मकांडों के निष्पादन के स्तर पर भी वे स्वायत्त नहीं थीं, वे कर्मकांडों का हिस्सा होती थीं लेकिन खुद के लिए अथवा खुद से वे इनका आयोजन नहीं कर सकती थीं। यदि कहीं उनकी खुदी थी भी तो व्रतों में। लेकिन व्रत भी अपने लिए नहीं बल्कि पति, बेटे अथवा भाई के लिए।

स्त्रियों पर नियंत्रण की व्यवस्था के तीन उपक्रम अथवा स्तर थे–पहला, विचारधारा; दूसरा, स्त्रियों को उनके नाते-रिश्ते में आने वाले पुरुषों के नियंत्रण में रखकर; और तीसरा, अनुशासन और तय किए गए कायदों के दायरे को लांघने का दु:साहस करने वाली स्त्री को दंडित करने के राजाधिकार के स्तर पर । विचाराधारा के स्तर पर स्त्रियों पर नियंत्रण के लिए उन्हें स्त्रीधर्म अथवा पतिव्रत धर्म की दीक्षा दी जाती थी। स्त्रियां पत्नी के लिए निर्धारित किए गए आचार व्यवहार आत्मसात करती थीं ताकि वे समाज के ठेकेदारों द्वारा स्थापित पतिव्रता के आदर्श की कसौटी पर खरी उतर सकें। हिंदू समाज में ऊंची जातियों में पतृसत्तात्मक वर्ग जाति संरचना की आचार संहिता रचने का कार्य ब्राह्मणों के जिम्मे था।

किसी भी व्यवस्था की मजबूती का सूचक उसके विचारधारा की सूक्ष्म-स्तरीय व्यापकता है। इस लिहाज से ब्राह्मणवादी पितृसत्ता को सफल और मजबूत कहा जा सकता है। कारण, स्त्रियों के लिए इसने पतिव्रता की जो धारणा

नोट

गढ़ी वह उनके दिलोदिमाग में काफी गहरी पैठ बनाने में कामयाब रही। स्त्रियों का अपनी यौनिकता का खुद ही नियंत्रण कर अथवा पतिव्रत धर्म निबाह कर सम्मानित और गौरवान्वित महसूस करने का मिसाल शायद ही किसी अन्य पितृसत्ता में देखने को मिले। पतिवर्तन की धारणा ने न केवल ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के स्त्रियों की यौनिकता पर नियंत्रण की पर्दापोशी की बल्कि स्त्रियों की ही सक्रिय भागीदारी के माध्यम से असमान और पदानुक्रमित संरचना के आसान पुनरुत्पादन को भी संभव किया। इस तरह, स्त्री की यौनिकता पर नियंत्रण के उपक्रम और स्त्री की पराधीनता ने एक विचारधारा के रंग में रंगकर 'स्वाभाविक' का रूप अख्तियार कर लिया।

हम पहले भी इस बात का जिक्र कर चुके हैं कि मनु और उसके बाद के नीतिकारों ने स्त्री को आदिम और बेलगाम स्वभाव के ऐसे जीव के रूप में देखा जो स्त्रीधर्म (पतिव्रत धर्म) निभाकर सभ्य और सामाजिक हो सकती थी। ब्राह्मणवादी ग्रंथों और मिथकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री को सामाजिक और सभ्य बनाने की परियोजना तब पूर्ण हो गई जब उसने अपनी दोयम स्थिति न केवल स्वीकार कर ली बल्कि उसे विशिष्टता अथवा उपलब्धि का प्रतीक भी मानना शुरू कर दिया।

पतिव्रता के आदर्श की रचना में मिथकों की बड़ी भूमिका रही है। स्त्रियों पर नियंत्रण (बचपन में पिता, पत्नी के रूप में पति और विधवा के रूप में पुत्र का) के बाबत मनु जैसे आचार *नियंताओं* ने जहां सीधे शब्दों में निर्देश दिया है वहीं मिथक यह कार्य अत्यंत ही सूक्ष्म स्तर पर करते हैं। स्त्रीत्व और पुरुषत्व का आदर्श गढ़ने के स्तर पर रामायण सर्वाधिक व्यवस्थित आचार संहित है। हालांकि इसमें भातृत्व और पुत्रत्व के भी आदर्श हैं लेकिन जो आदर्श सबसे मजबूत और दीर्घजीवी साबित हुआ वह है कष्ट सहती, धैर्यवान, पति के प्रति समर्पित सीता के रूप में पत्नीत्व का

आदर्श। पति की पूजा करने वाली स्त्री की शुचिता को 'बाह्य' को छोड़कर और कोई खतरा नहीं रहता। उसमें भी उसका स्त्रीधर्म उसके लिए ढाल का काम करता है। सीता पर जब उसका पति राम शक जाहिर करता है तब वह अग्निपरीक्षा देती है। अग्नि में प्रवेश करने के बाद किसी क्षति के उसका बाहर निकलना उसके पतिव्रता होने का प्रमाण है। इसके उपरांत राम उसे अपना लेता है। गौरतलब है, राम सरेआम घोषण करता है कि सीता अपनी शुचिता (पति मात्र के प्रति समर्पण) की वजह से सुरक्षित रही। जिस तरह साहिल मझधार के वश में नहीं आता उसी तरह सीता भी रावण के वश में नहीं आई और इसका कारण था उसका पतिव्रता होना। राम को हम यह घोषणा करते पाते हैं कि सीता बूदाग और तीनों लोकों में सबसे पवित्र स्त्री है।

सीता के अलावा पत्नीत्व के अन्य और भी शक्तिशाली आदर्श गढ़े गए। अरुधती, सावित्री और अनुसूइया इसी श्रेणी में आती हैं। अरुंधती के सतीत्व की ताकत से सूर्य ठहर गया, सावित्री ने मृत्युदेव यम के हलक से अपने पति को निकाल लिया और अनुसूइया ने कामांध पुरुषों को बच्चा बना दिया।

ऐसा नहीं है कि मिथक केवल आदर्शों की ही बात करते हैं। उनमें हमें पतिव्रत धर्म का निर्वाह न कर पाने वाली स्त्रियों के साथ किए जाने सलूकों के भी जिक्र मिलते हैं। उदाहरण के लिए रेनुका। ऋषि जमदाग्नि की पत्नी रेनुका अपने सतीत्व के बल पर कच्ची गीली मिट्टी से कटोरी काढ़कर उसमें पति के लिए जल ला सकती थी। लेकिन एक दिन अपने ऊपर से उड़कर जा रहे गंधर्व के प्रतिबिंब को देख जैसे ही उसने मन ही मन यह खयाल किया 'कितना सुंदर है' उसकी सतीत्वजन्य चामत्कारिक शक्ति विलीन हो गई और वह पति के लिए जल नहीं ला सकी। क्रुद्ध पति ने अपने पुत्र परशुराम से मां का सिर काटने का आदेश दिया जिसे आज्ञाकारी पुत्र ने बेहिचक पूरा किया। स्त्री जब तक पतिव्रता है तब तक वह बिना किसी बाहरी दबाव के आत्म संयमित रहती है। विपथित होने की स्थिति में पति अथवा बिरादरी अन्य पुरुष उसे पटरी पर लाने के लिए दमनात्मक रास्ता अपना सकते हैं।

बौद्ध जातक कहानियों जैसे लोकप्रिय साहित्य में भी स्त्रियों को काबू में रखने के लिए बलप्रयोग की सामाजिक स्वीकृति के अनेक जिक्र मिलते हैं। ब्राह्मणवादी ग्रंथों में आत्मानुशासित स्त्रियों को श्रेयस्कर कहा गया है। लीक से डिगने वाली स्त्रियों के लिए परंपरा और कायदों के शिकंजे की मजबूत किलेबंदी को ये जरूरी बताते हैं। मनु का कहना है कि स्त्रियों पर हर वक्त परिवार के पुरुषों की निगाह के साथ-साथ उन्हें आश्रित की स्थिति में बनाए रखना जरूरी है। कारण, यदि उन पर नजर न रखी जाए तो वे मायके और ससुराल दोनों की ही बर्बादी का सबब हो सकती हैं।

नोट

निगरानी की इस जिम्मेदारी के लिए पुरुषों में भी यदि किसी को खास तौर पर चिह्नित किया गया है तो वह है पति। कारण, स्त्री यदि विपथित हो जाए यानी पति मात्र के प्रति समर्पण के धर्म से डिग जाए तो बर्बादी की सबसे बड़ी और पहली गाज पति पर ही गिरेगी। इसलिए मनु ने सभी जातियों को संबोधित करते हुए कहा कि कमजोर से कमजोर पुरुष को भी अपनी पत्नी की निगरानी के दायित्व से नहीं चूकना चाहिए। समुदाय/बिरादरी के पुरुषों को अनुशासन तोड़ने अथवा लीक पर न चलने की दोषी स्त्री पर दमनात्मक कार्रवाई करने का अधिकार प्रदान कर स्त्री यौनिकता पर नियंत्रण की दूसरी दीवार खड़ी की गई। पति अथवा परिवार के अन्य पुरुष यदि पहली दीवार थे तो बिरादरी के पुरुष दूसरी।

लेकिन किसी कारणवश यदि स्त्री इन दोनों ही दीवारों को लांघ दे तब? दूसरे शब्दों में, यदि पति अथवा बिरादरी उसे अनुशासित रख पाने में सफल न हो पाएं तब? ऐसी स्थिति से निबटने के लिए तीसरी दीवार राजा (राज्य) के स्तर पर खड़ी की गई। पितृसत्तात्मक कायदों के उल्लंघन की दोषी पत्नी को अंततः राजा सजा दे सकता था। प्राचीन भारत के पितृसत्तात्मक राज्य ने यदि चोरी के अलावा किसी दूसरे अपराध को बड़े अपराधों की श्रेणी में रख रखा था तो वह था परपुरुषगमन (एडलट्री)। परपुरुषगमन को पुरुष, उसमें भी खासकर पति को एक मूल्यवान संसाधन के साथ छेड़खानी के रूप में लिया जाता था। जिन दिनों राज्य की उत्पत्ति नहीं हुई थी यानी जब समाज एक सुसंगठित सत्ता संरचना की उत्पत्ति से पूर्व की अवस्था में था उन दिनों भी कुल अथवा समुदाय को 'दोषी' पत्नी को दंड देने (जिसमें मृत्यु की सजा भी शामिल थी) का अधिकार प्राप्त था। पितृसत्तात्मक कायदों के कार्य करने में 'हिंसा' के अंतर्निहित होने के प्रमाण हमें प्राचीन समय से ही मिलने लगते हैं। स्त्री के 'आवेगों' पर हिंसा के प्रयोग अथवा इसकी धमकी से लगाम लगाए रखा जा सकता था। इसके लिए अर्थशास्त्र में सद्गुणों को पनपाए जाने की बात की गई है। आचार संहिताएं शारीरिक दंड को विनियमि करने के साथ-साथ उनकी संस्तुति भी करती हैं। सबसे आदर्श संहिता रामायण में हम सूर्पनखा का राम के प्रति यौनाकर्षित होने की परिणति लक्ष्मण द्वारा उसके नाक काटने की घटना में होते हैं। नाक का कटना वस्तुतः यौनांग-विच्छेद का रूपक है। अखबार में छपने वाली खबरें इसके आज भी विद्यमान होने की गवाही देती हैं।

जाति आधारित समाज में परपुरुषगमन के वे मामले अत्यधिक निंद्य नजर से देखे जाते हैं जिनमें स्त्री ऊंची जाति की होती है और पुरुष निम्न जाति का। स्त्री की पवित्रता पर ही जाति की श्रेष्ठता और इसलिए वर्तमान और भविष्य की समाज व्यवस्था टिकी होती है। आरंभिक राज्य एक साथ वर्गपरक/जातिपरक और पितृसत्तात्मक थे। दूसरे शब्दों में, जाति, वर्ग, राज्य और पितृसत्ता के बीच मजबूत गठबंधन था।

सार यही कि आरंभिक भारत में लिंग और जाति के वर्चस्वशाली प्रतिमान गढ़ने वाले सामाजिक संबंधों की संरचना की स्त्रियों की सहभागिता से ही दृढ़ीकरण और पुनरुत्पादन हो सका। जैसा कि हमने ऊपर पाया, यह सहभागिता सहमति और दमन दोनों के ही युग्म पर आधारित थी। आचार-साहित्य में सुझाए गए विस्तृत कायदे और आख्यान-साहित्य के विवरण इस बात का प्रमाण है कि ब्राह्मणवादी विचारधारा 'ब्राह्मणवादी पितृसत्ता' के प्रति स्त्रियों की वास्तविक रजामंदी प्राप्त करने में असफल रही और इसलिए दमनात्मक रास्ते अपनाने पड़े। लेकिन जाति व्यवस्था के मूल्य ऊंची जातियों के स्त्री-पुरुष दोनों द्वारा 'स्वीकार' किए गए। जाति व्यवस्था को अपने लिए स्त्री की सहमति प्राप्त करने हेतु उसे जातिजन्य सुविधाओं की आंशिक हिस्सेदारी देने के अलावा और कुछ नहीं करना पड़ा। जबकि इस हिस्सेदारी में उसकी यौनिकता पर कठोर नियंत्रण और इस कारण उसमें उसकी पराधीनता अंतर्निहित थी। कहने का मतलब यह कि ऊंची जाति की स्त्री जाति-प्रदत्त सुविधाओं और विशेषाधिकारों के प्रलोभन में ऐसी अंधी हो गई कि उसे अपनी स्वायत्तता पर कसी जा रही नकेल नहीं दिखी। स्त्री द्वारा जाति व्यवस्था की विचारधारा के अपनाए जाने का उदाहरण हम जातक कथा में भी पाते हैं जिसमें ऊंची जाति की दो लड़कियां 'निम्न जाति के अस्पृश्य' पुरुष के दर्शन हो जाने की वजह से अपने नेत्र-प्रक्षालन के लिए दौड़ पड़ती हैं। आरंभिक आचार संहिताओं में स्त्री यौनिकता की निगरानी को लेकर व्यक्त की गई चिंताएं एक हद के बाद तब फिजूल हो गईं जब स्त्रियासें ने उस वृहत्तर व्यवस्था को पूर्णतः अंगीकार कर लिया जिसने उनके साथ-साथ अन्य बहुतों स्त्री-पुरुष को भी पराधीनता की स्थिति में ला दिया। हालांकि स्त्रियों की यौनिकता पर व्यवहारतः कभी भी पूर्ण नियंत्रण नहीं प्राप्त किया जा

नोट

सका लेकिन आचार और विचार के स्तर पर ब्राह्मणवादी पितृसत्ता की सैद्धांतिक स्थापनाएं अपनी पैठ बनाने में कामयाब रहीं। मंडल विरोधी प्रदर्शन में शरीक स्त्रियों/लड़कियों की हस्त-पट्टिकाओं पर लिखी इबारतें चीख-चीख कर इसका प्रमाण दे रही थीं।

जैसा कि पहले भी इंगित किया जा चुका है कि जाति व्यवस्था धीमे-धीमे और विविध ढंग से कई क्षेत्रों की ओर प्रसारित हुई। प्रत्येक क्षेत्र की स्थानीय और पारिस्थितीय खासियतों, जनसंख्या की प्रकृति और उत्पादन के साधनों ने मिलकर वहां के जाति व्यवहारों का स्वरूप तय किया। जाति व्यवहारों की बहुलता/विविधता का यही कारण है। 'भारतीय' समाज की तथाकथित 'अनेकता में एकता' अथवा उसके 'लचीलेपन की जड़ में वस्तुत: स्थानीय संस्कृतियों की शेष रह गई मौलिकताएं हैं जिन्होंने प्रसरित हो रही बड़ी सामाजिक ताकतों की रौ में बहने से खुद को बचा लिया। इसके बावजूद जाति व्यवस्था की मुख्य खासियतें और लिंग संबंधों, खासकर सजातीय विवाह से इसका संबंध और इसके साथ ही साथ पेशा, श्रम और संसाधनों पर स्वामित्व के जुड़ाव वाली संरचना नए क्षेत्रों में फैलती गई। धीरे-धीरे सदियों सफर करने क्रम में जाति व्यवस्था इस महाद्वीप के सामाजिक संबंधों का रीढ़ बन गई।

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**2. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)-**

1. ..... की धारणा के मुताबिक किसी व्यक्ति का रक्त द्विआयामी होता है।
2. ब्राह्मणवादी मतानुसार समाज की सबसे पतित अवस्था ..... है।
3. ..... के अनुसार, स्त्रियां खासकर प्रजनन के लिए बनाई गई हैं, वे पूजनीय हैं, घर की रोशनी हैं।
4. ..... का तात्पर्य है पतिव्रता बने रहना।
5. पति की पूजा करने वाली स्त्री की ..... को बाह्य को छोड़कर और कोई खतरा नहीं रहता।
6. जाति आधारित समाज में ..... के वे मामलें अत्यधिक निंद्य नजर से देखे जाते हैं।

## 9.3 सारांश (Summary)

- जहां तक वर्ग और लिंग के संबंध की बात है तो उस पर भारतीय विद्वानों के साथ-साथ बाहर के विद्वानों ने भी विचार किया है लेकिन जाति ओर लिंग के बीच के संबंध के विवेचन की जिम्मेदारी, स्वभावत: हम पर रही है। गर्डा लर्नर द्वारा वर्ग और लिंग के बीच के संबंध पर किया गया कार्य, उसमें भी खासकर आरंभिक मैसोपोटामिया में स्त्री यौनिकता पर नियंत्रण का स्त्री पराधीनता के केंद्रीय पक्ष के रूप में चिह्नांकन, लिंग-स्तरीकरण के अध्ययन के लिहाज से मार्गदर्शक और महत्वपूर्ण है।
- वर्ग, जाति और लिंग तीनों आपस में गुंथे हुए हैं; ये आपस में अंतर्क्रिया करते हुए एक दूसरे का रूप निर्धारित करते हैं–विवाह के रूप, यौनिकता और प्रजनन जाति व्यवस्था का मूलभूत आधार हैं। विवाह-संस्था वर्ग और जाति दोनों ही आधारित स्तरीकरणों और प्रजनन संबंधी कठोर कायदों के माध्यम से समूचे तंत्र का पुनरोत्पादन करती है।
- जाति और लिंग आधारित स्तरीकरणों की निरंतरता के बने रहने में सजातीय विवाह की भूमिका औजार की है। समाजशास्त्रियों ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि किसी जाति की पहचान शेष अन्य जातियों से उसकी भिन्नता से तय होती है। इसके लिए जरूरी है कि जातियां जुदा रहें, जिसे सजातीय विवाह संभव करता है। सजातीय विवाह खास उत्पादन संबंधों के प्रसार को संभव करने के साथ-साथ जाति व्यवस्था को इस हद तक लचीलापन प्रदान करता है।
- भारत में अरैंज्ड अथवा पारंपरिक विवाह को ही समुचित विवाह माना जाता है। सजातीय विवाह, जिस पर जाति व्यवस्था का ढांचा टिका है, की रीति की निरंतरता विवाह के इसी रूप पर आधारित है। इस तरह के एक उचित विवाह के लिए वर और वधू का एक ही जाति/उपजाति लेकिन भिन्न गोत्र (विवाह वृत्त) से होना जरूरी है।

नोट

- विवाह का प्राथमिक उद्देश्य पुरुष के वंश की निरंतरता बनाए रखना है। इसके लिए किसी दूसरे वंश की लड़की को लाने की जरूरत पड़ती है। लड़की के लेन-देन को कर्मकांड के रूप में इस भांति महिमांडित किया गया है कि ऊंची जातियों में लड़की के देने यानी कन्यादानको सबसे बड़ा दान माना जाता है।
- स्त्री पराधीनता के विभिन्न रूपों में से कोई एक रूप पर नहीं बल्कि हिंदूवाद और जाति आधारित व्यवस्था से आबद्ध खास संरचना है। भारत के अधिकतर भागों में अब तक जड़ जमा चुकी इस अनूठी पितृसत्तात्मक संरचना की अलग पहचान चिह्नित करने के लिए 'ब्राह्मणवादी पितृसत्ता' का प्रयोग उचित है।
- ब्राह्मणवादी पितृसत्ता भूमि, स्त्री और आनुष्ठानिकता को बरकरार रखने का उपक्रम है। यहां यदि हम भूमि पर काम करने यानी कृषि-कार्य के लिए श्रम की उपलब्धता को सुनिश्चित करने की आवश्यकता का भी खयाल करें तो हमें यह देखने को मिलता है कि प्राचीन भारत मं जाति और पितृसत्ता के लिए न केवल ऊंची जातियों की स्त्रियों की प्रजनन क्षमता पर नियंत्रण जरूरी था, जिसमें भूमि और आनुष्ठानिक शुद्धता सुरक्षित रहते, बल्कि सभी जातियों की स्त्रियों की प्रजनन क्षमता पर नियंत्रण जरूरी था ताकि श्रम की पर्याप्त उपलब्धता सुनिश्चित रहती।
- ब्राह्मणवादी पितृसत्ता में ऊंची जातियों की स्त्रियां जाति व्यवस्था का प्रवेश द्वार सी हैं। निम्न जातियों के पुरुषों की यौनिकता को ऊंची जातियों की रक्त शुद्धता के लिए खतरे के रूप में लिया जाता रहा है। यही वजह है कि ऊंची जातियों की स्त्रियों के साथ उनके यौन संबंध की किसी भी तरह की संभावना से बचने के लिए विवाह के जटिल कायदे बनाए गए।
- नृशास्त्री नूर यलमान का मत है कि हिंदू समाज व्यवस्था का मूल मंत्र एक सीमाबद्ध संरचना (क्लोज्ड स्ट्रक्चर) खड़ा करना रहा है ताकि जमीन स्त्री और आनुष्ठानिक खासियतें एक दायरें में संरक्षित रहें। ये तीनों आपस में गुंथे हुए हैं और इनका इस रूप में बने रहना स्त्री यौनिकता पर कठोर नियंत्रण के बिना संभव नहीं।
- हिंदू धार्मिक-वैधानिक ग्रंथों में किए गए प्रावधानों से जाति, वर्ग और लिंग का राजसत्ता के साथ गहरे गठजोड़ का पता चलता है। ब्राह्मणवादी मतानुसार समाज की सबसे पतित अवस्था 'कलियुग' (डिस्टोपिया) है जब सब कुछ उलट-पलट जाता है, कारण, स्त्रियां और निम्न जातियां अपनी-अपनी दायित्वों का निर्वाह करना छोड़ देती हैं।
- ब्राह्मणवादी ग्रंथों से यह पता चलता है कि कायदों के पालन संबंधी निर्देश के प्रति जोर डालने के साथ-साथ उनमें विद्रोही स्त्रियों की ताकत अथवा सभी स्त्रियों का कायदों को न मानने की क्षमता को स्वीकार किया गया है।
- पितृवंशीय उत्तराधिकारिता और निजी संपत्ति की व्यवस्था का उदय वह पृष्ठभूमि थी जिसमें मातृत्व और स्त्री यौनिकता के बीच स्पष्ट भेद बरतने की जरूरत उत्पन्न हुई। पितृवंशीय उत्तराधिकारिता को सुनिश्चित करने के लिए स्त्री यौनिकता को इस तरह से बांधे जाने की जरूरत आ पड़ी कि वह व्यवस्था द्वारा मान्य मातृत्व मात्र की होकर रह जाए। इसके लिए जरूरी था कि स्त्री केवल एक पुरुष से ही यौन संबंध कायम करे यानी वह किसी एक पुरुष की होकर रह जाए।

## 9.4 शब्दकोश (Keywords)

- **प्रजनन** : जन्म देने वाली।
- **नियंताओं** : नियम निर्धारक

नोट

## 9.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. लिंग एवं स्तरीकरण की व्याख्या कीजिए।
2. विवाह के रूप स्पष्ट कीजिए। जाति-व्यवस्था में सजातीय विवाह का क्या स्थान है?
3. क्या स्त्री जाति व्यवस्था का प्रवेश द्वारा है?
4. पितृसत्ता और महिलाओं के दमन की विवेचना कीजिए।

**उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessement)**

**1.** 1. (क) 2. (ख) 3. (क) 4. (ग)

**2.** 1. जाति-व्यवस्था 2. कलियुग 3. मनु 4. स्त्रीधर्म 5. शूचिता
6. परपुरूषगमन

## 9.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. पी.सी. अग्रवाल; 1971; *कास्ट, रेलिजियन एंड पावर*; श्रीराम सेन्टर फॉर इन्डस्ट्रियल रिलेशन, न्यू दिल्ली।
2. भट्टा, अनिल; 1975; *कास्ट, क्लास एंड पॉलिटिक्स*; मनोहर पब्लिकेशन्स, दिल्ली।
3. जे.एम. हट्टन; 1963; *कास्ट इन इंडिया*; ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बॉम्बे।

नोट

# इकाई–10: स्त्रियों के अधिकार (Women's Empowerment)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

10.1 स्त्रियों की स्थिति (Status of Women)

10.2 स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन (Changing Status of Women)

10.3 महिला संगठनों का उदय (Growth of Women's Organizations)

10.4 स्वातंत्रयोत्तर काल में स्त्रियाँ (Women in the Post Independence Period)

10.5 स्त्रियाँ और रोजगार (Women and Employment)

10.6 स्त्रियों के अधिकार (Women's Empowerment)

10.7 अधिकार चेतना (Consciousness of Rights)

10.8 सारांश (Summary)

10.9 शब्दकोश (Keywords)

10.10 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

10.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- स्त्रियों की स्थिति, स्थिति में परिवर्तन तथा महिला संगठनों का उदय किस प्रकार हुआ समझने में।
- स्वातंत्रयोत्तर काल में स्त्रियों की स्थिति को जानने में।
- स्त्रियों के अधिकार तथा अधिकार चेतना की व्याख्या करने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

वर्षो से कुछ समाजशास्त्री एवं गैर-समाजशास्त्री हमारे समाज में स्त्रियों की समस्याओं के मूल्यांकन एवं उनकी परिस्थिति में आ रहे परिवर्तनों के अध्ययन में प्रयत्नशील रहे हैं। कुछ लेखकों ने जब स्त्रियों के उत्तराधिकार, सार्वजनिक कायों में उनकी भागीदारी एवं विवाह में उनके कानूनी अधिकारों के संदर्भ में लिखा है, कुछ अन्य (लेखकों) ने पुरुषों द्वारा उनके साथ भेदभावपूर्ण व्यवस्था तथा विद्यमान रीति-रिवाजों के संदर्भ में विवेचन किए हैं। वैधानिक दृष्टि से स्त्रियों की स्थिति को ऊंचा उठाने के लिए चाहे कितने भी कदम उठाए गए हों, व्यावहारिक दृष्टि से उनके साथ भेदभावपूर्ण रवैया, तथा उनका तिरस्कार, अपमान व प्रताड़ना अभी भी जारी है। अब भी उनका मत जानने के लिए गंभीरता नहीं दर्शाई जाती, उन्हें पुरुषों के समान नहीं समझा जाता, तथा उनको उचित सम्मान नहीं दिया जाता। ऐसे उदाहरण हैं जहाँ कनिष्ठ पदाधिकारी स्त्रियाँ वरिष्ठ पुरुष पदाधिकारियों द्वारा परेशान की जाती हैं तथा वरिष्ठ अफसरों द्वारा कनिष्ठ कामकाजी महिला लिपिकों, टाइपिस्टों आदि के साथ दुर्व्यवहार किया जाता

नोट

है। ऐसे प्रकरण भी सामान्य रूप से मिलते हैं जिनमें पुरुष अपने अधीन कार्यरत महिलाओं के साथ टेलीफोन एक्सचेन्जों में, सचिवालयों में, समाचार पत्र कार्यालयों में, पंचतारा होटलों में, दूरदर्शन केन्द्रों में, विश्वविद्यालयों तथा विद्यालयों में, तकनीकी संस्थानों आदि में संसूचक प्रस्ताव (suggestive overtunes) रखतें हैं व कामुक रूप से हैरान करते हैं।

स्त्री पुरुषों के सम्बन्धों में, सबल व्यक्तित्व वाला व्यक्ति ही प्रभावशाली स्थिति प्राप्त करता है। सामान्य रूप से, पुरुष स्त्री पर आधारिक आज्ञा देने का अधिकार समझता है, यद्यपि कुछ मामलों में स्त्री भी पुरुष के ऊपर नियंत्रण रखने की स्थिति में रहती है। भारतीय संस्कृति में प्रारम्भ से ही समूह के रूप में स्त्रियों पर पुरुषों ने प्रभुत्व जमाया है और समाज व परिवार में उनकी स्थिति निम्न रखी है। 1930 और 1940 के दशकों में सामाजिक राजनैतिक नेताओं की समानता के लिए प्रतिबद्धता ने भारतीय महिलाओं के उदार समतावादी मूल्यों के लिए किय जा रहे आन्दोलन को प्रभावित किया। स्त्रियों की दशा में इस परिवर्तन के अध्ययन के लिए हम प्राचीन काल से ही प्रारम्भ करेंगे।

## 10.1 स्त्रियों की स्थिति (Status of Women)

प्राचीन भारत में स्त्रियों की स्थिति से संबंधित दो विचार सम्प्रदाय मिलते हैं। एक सम्प्रदाया का कहना है कि स्त्रियाँ ''पुरुषों के बराबर'' थीं, जबकि दूसरे सम्प्रदाय की मान्यता है कि स्त्रियों का न केवल अपमान ही होता था, बल्कि उनके प्रति घृणा भी की जाती थी। दोनों की सम्प्रदायों ने अपने दृष्टिकोण की पुष्टि में धार्मिक साहित्य से उदाहरण दिए हैं। आपस्तम्ब ने निर्दिष्ट किया था। ''जब स्त्री रास्ते में जा रही हो तो सभी उसे रास्ता दें''। हम जिनका सम्मान करते हैं उनके साथ यही व्यवहार करते हैं, अत: यह दर्शाता है कि स्त्रियों को उच्च स्थान प्राप्त था। मनु ने कहा था, ''जहाँ स्त्रियों की दुर्दशा होती है वहाँ सम्पूर्ण परिवार विनाश को प्राप्त होता है, किन्तु जहाँ वे सुखी हैं वहाँ परिवार सदैव समृद्धि को प्राप्त करता है।'' याज्ञवल्क ने भी कहा है: ''स्त्रियाँ पृथ्वी पर समस्त दैवीय गुणों का प्रतीक है; सोम ने अपनी समस्त पवित्रता उन्हें प्रदान की है। गान्धर्व ने मृदु वाणी, तथा अग्नि ने उन्हें अत्यन्त आकर्षक बनाने के लिए अपनी समस्त चमक उन पर न्योछावर कर दी है।'' स्त्रियों के विषय में इतने ऊँचे आदर्श रामायण एवं महाभारत में भी स्थान-स्थान पर दोहराए गए हैं। महाभारत काल में स्त्रियाँ न केवल गृहस्थ जीवन का केन्द्र थी बल्कि समस्त सामाजिक संगठन की आधार-बिन्दु थीं। ऐसी आशा की जाती थी कि पुरुष अपनी पत्नी की इच्छा के आगे नत होगा तथा उसकी सेवा व पूजा करेगा।

यह चित्र का एक पक्ष है। इसका दूसरा पक्ष भी है। स्त्रियों को कमजोर मन वाली मानकर उन्हें विश्वास के योग्य नहीं समझा जाता था। उन्हें पुरुषों की शारीरिक इच्छाओं की पूर्ति का साधन मात्र समझा जाता था तथा उनके लिए सन्तान प्राप्ति का साधन भी। महाभारत में एक स्थल पर कहा गया है, ''स्त्रियों से अधिक पाप की अन्य कोई वस्तु नहीं हैं; ''स्त्री सभी बुराइयों की जड़ है।'' कोई भी अन्य जीवधारी इतना पापी नहीं होता जितनी स्त्री। स्त्री प्रज्ज्वलित ज्वाला है। वह माया रचित एक भ्रम है, वह उस्तरे की तेज धार है, वह अग्नि है''। रामायण में कहा गया है कि, ''स्त्रियों के मुख पुरुषों की भाँति हैं, उनके शब्द मधु की बून्दों की भाँति हैं, किन्तु उनके मन तेज उस्तरे की भाँति हैं; उनके मन की थाह किसी को नहीं हो सकती है।'' जिस प्रकार मनु स्त्रियों को आधिपत्य की वस्तु मानना चाहते थे तथा जिस प्रकार युधिष्ठिर द्वारा द्यूत क्रीड़ा में द्रौपदी को दाँव पर लगाया गया था, उससे तो यही सिद्ध होता है कि सभ्यता के प्रारम्भिक युगों में स्त्रियों को गुलाम तथा मूल्यवान प्रतिभूति (chattel) ही माना जाता था।

उपरोक्त सन्दर्भित उदाहरणों को समाज में स्त्रियों की सही स्थिति बताने के लिए विश्वसनीय आधार नहीं माना जा सकता। विभिन्न कथन पृथक सन्दर्भो में दिए गये थे। यदि भीष्म ने कहा था, ''पति को चाहिए कि वह पत्नी को सम्पत्ति के रूप में समझे'', यदि भगवान राम ने कहा था ''मैं अपना समस्त राज्य उत्तराधिकार, यहाँ तक कि अपनी पत्नी और सभी मूल्यों को भरत को स्वेच्छा से प्रदान कर सकता हू'', तो यह सब केवल प्रसंग वश ही कहा गया था। स्त्रियों की वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन उनके आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक अधिकारों के प्रकाश में विश्लेषण द्वारा किया जा सकता है।''

नोट

### 10.1.1 वैदिक और उत्तर-वैदिक काल में स्त्रियाँ

वैदिक एवं उत्तर-वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति का निर्धारण इस तथ्य से किया जा सकता है कि उनको कितनी स्वतंत्रता प्राप्त थी तथा उन पर किस सीमा तक प्रतिबन्ध लगे हुए थे। वैदिक तथा रामायण-महाभारत (महाकाव्य) काल में स्त्रियाँ कभी भी पर्दा नहीं करती थीं। उन्हें अपने जीवन साथी के वरण में स्वतंत्रता प्राप्त थी। वे शिक्षा प्राप्त कर सकती थीं। विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति थी, यद्यपि विवाह-विच्छेद की अनुमति उन्हें प्राप्त नहीं थी। पुरुषों को भी यह अनुमति प्राप्त नहीं थी। घर में उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी और उन्हें अर्द्धगिनी माना जाता था।

''गृहस्थ जीवन में स्त्रियाँ सर्वोपरि होती थीं। इस प्रकार सामाजिक क्षेत्र में स्त्रियों की स्थिति पूर्णरूपेण असहायों की स्थिति नहीं थी, बल्कि उनकी स्थिति एक ऐसे व्यक्ति की तरह थी जो न्याय एवं औचित्य से प्रेरित थी। आर्थिक क्षेत्र में भी स्त्रियों को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। वे न कहीं नौकरी करती थीं और न धन अर्जन क्योंकि उनके लिए यह आवश्यक नहीं था। घर उत्पादन का केन्द्र था; वस्त्र बनाने का काम घर पर ही होता था। स्त्रियाँ कृषि कार्यों में भी अपने पति की सहायता करती थीं। कुछ स्त्रियाँ अध्यापन कार्य में भी व्यस्त होती थीं।

*नोट्स* महाभारत में कहा गया था, मृदु भाषी पत्नियाँ सुख में अपने पति की मित्र होती हैं, धार्मिक कृत्यों के समय वे उनके पिता के समान होती हैं तथा दु:ख व कष्ट के समय वे उनकी माता के समान होती हैं।

सम्पत्ति के उत्तराधिकार के विषय में स्त्रियों को कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे। यद्यपि पुत्री के रूप में स्त्रियों का अपने पिता की सम्पत्ति में कोई भाग नहीं होता था, फिर भी प्रत्येक अविवाहित पुत्री को अपने भाइयों को मिलने वाले पितृ धन का एक चौथाई भाग प्राप्त करने का अधिकार था। मृत्यु के पश्चात् माँ की सम्पत्ति पुत्रों और अविवाहित पुत्रियों में समान रूप से बांटी जाती थी। विवाहित पुत्रियों को केवल सम्मान स्वरूप थोड़ा ही भाग मिलता था। स्त्रीधन की उत्तराधिकारी केवल अविवाहित पुत्रियाँ होती थीं। पत्नी के रूप में स्त्री का अपने पति की सम्पत्ति में कोई प्रत्यक्ष भाग नहीं होता था। परन्तु परित्यक्ता को अपने पति के धन का एक तिहाई भाग प्राप्त करने का अधिकार था। यदि पत्नी गरीब होती थी तो पति उसके भरण पोषण के लिए गुजारा भत्ता देने के लिए बाध्य था। किन्तु यदि सम्पत्ति का बंटवारा पति के जीवन काल में ही हो गया होता तो पत्नी को पुत्रों के बराबर का भाग मिलता था। विधवा स्त्री को संयमी व वैरागी जीवन व्यतीत करना पड़ता था। अत: उसे अपने पति को सम्पत्ति से कोई भाग देय नहीं होता था। विधवा माँ के रूप में उसे कुछ अधिकार थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि स्त्रियों के साथ सम्पत्ति में अधिकार के विषय में पक्षपात पूर्ण व्यवहार किया जाता था, फिर भी पत्नी और पुत्री के रूप में उन्हें कुछ संरक्षण प्राप्त था।

स्त्रियों की राजनैतिक स्थिति देश में राजनैतिक दशा एवं विद्यमान राजनैतिक प्रणाली पर निर्भर करती है। प्राचीन भारत में राजनैतिक प्रणाली राजतंत्र पर आधारित थी। इसलिए विधान सभा, राजनैतिक दल, कूटनीतिक सम्बन्ध , तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आदि नहीं थे। ऐसी परिस्थितियों में स्त्रियों को मताधिकार या चुनाव लड़ने की स्वतन्त्रता का प्रश्न ही नहीं उठता था। स्त्रियों को सभाओं में प्रवेश की अनुमति नहीं थी क्योंकि इन स्थानों का प्रयोग राजनैतिक विचार-विमर्श के अलावा जुआ तथा मद्यपान आदि के लिए भी किया जाता था। कुछ उदाहरण ऐसे अवश्य हैं जबकि स्त्रियाँ अपने पति के साथ युद्ध स्थल में जाती थीं, जैसे रामायण में कैकयी का युद्ध में जाना। मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त मौर्य के महल में सशस्त्र महिला अंगरक्षकों का संदर्भ दिया है; कौटिल्य ने भी 'अर्थशास्त्र' में सशस्त्र महिला अंग रक्षकों की बात कही है जो तीर कमान से सुसज्जित सैनिकों के रूप में होती थीं। अत: जब पुरुषों को ही राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे तब स्त्रियों की अपनी अलग से राजनैतिक परिस्थिति कैसे हो सकती थी।

नोट

धार्मिक क्षेत्र में पत्नी समस्त अधिकारों का उपभोग करती थी तथा नियमित रूप से अपने पति के साथ समस्त धार्मिक कृत्यों व संस्कारों में भाग लेती थी। वास्तव में, धार्मिक कृत्य तब तक अपूर्ण माना जाता था जब तक पत्नी उसमें भाग नहीं लेती थी। स्त्रियाँ धार्मिक वार्तालापों में सक्रिय रूप से भाग लेती थीं। वैज्ञानिक धार्मिक सिद्धान्तों एवं रीतियों के संहिताकरण करने हेतु जनक जैसे राजाओं द्वारा आयोजित विश्व की अनोखी धर्मी एवं सम्प्रदायों के सम्मेलनों में गार्गी, ब्राह्मवादिनी, वाचाक्नबी जैसी विदूषी महिलाओं का भाग लेना एवं पुरुषों के साथ शास्त्रार्थ करना इस सत्य का द्योतक है कि प्राचीन भारत में स्त्रियों का धार्मिक क्षेत्र में उच्च स्थान था। जैमिनी की 'पूर्व मीमांसा' में, जिसकी टीका सबर स्वामी ने लिखी, वर्णित है कि उच्चतम धार्मिक संस्कारों में स्त्री पुरुष की भागीदारी बराबर की होती थी। हेमाद्रि ने शिक्षित अविवाहित कन्याओं (कुमारी) को 'विदूषी' कहा है और बताया कि ऐसी कन्याओं का विवाह बराबर के शिक्षित वर, जिसे 'मनीषी' कहते थे, से ही किया जाना चाहिए। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वैदिक भारत में स्त्रियों की स्थिति निम्न नहीं थी। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में उन्हें अत्यधिक अधिकार प्राप्त थे लेकिन आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में उनके अधिकार सीमित थे।। उन्हें पुरुषों के अधीन नहीं माना जाता था बल्कि पुरुषों के समान समझा जाता था।

### 10.1.2 पौराणिक काल में स्त्रियाँ

पौराणिक काल में स्त्रियों की स्थिति में कमी आयी। (हिन्दु समाज में धार्मिक ग्रन्थों का ऐतिहासिक क्रम इस प्रकार से है: वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, गृह-सूत्र, धर्मशास्त्र, स्मृतियाँ, रामायण व महाभारत और पुराण)। सामाजिक क्षेत्र में, पूर्व यौन परिपक्व (pre-puberty) विवाह का प्रचलन प्रारम्भ हुआ, विधवा विवाह का निषेध होने लगा, पति को स्त्री के लिए भगवान का स्तर दिया जाने लगा, स्त्रियों के लिए शिक्षा का पूर्ण निषेध प्रारम्भ हुआ, सती प्रथा प्रचलन में आई, पर्दा प्रथा प्रारम्भ हुई, तथा बहुपत्नी प्रथा व्यवहार में स्वीकार की जाने लगी। ''एक पत्नी और गुलाम सम्पत्ति के अधिकारी नहीं होते, मान्यता के आधार पर स्त्री को उसके पति की सम्पत्ति में भाग से वंचित कर दिया गया। धार्मिक क्षेत्र में स्त्री को बलिदान भेंट करने से, प्रार्थना से, हट योग से तथा तीर्थ यात्रा करने से भी वंचित कर दिया गया।''

प्रभाती मुखर्जी ने पौराणिक काल में स्त्रियों की निम्न स्थिति के कारणों को बताते हुए अल्टेकर (1938)ए विन्टरनिज (1920), मित्तर और चौधरी (1956) को उद्धृत किया है। ये कारण हैं: सम्पूर्ण समाज पर ब्राह्मणों द्वारा थोपे गए संयमों के कारण, जाति प्रथा द्वारा लगाए प्रतिबन्धों के कारण संयुक्त परिवार के कारण, स्त्रियों के लिए शिक्षा की कम सुविधाओं के कारण, आर्य परिवार में गैर-आर्य पत्नी का प्रवेश, तथा विदेशी आक्रमणों के कारण।

### 10.1.3 बौद्ध काल में स्त्रियाँ

बौद्ध धर्म का उदय हिन्दूवाद पर प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ। ब्राह्मण तथा पुराणों के काल में स्त्रियों पर अनेक अन्यायपूर्ण एवं अनुचित सामाजिक निषेध थोप दिए गए, जैसे पूर्व यौन परिपक्वता विवाह, शिक्षा के अधिकार से वंचित करना, जीवन साथी चुनने का अधिकार न देना धार्मिक विचार विमर्श में भाग लेने की अनुमति न होना, आदि। बौद्ध काल में स्त्रियों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। धार्मिक क्षेत्र में स्त्रियों को स्पष्ट रूप से उत्कृष्ट स्थान प्राप्त हुआ। उनका अपना संघ बना जिसे भिक्षुणी संघ कहा गया। इस संघ के भी वही नियम निर्देश थे जो 'भिक्षुओं' के थे। संघ ने स्त्रियों को सांस्कृतिक कार्यक्रमों, समाज सेवा तथा सार्वजनिक जीवन में अनेक स्थलों पर भाग लेने के अवसर प्रदान किए। सामाजिक क्षेत्र में उन्हें सम्मानित स्थान प्राप्त हुआ, यद्यपि उनकी आर्थिक व राजनैतिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

### 10.1.4 मध्य काल में स्त्रियाँ

भारत पर मुसलमानों का प्रथम आक्रमण आठवीं शताब्दी में हुआ, जिस काल में शंकराचार्य जीवित थे। शंकराचार्य के नेतृत्व में हिन्दू समाज बढ़ते हुए बौद्ध धर्म का सामना करने की विधियाँ खोजने में व्यस्त था। शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म के बढ़ते प्रभाव को कम करने के उद्देश्य से वेदों की उत्कृष्टता (नचतमउंबल) पर पुन: बल दिया और वेदों

नोट

में स्त्रियों को समानता का अधिकार प्राप्त था। ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य तक जब ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई, अथवा लगभग 700 वर्षों तक, सामाजिक संस्थाओं का विखण्ड, परम्परागत राजनैतिक संरचना में उथल-पुथल, बड़ी संख्या में लोगों का प्रवासन, तथा देश में आर्थिक मन्दी, आदि ने देश में सामाजिक जीवन में, विशेष रूप से महिलाओं के पतन में, योगदान दिया। पर्दा प्रथा इस सीमा तक बढ़ गई कि स्त्रियों के लिए कठोर एकान्त तक नियम ही बन गया। शिक्षण की सुविधा पूर्णरूपेण समाप्त हो गई। तथापि, पंद्रहवीं शताब्दी में स्थिति में कुछ परिवर्तन आया। इसी अवधि में रामानुजाचार्य ने प्रथम भक्ति आन्दोलन का आयोजन किया जिसने भारत की स्त्रियों के धार्मिक व सामाजिक जीवन में नवीन प्रवृत्तियों का सूत्रपात किया। चैतन्य, नानक, मीरा, कबीर, रामदास, तुलसी व तुकाराम जैसे सन्तों ने स्त्रियों के लिए धार्मिक पूजा/अर्चना का सबल पक्ष प्रस्तुत किया। यद्यपि उनकी (भक्तों को) स्त्रियों के प्रति धारणा उनके समय के प्रचलित दृष्टिकोण से मुक्त नहीं थी, फिर भी इस आन्दोलन ने स्त्रियों की धार्मिक स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त कर दिया। पर्दा प्रथा समाप्त कर दी गई, कथा व भजन कीर्तन में जाने से स्त्रियाँ घरेलू काम काज से काफी मुक्त हो गयीं। भक्ति आन्दोलन में गृहस्थाश्रम पर बल दिया गया, परन्तु सन्तों को अपनी पत्नी की इच्छा के बिना सन्यास लेने की अनुमति प्रदान नहीं की गई। इसमें स्त्रियों के महत्वपूर्ण अधिकार निहित थे। इस आन्दोलन के दूसरे प्रभाव भी हुए। मनु के समय से ही स्त्रियों को शिक्षा से रोक दिया गया था। सन्तों ने स्त्रियों को धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन व स्वयं को शिक्षित बनाने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार भक्ति आन्दोलन ने स्त्रियों में नये प्राणों का संचार किया। किन्तु इस आन्दोलन ने आर्थिक संरचना में कोई परिवर्तन नहीं किया। अतः स्त्रियों की निम्न स्थिति बनी रही। बाद में ब्रिटिश शासन के प्रभाव के कारण उनकी स्थिति में सुधार हुआ।

## 10.2 स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन (Changing Status of Women )

अठारहवीं, उन्नसवीं व मध्य बीसवीं शताब्दी तक अंग्रेज भारत के शासक बने रहे। ब्रिटिश शासन की अवधि में हमारे समाज की सामाजिक व आर्थिक संरचनाओं में अनेक परिवर्तन किए गए। यद्यपि ब्रिटिश शासन के 200 वर्षों की अवधि में स्त्रियों के जीवन में अदृश्य सुधार तो हुआ, फिर भी शिक्षा, रोजगार, सामाजिक अधिकारों, आदि को लेकर स्त्री पुरुषों के बीच असमानताओं में कमी आयी। यहाँ हम परिवर्तन के उन पहलुओं की व्याख्या करेंगे जिन्होंने महिलाओं की स्थिति को प्रभावित किया। छः महत्त्वपूर्ण पक्ष जिन्होंने महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन को प्रभावित किया, इस प्रकार हैं: (*i*) औद्योगीकरण (*ii*) शिक्षा का विस्तार (*iii*) जाति प्रथा का कमजोर होना (*iv*) कुछ प्रबुद्ध नेताओं द्वारा चलाए गए सामाजिक आन्दोलन (v) स्त्रियों के संगठनों का विकास और (vi) सामाजिक विधानों का परित किया जाना।

ब्रिटिश काल के आर्थिक परिवर्तन बड़े निर्णायक थे। मशीनी उद्योगों के विकास और हस्तशिल्प का विनाश दोनों ने ही स्त्री व पुरुषों की आजीविका पर गंभीरतम आघात् किया। अंग्रेजों द्वारा विकसित की गई आर्थिक संरचना देश-भक्ति या जन हित के लिए नहीं की गई थी। मूलतः शासक वर्ग के हितों की रक्षा के लिए ही देश के संसाधनों का दोहन किया गया था। किन्तु औद्योगीकरण ने अनेक परिवर्तनों के लिए मार्ग खोला, जैसे लोगों की गतिशीलता, संचार एवं आवागमन के साधनों का विकास, जजमानी प्रथा कमजोर होना, रोजगार के नये अवसरों की उपलब्धता, आदि। इन सब से नये मूल्यों एवं नये व्यवहार के तरीकों का उदय हुआ।

### 10.2.1 शिक्षा का विस्तार

स्त्रियों को शिक्षा दिये जाने का विचार ब्रिटिश शासन काल में उदय हुआ। इससे पूर्व यह एक सार्वभौमिक मान्यता थी कि स्त्रियों को शिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि उन्हें आजीविका का अर्जन नहीं करना है। भक्ति आन्दोलन के बाद ईसाई मिशनरियों ने स्त्रियों की शिक्षा में रुचि लेना प्रारम्भ किया। 1824 में सबसे पहली बार लड़कियों का स्कूल बम्बई में प्रारम्भ हुआ। लार्ड डलहौजी ने भी घोषणा की कि परिवार के बच्चों को शिक्षा देने की अपेक्षा अन्य कोई भी परिवर्तन भारत के लोगों के जीवन के लिए लाभकारी एवं महत्त्वपूर्ण सिद्ध नहीं हो सकता। 1875 तक कलकत्ता, मद्रास व बम्बई विश्वविद्यालयों ने लड़कियों को प्रवेश की अनुमति प्रदान नहीं की थी। केवल

नोट

1882 के बाद ही लड़कियों का उच्च शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति प्रदान की गई। तब से स्त्रियों की शिक्षा के क्षेत्र में निरन्तर प्रगति होती रही है। भारत में स्त्रियों की साक्षरता प्रतिशत में वृद्धि इस प्रकार रहीं है। 1901 में 0.6% से 1931 में 2.93%, 1941 में 7.30%, 1961 में 12.95%, 1971 में 18.69%, 1981 में 24.88% और 1991 में 39.42% (Handbook of Social Welfare Statistics, Ministry of Social Welfare, Government of India, 1981, 1985; and Census of India, 1991) ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षित महिलाओं की सं,या शहरी महिलाओं की तुलना में बहुत कम है। 1981 में ग्रामीण क्षेत्रों में 17.99% शिक्षित महिलाओं की तुलना में शहरी क्षेत्रों में यह संख्या 47.65% थी। 1979–80 में प्राइमरी स्तर पर (पहली से पांचवी कक्षा) पढ़ने वाले 789 लाख छात्रों में से 38. 95% लड़कियाँ, थीं; मिडिल स्तर के (छठीं से आठवीं कक्षा) 187 लाख छात्रों में से 32.90% लड़कियाँ थी; हाईस्कूल (नवीं और दसवीं कक्षा) में पढ़ने वाले 751 लाख छात्रों में 29.24% लड़कियाँ थीं तथा कक्षा 11 व 12 में अध्यनरत छात्रों की 110 लाख संख्या में से 32.25% लड़कियाँ थी। यह दर्शाता है कि स्कूल स्तर पर अध्यनरत छात्रों और छात्राओं का अनुपात 3:1 है। उच्च शिक्षा एवं व्यावसायिक शिक्षा (डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, अध्यापिका) प्राप्त करने वाली लड़कियों का प्रतिशत अपेक्षाकृत कम है।

स्कूल में अध्यनरत प्रत्येक 100 लड़कियों में से 62 प्राइमरी स्तर पर, 26 मिडिल स्तर पर, तथा 12 हाईस्कूल स्तर पर अध्यनरत हैं, अत: यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इन विविध स्तरों पर अध्यनरत लड़कियों की संख्या कम है, फिर भी यह स्पष्ट है कि 1941 के बाद से लड़कियों की संख्या में प्रत्येक स्तर पर ही उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।

### 10.2.3 कुछ प्रबुद्ध नेताओं द्वारा चलाए गए सामाजिक आन्दोलन

उन्नसवीं शताब्दी के अन्त में भारत में स्त्रियों को अनेक निर्योग्यताओं को भोगना पड़ा, जैसे बाल–विवाह, बहु पत्नी विवाह, विवाह के उद्देश्य से लड़कियों की बिक्री, विधवाओं पर कठोर प्रतिबन्ध, शिक्षा प्राप्त करने पर प्रतिबन्ध तथा गृहस्थ कार्यो तथा बच्चों के लालन–पालन तक ही अपने को सीमित रखना आदि। न्यायमूर्ति रानाडे द्वारा आयोजित भारतीय राष्ट्रीय सभा, 1885 ने उपरोक्त निर्योग्यताओं की निन्दा की। राजा राम मोहन राय ने, जिन्होंने सती प्रथा उन्मूलन के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया, बाल विवाह तथा पर्दा प्रथा के विरुद्ध भी आवाज उठाई और स्त्रियों के उत्तराधिकार के लिए भी संघर्ष किया। ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए आन्दोलन चलाया और स्त्रियों की शिक्षा के लिए भी वकालत की। महर्षि कर्वे ने भी विधवा–विवाह और स्त्रियों की शिक्षा की समस्या को उठाया। उन्होंने 1916 में एस.एन.डी.टी. विश्वविद्यालय, महाराष्ट्र में स्थापित किया। बड़ौदा राज्य के शासक, महाराजा सायाजी राव गायकवाड़ ने भी बाल विवाह व बहु पत्नी विवाह रोकने, स्त्रियों को शिक्षा का अधिकार दिलाने, तथा विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार दिलाने के लिए अथक प्रयत्न किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गाँधी ने भी स्त्रियों के राजनैतिक व सामाजिक अधिकारों के प्रति रूचि दिखाई। गांधी जी का मत था कि स्त्रियों को कार्य करने में वे कष्ट नहीं भोगने चाहिए जो पुरुष न भोग सकते हों। वे पुत्र और पुत्रियों को एक समान मानने के पक्षधर थे। विविध नेताओं के सामाजिक आन्दोलनों के चलाने का एक लाभ यह हुआ कि स्त्रियों के समान अधिकारों व मुक्ति के लिए सामाजिक चेतना जागृत करने में सफलता प्राप्त हुई।

## स्व–मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–**

1. स्त्रियों की वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन किया जाता है–

(क) आर्थिक अधिकारों के विश्लेषण द्वारा (ख) राजनैतिक अधिकारों के विश्लेषण द्वारा

(ग) धार्मिक अधिकारों के विश्लेषण द्वारा (घ) उपर्युक्त सभी।

नोट

2. किसने शिक्षित अविवाहित कन्याओं को विदूषी कहा है-

(क) हेमाद्रि (ख) प्रभाती मुखर्जी

(ग) अल्टेकर (घ) उपर्युक्त सभी।

3. भारत पर मुसलमानों का प्रथम आक्रमण किस शताब्दी में हुआ-

(क) छठीं शताब्दी में (ख) सातवीं शताब्दी में

(ग) आठवीं शताब्दी में (घ) इनमें से काई नहीं।

4. स्त्रियों को शिक्षा दिये जाने का विचार का उदय किस शासन काल में हुआ -

(क) बौद्ध काल (ख) ब्रिटिश शासन काल

(ग) पौराणिक काल (घ) इनमें से कोई नहीं।

5. सती प्रथा उन्मूलन के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किसने किया -

(क) राजाराम मोहन राय (ख) न्यायमूर्ति रानाडे

(ग) ईश्वर चन्द्र विद्यासागर (घ) इनमें से कोई नहीं।

## 10.3 महिला संगठनों का उदय (Growth of Women's Organizations)

महिलाओं के एक संगठन, जैसे, बंग महिला समाज व महिला थियोसोफिकल सोसायटी, स्त्रियों के लिए आधुनिक आदर्शो के लिए स्थानीय स्तर पर कार्य कर रहे थे। किन्तु अग्रणी कार्य उन संगठनें द्वारा किया गया जो राष्ट्रीय स्तर पर कार्य कर रहे थे। इनमें से पांच प्रमुख संगठन थे: भारत महिला परिषद् (जो 1904 में स्त्रियों की मुक्ति के संघर्ष हेतु प्रारम्भ हुआ), भारत स्त्री महामण्डल (1910 में स्थापित), महिला भारतीय संघ (Women's Indian Association) (1917 में ऐनी बेसेन्ट द्वारा संचालित), भारतीय महिला राष्ट्रीय परिषद् (National Council of Women in India) (1925 में लेडी एबरडन तथा लेडी टाटा द्वारा प्रारम्भ किया गया), तथा आल इण्डिया वूमेन्स कान्फरेन्स (मार्गरेट कसिन्स तथा अन्य द्वारा 1927 में स्थापित)। कस्तूरबा गांधी की मृत्यु के उपरान्त कस्तूरबा गांधी राष्ट्रीय स्मारक ट्रस्ट प्रारम्भ किया गया। इन सब संगठनों ने स्त्रियों की शिक्षा, पर्दा व बाल विवाह जैसी बुराइयों का उन्मूलन, हिन्दू अधिनियमों में सुधार, स्त्रियों की नैतिक व भौतिक प्रगति, अधिकारों व अवसरों की समानता और स्त्रियों के मताधिकार जैसे मामलों को उठाया। कहा जा सकता है कि भारतीय स्त्रियों के आन्दोलनों ने दो लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्य किया: (*i*) स्त्रियों के उत्थान के लिए, अर्थात् सामाजिक रीतियों में सुधार कर स्त्रियों को समाज में रचनात्मक भूमिका के लिए योग्य बनाना, (*ii*) महिलाओं को पुरुषों के बराबर व समान अधिकार दिलाना अर्थात् पुरुषों को मिले हुए राजनैतिक, आर्थिक व नागरिक अधिकारों को स्त्रियों को भी उपलब्ध कराना। पहले लक्ष्य को 'सामूहिक नारीवादी लक्ष्य' तथा दूसरे को ''उदार नारीवादी लक्ष्य'' कहा जा सकता है। इन महिला संगठनों ने जिन रणनीतियों को अपनाया वे हैं: जन सभाओं में माँगें रखकर सरकारी अधिकारियों के समक्ष विचार रखकर, समस्याओं के आंकलन के लिए समितियाँ बनाकर तथा स्त्रियों को आन्दोलित करने के लिए सभाओं का आयोजन करके।

भारतीय महिला आन्दोलनों को प्रेरित करने वाले कारक हैं: स्त्रियों की सहायक भूमिका की विचारधारा पर पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव, शिक्षित व कुलीन स्त्रियों द्वारा कुशल नेतृत्व प्रदान किया जाना, धर्म द्वारा मान्यता प्राप्त सामाजिक प्रथाओं में परिवर्तन के लिए पुरुष समाज सुधारकों द्वारा रुचि लेना, सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोणों में परिवर्तन, स्वयंसेवी संगठनों का पुरुषों द्वारा विरोध न करना, तथा राष्ट्रीय राजनैतिक नेताओं का इन आन्दोलनों का समर्थन करना आदि। 1953 में भारत सरकार द्वारा स्थापित केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड भी स्त्रियों के कल्याण के लिए ऐच्छिक प्रयत्नों को बल प्रदान करता है तथा प्रोत्साहन देता है। भारत सरकार का कल्याण मंत्रालय भी नगरों में कामकाजी महिलाओं के आवास गृह निर्माण व विस्तार हेतु स्वैच्छिक संगठनों को अनुदान देता है। राज्य

नोट

सरकारें भी अपनी योजनाओं के माध्यम से धन प्रदान करती हैं ताकि जन सहयोग से महिला मण्डल, गृह कल्याण केन्द्र, साक्षरता केन्द्र, ग्रामीण महिलाओं के लिए ट्रेनिंग कैम्पों का आयोजन तथा केवल महिला सदस्यों के सहयोग से सहकारी समितियों का संचालन किया जा सके।

### 10.3.1 सामाजिक विधानों का पारित किया जाना

स्त्रियों से संबंधित कुछ विधानों का परित किया जाना तीन तत्त्वों से संबंधित है: (*i*) विवाह (*ii*) सम्पत्ति (*iii*) रोजगार। विवाह संबंधी विधान विशेष रूप से विवाह की आयु, पुनर्विवाह, विवाह विच्छेद, विवाह का स्वरूप तथा जीवन साथी के चुनाव की स्वतंत्रता से सम्बद्ध है। पारित किए गए प्रमुख विधान इस प्रकार हैं: 1929 का बाल विवाह प्रतिबन्ध अधिनियम, 1955 का हिन्दू विवाह अधिनियम तथा 1954 का विशेष विवाह अधिनियम। सम्पत्ति विषयक विधान हैं: 1929 का हिन्दू उत्तराधिकार विधान, 1939 का हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति अधिकार अधिनियम, तथा 1956 का हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम। रोजगार विषयक विधान हैं: 1948 का फैक्ट्री अधिनियम, 1948 का कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम तथा प्रसूति लाभा अधिनियम। 1948 का फैक्ट्री अधिनियम कार्य अवधि (घन्टे), समान वेतन, ले जाने वाले बोझ की सीमा, सफाई सुविधाएं, शिशु तथा अन्य बातों को नियमित करता है। कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम पांच लाभ देता है: बीमारी, प्रसूति, अयोग्यता, आश्रित तथा चिकित्सा लाभ।

यद्यपि इन विधानों ने स्त्रियों की दशा में बड़ी सीमा तक सुधार किया है किन्तु (*i*) विधान अपर्याप्त हैं और समस्या को बाहरी सीमा तक ही स्पर्श करते हैं; (*ii*) वे विधान असन्तुलित हैं, अर्थात् कुछ नियम अन्य नियमों से कम या अधिक सूक्ष्म व निश्चित हैं; (*iii*) कुछ विधानों की बनावट इतनी ढीली है कि उन्हे ठीक से लागू नहीं किया जा सकता, और (*iv*) विधानों को लागू करने वाले साधन महंगे, अकुशल व जटिल हैं। यह कहा जा सकता है कि वैधानिक उपाय स्त्रियों की समस्याओं को दूर करने में अधिक प्रभावी सिद्ध नहीं हुए हैं। सैद्धांतिक रूप से स्त्रियों को अधिक स्वतंत्रता दी जा सकती थी, लेकिन व्यावहारिक सत्य यह है कि वे अभी अमानती तथा अनुचित व्यवहार भोग नहीं हैं जो उन्हें अपमान व शर्म के अलावा कुछ भी नहीं दे रहा है।

उपरोक्त विश्लेषण से यह संकेत मिलता है कि स्त्रियों को निरन्तर निकृष्ट, आश्रित तथा शोषण के चंगुल से बचाने के प्रयत्नों में परिवर्तन आ रहा है, तथापि यह परिवर्तन मन्द तथा योजनाबद्ध नहीं हुआ है।

## 10.4 स्वातंत्रयोत्तर काल में स्त्रियाँ (Women in the Post Independence Period)

भारत में 1940 तक स्त्रियों की निम्न दशा के प्रमुख कारण अशिक्षा, आर्थिक निर्भरता, धार्मिक निषेध, जाति बन्धन, स्त्री नेतृत्व का अभाव, तथा पुरुषों का उनके प्रति अनुचित दृष्टिकोण आदि थे। मेटसन ने हमारी संस्कृति में स्त्रियों की एकान्तता तथा उनके निम्न स्तर के लिए पाँच कारकों को उत्तरदायी ठहराया है। यह हैं: हिन्दू धर्म, जाति व्यवस्था, संयुक्त परिवार, इस्लामी शासन तथा ब्रिटिश उपनिवेशवाद। हिन्दूवाद के आदर्शो के अनुसार पुरुष स्त्रियों से श्रेष्ठ होते हैं और स्त्रियों व पुरुषों को भिन्न-भिन्न भूमिकाएं निभानी चाहिए। स्त्रियों से माता व गृहणी की भूमिकाओं की और पृरुषों से राजनीतिक व आर्थिक भूमिकाओं की आशा की जाती थी। हिन्दू धर्म ग्रन्थों में स्त्रियों के लिए समाज जीवन पर्यन्त आश्रित के रूप में माना गया है। जाति व्यवस्था ने भी जन कार्यो व सार्वजनिक मामलों में स्त्रियों की भागीदारी पर प्रतिबन्ध लगाए। लड़कियों के लिए जल्दी विवाह का प्रावधान किया गया; दूसरी ओर विधवा विवाह का निषेध तथा सती प्रथा चलाई गई। पितृ वंशीय संयुक्त परिवार ने स्त्रियों की स्वतंत्रता कम कर दी और आयु, लिंग व नातेदारी के आधार पर परिवार में उनकी स्थिति निम्न होती गई। मुस्लिम युग में स्त्रियों की दशा में और भी पतन हुआ। इस्लामिक शासन में सामाजिक-राजनैतिक प्रभाव में हिन्दुओं ने स्त्रियों की एकांतता व पर्दे की प्रथा को मुसलमानों की तरह अपना लिया जिसके कारण लिंग के आधार पर श्रम का भी एक पूरक विभाजन हो गया। मुस्लिम नवाबों तथा जागीरदारों की कुदृष्टि से बचाने के उद्देश्य से बाल-विवाह सामन्य रूप

नोट

से होने लगे। यद्यपि ब्रिटिश शासकों ने हिन्दओं के सामाजिक विधानों में बाधा पैदा करने का प्रयत्न नहीं किया लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक पच्चीस वर्षो में जब कुछ पुरुष समाज सुधारकों ने स्त्रियों की दशा सुधारने की बात की तथा उनके प्रयत्नों से महिला आन्दोलनों को बल मिला, तब ब्रिटिश सरकार कुछ वैधानिक कदम उठाने तथा कुछ सामाजिक प्रथाओं को समाप्त करने या उनमें परिवर्तन करने के लिए सहमत हो गई।

आज भारत में स्त्रियों की क्या स्थिति है? उनकी स्थिति में परिवर्तन का विश्लेषण कैसे करते हैं? स्त्रियों के मूल्यांकन में निम्न पाँच विधियों का प्रमुख रूप से प्रयोग किया गया है:

1. **ऐतिहासिक विधि** (Historical Method)–यह विधि प्राचीन समाज में तथा उसके मध्यकाल व वर्तमान काल में चिरस्थायित्व पर केन्द्रित करती है। समाज वैज्ञानिक महिलाओं की स्थिति के बारे में मुख्य निष्कर्ष प्रमुख इतिहासकारों और दार्शनिकों, जैसे, अल्टेकर, इन्द्रा, दास और कर्वे आदि के लेखों से निकालते हैं। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि धर्मग्रन्थों तथा अतीत के उपलब्ध अभिलेखों से केवल उदाहरण प्रस्तुत करना ही ऐतिहासिक विश्लेषण नहीं है। अत: इससे मिथ्या निष्कर्ष या फिर अतिश्योक्तियाँ निकल सकते हैं। वे समाजशास्त्री जिन्हें परिकल्पना–निगमन विधि (Hypothetico-deductive method) द्वारा अवव्याख्यावादी विधियों (Reductionist procedures) में दक्षता प्राप्त हैं, वे भी ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर स्त्रियों की स्थिति का अध्ययन करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य मानते हैं।
2. **आनुभविक वैयक्तिक अध्यन विधि** (Non-Empirical Case Study Method)–इस विधि में स्त्रियों की स्थिति का विश्लेषण पितृसत्तात्मक (patriarchy) सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में किया जाता है, या फिर यौन असमानता और स्त्रियों की स्थिति के बीच सम्बन्ध के आधार पर। स्त्रियों के निम्न स्तर की व्याख्या का आधार पुरुषों का स्त्रियों के ऊपर प्रभुत्व रहा है जो इतिहास सिद्ध भी है तथा सांस्कृतिक दृष्टि से भी मान्य है।
3. **अन्त: व्यक्तिगत शक्ति के मूल्यांकन की आनुभविक विधि** (Empirical Method of Assessing Inter-personal Power)–यह विधि स्त्रियों पर पुरुषों के प्रभुत्व का अध्ययन करती है, किन्तु उस पितृ सत्तात्मक व्यवस्था से पृथक जिसका कि यह एक भाग है। इस विधि की मान्यता है कि समस्या (निम्न स्थिति की/ शोषण की/ अधिकारों के वंचना की) स्त्रियों पर प्रभुत्व की है और इसका समाधान इसके विरुद्ध संघर्ष में निहित हैं। इस अनुसंधान ने सामाजिकी स्तर पर संरचनात्मक असमानता पर ध्यान केन्द्रित नहीं किया है, बल्कि परिवार के भीतर ही असमानता एवं शक्ति संतुलन पर किया है। इस विधि में स्त्रियों की उच्च स्थिति का सम्बन्ध समतावादी निर्णय करने से है तथा निम्न स्थिति का संबंध गैर समतावादी निर्णय से। आनुभाविक अध्ययन से विविध समुदायों, वर्गो एवं श्रेणियों की उन स्त्रियों के साथ गहन साक्षात्कार सम्मिलित हैं, जिन (स्त्रियों) को अपने पतियों तथा ससुराल वालों के विविध व्यवहारों का अनुभव हो। यद्यपि यह आनुभाविक अनुसन्धान विधि स्त्रियों की स्थिति तथा पतियों के प्रभुत्व के बीच के सम्बन्धों पर मूल्यवान साक्ष्य प्रस्तुत करती है, परन्तु इसका केन्द्र–बिन्दु बहुत सीमित है तथा यह समाज में स्त्रियों की सामान्य स्थिति का वास्तविक चित्र प्रस्तुत नहीं करती। वह पितृ सत्तात्मक, सामाजिक व सांस्कृतिक संदर्भ जिनमें परिवार फंसा रहता है तथा जिनमें वैवाहिक सम्बन्धों की भूमिका चलती रहती है, की अनदेखी की गई है।
4. **नारीवादी मात्रामूलक अनुसन्धान विधि** (Feminist Quantitative Research Method)–इस आनुभविक विधि में स्त्रियों की तुलना पुरुष की स्थिति से महत्त्वपूर्ण आयामों में की गई है। केर्स्टी इलो (Kersti Yllo, 1980) के अनुसार, इस प्रकार के आयाम आर्थिक, शैक्षिक, राजनैतिक तथा वैधानिक भी हो सकते हैं।

नोट

अलग-अलग मद (Item) सूची (Index) में प्रत्येक चारों आयामों के लिए तथा सम्पूर्ण सूची के लिए मिश्रित कर दिए जाते हैं। ये सूचियाँ 'सर्वाधिक' (most) से 'न्यूनतम' (least) समानता के लिए पद क्रम प्रदान करती हैं।

5. **आनुभविक मात्रामूलक और गुणात्मक प्रश्नावली विधि** (Empirical Quantitative and Qualitative Questionaire Method)–इस विधि में परिवार से बाहर तथा भीतर अन्तर्व्यक्तिगत सम्बन्धों भीतर अन्तर्व्यक्तिगत सम्बन्धों तथा उत्तरदाता से व्यवहार तथा विशेषाधिकार विषयक चुने हुए मदों पर प्रश्न पूछे जाते हैं। गुणात्मक विश्लेषण के लिए मात्रामूलक आंकड़ों का प्रयोग किया जाता है। यह उपागम अवध ारणाओं (concepts), परिकल्पनाओं, तथा सिद्धान्तों की खोज में प्रतिबन्ध नहीं लगाता।

उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त स्त्रियों की वर्तमान स्थिति के मूल्यांकन के तीन सैद्धान्तिक प्रस्तावों का प्रयोग भी (स्त्रियों के अधिकारों) पर किया जाता है। यह हैं: उदारवादी नारीवाद (Liberal feminism), मार्क्सवादी नारीवाद (Marxist feminism) तथा आमूल परिवर्तनवादी नारीवाद (Radical feminism)। उदारवादी नारीवाद लिंग समानता (gender equality) अर्थात् स्त्री पुरुषों के समान अधिकार में विश्वास रखता है। यह एक लिंग का दूसरे के अधीन मानने की धारणा को अस्वीकार करता है अथवा स्त्रियों को मानव (human-beings) मानने के स्थान पर यौन वस्तु नहीं मानता। फिर भी यह विचार लिंग के आधार पर श्रम-विभाजन को चुनौती नहीं देता। इस विचार के अनुसार, स्त्री घरेलू काम-काज तथा पुरुष बाहरी काम काज के लिए ही सर्वथा उपर्युक्त है।

मार्क्सवादी नारीवाद उस पूर्व विचारधारा से प्रस्थान को संकेत करता है जो नारीवाद को बुर्जुआ मानने से इंकार कर देता है। सर्वहारा वर्ग की मार्क्स की परिभाषा में निश्चित रूप से स्त्रियों में रुचि सीमांतरीय है। एंजिल द्वारा स्त्रियों के दमन को सम्पत्ति का विश्व ऐतिहासिक प्रभाव मानकर व्याख्या को परिष्कृत कर लिया गया है।

एंजिल की मान्यता थी की स्त्री पराधीनता निजी सम्पत्ति के उदय तथा उत्पादन के साधनों के स्वामित्व का प्रतिफल है। पुरुष के असमान स्त्री का कार्य 'उपयोग' (use) मूल्य तो रखता है, लेकिन उसका 'आदान-प्रदान' (exchange) मूल्य नहीं होता। इसलिए पुरुष स्त्री की अपेक्षा अधिक शक्ति का स्वामी होता है या फिर इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्त्री का दमन उसके मुफ्त में किए गए गृहकार्य के कारण किया जाता है। आमूल परिवर्तनवादी नारीवाद (radical feminism) यद्यपि यौन समानता में विश्वास रखता है तथापि यह श्रम के परम्परागत विभाजन को अस्वीकार करता है। इसकी मान्यता है कि लिंग भूमिका न केवल जैविक कारकों का फल है, बल्कि यह संस्कृति का भी फल है। यह विचारधारा मुक्त यौन एवं माता-पिता द्वारा बच्चों की संयुक्त देखभाल में विश्वास रखती है। इस प्रकार उन्नसवीं शताब्दी में जब मार्क्सवादियों ने स्त्रियों के प्रश्न पर वाद-विवाद को निश्चित मोड़ प्रदान किया (कि स्त्रियों का दमन उत्पादन के पूँजीवादी तरीके की विशेषता है), अब वे अधिक मानवतावादी दृष्टिकोण से व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं।

*क्या आप जानते हैं* समकालीन नारीवाद का उदय नव वामपंथ (New Left) तथा 1960 के दशक के छात्र आन्दोलन का प्रतिफल है।

उपर्युक्त विचारधाराओं की पृष्ठभूमि में यह कहा जा सकता है कि भारत में स्त्रियों की स्थिति में 1950 के बाद से पर्याप्त सुधार हुआ है। संरचनात्मक तथा सांस्कृतिक दोनों ही प्रकार के परिवर्तनों ने स्त्रियों को न केवल शिक्षा, रोजगार तथा राजनैतिक भागीदारी में समान अवसर प्रदान किए हैं बल्कि स्त्रियों के शोषण को भी कम किया है तथा उन्हें अपने संगठन बनाने के अवसर प्रदान किए हैं, जिनसे वे अपनी समस्याओं में अधिक रुचि ले सकें। इसके अतिरिक्त इस बात को भी अधिक अनुभव किया जा रहा है कि अनुसंधान, राष्ट्रीय नीति, एवं स्त्रीपरक

नोट

कार्यक्रमों के बीच एक सामंजस्य होना चाहिए। स्त्रियों के निम्न स्तर के कारणों के अध्ययन एवं प्रत्येक क्षेत्र में उनके अधिकारों की रक्षा करने के उद्देश्य से केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों ने विविध कमीशनों की नियुक्ति की है। केन्द्रीय सरकार ने दो ऐसे महत्वपूर्ण कमीशन 1971 व 1992 में नियुक्त किए थे। 31 जनवरी, 1992 को महिलाओं के लिए राष्ट्रीय कमीशन का गठन किया गया जिसका उद्देश्य था, महिलाओं से संबंधित मामलों को देखना, स्त्रियों के स्तर की जाँच करना, विविध विधानों का अध्ययन करना तथा उनमें कमजोर बिन्दुओं व खामियों की ओर संकेत करना, महिलाओं के प्रति किए गए भेदभाव व हिंसा के कारणों का पता लगाना तथा संभावित उपायों का विश्लेषण करना।

इस लेखक की धारण है कि भारतीय महिला आज भी आर्थिक रूप से पुरुष के प्रभुत्व से मुक्त नहीं है। सामाजिक, नैतिक व मनोवैज्ञानिक आयामों में भी उसकी स्थिति पुरुष के समरूप नहीं है। जिस प्रकार वह नौकरी करती है, घर का काम करती है, इन सब के प्रति उसकी निष्ठा उसके जीवन के स्वरूप के संदर्भ पर निर्भर करती है। जब वह अपना प्रौढ़ जीवन प्रारम्भ करती हैख तब उसका अतीत वैसा नहीं होता जैसा पुरुष का होता है। समाज के द्वारा उसका मूल्यांकन बिल्कुल भिन्न परिपेक्ष्य में होता है। एक बड़ी संख्या में महिलाएं मुक्ति प्राप्त करने में असफल रहती हैं क्योंकि वे परम्परागत नारी जगत के घेरे से बाहर नहीं निकल पातीं। उन्हें न तो समाज से ही और न अपने पति से ही पुरुषों के समान होने के लिए आवश्यक सहायता मिलती है। निस्संदेह आज भी वे पुरुषों के अत्याचारों का शिकार हैं।

स्त्रियों को अधिकारों से वंचित रखने के लिए वैयक्तिक, आर्थिक व जनसंख्या संबंधी कारक हो सकते हैं। वैयक्तिक कारकों का संबंध उन पुरुषों के व्यक्तित्व की विशेषताओं से है जो निम्न बौद्धिक योग्यता (I.O.) रखते हैं, जो अपरिपक्वता, कुण्ठा, तथा नैराश्य से पीड़ित होते हैं और जो स्त्रियों से अयथार्थवादी उच्च आशाएँ रखते हैं तथा आशा करते हैं कि वे निष्क्रिय एवं दब्बू बनीं रहें। जहाँ तक आर्थिक कारकों का संबंध है, न कमाने वाली महिलाओं को कमाने वाली महिलाओं की अपेक्षा अधिकारों से अधिक वंचित रखा जाता है; निम्न व मध्यम आय वर्गीय महिलाओं को उच्च आय वर्गीय महिलाओं की अपेक्षा अधिकारों से अधिक वंचित रखा जाता है; और नौकरियों में निम्न स्तर की नौकरियों में लगी महिलाओं को उच्च पद वाली नौकरियों में लगी महिलाओं की अपेक्षा कम अधिकार होते हैं। अन्त में, जहाँ तक जनसंख्यक कारकों का संबंध है, उच्च जातियों की महिलाओं को निम्न एवं मध्यम जाति की महिलाओं की अपेक्षा अधिकारों से कम वंचित किया जाता है, बड़ी आयु के पुरुष स्त्रियों को अधिकारों में कम आयु के पुरुषों की अपेक्षा अधिक वंचित करते हैं, तथा महिलाओं द्वारा महिलाओं को अधिकारों से अधिक वंचित किया जाता है, अपेक्षाकृत पुरुषों द्वारा महिलाओं को। यह हमें उन पुरुषों को पहचानने में सहायता करता है जो स्त्रियों को अधिकार देने से इन्कार करते हैं। यह वे पुरुष होते हैं जो हीन भावना के शिकार होते हैं; नैराश्य से भरे होते हैं बुद्धि व योग्यता कम रखते हैं या फिर समाज विकृति और मनोविकृति से पीड़ित होते हैं, अर्थात् उनका व्यक्तित्व अव्यवस्थित होता है, स्वभाव से सन्देह करने वाले होते हैं, अपने बचपन में हिंसा के शिकार हुए होते हैं, और परिवार में तनावपूण्र स्थितियों का सामना करते रहते हैं। उन स्त्रियों को भी अलग से पहचाना जा सकता है जिन्हें अधिकारों से वंचित रखा जाता है; वे स्त्रियाँ स्वयं को असहाय अनुभव करती हैं, हीन भावना से ग्रसित होतीं हैं, स्वयं के विषय में हीन धारणाएं रखतीं हैं, सामाजिक परिपक्वता में कमी अनुभव करती हैं तथा आर्थिक रूप से आश्रित होती हैं।

हम छः प्रकार के अधिकारों से वंचनाओं (deprivations) को भी अलग से पहचान सकते हैं: धन के परक (money oriented), आनन्द परक (pleasure oriented), शक्ति परक (power oriented), पीड़ित स्त्री परक (victim precipitated), इंकार करने वाले की विकृति के फलस्वरूप (deniar's pathology resulted), तथा परिवार की तनावपूर्ण स्थितियों के फलस्वरूप (Stressful family situation resulted)।

नोट

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**2. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–**

1. ..... की मृत्यु के उपरान्त कस्तूरबा गाँधी राष्ट्रीय स्मारक ट्रस्ट प्रारम्भ किया गया।
2. ..... के आदर्शो के अनुसार पुरूष स्त्रियों से श्रेष्ठ होते हैं।
3. ..... अनुभाविक अनुसंधान विधि स्त्रियों की स्थिति तथा पतियों के प्रभुत्व के बीच के सम्बन्धों पर मूल्यांकन साक्ष्य प्रस्तुत करती है।
4. ..... के लिए मात्रा मूलक आंकड़े का प्रयोग किया जाता है।
5. ..... को महिलाओं के लिए राष्ट्रीय कमीशन का गठन किया गया।

## 10.5 स्त्रियाँ और रोजगार (Women and Employment)

श्रम के बाजार में स्त्रियों को हानि ही उठानी पड़ती है। यह हानि उनकी अशिक्षा, दक्षता की कमी, समाज व्यवस्था में हीन स्थिति तथा निर्णय करने तथा शक्ति की संरचना से उन्हें बाहर रखने जैसे स्थितियों का ही प्रतिफल है।

1. **कामकाजी महिलाएं** (The Working Women)–1991 की जनगणना कमिश्नर की रिपोर्ट के अनुसार शहरों व गाँवों में ही घर की चार दीवारी से बाहर आकर काम करने वाली महिलाओं की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। 1971 की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार देश की कुल कार्य शक्ति (work force) में 13.0% महिला श्रमिक थीं। यह प्रतिशत 1981 में 25.89 और 1991 में 28.57 हो गया (The Hindustan Times, April 6, 1993)। लगभग 80% महिलाएं कृषि कार्यो में लगी हैं। केवल 12.0% स्त्रियाँ ही केन्द्रीय व राज्य प्रशासनिक सेवाओं में और सार्वजनिक प्रतिष्ठानों में लगी हैं। सारणी 1 और 2 कुल महिला जनसंख्या तथा अवैतनिक (unpaid) श्रमिकों को दर्शातें हैं, जो कि 1981 में 20.76 मिलियन से बढ़कर 1991 में 28.27 मिलियन हो गई।

**तालिका 1**

भारत में स्त्री जनसंख्या एवं महिला कामगर

| श्रेणी | स्त्री जनसंख्या (मिलियन में) | | | स्त्री कामगर (मुख्य व सीमान्त), (मिलियन में) | | | स्त्री कामगरों की कार्य भागीदारी की दर | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | 1961 | 1971 | 1981 | 1991 | 1971 | 1981 | 1961 | 1971 | 1981 | |
| कुल | 206.2 | 255.0 | 318.2 | 406.5 | 57.5 | 36.2 | 66.3 | 5.75 | 3.62 | 6.63 |
| ग्रामीण | 170.6 | 205.6 | 245.1 | 304.0 | 53.6 | 32.7 | 58.5 | 5.36 | 3.27 | 5.85 |
| शहरी | 35.6 | 49.4 | 73.1 | 102.5 | 3.9 | 3.5 | 7.8 | 0.39 | 0.35 | 0.78 |

1979 में फैक्ट्रियों में रोजगार प्राप्त स्त्रियों की संख्या 5.14 लाख थी, खानों में 0.8 लाख, तथा बागानों में 4.18 लाख थी।

भारत में कुल कामकाजी महिलाओं में से प्रत्येक 100 सेवायुक्त (employed) महिलाओं में से 52.59 अशिक्षित हैं; 28.56 प्राइमरी तथा मिडिल स्तर तक शिक्षित, 13.78 सेकेण्डरी स्तर तक शिक्षित और 5. 07 स्नातक और इससे ऊपर शिक्षित हैं। (वहीं: 124) शहरी क्षेत्रों में प्रत्येक 100 सेवा युक्त महिलाओं में से 25.83 अशिक्षित, 35.49 प्राइमरी और मिडिल तक, 25.71 सेकेण्डरी तक और 12.97 स्नातक और

नोट

अधिक तक शिक्षित हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रत्येक 100 सेवायुक्त महिलाओं में से 88.11 अशिक्षित, 10. 68 प्राइमरी व मिडिल तक तथा 1.21 मिडिल से ऊपर शिक्षित हैं।

**तालिका 2**

महिला कामगारों की प्रतिशत में विषमता

| श्रेणी | 1961 | 1971 | 1981 |
|---|---|---|---|
| कृषक | 15.45 | 3.61 | 4.77 |
| कृषि श्रमिक | 6.87 | 6.18 | 6.58 |
| अन्य श्रमिक | 5.61 | 2.34 | 3.09 |
| कुल महिला कामगार | 27.93 | 12.13 | 14.44 |

2. **कार्य प्रेरणाएं** (Work Motivation)–महिलाएं रोजगार क्यों ढूंढ़ती हैं? स्त्रियों में रोजगार के लिए प्रेरणा पुरुषों से भिन्न होती है। स्पष्ट कारण तो है धन की आवश्यकता, लेकिन यह कहना गलत हो कि सभी महिलाएं धन के कारण ही नौकरी करती हैं। एक अध्ययन में 728 कामकाजी महिलाओं के अध्ययन में नौकरी करने के प्रमुख कारण इस प्रकार पाये गये: पति द्वारा परित्याग तथा घर से बाहर काम करने को वरीयता देने के कारण। मोटे तौर पर कहा जाये तो, 89.0% महिलाएं आर्थिक आवश्यकताओं के कारण ही नौकरी करती हैं।

दीपा माथुर (1992: 23) के जयपुर (राजस्थान) में 225 कामकाजी महिलाओं के अध्ययन से महिलाओं के सेवायुक्त होने के छ: कारक पता चलते हैं: आर्थिक आवश्यकता या परिवार की आय में सहयोग (22.7%), भावी कुसमय से सुरक्षा (20%), रहन सहन के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए (20.4%), मन बहलाव व सामाजिक सम्पर्को के कार (17.3%) व्यक्तिगत सम्मान और आकांक्षाओं के कारण (12.4%), स्वाभिमान की पूर्ति (7.2%)। इस प्रकार 63.0% स्त्रियाँ आर्थिक आवश्यकताओं के कारण कार्य करती थी और 37.0% अनार्थिक कारणों से। जब उन स्त्रियों से पूछा गया कि यदि उन्हें स्वेच्छा प्रदान की जाये कि वे पूर्ण कालिक सेवायुक्त बनना पसन्द करेंगी या पूर्ण कालिक गृहिणी, तो 52.0% ने केवल गृह कार्य पसन्द किया और 48.0% ने गृहकार्य तथा नौकरी का समन्वय (वही: 24)। इस प्रकार, आधी से कुछ कम महिलाओं ने काम करने की उत्सुकता दर्शायी और आधे से कुछ अधिक ने काम के लिए अनिच्छा दर्शायी। प्रेरक स्तर (motivational level) के मापन से पता चला कि 47.5% महिलाओं का प्रेरक स्तर बहुत ऊंचा था, 35.1% का मध्यम (moderate) था, और 17.3% का निम्न था। उच्च प्रेरणा स्तर का संबंध उच्च शिक्षा स्तर से, नौकरी के उच्च संतोष से, और कम आयु से था। 29.0% मामलों में प्रेरणा का श्रोत था जनक परिवार (माता-पिता, भाई-बहिन), 23.0% मामलों में श्रोत था जनन परिवार, 9.0% मामलों में मित्र व अध्यापक थे, और 39% मामलों में श्रोत स्व-प्रेरणा थी।

कार्य की प्रेरणा की प्रवृत्ति में वृद्धि करने वाले कारको की तरह ही कुछ ऐसे कारक भी हैं जो इस प्रवृत्ति को कम करते हैं। दीपा माथुर के अध्ययन (वही: 36) में प्रेरणा कम करने वाले कारक थे: उपयुक्त नौकरियों का उपलब्ध न होना (49%), दक्षता में कमी (20%) काम करने की इच्छा में कमी (18%) पति से प्रोत्साहन न मिलना (8%) और पति की नौकरी की आवश्यकताओं के साथ असंगता (incompatibility) (5%)।

*टास्क* 1940 में स्त्रियों की निम्न दशा के क्या कारण थे?

3. **दोहरी भूमिका का संतोष** (Dual Role Satisfaction)–कितनी स्त्रियाँ अपनी दोहरी भूमिका से संतुष्ट रहती हैं? यदि धन अर्जन करने वाली महिला माँ और पत्नी की भूमिका में विलीन करने के प्रयत्न में

नोट

सफल होती हैं तो वह महिला अपनी दोहरी भूमिका से संतुष्ट मानी जायेगी। 'उच्च' संतोष काम करने और घर बनाने वाली भूमिका प्रसन्नता पूर्वक निभाने में निहित हैं; 'मध्यम' संतोष का अर्थ है दोनों भूमिकाओं में सीमान्त असंतुलन (marginal imbalance), तथा 'निम्न' संतोष एक या दोनों भूमिकाओं में असंतोष में निहित है। दीपा माथुर के अध्ययन में 53% महिलाएं अपनी दोहरी भूमिकाओं से उच्च संतुष्ट, 18: मध्ययम संतुष्ट व 29% असंतुष्ट पायी गयीं।

दोहरी भूमिकाओं के साथ संतोष/असंतोष कामकाजी महिलाओं के आत्म-प्रतिबिम्ब (self-image) अथवा स्वयं के विषय में की गई कल्पनाओं को प्रभावित करता है। स्वयं के विषय में ऊँचे प्रतिबिम्ब बनाने का अर्थ है कि महिला यह अनुभव करती है कि काम करने के कारण उसके व्यक्तित्व में सुधार हुआ है, जबकि निम्न प्रतिबिम्ब का अर्थ है कि महिला यह अनुभव करे कि काम/नौकरी ने उसके व्यक्तित्व पर अच्छा प्रभाव नहीं डाला है।

मिन्म स्व-प्रतिबिम्ब और दोहरी भूमिकाएं, कामकाजी महिलाओं के लिए भूमिका संघर्ष जैसी समाजशास्त्रीय समस्या पैदा कर देती है। जिसका प्रभाव, पारिवारिक संबंधों, बच्चों की देखभाल तथा सक्रिय व निष्क्रिय रूप से भूमिकाओं के निर्वाह करने पर पड़ता है। लज्जाशील व नम्र स्वभाव की स्त्रियों को प्रभावशाली व्यक्तित्व वाली स्त्रियों की अपेक्षा दोहरी भूमिका निर्वाह में अधिक समस्याओं को सामना करना पड़ता है। दीपा माथुर (वही, 87-88) ने अपने अध्ययन में देखा कि 21.8% स्त्रियाँ उच्च कोटि के भूमिका संघर्ष की स्थिति में थीं, 44.4% निम्न कोटि के, तथा 33.8% किसी भी प्रकार के भूमिका संघर्ष की स्थिति में नहीं थीं। काम करने के प्रेरणात्मक स्तर, पत्नी के रोजगार के प्रति पति का दृष्टिकोण, कार्य के स्थान पर अन्तर्व्यक्तिगत संबंध और महिलाओं के व्यक्तित्व के प्रकार आदि विविधताओं तथा भूमिका संघर्ष के बीच महत्वपूर्ण, मध्यम तथा कमजोर संबंध पाये गए।

भूमिका संघर्ष और प्रेरणा तथा पति के दृष्टिकोण के बीच संबंध 'महत्वपूर्ण' हैं, काम करने के स्थान पर अन्तर्व्यक्तिगत संबंध के साथ संबंध कमजोर हैं, तथा बच्चों की उपस्थिति की दशा के साथ संबंध 'मध्यम' हैं।

रामू (1989) का मत है कि नवीन आर्थिक व घरेलू भूमिकाओं के बीच के संघर्ष का फल महिलाओं के कार्यकलापों के विभागीकरण के रूप में होता है। यद्यपि यह अस्थाई ही होता है क्योंकि व्यवसाय व गृहस्थ जीवन के बीच स्पर्द्धा की मांग होती है कि वे इसके साथ समन्वय करें, किन्तु अनेक महिलाओं के लिए यह असम्भव सा ही प्रतीत होता है। कुछ समय के बाद वे अनुभव करती हैं कि या तो वे अपनी व्यावसायिक आकांक्षाओं को नीचे लाएं या फिर अपने गृहस्थ दायित्वों में कुछ कटौती करें।

4. **भूमिका समायोजन** (Role Adjustment)-कामकाजी महिलाओं को अपने परिवार तथा कार्य के स्थान के बीच अपने को समायोजित करन पड़ता है। समायोजन का अर्थ है एक परिस्थिति से दूसरी परिस्थिति पर चले जाना, भूमिकाओं का दूसरों के परिपेक्ष्य से अवलोकन तथा विविध भूमिकाओं को कुशलता तथा संतोषप्रद ढंग से निर्वाह करना होता है। सरल शब्दों में 'भूमिका समायोजन' भूमिका की मांग (roel demands) तथा व्यक्ति की भूमिका को करने (role performance) पर निर्भर करता है।

एक कामकाजी महिला को असंख्य समस्याओं का सामना करना पड़ता है। घर के जीवन का समायोजन दफ्तर की दिनचर्या से करना होता है। घर के कामकाज को परम्परागत चर्या से भिन्न बिन्दुओं पर व्यवस्थित करना होता है। लार्जान्स (Lazarns, 1961) के अनुसार समायोजन दर्शाने वाले चार प्रमुख सूचक (indicators) हैं: भूमिकाओं का कूशल व बुद्धिमतापूर्ण निर्वाह, मनोवैज्ञानिक सुख की सीमा, तनाव लक्षणों का अभाव तथा व्यवहार की समाजिक स्वीकृति।

समायोजन का एक आयामी नैरन्तर्य (unidimensional continuum) पर माप किया जाता है। नैरन्तर्य में व्यक्ति की स्थिति उच्चतम बिन्दु से निम्नतम बिन्दु तक स्थित की जाती है। निम्न समायोजन को

नोट

कुसमायोजन (maladjustment) से पृथक कर लिया जाता है क्योंकि दोनों ही गुणों के आधार पर एक दूसरे से भिन्न होते है।। कुसमायोजन में व्याधिकीय अनुक्रिया (pathological responses) निहित है, जबकि निम्न समायोजन परिस्थिति में पूर्ण रूप से विलीन होने की स्थिति दर्शाता है।

## 10.6 स्त्रियों के अधिकार (Women's Empowerment)

ऐसे समाज में जहाँ कुल जनसंख्या की आधी तथा तीन-पंचमांश भाग अशिक्षित महिलाएं हैं (1991 जनगणना), ऐसे रुढ़िवादी परम्पराओं एवं विश्वासों तथा प्रथाओं में जकड़े हुए समाज को रातों रात नहीं बदला जा सकता। न ही इनके विरुद्ध प्रबल जनमत तैयार करना सरल है। विधानों का कुछ प्रभाव होता है लेकिन इनको बड़ी सावधानी से चरणों में लागू करना होता है। विधान की पुस्तकों में महिलाओं से संबंधित कितने विधान है? हिन्दू समाज को इन विधानों ने किस सीमा तक आन्दोलित किया है? किस सीमा तक उन विधानों से सामाजिक परिवर्तन आया है? इन विधानों के माध्यम से प्राप्त महिला अधिकारों का विवेचन हम यहाँ संक्षेप में करेंगे।

पुरुषों के समान स्त्रियों को भी भारतीय संविधान द्वारा प्रमुख अधिकार इस प्रकार हैं:

1. समानता का अधिकार, अर्थात् अवसरों की समानता, कानून के समक्ष समानता, कानूनों को समान संरक्षण तथा नौकरियों आदि में लिंग के आधार पर भेद भाव न समझा जाना।
2. स्वतंत्रता का अधिकार, अर्थात् भाषण की स्वतंत्रता, निवास की स्वतंत्रता एवं व्यवसाय व गतिशीलता की स्वतंत्रता।
3. शोषण के विरुद्ध स्वतंत्रता, अर्थात् 'बेगार' के विरुद्ध।
4. धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार, अर्थात् उपदेश तथा धर्म का स्वतंत्रतापूर्वक अनुपालन।
5. सम्पत्ति का अधिकार, अर्थात् सम्पत्ति प्राप्त करने, रखने तथा बेचने का अधिकार।
6. सांस्कृतिक एवं शैक्षिक अधिकार, अर्थात् संस्कृति का संरक्षण तथा शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश प्राप्त करने का अधिकार।
7. संवैधानिक उपचार (remedy) का अधिकार, अर्थात् मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए न्यायालय की शरण में जाने का अधिकार।

इन मूल अधिकारों के आश्वासन के अतिरिक्त राज्य सरकारों को भी यह अधिकार दिए गए हैं कि समय-समय पर ऐसे विधान लागू करें जो स्त्रियों के हितों की रक्षा करते हों तथा स्त्रियों के साथ व्यवहार में उन्हें वरीयता दी जाए। इस आधार पर सरकार समय-समय पर ऐसे वैधानिक उपाय करती रही है जिनसे सामाजिक व्यवस्था एवं न्याय बना रहे।

गत तीन या चार दशकों में काफी संख्या में विधान लागू किए गए हैं एवं कुछ में सुधार किए गए हैं जिनसे महिलाओं के समान स्तर एवं अवसरों को सुनिश्चित किया गया है। इन विधानों का मूल्यांकन तीन स्तरों पर किया जा सकता है: सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक।

### 10.6.1 सामाजिक विधान

महिलाओं से संबंधित तथा सामाजिक कानूनों से संबंधित चार प्रमुख मामले हैं: विवाह, गोद लेना (adoption), संरक्षकता (guardianship) एवं गर्भपात (abortion)। विवाह से संबंधित प्रमुख समस्याएं हैं: (1) जीवन साथी का चुनाव, (2) विवाह की आयु, (3) बहु पत्नी विवाह, (4) निर्योग्य (invalid) विवाह, (5) निष्प्रभावी (void) विवाह, (6) विवाह विच्छेद, (7) दाम्पत्य अधिकारों का प्रत्यास्थापन (restitution of conjugal rihgts), (8) गुजारा भत्ता, (9) बच्चे का संरक्षण (custody of child), (10) दहेज, (11) पुनर्विवाह। पूर्व उल्लिखित कुछ लागू हो चूके विधान इस प्रकार हैं: 1955 का हिन्दू विवाह अधिनियम, 1954 का विशेष विवाह अधिनियम तथा 1856 का पुनर्विवाह अधिनियम।

नोट

बच्चों को गोद लेने से संबंधित नियम 1956 में पारित किया गया जिसे हिन्दू दत्तक ग्रहण एवं भरण पोषण अधि नियम नाम दिया गया। न केवल विवाहित स्त्रियों को बल्कि अविवाहित स्त्री, विधवा स्त्री तथा तलाकशुदा स्त्री को भी बच्चों को दत्तक अधिग्रहण का अधिकार दिया गया है। केवल अविवाहित तथा पन्द्रह वर्ष से कम आयु के बच्चों का ही दत्तक ग्रहण किया जा सकता है।

1970 तक गर्भपात से वैधानिक दृष्टि से अपराध माना जाता था। 1971 में चिकित्सा गर्भ समापन अधिनियम (Medical Termination of Pregnancy Act) पारित किया गया जिसके माध्यम से गर्भवती महिला व गर्भपात शल्यक (abortionist) दोनो को ही गर्भपात की अनुमति प्रदान कर दी गई। यह अधिनियम अप्रेल, 1972 से लागू किया गया तथा यह केवल बारह सप्ताह तक के गर्भ के गर्भपात की अनुमति केवल रजिस्टर्ड डॉक्टर को देता है। गर्भ के केवल इन परिस्थितियों में ही समाप्त करने की अनुमति दी गई है: यदि गर्भवती महिला के जीवन को जोखिम हो, उसके शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य को गंभीर हानि की आशंका हो या फिर इस बात का भय हो कि जन्म लेने वाला बच्चा अपंग या शारीरिक व मानसिक असमानताओं (abnormalities) के साथ जन्म लेगा। गर्भपात ऐसे मामलों में भी स्वीकृत होता है जहाँ गर्भ का कारण बलात्कार या गर्भ निरोधक विधियों की असफलता रहा हो।

### 10.6.2 आर्थिक विधान

आर्थिक विधानों से संबंधित विषय हैं: सम्पत्ति का अधिकार, समान पारिश्रमिक, कार्य करने की दशाएं, प्रसूति लाभ, तथा कार्य सुरक्षा (job security)। एक महिला के सम्पत्ति अधिकार का अर्थ है उसका पत्नी, पुत्री, विधवा तथा माँ के रूप में सम्पत्ति का अधिकार। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अनुसार न केवल पुत्री को ही उसके भाई के बराबर का भाग पिता की सम्पत्ति में मिलता हैं, बल्कि एक विधवा को भी अपने मृत पति की सम्पत्ति में से उसे पुत्रों और पुत्रियों के बराबर का भाग मिलता है। इस विधान ने 'स्त्रीधन' एवे 'गैर स्त्रीधन' के बीच का भेद भी समाप्त कर दिया है।

जहाँ तक समान पारिश्रमिक का संबंध है, समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976 (Equal Remuneration Act, 1976) महिला तथा पुरुष कर्मियों के पारिश्रमिक में भेद करने की अनुमति नहीं देता । जो मालिक इन विधानों का पालन नहीं करते उन के लिए दण्ड का प्रावधान है।

कार्य अवधि में कार्य दशाओं का नियंत्रण फैक्ट्री अधिनियम, 1948 से होता है। फिर, कार्य घण्टे, साप्ताहिक विश्राम, सफाई के स्तर, प्रकाश व्यवस्था, तापमान, मशीनों की सीमा बन्दी, प्राथमिक उपचार की सुविधा, विश्राम गृह, आदि प्रावधानों के अतिरिक्त इस विधान में बच्चों के शिशु गृह (creches) स्थापित करने की तथा महिलाओं के लिए पृथक से प्रसाधन (toilets) स्थापित करने का प्रावधान है। महिलाओं के लिए एक दिन में अधिकतम नौ घण्टे तथा रात्रि 10 बजे से प्रात: 5 बजे के बीच कोई भी कार्य न करने देने का प्रावधान भी इस कानून में है।

### 10.6.3 राजनैतिक अधिकार

भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त महिलाओं को दो प्रमुख अधिकार है: महिलाओं को मताधिकार और विधान मण्डल के लिए योग्यता। महिला मताधिकार की माँग सर्वप्रथम 1917 में की गई थी, किन्तु साउथ बरो फ्रेन्चाईज कमेटी ने 1918 में इस मांग को अस्वीकार कर दिया। 1919 में सरकार ने राज्य सरकारों को अधिकार दे दिया कि वे स्त्री मताधिकार के संबंध में अपने अलग विधान लागू करें। इस प्रकार के विधान राजकोट में 1923 में, ट्रावन्कोर कोचीन में 1924 में, मद्रास व उत्तर प्रदेश में 1925 में, पंजाब व असाम में 1926 में, तथा बिहार और उड़ीसा में 1929 में पारित किए गए। (Jane Matson, 1971: 108-110)। 1935 के भारत सरकार अधिनियम में शैक्षिक योग्यता के आधार पर स्त्री मताधिकार प्रदान किया गया। फलस्वरूप, 1937 में 56 महिलाओं ने चुनाव के माध्यम से विधान मण्डलों में प्रवेश किया। स्वतंत्रता के बाद स्त्री मतदाताओं की संख्या तथा राज्य विधान मण्डलों तथा लोक सभा में महिला प्रतिनिधियों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

नोट

*टास्क* आधुनिक स्त्री को आप किस रूप में देखते हैं?

## 10.7 अधिकार चेतना (Consciousness of Rights)

यद्यपि भारत में महिलाओं को अन्य देशों की महिलाओं की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त हैं, किन्तु क्या हमारे देश की महिलाओं में अपने अधिकारों के प्रति चेतना है? इस लेखक ने कुछ वर्ष पूर्व राजस्थान के एक जिले के एक गांव की 18 से 50 बर्ष की आयु की 753 स्त्रियों का एक अध्ययन किया था। अध्ययन का मुख्य उद्देश्य स्त्रियों में अधिकारों के लिए चेतना का मूल्यांकन तथा संविधान तथा विविध विधानों द्वारा प्रदत्त अधिकारों के प्रति संतुष्टि के स्तर को नापना था।

इस अनुसंधान का सैद्धान्तिक मॉडल (Conceptual Model) यह था कि किसी विशेष क्षेत्र में, (जैसे, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व धार्मिक) महिलाओं की अधिकार चेतना का स्तर चार बातों पर निर्भर करना है: स्त्री की व्यक्तिगत पृष्ठभूमि (शैक्षिक स्तर, आकांक्षाओं का स्तर और व्यक्तिगत आवश्यकता), उसकी सामाजिक परिस्थितियाँ (रिश्तेदारों की अपेक्षाएं, पति के आदर्श, तथा परिवार के सदस्यों के दृष्टिकोण), उसका अपना दृष्टिकोण (अपने स्तर तथा भूमिका के प्रति) तथा उसका आर्थिक आधार (वर्ग-सदस्यता का स्तर)। हमारे विश्लेषण में विभिन्न प्रकार के अधिकारों के प्रति चेतना तथा अधिकारों के उपभोग के संतुष्टि स्तर से संबंधित निम्नलिखित तथ्य सामने आए:

### 10.7.1 सामाजिक अधिकारों की चेतना

1. महिलाओं को विवाह संबंधी कानूनों की जानकारी बहुत कम है। हमारे सर्वेक्षण में केवल दस में से एक महिला को ही अपने जीवन साथी के चुनाव के अधिकार की जानकारी थी, लगभग 50 में से एक को विवाह की सही आयु की जानकारी थी, पांच में से एक से भी कम को तलाक के अधिकार का ज्ञान था, दस में से एक से भी कम का तलाक के बाद गुजरे भत्ते के अधिकार का ज्ञान था, पांच में से एक से कम को विधव, पुनर्विवाह अधिकार का और पांच में से एक से भी कम को दहेज कानून का ज्ञान था। इन सभी पक्षों को एक रखने पर हम कह सकते हैं कि दस में से एक महिला को ही विवाह कानूनों की कुछ जानकारी थी।
2. परिवार में निर्णय लेने के विषय मे महिलाओं की भूमिका किनारे की होती है। पत्नि के साथ पति महत्वहीन विषयों में ही सलाह करते हैं।
3. पति पत्नी के बीच दाम्पत्य संबंधों का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं हो सका है।
4. महिलाओं की परिवार में स्थिति कुण्ठाग्रस्त न होकर जीवन अनुभवों के बीच संतोष की होती है।
5. लगभग दो तिहाई महिलाएं अपने वैवाहिक तथा पारिवारिक जीवन से संतुष्ट होती हैं।
6. घर के काम से संतुष्टि का स्तर आयु, शिक्षा तथा आय के साथ-साथ बदलता रहता है।

### 10.7.2 आर्थिक अधिकारों की चेतना

1. यद्यपि बहुत कम महिलाओं को अपने पिता की सम्पत्ति में से भाग लेने का अधिकार का ज्ञान है, किन्तु अपने पति की सम्पत्ति में से अपने भाग के अधिकार का ज्ञान अधिक संख्या में 80% स्त्रियों को है।
2. थोड़ी संख्या में (एक तिहाई) महिलाओं को अपने पति की सम्पत्ति मे उत्तराधिकार प्राप्त होता है किन्तु पिता की सम्पत्ति से भाग प्राप्त करने वाली महिलाओं की संख्या नगण्य (0.5%) है।
3. गाँवों में दस में से केवल एक महिला ही कामकाजी है तथा आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र है।

नोट

4. कामकाजी महिलाएं भी गृह कार्य तथा गृहस्थी निर्माता के रूप में अपनी भूमिका का मूल्यांकन उतनी ही सापेक्षता से करती है जितनी कि घरेलू महिलाएं।
5. कामकाजी महिलाओं में दस मे से नौ अपनी आमदनी से असंतुष्ट होती है। यह असंतोष कार्य के विचार से उतना नहीं होता जितना कि कार्य दशाओं या पारिश्रमिक से।
6. जो महिलाएं अपने परिवार की अर्थव्यवस्था में योगदान करती हैं वे अपनी आया को अपनी इच्छा से व्यय करने के लिए स्वतंत्र नहीं होतीं।

### 10.7.3 राजनैतिक अधिकारों की चेतना

1. बहुत कम संख्या (लगभग 20%) में महिलाओं को अपने राजनैतिक अधिकारों का ज्ञान है।
2. मताधिकार प्राप्त महिलाओं में से लगभग तीन चौथाई ही उसका प्रयोग करती हैं। रोचक बात यह है कि महिलाएं राजनीति से प्रेरित होकर वोट देने नहीं जातीं, बल्कि घूमने के उद्देश्य से जाती हैं।
3. महिलाओं का मत देने का व्यवहार न तो राजनैतिक गतिशीलता से और न ही राजनैतिक समाजीकरण से जुड़ा होता है, बल्कि अपने पति के राजनैतिक विश्वास और अभिरुचि से जुड़ा होता है।
4. चुनाव का उदार सिद्धान्त जो मतदाता के वोट को उसके तर्कयुक्त पसन्द या उम्मीदवार या पार्टी के लिए अभिरुचि से जोड़ता है, वह महिलाओं के मत डालने के व्यवहार के लिए तर्कसिद्ध (valid) नहीं है।
5. आमतौर पर महिलाएं किसी भी राजनैतिक दल की सक्रीय सदस्य नहीं होती हैं; कुछ महिलाएं किसी राजनैतिक दल की समर्थक अवश्य होती हैं।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता हैं कि अधिकार चेतना अपने आप स्त्रियों के स्तर को ऊंचा नहीं उठाती और न ही चेतना हीनता या अज्ञानता उनकी संतोष (परिस्थिति से) की भावना कम करती है। अधिकार चेतना में प्रमुख बाधाएं इस प्रकार हैं:: अशिक्षा, गृह कार्य में अधिक व्यस्तता, घरेलू बन्धन तथा पुरुषों पर आर्थिक निर्भरता।

### 10.7.4 कार्य योजना

यदि परिवार में पुरुष महिलाओं के उनके देय अधिकार प्रदान न करें तो पुरुषों के महिलाओं के प्रति अन्याय के इस दुष्चक्र को कैसे समाप्त किया जाये, भले ही वे यह मानते हैं कि यह सांस्कृतिक मान्यता प्राप्त (culturally approved) है, या फिर क्योंकि उन्हें दण्ड नहीं मिलता या क्योंकि महिलाएं इस प्रकार के अन्याय को चुपचाप सहन करती हैं और इसके विरुद्ध आवाज नहीं उठातीं या क्योंकि अधिकारों की वंचना से जो लाभ पुरुष को मिलते हैं उनका मूल्य कहीं अधिक होता हैं, आदि? महिलाओं के हितों की रक्षा किस प्रकार की जाये? कौन सी नीतियाँ तथा कार्यक्रम पुरुष को न्यायी व उदार बना सकते हैं? उपचार सामाजिक, वैधानिक व आर्थिक हो सकते हैं।

### 10.7.5 वैधानिक उपचार

महिलाओं के प्रति न्याय के लिए जन समर्थन चाहिए ताकि मानव सेवा में लगे व्यावसायिक जन उचित कार्यवाही कर सकें। स्वतंत्रता के बाद के प्रथम दशक में लिंग समानता को एक महत्वपूर्ण समस्या माना गया और इस ओर किए गए प्रयत्नों का अधिकतर भाग यह विश्वास दिलाने में लगाया गया कि महिलाओं के शोषण के मामलों को पहचाना जायेगा और उचित कार्यवाही की जायेगी। 1952 तथा 1962 के बीच अनेक कानून स्त्रियों के लिए समानता लाने के लिए बन गए। इन कानूनों के लागू करने से पहले व्यावसायिक तथा राजनैतिज्ञों में इस प्रकार की समस्याओं का पता लगाने तथा उनको पहिचानने में कोई रुचि नहीं थी। लेकिन भारत के गणतंत्र हो जाने के पश्चात् हमारे नये शक्तिशाली नेताओं को विश्वास होने लगा कि स्त्रियों की समानता का प्रश्न पारिवारिक न होकर सामाजिक है। अत: स्त्रियों को पुरुषों के समान व्यवहार देने से संबंध में कई राज्यों में विधान लागू किए गए। लेकिन जैसी

नोट

कि अपेक्षा थी, सामाजिक कानूनों को ठीक से लागू नहीं किया गया। न्यायालय सामाजिक विधानों का अभी भी परम्परागत अर्थ ही प्रयोग करते हैं। अपराधिक न्याय व्यवस्था को स्त्रियों के शोषण को समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में देखना पड़ेगा। कुछ विधानों को सुधारना होगा ताकि पुलिस को महिलाओं के विरुद्ध अपराध करने वालों को पकड़ने में अनावश्यक प्रक्रिया की प्रतीक्षा न करनी पड़े। कई पुलिस अधिकारी अनेक उदाहरण देते हैं जिनमें मुकदमें की अवधि में स्त्रियाँ आरोपों को बीच में समाप्त करना अच्छा समझती हैं या वे आरोंपों को सिद्ध करने में असफल रहती हैं। फलत: कानूनविद्, वकील तथा पुलिस पीड़ित स्त्रियों को अपने भाइयों के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करने की सलाह नहीं देते जो उन्हें पैतृक सम्पत्ति में से उनका भाग देने में इन्कार कर देते हैं या उन पिताओं के विरुद्ध जो उनकी इच्छा के विरुद्ध उनका विवाह कर देते हैं या उन पतियों के विरुद्ध जो उन्हें गर्भपात के लिए बाध्य करते हैं। महिलाओं का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। महिलाओं के संगठित समूह आगे आकर सहायता कर सकते हैं।

### 10.7.6 सामाजिक उपचार

सामाजिक उपचारों में महिला कल्याण सेवाएं, ऐच्छिक संगठनों की स्थापना को प्रोत्साहन तथा जन संचार माध्यमों द्वारा महिलाओं का कानूनी प्रशिक्षण आदि सम्मिलित है। ऐच्छिक संगठनों को ऐसी महिलाओं का पता लगाने का कार्य करना है जिन्हें इस प्रकार की सेवाओं की आवश्यकता है। पड़ोसियों को चाहिए कि वे महिलाओं पर अत्याचार के मामलों को ऐच्छिक संगठनों तथा सेवा संस्थाओं को सूचना देकर सहयोग करें। जन शिक्षा एवं जागृति कार्यक्रम स्त्रियों की सहायता अन्याय के विरुद्ध खड़े होने के उद्देश्य से कर सकते हैं तथा सेवा संस्थाओं का सहयोग उनके अधिकारों के दिलाने के लिए लिया जा सकता है।

महिला कल्याण संस्थाओं के लिए अनुकूलतम स्थिति यह है कि महिलाओं के प्रति किए गए अन्यायों की समस्याओं को शीघ्र प्रभावी ढ़ंग से निवारण करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दें और समस्याओं के कारणों को लक्षण मान न समझें। पुरुषों को भी यह अनुभव कराना है कि बदलते परिवेश में उनकी भूमिका क्या है तथा परिवार के जीवन तथा घर के काम मे उंनके योगदान की आवश्यकता है।

### 10.7.8 आर्थिक उपचार

शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण महिलाओं को कार्य ढूंढ़ने के योग्य बनाएंगे जिससे वे आर्थिक रूप से स्वतंत्र बन सकेंगी। आर्थिक स्वतंत्रता से उनका तनाव कम होगा, उनके आदर्शो में मूल रूप से परिवर्तन आएगा और वे अपने अधिकारों तथा माँगों के प्रति अधिक साहसपूर्वक खड़ी हो सकेंगी।

महिलाओं को अपने और अपने परिवार की जीवन दशाओं को अच्छा बनाने के लिए सहायता तथा संसाधनों की आवश्यकता है। बूलडिंग (Elise Boulding, 1977: 132) के अनुसार महिलाओं के लिए दस संसाधनों का सुझाव दिया जा सकता है: तकनीकी सहायता जो श्रम बचाने वाले साधन प्रदान करें, जो महिलाओं के रोजाना के भारी कार्यो को हल्का करें; प्राथमिक सामुदायिक सुविधाएं, लड़कियों को स्कूल जाने तथा शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करना, परा-व्यवसायिक प्रशिक्षण के लिए अवसर प्रदान करना, ऋण की सुविधाएं, अधिकारों की वैधानिक सुरक्षा, स्वैच्छिक संस्थाएं तथा महिलाओं को विविध स्तरों पर स्थापित करने के कार्यक्रम।

अत: निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं को अपने अधिकारों के प्रति जागृत करने के लिए एक भिन्न प्रकार की योजना एवं विधि की आवश्यकता है अपेक्षकृत शहरी महिलाओं के। साथ ही हमें सहमत होना पड़ेगा कि वैधानिक उपायों से उनकी स्थिति व उनकी दशा को ऊंचा नहीं किया जा सकता। केवल संयुक्त (Conjunctive) पद्धति से ही हमारे समाज में महिलाओं को न्याय मिल सकता है।

नोट

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

3. **निम्नलिखित कथनों में** ✓ **अथवा** ✗ **का निशान लगाएँ** (State whether the following statements are 'right' or 'wrong' )–

1. समायोजन का अर्थ है एक परिस्थिति से, दूसरी परिस्थिति पर चले जाना। ☐
2. नैरन्तर्य में व्यक्ति की स्थिति निम्नतम बिन्दु से उच्चतम बिन्दु तक स्थित की जाती है। ☐
3. बच्चों को गोद लेने से संबंधित नियम 1958 में पारित किया गया। ☐
4. दो तिहाई महिलाएं अपने वैवाहिक तथा पारिवारिक जीवन से संतुष्ट होती हैं। ☐
5. कामकाजी महिलाओं में दस में से नौ अपनी आमदनी से संतुष्ट होती हैं। ☐
6. स्वतंत्रता के बाद के प्रथम दशक मे लिंग समानता को एक महत्त्वपूर्ण समस्या माना गया। ☐

## 10.8 सारांश (Summary)

- आर्थिक क्षेत्र में भी स्त्रियों को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। वे न कहीं नौकरी करती थीं और न धन अर्जन क्योंकि उनके लिए यह आवश्यक नहीं था। घर उत्पादन का केन्द्र था; वस्त्र बनाने का काम घर पर ही होता था। स्त्रियाँ कृषि कार्यो में भी अपने पति की सहायता करती थीं। कुछ स्त्रियाँ अध्यापन कार्य में भी व्यस्त होती थीं।
- वैदिक भारत में स्त्रियों की स्थिति निम्न नहीं थी। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में उन्हें अत्यधिक अधिकार प्राप्त थे लेकिन आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में उनके अधिकार सीमित थे।। उन्हें पुरुषों के अधीन नहीं माना जाता था बल्कि पुरुषों के समान समझा जाता था।
- भारत में 1940 तक स्त्रियों की निम्न दशा के प्रमुख कारण अशिक्षा, आर्थिक निर्भरता, धार्मिक निषेध, जाति बन्धन, स्त्री नेतृत्व का अभाव, तथा पुरुषों का उनके प्रति अनुचित दृष्टिकोण आदि थे। मेटसन ने हमारी संस्कृति में स्त्रियों की एकान्तता तथा उनके निम्न स्तर के लिए पाँच कारकों को उत्तरदायी ठहराया है।
- ऐसे समाज में जहाँ कुल जनसंख्या की आधी तथा तीन-पंचमांश भाग अशिक्षित महिलाएं हैं (1991 जनगणना), ऐसे रुढ़िवादी परम्पराओं एवं विश्वासों तथा प्रथाओं में जकड़े हुए समाज को रातों रात नहीं बदला जा सकता। न ही इनके विरुद्ध प्रबल जनमत तैयार करना सरल है। विधानों का कुछ प्रभाव होता है लेकिन इनको बड़ी सावधानी से चरणों में लागू करना होता है।
- भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त महिलाओं को दो प्रमुख अधिकार है: महिलाओं को मताधिकार और विधान मण्डल के लिए योग्यता। महिला मताधिकार की माँग सर्वप्रथम 1917 में की गई थी, किन्तु साउथ बरो फ्रेन्चाईज कमेटी ने 1918 में इस मांग को अस्वीकार कर दिया। 1919 में सरकार ने राज्य सरकारों को अधिकार दे दिया कि वे स्त्री मताधिकार के संबंध में अपने अलग विधान लागू करें।
- यद्यपि भारत में महिलाओं को अन्य देशों की महिलाओं की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त हैं, किन्तु क्या हमारे देश की महिलाओं में अपने अधिकारों के प्रति चेतना है? इस लेखक ने कुछ वर्ष पूर्व राजस्थान के एक जिले के एक गांव की 18 से 50 बर्ष की आयु की 753 स्त्रियों का एक अध्ययन किया था। अध्ययन का मुख्य उद्देश्य स्त्रियों में अधिकारों के लिए चेतना का मूल्यांकन तथा संविधान तथा विविध विधानों द्वारा प्रदत्त अधिकारों के प्रति संतुष्टि के स्तर को नापना था।
- ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं को अपने अधिकारों के प्रति जागृत करने के लिए एक भिन्न प्रकार की योजना एवं विधि की आवश्यकता है अपेक्षकृत शहरी महिलाओं के। साथ ही हमें सहमत होना पड़ेगा कि वैधानिक उपायों से उनकी स्थिति व उनकी दशा को ऊंचा नहीं किया जा सकता। केवल संयुक्त (ब्वदरनदबजपअम) पद्धति से ही हमारे समाज में महिलाओं को न्याय मिल सकता है।

नोट

## 10.9 शब्दकोश (Keywords)

- **निर्दिष्ट** : दिखाना, प्रदर्शित करना, इशारा करना
- **संसूचक** : भेद प्रकट करना, गोला, रहस्योद्घाटन
- **पंचमोश** : पाँचवा भाग, पाँचवा अंश

## 10.10 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. प्रचीन काल में स्त्रियों की परिस्थिति का विवेचन कीजिए।
2. ब्रिटिश शासन काल में स्त्रियों की स्थिति में क्या परिवर्तन हुए।
3. महिलाओं के अधिकारों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
4. अधिकार चेतना से आप क्या समझते है। मूल्यांकन कीजिए।

### उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessement)

**1.** 1. (घ) 2. (क) 3. (ग) 4. (ख) 5. (क)

**2.** 1. कस्तूरबा गाँधी 2. 1929 3. हिन्दूवाद
4. गुणात्मक विश्लेषण 5. 31 जनवरी 1922

**3.** 1. ☑ 2. ☒ 3. ☒ 4. ☑ 5. ☒
6. ☑

## 10.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. राम आहूजा; *राइट्स ऑफ वूमेन* : ऐ केमिनिस्ट रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 1992।
2. इन्द्रा, *स्टेट्स ऑफ वूमेन इन एसिएन्ट इंडिया*, बॉम्बे, 1951

नोट

# इकाई–11: सामाजिक गतिशीलता (Social Mobility)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

11.1 सामाजिक गतिशीलता तथा सामाजिक गतिशीलता के निर्धारक (Social Mobility and Determinants of Social Mobility)

11.2 जाति तथा वर्गों में सामाजिक गतिशीलता के प्रतिमान (Patterns of Social Mobility in Cast and Class)

11.3 सारांश (Summary)

11.4 शब्दकोश (Keywords)

11.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

11.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक गतिशीलता के निर्धारक को समझने में।
- जाति एवं वर्गों में समाजिक गतिशीलता के प्रतिमान को सफलतापूर्वक समझने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

सामाजिक गतिशीलता का अर्थ है व्यक्तियों का किसी एक सामाजिक स्थिति से दूसरी सामाजिक स्थिति में संचालन। समाजशास्त्र में एक संकल्पना के रूप में सामाजिक गतिशीलता का अत्यधिक महत्त्व है। किसी व्यक्ति अथवा समूह द्वारा समाज की स्थिति में अनुभव किया गया कोई परिवर्तन न उस व्यक्ति या समूह पर प्रभाव डालने के साथ-साथ संपूर्ण समाज पर भी प्रभाव डालता है। सामाजिक गतिशीलता की संकल्पना की व्याख्या परोक्ष रूप से समाज में वर्गीकरण की पहचान कराती है।

## 11.1 सामाजिक गतिशीलता तथा सामाजिक गतिशीलता के निर्धारक (Social Mobility and Determinants of Social Mobility)

प्रत्येक समाज में, लोगों को व्यवस्थित सामाजिक स्थानों पर स्थित किया जाता है। कौशल, ज्ञान, अवसरों और संसाधनों तक पहुँच के विभेदीय वितरण के कारण लोगों के लिये उच्च और निम्न पद-स्थानों पर बने रहने की बाध्यतायें उत्पन्न होती हैं। जो व्यक्ति उच्च और लाभकारी पदों पर आसीन हैं, वे समाज के निम्न स्थानों पर कार्य करने वाले सदस्यों के लिये ऊपर की ओर गतिशीलता में बाधायें उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। उनका प्रयास रहता है कि जो उच्च पद-स्थान और विशेषाधिकार उनके पास हैं, उनमें आकांक्षाकारी (ऊपर उठने वाले लोग) कोई सेंध नहीं लगा सकें। कुछ दृष्टान्तों में लोगों को अपनी सामाजिक प्रस्थितियों को बदलने में पीढ़ियाँ लग जाती हैं। एक बन्द या प्रदत्त स्तरीकरण व्यवस्था निम्न प्रस्थिति के लोगों की सामाजिक गतिशीलता में बाधायें उत्पन्न करती है,

नोट

जबकि एक खुली व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक गतिशीलता बहुत अधिक होती है। योग्यता, समतावाद और ऐतिहासिकता समतावाद और ऐतिहासिकता सामाजिक गतिशीलता के तीन आधार हो सकते हैं। जिन लोगों के पास पर्याप्त योग्यतायें हैं, वे अपनी प्रस्थिति बदल कर ऊपर उठने का प्रयास करते हैं। सब लोगों को समान पहुँच प्राप्त होनी चाहिए और उच्च प्रस्थितियों को प्राप्त करने मे किसी भी प्रकार की बाधायें नहीं आनी चाहिये। मानव इतिहास गवाह है कि एक समयावधि मे अर्थिक और जनसंख्यात्मक कारकों द्वारा व्यक्तियों, परिवारों और समाज का पुन:व्यवस्थापन होता रहा है।

भौगोलिक गतिशीलता अधिक प्रचलित और व्याप्त है। इसके अन्तर्गत, एक व्यक्ति गाँव से शहर और शहर से गाँव, शहर के एक भाग से दूसरे भाग में, देश के एक भाग से दूसरे भाग में और एक देश से दूसरे देश में **प्रवसन** करता है। इन पलायनों का, विशेषत: गाँव से शहर की ओर प्रवसन का, समाजशास्त्रीय दृष्टि से बहुत महत्व है। दूसरे प्रकार की भी परिवर्तन प्रवृत्तियाँ हैं-उसी कम्पनी में एक धंधे ये दूसरा धंधा करना, एक अन्य संगठन में उसी तरह के या अन्य कार्य को करना, और अन्य उद्योग या श्रम बाजार में उसी कार्य या अन्य पद-स्थान पर कार्य करना। गतिशीलता के ऐसे भी उदाहरण हैं, जिनमें एक व्यक्ति की आर्थिक या सामाजिक पद स्थिति में परिवर्तन नहीं होता। इस प्रकार गतिशीलता द्वारा एक व्यक्ति या स्तरण की आर्थिक, और राजनीतिक पदस्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन होता है।

सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन में निम्न महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं–

1. एक समाज की कठोरता और लचीलेपन को जानने के लिये उसका वर्णन।
2. व्यक्तियों को अपने कौशल के उपयोग के लिये उपलब्ध अवसरों के बारे में जानकारी।
3. समाज में अभिजात-पदों पर आसीन होने के बारे में जानकारी।
4. समाज के श्रमिक वर्गों की गतिशीलता को समझना।
5. वर्ग मनोवृत्तियों और वर्ग चेतना (विशेषत: श्रमिक वर्ग के सन्दर्भ में) पर गतिशीलता के प्रभावों को समझना।
6. एक व्यक्ति या समूह की गतिशीलता की संभावनाओं के सन्दर्भ में वर्ग मनोवृत्तियों और लक्षणों पर गतिशीलता के प्रभाव।
7. एक गतिमान व्यक्ति पर गतिशीलता के प्रभाव।

"एक परिवार या एक व्यक्ति की गतिशीलता को मापा जाता है।" परिवार के सन्दर्भ में, अन्तरपीढ़ीय गतिशीलता पाई जाती है। एक व्यक्ति के सन्दर्भ में, अन्त:पीढ़ीय गतिशीलता होती है। स्तरण गतिशीलता प्राय: नगण्य रहती है। परन्तु भारतीय समाज में जाति गतिशीलता का अभिप्राय समूह/स्तरण गतिशीलता से है। निरन्तरता, स्थिरता और ऊँचाई के आधार पर गतिशीलता का मापदण्ड तय किया जा सकता है। गतिशीलता के मापदण्ड की इन कसौटियों द्वारा आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक गतिशीलता पर ध्यान दिया जा सकता है। सब समाजों मे व्यावसायिक गतिशीलता एक महत्वपूर्ण पैमाना/कसौटी रहती है, लेकिन आय, कौशल और निर्देशन स्थिति/पद, प्रतिष्ठा और वैयक्तिक हितों के सन्दर्भ मे इसका मापन बहुत कठिन कार्य है।

## सामाजिक गतिशीलता के बारे में सोरोकिन का दृष्टिकोण

पी. ए. सोरोकिन की शास्त्रीय कृति–सोशल एण्ड कल्चरल मोबिलिटी में सामाजिक गतिशीलता और उसके विभेंदों की धारणा का स्पष्ट विवरण प्राप्त है। सोरोकिन के अनुसार, "सामाजिक गतिशीलता का अभिप्राय एक व्यक्ति या सामाजिक वस्तु या मूल्य के किसी संक्रमण से है-कोई भी वस्तु जो मानव क्रिया द्वारा एक सामाजिक स्थिति से दूसरी तक रचित या संशोधित हुई हैं। सोरोकिन का मत है कि सामाजिक गतिशीलता के दो मुख्य प्रकार हैं-क्षितिजीय और लम्बरूपीय। क्षितिजीय सामाजिक गतिशीलता का अभिप्राय एक ही स्तर पर स्थिर एक व्यक्ति (या सामाजिक वस्तु) के संक्रमण से है। लम्बरूपीय सामाजिक गतिशीलता का अभिप्राय एक व्यक्ति (या एक सामाजिक वस्तु) के एक स्तरण से दूसरे में जाने के संक्रमण मे सम्मिलित सम्बन्धों से हैं। दो प्रकारों की लम्बरूपीय गतिशीलता भी है–ऊपर उठने वाली और नीचे आने वाली या सामाजिक चढ़ाई और सामाजिक गिरावट। स्तरीकरण की प्रकृति के आधार पर, हम आर्थिक, राजनीतिक और व्यावसायिक गतिशीलता के ऊपर की ओर तथा नीचे की ओर के प्रवाहों को देख सकते हैं।

नोट

ऊपर की ओर के प्रवाहों के दो मुख्य स्वरूप हैं-(i) निम्न स्तरण के व्यक्तियों का विद्यमान उच्च स्तरण में घुसपैठ/प्रवेश; और (ii) एक नये समूह की रचना द्वारा व्यक्ति और उसके समूह द्वारा एक उच्च स्तरण में प्रवेश, न कि विद्यमान समूहों के स्तरण में प्रवेश या समायोजन। इसी प्रकार गिरवट प्रवाहों के भी दो स्वरूप हैं- (i) व्यक्तियो का एक उच्च सामाजिक स्थिति से एक विद्यमान निम्न स्थिति में आना; और (ii) एक सामाजिक समूह का पूर्णत: पतन, अन्य समूहों के बीच पद के आधार की समाप्ति या उसका एक सामाजिक इकाई के रूप में विघटन। प्रथम में, एक व्यक्ति की गिरावट है, और दूसरे में, एक स्तरण/इकाई का पतन/गिरावट है। इस प्रकार दो प्रतिमान हैं-(i) एक व्यक्ति की चढ़ाई/गिरावट, और (ii) समूहों की चढ़ाई/गिरावट।

सोरोकिन ने लम्बरूपीय गतिशीलता की गहनता और सामान्यता के मध्य भी अन्तर कियसा है। गहनता का अर्थ लम्बरूपीय सामाजिक दूरी, या आर्थिक या व्यावसायिक या राजनीतिक स्तरणों की संख्या से है, जो एक व्यक्ति एक निश्चित समय में चढ़ाई या गिररावट की क्रिया में पर करता है। सामान्यता का अभिप्राय उन व्यक्तियों की संख्या से है, जिन्होंने एक निश्चित समयावधि में लम्बरूपी दिशा में अपने सामाजिक स्थान को परिवर्तित किया हैं। गतिमान व्यक्तियों की पूर्ण संख्या या पूर्ण जनसंख्या में विशिष्ट व्यक्तियों के अनुपात के सन्दर्भ में लम्बरूपीय गतिशीलता को सम्पूर्ण सामान्यता और सापेक्षिक सामान्यता के रूप में विभाजित किया जा सकता है। एक विशिष्ट क्षेत्र में लम्बरूपीय गतिशीलता से जुड़ी गहनता और सापेक्षित सामान्यता पर आधारित आंकड़ों द्वारा एक विशिष्ट समाज की लम्बरूपीय आर्थिक गतिशीलता की औसत सूची की जानकारी कर सकते हैं।

## सामाजिक गतिशीलता

निम्न योजना में गतिशीलता की स्थिति को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है–

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| (अ) व्यक्तियों की | क्षितिजीय | क्षेत्रीय, धार्मिक, राजनीतिक दल, परिवार व्यावसायिक, और अन्य क्षितिजीय परिवर्तन लम्बरूपीय स्थिति में बिना किसी खास परिवर्तन के | | |
| (ब) सामाजिक वस्तुओं की | लम्बरूपीय | चढ़ाई | व्यक्ति विशेष सम्पूर्ण समूह की रचना और उठाव | आर्थिक, व्यावसायिक, राजनीतिक, आदि। |
| | | गिरावट | व्यक्ति गिरवट सम्पूर्ण समूह का विघटन या गिरावट | आर्थिक, व्यावसायिक, राजनीतिक, आदि। |

क्षितिजीय या लम्बरूपीय गतिशीलता और गहनता और सामान्यता की प्रकृति के आधार पर एक समाज का अवलोकन किया जा सकता है। यदि चढ़ाई या उतराई नहीं है और न ही सदस्यों के चक्र है, तो एक व्यक्ति अपने जन्म के आधार पर एक स्तरण से जुड़ा रहता है। "इस प्रकार के स्तरीकरण को पूर्णत: बन्द, कठोर, स्थिर या अगतिशील कह सकते हैं।" इसके विपरीत एक प्रकार का समाज वह भी हो सकता है, जिसमें लम्बरूपीय गतिशीलता बहुत गहन और सामान्य है। ऐसे समाज में, व्यक्ति एक स्तरण से दूसरे में ऊपर और नीचे दोनों तरफ जा सकता है। इन दो विपरीत प्रकारों के बीच में स्तरीकरण के अनेक माध्यम या बीच के प्रकार हो सकते हैं।"

निरंकुश और रूढ़िवादी समाजों की तुलना में प्रजातान्त्रिक समाजों में कहीं अधिक गहन लम्बरूपी गतिशीलता पाई जाती है। एक प्रजातान्त्रिक समाज में जन्म पर आधारित प्रदत्त प्रस्थिति का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं होता है। खुलापन और अवसरों की समानता पाई जाती है। ऊपर जाने और नीचे आने के अनेक गलियारे (रास्ते) और सीढ़ियाँ हैं। सोरोकिन ने लम्बरूपी गतिशीलता के निम्नलिखित सामान्य सिद्धान्त सुझाये है–

नोट

1. मुश्किल से ही ऐसा समाज रह है, जिसके स्तरण पूर्णत: बन्द थे, या जिसके तीन अर्थात् राजनीतिक और व्यावसायिक स्वरूपों में लम्बरूपी गतिशीलता नहीं थी।
2. कभी भी ऐसा समाज नहीं रहा होगा, जिसमें लम्बरूपी गतिशीलता पर्णत: स्वतन्त्र (खुली) रही है और एक स्तरण से दूसरे मे संक्रमण के मार्ग में विरोध नहीं रहा है या नहीं था।
3. लम्बरूपी सामाजिक गतिशीलता की गहनता औश्र सामान्यता दोनों का स्वरूप समाजों में (स्थान के आधार गतिशीलता का उतार-चढ़ाव) भिन्न रहा है।
4. एक ही समाज में अलग-अलग समयों पर लम्बरूपी गतिशीलता आर्थिक, राजनीतिक और व्यावसायिक गहनता और सामन्यता में उतार-चढ़ाव पाये गये हैं।
5. ऐतिहासिक और अन्य स्त्रोतों (सामग्री) के आधार पर कह सकते हैं कि लम्बरूपी गतिशीलता के तीन प्रमुख क्षेत्रों में गतिशीलता की गहनता और सामान्यता में वृद्धि या गिरावट की एक निश्चित व निरन्तर प्रवृत्ति दिखाई नहीं देती है। एक देश के इतिहास`क लिये, एक वृहद् सामाजिक व्यवस्था के लिये, और अन्त में मानव जाति के इतिहास के लिये, लम्बरूपी गतिशीलता वैध प्रतीत होती है।

इस प्रकार सोरोकिन के अनुसार, सामाजिक गतिशीलता के प्रमुख प्रकार हैं-क्षितिजीय और लम्बरूपी। जैसा कि पूर्व में व्याख्या की गई है कि लम्बरूपी गतिशीलता में चढ़ाव और उतार दोनों प्रवाह पाये जाते हैं। अन्य समूहों की व्यवस्था के अन्दर दोनों में व्यक्ति प्रवेश सम्पूर्ण समूह का सामूहिक चढ़ाव या उतार पाया जाता है। गतिशीलता के चक्र की सीमा के आधार पर, हम अगतिशील और गतिशील समाज के प्रकारों का भेद कर सकते हैं, लेकिन कोई समाज पूर्णत: बन्द नहीं है। लम्बरूपी गतिशीलता आसान नहीं है, और साधारणतया इसके मार्ग में बाधायें आती हैं। लम्बरूपी गतिशीलता के समय व स्थान और गहनता व सामान्यता के आधार पर हम कह सकते हैं क इसकी वृद्धि या गिरावट की एक निरनत प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है। सामान्यतया प्रजातान्त्रिक समाज निरंकुश समाजों की तुलना में प्राय: अधिक गतिशील होते हैं।

किसी भी समाज में कुछ सीमा तक लम्बरूपी गतिशीलता पाई जाती है। हर समाज में, 'स्तरणों', 'दरारों', 'सीढ़ियों', 'ऊँची सीढ़ियों' या 'बड़े रास्तों' के बीच में "पतली दरारें" होती है, जिनके द्वारा व्यक्ति एक स्तरण से दूसरे स्तरण में जा सकते हैं।

सामाजिक चक्र के निम्न महत्वपूर्ण साधन (मार्ग) हैं–

1. सेना
2. चर्च
3. स्कूल
4. परिवार
5. राजनीतिक, आर्थिक और व्यावसायिक संगठन

लम्बरूपी हवाई जहाज में यात्रा करने वाले लोगों के लिये ये साधन बहुत सामान्य और सुविधाजनक सीढ़ियाँ सदैव रही हैं, जिनसे लोग ऊपर या चढ़ते और उतरते रहे हैं। उदाहरण के लिये सेना युद्ध और सामाजिक उपद्रवों के काल में अहम् भूमिका अदा करती है और शांति के समय में साधारण भूमिका का निर्वहन करती है। मध्ययुग में चर्च का अत्यन्त महत्व था। आज, भारतीय समाज में इस्लाम, ईसाई धर्म और हिंदू धर्म ने लोगों के सामाजिक पदों और गतिशीलता को प्रभावित किया है। वर्तमान में सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक सोपानों में ऊपर उठने के लिये राजनीति में भागीदारी को महत्वपूर्ण कारक माना जाता है।

### क्षितिजीय गतिशीलता

पश्चिम के समाजों में क्षितिजीय गतिशीलता के उदाहरणों में सोरोकिन ने व्यक्तियों के क्षेत्रीय चक्र, वस्तुओं और मूल्यों के चक्र, व्यक्तियों का अन्त:व्यवसायी चक्र, अन्तर-परिवार चक्र, व्यक्तियों में नागरिकताओं का परिवर्तन,

नोट

अन्तर-धार्मिक चक्र, और अन्तर-राजनीतिक दल चक्र का उल्लेख किया है। क्षितिजीय गतिशीलता में बहुत अधिक मात्रा में गतिवाद होता है। क्षितिजीय गतिशीलता का मुख्य बिन्दु यह है कि सामाजिक स्तरीकरण के वृहद् मानकीय साँचे में लोग ऊपर उठ सकते हैं या नीचे आ सकते हैं। शिक्षा, व्यवसाय, प्रवसन, नये अवसरों और जीवन शैलियों को बेहतर बनाने की उत्कंठा के द्वारा यह संभव है। क्षितिजीय गतिशीलता अन्त:व्यवसायी है-यह व्यवस्था के अन्दर परिवर्तन को इंगित करती है न कि व्यवस्था के परिवर्तन को। एक व्यक्ति के सन्दर्भ में पद-स्थानों में ऊपर की ओर उठाव द्वारा ऐसी गतिशीलता को वर्णित कर सकते हैं। तार्किक दृष्टि से नीचे की ओर खिसकने वाले लोग भी होते हैं। जब लोग बदलती हुई परिस्थितियों के साथ चाल मिलाने में असमर्थ होते हैं, तब सामाजिक आकलन कम हो जाता है, और उनको अपने भूतपूर्व 'समान साथियों' से लाभ भी कम प्राप्त होते हैं। कुछ लोग अपने जीवन काल में, अनेक तरीकों से प्रगति करते हैं। जबकि अन्य लोगों को ऊपर की ओर गतिमान होने में एक या दो पीढ़ियों से अधिक का समय लग जाता है। क्रमश: इन दो प्रतिमानों को अन्त:पीढ़ीय गतिशीलता और अन्तरपीढ़ीय गतिशीलता कहा जाता है।

लम्बरूपी और क्षितिजीय गतिशीलता के अतिरिक्त, अधोगति गतिशीलता भी पाई जाती है, यद्यपि लम्बरूपी और क्षितिजीय गतिशीलता के सामान्य प्रतिमानों की तुलना में इसका अनुपात बहुत कम होता है। पश्चिमी समाजों में प्राय:अधोगति गतिशीलता मनावैज्ञानिक समस्याओं और चिन्ताओं के कारण घटित होती है। क्योंकि लोग जिन जीवन-प्रणालियों के आदी हो जाते है और फिर उनको निभाने में असमर्थ होते हैं, तो ऐसा होता है। महत्वहीनता भी अधोगति गतिशीलता का एक अन्य कारण है। भारत में प्राकृतिक आपदाओं व वज्रपातों, महामारियों व भयंकर अवस्थाओं के कारण तबाही होती है। और सामाजिक व्यवस्थाओं पर कुप्रभाव पड़ता है। मानवकृत वृहद्-संरचनात्मक परिवर्तनों, जैसे सामन्तवाद का उन्मूलन, परम्परात्मक तौर पर सुदृढ़ परिवारों और व्यक्तियों के विशेषाधिकार की समाप्ति, वयस्क मताधिकार, मौलिक अधिकारों आदि के संवैधानिक प्रावधानों द्वारा समतावाद उभरा है तथा समाज के पूर्व से लाभान्वित वर्गों में अधोगति गतिशीलता आई है।

### 11.1.1 सामाजिक गतिशीलता के प्रमुख घटक

सामाजिक गतिशीलता के प्रमुख निर्धारक निम्न प्रकर है:

1. **जनसांख्यिकी घटक** (Demographic Components)-जनसांख्यिकीय घटक सभी समाजों में गतिशीलता को प्रभावित करता हैं। प्राय: ऊँचे वर्गों में जन्म-दर निम्न वर्गों की जन्म-दर की अपेक्षा कम होती है। यद्यपि मृत्यु -दर भी निम्न वर्गों में अधिक होती है। तथापि कल मिलाकर प्रजनन दर अधिक होती है। इस सम्बन्ध में अनेक अध्ययन किए गए है।

   पेरे ने अपने अध्ययन में पाया है कि फ्रांस के कुछ क्षेत्रों में 12000 संख्या 215 कुलीन वंशों में से एक शताब्दी बाद केवल 149 की संख्या रह गई। सामान्यता इन वंशावलियों का जीवनकाल तीन से चार पीढ़ियों तक ही रहा। तत्पश्चात् वे या तो उत्पन्न गैर-कुलीन वंशों द्वारा अथवा समानांतर वंशों द्वारा स्थानापन्न कर दिए गए। सोवियत संघ के स्तरीकरण के सम्बन्ध में एलेक्स इंकलेस ने यह पाया कि इस शताब्दी के मध्य में भारी गतिशीलता हुई। इसके दो कारण थे:

   (*i*) इस समय युद्ध में बहुत से लोग अपनी जान गँवा चुके थे। यह समय की आवश्यकता थी।

   (*ii*) दूसरा कारण तीव्र औद्योगीकरण रहा।

   इसी प्रकार ग्रामीणों में प्रजनन दर ऊँची रहा करती है। तथापि शहरी जनसंख्या ग्रामीण जनसंख्या की तुलना में अधिक तीव्रता से बढ़ी है इसका कारण बड़ी संख्या में शहरी प्रव्रजन का होना है। जनसांख्यिकी घटक अपने आप में विशुद्ध रूप जैविक परिघटना नहीं हैं क्योंकि इसमें सामान्यत: सामाजिक घटक भी हैं। मैंडेलबाम तथा अन्य विद्वानों ने लिखा है कि सांस्कृतिक घटक जैसे एक पुत्र की आकांक्षा जनसंख्या संरचना पर प्रभाव डालते हैं।

नोट

2. **प्रतिभा तथा योग्यता** (Talent and Ability)–सोरोकिन के अनुसार प्राय: अभिभावकों और बच्चों की योग्यता समान नहीं होती है। आरोपित अथवा वंशगत समाजों में बच्चे सामान्यत: अपने माता-पिता की तरह अपनी वंशानुगत स्थिति के लिए सदैव उपयुक्त नहीं होते। कभी-कभी कुछ बच्चे अपने अभिभावकों से प्राप्त सम्पत्ति या पद को संभाल नहीं पाते उन पर अत्यधिक दबाव पड़ता है कि वे इस स्थिति को छोड़ दें। इसलिए पहले से ही अधिकार-प्राप्त नव-आगंतुक रिक्त स्थिति को अपनाते जाते हैं। **लिपसेट** तथा **बैन्डिक्स** के अनुसार नए प्रतिभाशाली लोग आते रहते हैं या जन्मते रहते हैं और कहीं न कहीं उनका समावेश हो जाता है। पैतृक पद और स्थिति प्राप्त पैतृक समाजों में भी व्यक्तिगत रूप से प्रतिभाशाली व्यक्तियों के उर्ध्व स्तर की गतिशीलता के अवसर मिलते रहते हैं। **बेरगल** का मत है कि रूढ़िवादी पदानुक्रम सामंती व्यवस्था में भी निम्न जाति में जन्मे व्यक्ति को भी प्रतिभा के बल पर ऊँचे स्तर की गतिशीलता का अवसर प्राप्त होता था। सामंतवाद में जो बंधुआ मजदूरों या बंधुआ नौकरों को उनकी स्वामिभक्ति के कारण 'लिपिकीय वर्ग' में शामिल किया गया था। इसी प्रकार घर में सेवा करने वाले चाकरों को भी सेवा के पुरस्कार के रूप में जागीरें तक भी दी जाती थी। टर्नर ने अपने अध्ययन में इस प्रकार की गतिशीलता को 'प्रायोजित गतिशीलता' कहा है तथापि नवीन प्रतिभा का समावेश सरल नहीं होता। समाजों में यहाँ तक खुले समाजों में भी नई प्रतिभा के समावेश को समस्यामूलक की दृष्टि से देखा जाता है, इसे आसानी से स्वीकृत नहीं किया जाता है। व्यक्तियों की योग्यता के संदर्भ में विद्वानों ने यह पाया कि तथा कथित खुले समाज कहीं न कहीं अधिक रूढ़िवादी होते हैं, जो व्यक्तियों को उनकी योग्यता के आधार पर सामाजिक स्थिति प्रदान करते हैं। पीढ़ी पर पीढ़ी अवसरों की असमानता जैसी स्थिति का पुनर्जन्म होता रहता है। अवसरों की असमानता का अर्थ है–निम्न वर्ग का अधिक योग्य व्यक्ति भी उन्नति करने के अवसर प्राप्त नहीं कर पाता। **माइकल यंग** ने इस मिथक का खण्डन कर दिया है। कि प्रतिभा व योग्यता का जन्म मूल समाजों में होता है। वर्ग की उत्पत्ति सबसे ऊँची स्थितियों व सबसे निम्न स्थितियों में आज भी बनी हुई है तथा स्वयं ही स्थापित हो जाती है। अतएव गतिशीलता को स्पष्ट करने के लिए प्रतिभा जैसे घटक की भूमिका साधारण ही होती है।

3. **कुलीन सिद्धान्त** (Elite Theory)–**पैरेटो** के अनुसार 'इतिहास कुलीन वंशों का कब्रिस्तान है।' यह कुलीनों की गतिशीलता का प्रसिद्ध है। **पैरेटो** के सिद्धांत में गतिशीलता अथवा संचरण दो प्रकार के हैं–
   (*i*) प्रथम, प्रतिभाशाली व्यक्ति जो निम्न स्तर से आता है और उच्च स्तर में प्रवेश करता है।
   (*ii*) दूसरे, बहुत बार समय में जब ऊँचे समूहों की योग्यता पर प्रश्न-चिह्न लगाया जाता है अर्थात् प्राय: निम्न स्तर की ओर से उच्च वर्गों को चुनौती दी जाती है और उनकी श्रेष्ठता को नकार दिया जाता है।

   **मैक्स क्लुकमैन** ने इसे 'बार-बार परिवर्तन' का नाम दिया है, जिसे अफ्रीका सरकार के परिवर्तनों में देखा जा सकता है। **मॉरिस डुवेरजर** ने इसे 'सामाजिक व्यवस्था' में और 'सामाजिक व्यवस्था से परे' संघर्ष के रूप में स्वीकार किया है।

### 11.1.2 सामाजिक वातावरण में परिवर्तन लाने वाले कारण

सामाजिक गतिशीलता में परिवर्तन लाने वाले प्रमुख घटकों का वर्णन निम्न प्रकार है–

1. **औद्योगीकरण** (Industrialisation)–**लिपसेट** व **बैन्डिक्स** के अनुसार पूर्व-औद्योगिक गतिशीलता दरों में औद्योगीकरण ने गतिशीलता में अत्यधिक वृद्धि की है। एक बार तो सभी समाज औद्योगीकरण के एक विशेष स्तर तक अवश्य पहुँचे हैं। इस तरह सामाजिक गतिशीलता की उनकी वृद्धि पर एकसमान है। इसी संदर्भ में **केर** तथा अन्य लोगों ने 'समरूप सिद्धांत' का प्रतिपादन किया है। इसके अनुसार समस्त औद्योगिक समाज गतिशीलता के एक सामान्य ढाँचे की ओर अग्रसर होते हैं, जिसमें अन्य घटकों के साथ-साथ समग्र स्तरीकरण का रूप भी समान होता है।

नोट

इसके विपरीत **लिपसेट** व **बैन्डिक्स** ने यूरोप एवं अमेरिका के अनेक देशों के बीच तुलनात्मक अध्ययन करके दो मुख्य परिकल्पनाओं को जाँच के लिए हमारे समक्ष रखा है :

पहला सिद्धांत है कि एक बार तो सभी समाजों ने औद्योगीकरण के खास स्तर को प्राप्त किया है तथा उनमें गतिशीलता की दर पूर्व-औद्योगीकरण से काफी अधिक थी।

दूसरे, अमेरिका ने यूरोपीय देशों की तुलना में गतिशीलता के लिए अधिक अवसर दिए हैं। इन विचारकों ने औद्योगिक समाज में गतिशीलता के घटकों को निम्नलिखित पाँच प्रमुख तत्त्वों में विभाजित किया है–

(*i*) उपलब्ध रिक्तियों की संख्या में परिवर्तन होना।

(*ii*) प्रजनन क्षमता की विभिन्न दरें होना।

(*iii*) व्यवसायों के अनुसार स्थितियों में परिवर्तन होना।

(*iv*) विरासत में प्राप्त स्थितियों की संख्या में परिवर्तन होना।

(*v*) संभावित अवसरों से संबंधित कानूनी प्रतिबंधों में परिवर्तन होना।

2. **उपलब्ध रिक्त स्थान** (Available Vacancy)–औद्योगीकरण कृषि से व्यावसायिक संरचना में तथा इसके बाद सेवा क्षेत्र में संचरण हुआ है। उद्योग में संचरण होते ही समाज में अचानक तीव्र गति से आर्थिक गतिविधियों का जन्म हुआ और समाज में विद्यमान उपलब्ध पद या स्थितियों की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई। ग्रामीण क्षेत्रों से लोगों का नगरों और शहरों की ओर अत्यधिक प्रव्रजन हुआ, क्योंकि गाँवों के लोग फैक्ट्रियों में रोजगार की खोज में शहरों की ओर निकल पड़े, जो सामाजिक गतिशीलता का एक रूप है। इसमें भौगोलिक पहलू के साथ ही उर्ध्व स्तर भी एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

   (*i*) ग्रामीण लोगों को शहर में रोजगार मिलने से उनके पद, स्थिति और प्रतिष्ठा में अवश्य ही वृद्धि होगी, जिससे उनका स्तर ऊँचा होगा और समाज की गतिशीलता ऊँचे स्तर की ओर बढ़ेगी।

   (*ii*) अनेक सफेदपोश स्थितियों का जन्म हुआ, जैसे कि कम्प्यूटर व्यवसाय में।

3. **कानूनी प्रतिबंध** (Legal Restrictions)–पहले जाति प्रथा के कारण लोगों में पारंपरिक कार्यों का बंटवारा किया हुआ था। कुछ कार्य जैसे पढ़ना-पढ़ाना निम्न वर्ग के लोगों के लिए कानूनी या पारंपरिक रूप से प्रतिबंधित थे। अब नागरिकों के लिए समानअधिकारों की संकल्पना से सामाजिक गतिशीलता में बाधाओं को कानून के द्वारा समाप्त कर दिया गया। नागरिकों को समान मताधिकार ओर पंचायती राज की व्यवस्था इत्यादि की स्थापना करके राजनैतिक क्षेत्र में सभी नागरिकों के लिए समान रूप से प्रगति एवं विकास के द्वार खोल दिए गए।

4. **पद और उन्नति** (Rank and Status)–किसी व्यक्ति की स्थिति में बिना किसी परिवर्तन के भी गतिशीलता आ सकती है, यदि उसकी स्थिति के रैंक में परिवर्तन हो जाए। उदाहरण के लिए, अमेरिका में पचास के दशक में बीसवें दशक की तुलना में सरकारी पदों की अधिक प्रतिष्ठा थी। इस तरह सरकारी नौकरों ने अपने काम में परिवर्तन किए बिना उर्ध्व सामाजिक गतिशीलता का अनुभव किया। इसी प्रकार कभी-कभी कुछ कार्यों की प्रतिष्ठा कम हो जाने से वे पहले की अपेक्षा समाज तथा अर्थव्यवस्था में कम महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। उस स्थिति में इन कार्यों को करने वालों की अवनति हो जाती है।

5. **समरूप परिकल्पना** (Similar Hypothesis)–**कैर** आदि विचारकों के अनुसार आज की दुनिया में औद्योगीकरण समस्त औद्योगीकृत समाजों को भविष्य के एक सामान्य समाज की ओर प्रेरित करता है, जिसे वे बहुवादी वेतनभोगी औद्योगिक समाज के नाम से पुकारते हैं। इन समाजों में स्तरीकरण का समान ढाँचा साथ ही गतिशीलता का भी समान रूप होता है।

उपर्युक्त कथन के विपरीत **गोल्ड थार्प** ने यह स्पष्ट किया है कि औद्योगिक समाजों में गतिशीलता की दरों में असमानता है। उसका तर्क है कि औद्योगीकरण ही नहीं, बल्कि इसके साथ अन्य घटक जैसे कि सांस्कृतिक घटक, शिक्षा इत्यादि भी हैं, जो सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करते हैं।

नोट

### 11.1.3 गतिशीलता के आयाम

**दो विधियाँ** (Two Methods)–सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन के दो तरीके हैं–

1. **परिवर्तित पारम्परिक गतिशीलता** (Changed Traditional Mobility)–व्यक्ति इस बात का अध्ययन कर सकता है कि एक व्यक्ति अपने कार्य जीवन के दौरान अपने व्यवसाय में सामाजिक मानदंड के अनुसार कितना ऊपर या नीचे जाता है।
2. **अन्तपारम्परिक गतिशीलता** (Inter-Traditional Mobility)–इस बात का विश्लेषण किया जा सकता है कि बच्चे अपने पिता या दादा की तरह उसी प्रकार के कार्य में कहाँ तक जाते हैं। पीढ़ी के बाद गतिशीलता को **अन्तःपारंपरिक** गतिशीलता कहा जाता है।

किसी व्यक्ति के जीवनकाल में परिवर्तनों के किसी एक बिंदु से किया गया अध्ययन परिवर्तित पारंपरिक गतिशीलता के अध्ययन का विषय है। यदि अध्ययन दो या तीन पीढ़ी के बाद परिवार में हुए परिवर्तनों के किसी एक बिंदु से किया जाए, तो यह **अंतः पारंपरिक** गतिशीलता का विषय है।

**कारक** (Factors)–**ब्लो** और **डंकन** (1976) के अनुसार किसी व्यक्ति को अपने कार्य के सोपान पर ऊपर चढ़ने में निम्नलिखित बातों का प्रभाव पड़ता है–

1. शिक्षा की मात्रा
2. व्यक्ति के प्रथम कार्य की स्थिति; और
3. पिता का व्यवसाय।

*क्या आप जानते हैं* परिवर्तित पारंपरिक गतिशीलता को प्रमुख रूप से व्यावसायिक गतिशीलता के रूप में भी जाना जाता है।

**गतिशीलता की सीमा** (Range of Mobility)–व्यक्ति सामाजिक पैमाने से ऊपर या नीचे की ओर जाते समतय एक या अनेक स्तरों से गुजर सकते हैं। इस प्रकार सुनिश्चित की गयी सामाजिक सीमा को रेंज (सीमा) का नाम दिया गया है। इस तरह के संचलन में सीमित सामाजिक सीमा अर्थात् कम दूरी तक परिवर्तन हो सकता है।

**ब्लो** और **डंकन** ने अध्ययन में यह पाया कि अमेरिका में अधिक सोपानात्मक गतिशीलता है तथा अधिक सीमा वाली (लॉन्ग रेंज) गतिशीलता न के बराबर है। फ्रेंक पार्किन ने अपने अध्ययन (1963) में हंगरी में पूर्व-साम्यवादी शासन में अधिक सीमा वाली (लॉन्ग रेंज) गतिशीलता के अधिक उदाहरण देखें।

**नीचे की तरफ गतिशीलता** (Descending Mobility)–**एंटोनी गिड्डन** के अनुसार नीचे की तरफ गतिशीलता ऊपर की तरफ वाली गतिशीलता की अपेक्षा कम प्रचलित है। उसके निष्कर्षों के अनुसार, इंग्लैंड में 20 प्रतिशत से अधिक व्यक्ति नीचे की ओर अंत:पारंपरिक रूप से गतिशील हैं। लेकिन अधिकांश गतिशीलता सीमित है। नीचे की ओर परिवर्तित गतिशीलता सामान्य बात है। देखा गया है कि अधेड़ व्यवस्था के वे व्यक्ति जिनका कार्य छूट जाता है, वे पहले से कम आय वाला कार्य करने लगते हैं।

अध्ययनों से यह ज्ञात होता है कि परिवर्तित गतिशीलता के संदर्भों में नीचे की तरफ गतिशीलता में अधिकांशत: महिलाएँ होती हैं, क्योंकि अधिकांश महिलाएँ अपना अभीष्ट व्यवसाय प्रसव के समय छोड़ देती हैं। परिवार का पालन करके के कुछ वर्षों बाद वे वेतनभोगी कार्य करने लगती हैं, पर यह कार्य या पद प्राय: पहले से कम आय वाला होता है।

**ऊपर की तरफ गतिशीलता** (Ascending Mobility)–आधुनिक समाजों में धन और सम्पत्ति प्राप्त करना उत्कर्ष के लिए मुख्य साधन हैं। उदाहरणार्थ, सम्मानजनक कार्य (जैसे, न्यायाधीश आदि) करना, डॉक्टर की उपाधि प्राप्त करना, या फिर वैभवशाली परिवार में विवाह करना आदि।

नोट

**गतिशीलता की संभावनाएँ** (Possibilities of Mobility)–किसी समाज की श्रेणीकृत संरचना में किसी संचलन की अनुमति ने होने पर उसमें गतिशीलता संभव नहीं है। इसके विपरीत जो समाज लचीला होता है, उसमें गतिशीलता आसानी से हो जाती है।

संकीर्ण समाज में ऊर्ध्व गतिशीलता नगण्य होती है। कोलम्बिया और भारत में आधुनिकता से पूर्व कमोवश समाज इसी प्रकार के थे। एक मुक्त समाज में अधिक ऊर्ध्व सामाजिक गतिशीलता होती है, तथापि खुले समाज में भी लोग एक स्तर से दूसरे स्तर में बिना प्रतिरोध के नहीं जा सकते। प्रत्येक समाज में एक स्थापित मानदंड होता है, जो उपयुक्त शिष्टाचार परिवार का श्रेणी में स्थान, शिक्षा या जातीय संबंध आदि के रूप में हो सकता है। उच्च सामाजिक स्तर में जाने से पूर्व लोगों द्वारा इसको पूरा करना होता है।

अधिकांश मुक्त समाजों में उच्च औद्योगीकरण की प्रवृत्ति होती है। समाज के औद्योगिक होने के साथ-साथ नए शिल्प ओर व्यवसाय आवश्यक हो जाते हैं। नए व्यवसायों का अर्थ है–अधिक वर्ग के लोगों के लिए गतिशीलता के अधिक अवसर।

शहरीकरण से ऊर्ध्व गतिशीलता में वृद्धि होने के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं–

(1) आरोपित मानदंड शहर के पहचान-रहित वातावरण में कम महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। (2) लोग उपलब्धिपरक, प्रतिस्पर्धात्मक तथा अच्छी स्थिति के लिए प्रयास करते हैं। (3) औद्योगिक समाजों में सरकार भी कल्याणकारी कार्यक्रम चलाती है, जिससे गतिशीलता प्रोत्साहि होती है।

## तुलनात्मक सामाजिक गतिशीलताएँ (Comparative Social Mobilities)

**गिर्हार्ड लेंस्की** (1965) ने विभिन्न स्रोतों से प्राप्त आँकड़ों के आधार पर हस्तचालित और मशीनी कार्य की एक निद्रेशिका तैयार करके यह पाया कि पहले स्थान पर अमेरिका में गतिशीलता की दर 34 प्रतिशत है, लेकिन पाँच यूरोपीय देश लगभग उसके निकट हैं। ये हैं–स्वीडन (32 प्रतिशत), इंग्लैंड (31 प्रतिशत), डेनमार्क (30 प्रतिशत), नार्वे (30 प्रतिशत) तथा फ्रांस (29 प्रतिशत)। इस प्रकार औद्योगिक देशों में गतिशीलता दर एक समान ही है।

**फ्रैंक पार्किन** ने सामाजिक गतिशीलता के सम्बन्ध में पूर्वी यूरोप के प्राचीन साम्यवादी समाज के आँकड़े एकत्रित करके एक तुलना प्रस्तुत कर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले–

1. पूँजीवादी समाजों की भाँति प्रभुत्व वाला प्रबंधक तथा व्यावसायिक वर्ग अपने बच्चों के लिए अपेक्षाकृत अधिक लाभ पहुँचाते हैं; और
2. विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग अपने बच्चों के लिए उच्च स्थिति सुनिश्चित करते हैं। तथापि इन समाजों में किसानों एवं हाथ से काम करने वाले श्रमिकों के लिए अधिक गतिशीलता होती है।

   **पार्किन** ने हंगरी में अध्ययन कर निम्न निष्कर्ष निकाले–

   (*i*) 77 प्रतिशत प्रबंधक, प्रशासनिक तथा व्यावसायिक स्थिति वाले पुरुष और महिलाएँ किसान तथा मूलत: श्रमिक वर्ग के थे।

   (*ii*) 53 प्रतिशत चिकित्सक, वैज्ञानिक तथा इंजीनियर भी ऐसे ही परिवारों से थे।

सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन में निम्नलिखित समस्याओं का सामना करना पड़ जाता है–

1. समयोपरांत कार्यों की प्रकृति परिवर्तित हो जाने के कारण यह स्पष्ट नहीं होता कि एक जैसे व्यवसायों को वास्तव में कभी किसी रूप में माना जाता है। उदाहरण के तौर पर, यह स्पष्ट नहीं है कि नीलपोश कार्य से सफेदपोश कार्य की गतिशीलता सदैव उच्च गतिशीलता ही हो। यह भी सम्भव है कि नीलपोश निपुण श्रमिक सामान्यत: सफेदपोश कार्य करने वाले अधिकांश व्यक्तियों से अच्छी आर्थिक स्थिति में हों।
2. अंत:पारंपरिक गतिशीलता के अध्ययन में इस बात का निर्णय करना कठिन होता है कि किस बिंदु पर

नोट

तुलनात्मक व्यवसायों की तुलना की जाए। इसमें अनेक सम्भावनाएँ हो सकती हैं; जैसे–(1) सम्भव है पिता अपने व्यवसाय के मध्य में हो, जबकि उसकी संतान अपना कार्य-जीवन आरंभ कर रही हो। (2) अभिभावक और बच्चे एक साथ गतिशील हो। (3) वे एक ही दिशा में या (उससे कम) भिन्न दिशाओं में हों। अब समस्या आती है कि उनके कार्यों की आरंभ में या अंत किस रूप में तुलना की जाए।

**समाधान** (Solution)

1. यह स्पष्ट हो जाने पर कि किसी एक अध्ययन में शामिल कार्य के सम्मान और प्रकृति में समयोपरांत संपूर्ण परिवर्तन आ जाता है, व्यावसायिक श्रेणियों का वर्गीकरण करते समय इस बात को दृष्टिगत रखा जा सकता है–कि दूसरी समस्या भी आँकडों का ध्यान रखकर दूर की जा सकती है। यह कार्य अभिभावकों और बच्चों के संबंधित व्यवसायों की आरंभ और अंत में तुलना करके सम्भव है।

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–**

1. एक बंद या प्रदत्त स्तरीकरण व्यवस्था निम्न प्रस्थिति के लोगों की ..... में बाधाएँ उत्पन्न करती है।
2. ..... में जाति गतिशीलता का अभिप्राय समूह/स्तरण गतिशीलता से है।
3. ..... के अनुसार, "सामाजिक गतिशीलता का अभिप्राय एक व्यक्ति या सामाजिक वस्तु या मूल्य के किसी संक्रमण से है।"
4. निरंकुश और रूढ़िवादी समाजों की तुलना में प्रजातान्त्रिक समाजों में कही अधिक गहन ..... पाई जाती है।
5. सेना युद्ध सामाजिक उपद्रवों के काल में अहम् ..... अदा करती है।
6. ..... में प्राय: अधोगति गतिशीलता मनोवैज्ञानिक समस्याओं और चिंताओं के कारण घटित होती हैं।

## 11.2 जाति तथा वर्गों में सामाजिक गतिशीलता के प्रतिमान (Patterns of Social Mobility in Cast and Class)

प्राय: यह कह दिया जाता है कि जाति में गतिशीलता का अभाव होता है तथा यह अवरुद्ध या स्थैतिक व्यवस्था है, पर यह धारणा अनुपयुक्त है। पारम्परिक संरचना में भी जहाँ पर पूजा-पाठ ही किसी व्यक्ति के धार्मिक अनुष्ठान और उसकी व्यावसायिक स्थिति का तथा उसके पारश्रमिक निर्धारण का मुख्य घटक थी, वहाँ भी नीचे और ऊपर, दोनों तरफ की सामाजिक गतिशीलता थी।

**स्त्रोत** (Sources)**–श्रीनिवास** के अनुसार प्राचीन समय में गतिशीलता के दो प्रमुख स्त्रोत थे–

1. **अस्थिर राजनीतिक व्यवस्था**–इसमें नई जातियों द्वारा क्षत्रियों के स्तर और शक्ति प्रयोग की स्थिति को स्वीकार करना आसान कर दिया गया।
2. **कृषि-योग्य कम भूमि की उपलब्धता**–उर्ध्व गतिशीलता के इन दो मार्गों के परिणामस्वरूप प्रभावशाली जातियाँ, जैसे–रेड्डी और मराठा जातियों के नेता राजनैतिक शक्ति तथा जाति की स्थिति की अभिलाषा करने लगे। इसी तरह से मध्यकालीन बंगाल के पालवंशी मूल रूप से शूद्र वर्ग के थे, गुजरात के पट्टीदार लोग भी मूल रूप से किसान वर्ग के थे।

**गतिशीलता के स्तर** (Stages of Mobility)–गतिशीलता के प्रमुख स्तर निम्न प्रकार हैं–

1. **परिवार में व्यक्तिगत गतिशीलता** (Individual Mobility in Life)–प्रत्येक परिवार में कोई एक सदस्य अन्य की अपेक्षा बेहतर स्तर प्राप्त कर लेता है। यह उच्च शिक्षा, सत्य-निष्ठा या अन्य उपलब्धियों के कारण होता है।

नोट

एक ऊँची जाति का व्यक्ति भी अपने दुष्कर्मों के कारण अपना स्तर नीचे गिरा सकता है, अपनी प्रतिष्ठा खो सकता है। यह एक व्यक्ति की गतिशीलता की गिरावट मानी जा सकती है।

इस गिरावट को पूरी जाति की गिरावट नहीं माना जा सकता हैं क्योंकि इसका प्रभाव व्यापक न होकर व्यक्तिगत स्तर तक ही सीमित रहता है।

2. **एक जाति में अल्पसंख्यक परिवारों की गतिशीलता** (Mobility of Minority Families in a Caste)–इस प्रकार की गतिशीलता परिवारों के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक पक्षों में दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार के स्तरों में उन्नति होने के अनेक कारण हो सकते हैं। जैसे–भूमि प्राप्त कर लेना और उच्च शिक्षा ग्रहण कर लेना। इन्हें प्राप्त करके व्यक्ति उच्च जातियों की भाँति विविध कार्य करना, जैसे मूल्यवान वस्त्र धारण करना, पोश कॉलोनी में भवन-निर्माण करके निवास करना, अन्य जीवन-शैली को अपनाना एवं धार्मिक कर्मकाण्ड करना प्रारम्भ कर देते हैं। इन्हें **समतल गतिशीलता** ही मानना चाहिए, **सोपानात्मक गतिशीलता** नहीं, क्योंकि ये केवल स्तर विशिष्टताओं को ही पूरा करती हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति मध्यकाल में पर्याप्त रूप से प्रचलित थी।
3. **अधिक परिवारों की अथवा समूह की गतिशीलता** (Mobility of Many Families or Groups)–इस प्रकार की गतिशीलता व्यापक प्रकृति की होती है। इसमें सामूहिक रूप से साझी प्रतिष्ठा, स्तर एवं सम्मान निहित होता है। प्राय: देखा गया है कि कुछ अशुद्ध जातियाँ अपने अशुद्ध व्यवहार व अपवित्रता प्रकट करने वाले कार्यों को त्याग कर अपनी स्थिति में सुधार करती हैं। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया इन जातियों को सामाजिक क्रम में ऊर्ध्व अथवा उच्च श्रेणी में ली जाती है तथा उच्च गतिशीलता के दावे को वैध बनाती है।

**संस्कृतिकरण सामाजिक गतिशीलता का वाहक** (Sanskritisation as Carier of Social Mobility)–संस्कृतिकरण सामाजिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया है। संस्कृतिकरण की अवधारणा केवल भारतीय समाज में ही लागू होती है, क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध भारतीय सामाजिक स्तरीकरण की विशिष्ट प्रणाली से है।

**संस्कृतिकरण का शाब्दिक अर्थ** (Literal Meaning of Sanskritization)–संस्कृतिकरण का शाब्दिक अर्थ है, वह प्रक्रिया जिसके माध्यम से उन क्षेत्रों या समूहों में संस्कृति का प्रसार होता है, जहाँ संस्कृति का अभाव है।

**संस्कृतिकरण का समाजशास्त्रीय अर्थ** (Sociological Meaning of Sanskritization)–समाजशास्त्र में इस अवधारणा का प्रयोग पर्याप्त भिन्न अर्थ में हुआ है। समाजशास्त्र में संस्कृतिकरण सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया है, जो भारतीय सामाजिक स्तरीकरण को प्रभावित करती है। यह प्रक्रिया विभिन्न निम्न जातियों, जनजातियों तथा अन्य समूहों में सक्रिय है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत विभिन्न निम्न जातियाँ अपने सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन को उच्च जातियों के जीवन के अनुकूल परिवर्तित करती हैं।

भारत में संस्कृतिकरण की प्रक्रिया अति प्राचीनकाल से चली आ रही है। अति प्राचीनकाल में जब भारत में आर्य जातियों की सामाजिक स्थिति उच्च एवं अनार्य जातियों की सामाजिक स्थिति निम्न मानी जाती थी, तब भी संस्कृतिकरण की प्रक्रिया चल रही थी। उसक काल में अनार्य जातियाँ अपने रहन-सहन एवं आचार-व्यवहार को आर्यों के अनुकूल परिवर्तित करने का प्रयास कर रही थीं। संस्कृतिकरण की परिभाषा करते हुए **डॉ. एम.एन. श्रीनिवास** ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन' (Social Change in Modern India) में लिखा है, *"संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्न हिन्दू जाति या कोई जनजाति अथवा अन्य समूह किसी उच्च और प्राय: द्विज जाति की दिशा में अपने रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन पद्धति को बदलता है।"* संस्कृतिकरण की इस परिभाषा में इस प्रक्रिया की निम्नलिखित विशेषताओं पर जोर दिया गया है–

1. संस्कृतिकरण के द्वारा कोई भी जाति, जनजाति या समूह उतार-चढ़ाव के सामाजिक क्रम में वर्तमान से ऊँचा स्थान प्राप्त करने का प्रयास करता है।
2. संस्कृतिकरण की प्रक्रिया निम्न जाति द्वारा उच्च जाति का अनुकरण करने से चलती है।
3. संस्कृतिकरण की प्रक्रिया केवल जाति में ही नहीं, बल्कि जनजाति अथवा अन्य समूहों में भी देखी जा सकती है।

नोट

4. संस्कृतिकरण में केवल ब्राह्मणों का ही अनुकरण नहीं किया जाता, बल्कि क्षत्रियों या वैश्यों का भी अनुकरण किया जा सकता है, किन्तु प्रत्येक स्थिति में नीची जाति ऊँची जाति का अनुकरण करती है।
5. संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में जाति अथवा समूह के रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन-पद्धति किसी द्विज जाति के अनुरूप परिवर्तित हो जाते हैं।

**संस्कृतिकरण तथा सामाजिक गतिशीलता** (Sanskritisation and Social Mobility)**–डॉ. श्रीनिवास** द्वारा प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर संस्कृतिकरण की सामाजिक गतिशीलता में भूमिका निम्न प्रकार स्पष्ट होती है–

1. **जातीय गतिशीलता का प्रयास** (Efforts for Caste Mobility)–संस्कृतिकरण जातीय गतिशीलता के प्रयास की प्रक्रिया है।
2. **मन्द गति की प्रक्रिया** (A Slow Moving Process)–संस्कृतिकरण की प्रक्रिया सामाजिक परिवर्तन की एक मन्द प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के माध्यम से अति धीमी सामाजिक गतिशीलता आती है। संस्कृतिकरण के माध्यम से किसी निम्न जाति को उच्च सोपान प्राप्त करने में काफी समय तक प्रयास करना पड़ता है। उन्हें समाज में उच्चता की स्वीकृति सरलता से नहीं मिल पाती। **डॉ. श्रीनिवास** का कहना है, "साधारणत: बहुत दिनों तक बल्कि वास्तव में एक दो-पीढ़ियों तक दावा किए जाने के बाद ही उसे स्वीकृति मिलती है।"
3. **प्रभुजाति का अनुसरण** (Imitation of Master Caste)–संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत विभिन्न निम्न जातियां उच्च जातियों का अनुकरण करती हैं, परन्तु उच्च जाति से आशय परम्परात्मक उच्च जाति अर्थात् ब्राह्मणों से नहीं है। उच्च जाति का निर्धारण स्थानीय होता है। कोई भी जाति विभिन्न साधनों से सम्पन्न होने पर स्थानीय उच्च जाति का पद प्राप्त कर लेती है। इस स्थानीय को प्रभु जाति कहा गया है। संस्कृतिकरण के अन्तर्गत इसी प्रभु जाति का अनुकरण किया जाता है।
4. **यह पद मूलक परिवर्तन है, संरचना-मूलक नहीं** (Change in Statics not in Structure)–संस्कृतिकरण जातीय गतिशीलता की एक प्रक्रिया है। परन्तु यह परिवर्तन केवल पद मूलक है अर्थात् संस्कृतिकरण के परिणामस्वरूप विभिन्न जातियों की अपनी सामाजिक स्थिति तो परिवर्तित हो जाती है, परन्तु इससे समस्त जाति व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् विभिन्न जातियों का क्रम-सोपान वही रहता है। इसलिए संस्कृतिकरण पद मूलक परिवर्तन है, संरचनामूलक परिवर्तन नहीं है। **डॉ. श्रीनिवास** ने कहा है।
5. **निहित सांस्कृतिक परिवर्तन** (Consisted Cultural Change)–संस्कृतिकरण के परिणामस्वरूप केवल जातियों की सामाजिक स्थिति में ही परिवर्तन नहीं होता, बल्कि साथ ही साथ सांस्कृतिक परिवर्तन भी होते हैं। निम्न जातियां उच्च जातियों के सांस्कृतिक प्रतिमानों को अपनाती हैं। उनका रहन-सहन, वेशभूषा तथा रीति-रिवाज भी परिवर्तित हो जाते हैं।

संस्कृतिकरण ने भारतीय समाज में सामाजिक गतिशीलता को प्रोत्साहित किया है। सैद्धान्तिक रूप से भारतीय सामाजिक व्यवस्था एक बन्द व्यवस्था है, जिसमें गतिशीलता की कोई सम्भावना नहीं है, परन्तु संस्कृतिकरण के माध्यम से निम्न जातियों को अपनी स्थिति को उन्नत करने का अवसर मिलता है। इसी सुविधा के परिणामस्वरूप आधुनिक भारत में पर्याप्त सामाजिक गतिशीलता देखी जा सकती है।

पश्चिमीकरण सामाजिक गतिशीलता का वाहक निम्न प्रकार हैं–

*नोट्स* संस्कृतिकरण से सम्बद्ध गतिशीलता के परिणामस्वरूप व्यवस्था में केवल पद मूलक परिवर्तन होते हैं, कोई संरचनामूलक परिवर्तन नहीं, अर्थात् एक जाति अपने आस-पास की जातियों से ऊपर उठ जाती है, और दूसरी नीचे आ जाती है, पर यह सब एक मूलत: अचल सोपान में घटित होता है। स्वयं व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं होता।

नोट

**पश्चिमीकरण का अर्थ एवं परिभाषा** (Meaning and Definition of Westernisation)–शाब्दिक अर्थ में पश्चिमीकरण सामाजिक परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जो पश्चिमी प्रभाव से भारत में सम्पन्न हुई है। परन्तु यहाँ 'पश्चिमी समाज' अस्पष्ट एवं विस्तृत अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द प्रतीत होता है।

अनेक पश्चिमी देशों की सामाजिक एवं सांस्कृतिक मान्यताएं पर्याप्त भिन्न हैं। ऐसी स्थिति में भारत में सम्पन्न होने वाले किसी परिवर्तन की प्रक्रिया की व्याख्या केवल 'पश्चिमी समाज' के प्रभाव के रूप में नहीं की जा सकती। इसी संदिग्ध स्थिति को स्पष्ट करने के लिए **डॉ. श्रीनिवास** ने स्पष्ट रूप से कहा है, "मैंने पश्चिमीकरण शब्द को अन्य स्थान पर ब्रिटिश राज्य के डेढ़ सौ वर्ष के शासन के परिणामस्वरूप भारतीय समाज और संस्कृति में उत्पन्न हुए परिवर्तनों के लिए प्रयोग किया है, और यह शब्द प्रौद्योगिकी, संस्थाओं, विचारधारा तथा मूल्यों पर विभिन्न स्तरों पर उपलब्ध होने वाले परिवर्तनों को सम्मिलित करता है।" **डॉ. श्रीनिवास** के प्रस्तुत कथन से पश्चिमीकरण का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। सर्वप्रथम यह कहा जा सकता है कि 'पश्चिमीकरण' से आशय उन सामाजिक परिवर्तनों से है, जो भारतीय समाज में ब्रिटिश सांस्कृतिक संघात के परिणामस्वरूप घटित हुए हैं। इनके अतिरिक्त पश्चिमीकरण के अन्तर्गत वे सभी परिवर्तन निहित हैं जिनका सम्बन्ध भारतीय प्रौद्योगिकी, सामाजिक संस्थाओं, विचाराधाओं तथा विभिन्न नैतिक मूल्यों से है। भारत में पश्चिमीकरण का प्रारम्भ ब्रिटिश शासन-काल से प्रारम्भ हुआ।

**पश्चिमीकरण तथा सामाजिक गतिशीलता** (Westernisation and Social Mobility)–ब्रिटिश शासनकाल में पश्चिमीकरण ने सामाजिक गतिशीलता में निम्न प्रकार योगदान दिया–

1. अंग्रेजों ने नए विद्यालयों और कॉलेजों की स्थापना की, जिनमें बिना किसी जातिगत भेदभाव के सबको प्रवेश दिया गया था।
2. सेना, शासन, विधि न्यायालयों में योग्यता के आधार पर नियुक्तियाँ की जाने लगीं। इससे सभी जाति के लोगों को समान अवसर मिलने लगे, जिससे पर्याप्त सामाजिक गतिशीलता हुई।
3. आर्थिक क्षेत्र में विभिन्न अवसरों की उत्पत्ति की गयी। ऊँची जाति के लोगों ने संस्थानों से उच्च शिक्षा प्राप्त करके आर्थिक लाभ के अवसरों का भरपूर लाभ उठाया। छोटी जाति के लोग भी प्रभावित हुए। **बेले** के अनुसार अंग्रेजों की प्रतिबंधित नीति ने गांजा और बोर्द शराब कारखाने को इस प्रकार प्रभावित किया कि निम्न वर्गीय धनी बन गए।
4. रेलवे, सड़क और नए नहरों का निर्माण किया गया। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के नोनीयास तथा सूरत के समुद्री-तट के कोलियों ने इस नई व्यवस्था में विस्तृत रोजगार के अवसरों का लाभ उठाया और वे आर्थिक स्तर पर समृद्ध बन गए।
5. पूर्वी भारत के तेली जाति के लोग तेल के लिए नए-नए खुले बाजारों और व्यापार में सहभागिता कर धनी बन गए।
6. स्वतंत्रता के बाद पश्चिमीकरण की प्रक्रिया तीव्र गति से आगे बढ़ रही है। स्वतंत्र भारत ने तर्क बुद्धिपरक समानतावादी एवं मानवतावादी सिद्धांतों को समान रूप में अपनाया है, जिस कारण गतिशीलता के लिए आगे और मार्ग खुल गए।

1. **नई विधि व्यवस्था** (New Legal System)–ब्रिटिश शासनकाल राजनीतिक रूप से पूरे देश में एकल शासन-व्यवस्था की इकाई थी। उनका शासन कानून-व्यवस्था की तर्कवादपरक, मानवतावादी एवं समानतावादी सिद्धांतों पर आधारित था। यह बिना किसी जातिगत भेदभाव के अपने निर्णय दिया करता था।

   स्वतंत्र भारत में समान रूप से मताधिकार के सिद्धांत के साथ पंचायती राज व्यवस्था को लागू करके शक्ति का विकेन्द्रीकरण किया गया है। इसका उद्देश्य कमजोर वर्गों के लोगों के हाथ मजबूत करना और ऊँची जाति के लोगों के प्रभुत्व को कम करना है।

   इसी प्रकार हदबंदी लागू करके जमींदारी व्यवस्था पर कड़ी चोट की गई है। छोटे किसानों (जिन्होंने भूमि

नोट

प्राप्त की है) को कृषि करने के अधिकार एवं भूस्वामी बनने के अधिकार दिए गए हैं। इन अधिकारों से जातिगत गतिशीलता में निश्चित रूप से असीम वृद्धि हुई है।

2. **समाज सुधार** (Social Reforms)–

(*i*) ईसाई मिशनरियों ने निम्नतम दलित जाति के लोगों में धर्म-परिवर्तन कराया। इस प्रकार जो अछूत माने जाते थे, उनके जीवन से गरीबी एवं शोषण को दूर किया और उन्हें शिक्षा प्रदान की। इससे उनका सामाजिक स्तर बढ़ा और उन्होंने प्रतिष्ठा प्राप्त की।

(*ii*) कुछ शिक्षित उदारवादी सुधारक जैसे कि राजाराम मोहन राय, केशव-चन्द्र सेन, स्वामी विवेकानंद स्वामी दयानंद आदि ने समाज मं व्यापक अंधविश्वासों, बुराइयों के उन्मूलन व वंचित और दिलातों तथा निम्न जाति के लोगों में अत्याचारों को कम करने तथा उनके स्तर को सुधारने के लिए तर्कसंगत बनाने और हिंदू धर्म को आधुनिक बनाने के प्रयास किए।

(*iii*) महात्मा गांधी तथा डॉ. भीमराव अम्बेडकर के प्रयासों के परिणामस्वरूप छुआछूत को जड़ से मिटाने के लिए छुआछूत उन्मूलन एवं अत्याचारों से बचाने के लिए संरक्षणात्मक अधिनियमों को बनाया गया। इससे निम्न वर्गों के लोगों में व्यापक रूप से उच्च स्तरीय सामाजिक गतिशीलता उत्पन्न की।

धर्म निरपेक्षीकरण, शिक्षा, औद्योगीकरण, शहरीकरण तथा सामाजिक गतिशीलता को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है–

**धर्म-निपेक्षीकरण** (Secularism)–धर्म-निपेक्षीकरण में धार्मिक के अतिरिक्त सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक, कानून और नैतिकता के विभिन्न पक्षों में परस्पर मतभेद बढ़ने से एक-दूसरे के संबंध पृथक् होने का भाव भी अंतर्निहित है। पुराने धार्मिक ढाँचे में स्तर, पद, व्यवसाय अथवा पेशा और सामान्य जीवन-शैली का निर्धारण शुद्धता एवं अशुद्धता के सिद्धांतों के आधार पर किया जाता था। तर्कसंगत विचारों और शिक्षा के प्रभाव के कारण आज शुद्धता और अशुद्धता जैसे विचारों को अस्वीकार कर दिया गया है। इस विचार को त्यागने से लोग एक-दूसरे के निकट आए हैं।

**शिक्षा** (Education)–पुरानी सामाजिक व्यवस्था में शिक्षा पर ब्राह्मणों और 'द्विजों' का एकाधिकार था। ब्रिटिश शासनकाल में अंग्रेजों ने शैक्षिक संस्थाओं को सबके लिए खोल दिया था और उन्होंने धर्मनिरपेक्षता और युक्तिसंगतता के आधार पर शिक्षा देना आरंभ किया। जिन लोगों ने आधुनिक शिक्षा में प्रशिक्षण प्राप्त किया था, वे सेना और नौकरशाही में नियुक्ति प्राप्त कर सकते थे। परिणामत: उच्च स्तर पर गतिशीलता में तेजी आई। इस शिक्षा के कारण लोगों के विचारों में परिवर्तन आया और न्याय, स्वतंत्रता तथा समानता के सिद्धांत लागू हुए। उच्च कुलीन शिक्षित लोगों ने जाति के आधार पर अत्याचार और शोषण को समाप्त करने के लिए अपनी आवाज बुलन्द की। शिक्षा ने गतिशीलता की प्रगति और रूप को इतने गहन रूप से प्रभावित किया कि एक नए वर्ग का उदय हुआ। स्वतंत्रता के बाद, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए शैक्षणिक संस्थाओं में इनके लिए स्थान आरक्षित किए गए।

**औद्योगीकरण तथा सामाजिक गतिशीलता** (Industiralization and Social Mobility)–औद्योगीकरण आधुनिक युग की एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक प्रक्रिया है। मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन कार्यों का सम्पादन तथा उद्योग-धन्धों के एक स्थान में विकास की प्रक्रिया को औद्योगीकरण कहते हैं।

**डॉ. विबासि** के शब्दों में, "औद्योगीकरण का तात्पर्य बड़े पैमाने के नवीन उद्योगों का प्रारम्भ और छोटे उद्योगों को बड़े-पैमाने के उद्योगों में बदलने से है।"

वस्तुत: औद्योगीकरण उद्योगों के बड़े पैमाने में विकास की एक प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत कोयला, तेल, प्राकृतिक गैस और अन्य खनिज पदार्थों की अधिकाधिक प्राप्ति तथा उन्हें काम में लगाने पर बल दिया जाता है। इसके साथ ही कपास, तिलहन, पटसन आदि अन्य कृषि द्वारा उत्पन्न होने वाली वस्तुओं को उत्पादन के कच्चे माल के रूप में व्यवहृत किया जाता है, ताकि इन सभी से सम्बन्धित उद्योग-धन्धों का विकास बड़े पैमाने पर हो सके।

नोट

औद्योगीकरण विभिन्न प्रकार से सामाजिक गतिशीलता लाता है–

1. औद्योगीकरण से लोगों को रोजगार मिलता है जिससे बिना किसी जातिगत भेदभाव की उपलब्धि तथा शिक्षा पर जोर दिया जाता है।
2. उद्योगों में नौकरियाँ का मिलना कर्मचारी की शिक्षा एवं अनुभवों पर आधारित होता है, किसी जातिगत उच्चता पर नहीं।
3. इस व्यवस्था में रोजगार के अवसर सबके लिए खुले होते हैं।
4. इसमें भूमिहीन मजदूरों को उच्च स्तरीय गतिशीलता के लिए अवसर उपलब्ध होते हैं।
5. औद्योगीकरण में एक नवीन प्रकार की कार्य संरचना होती है, जो श्रमिकों के तकनीकी विभाजन और समान या एकरूपता के स्तर पर आधारित होती है।
6. उद्योगों में विभिन्न जातियों के श्रमिक एक साथ, निकट ही एक ही मशीन पर बिना किसी जातिगत भेदभाव के एक साथ काम करते हैं। इस कार्य में किसी प्रकार की पवित्रता या शुद्धिकरण का विचार नहीं किया जाता।

*टास्क* अन्तपारम्परिक गतिशीलता से आप क्या समझते हैं?

**शहरीकरण तथा सामाजिक गतिशीलता** (Urbanisation and Social Mobility)–शहरों में गतिशीलता के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं–

1. शिक्षा के द्वरा उपलब्धियाँ प्राप्त करना।
2. नवीन व्यावसायिक अवसर।
3. जाति के स्थान पर स्तरीकरण की पद्धति का वर्ग के रूप में उभरना।
4. जातियों का एसोसिएशन एवं परिसंघों आदि के रूप में जाति-विभाजन।

इस प्रकार शहरीकरण सोपानात्मक एवं क्षैतिज गतिशीलता का सृजन करता है।

**वर्ग गतिशीलता-वर्ग निर्माण, औद्योगीकरण व शिक्षा की भूमिका** (Class Mobility-Role of Class Formation, Industrialisation and Education)–वर्ग गतिशीलता का महत्त्व निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है–

1. यह वर्ग स्तरीकरण का महत्त्वपूर्ण व व्यापक आयाम है।
2. यह वर्ग स्तरीकरण की अन्तिम अवस्था है।
3. यह अन्य सामाजिक प्रक्रियाओं को प्रकट करता है।
4. गतिशीलता की व्यापकता का प्रयोग औद्योगिक समाज के 'खुलेपन' के लिए भी किया जाता है।
5. इसका प्रयोग वहाँ भी किया जाता है, जहाँ पर गतिशीलता की ऊँची दर धर्म की अपेक्षा सामाजिक उपलब्ध ता का संकेत करती है। इस व्यवस्था में व्यक्तिगत प्रतिभा और योग्यता के आधार पर व्यक्ति पुरस्कृत होता है या उसे लाभ मिलता है न कि इसमें कि एक व्यक्ति को उत्तराधिकार में बहुत सारी सम्पत्ति और सामाजिक स्तर प्राप्त हुआ है।
6. वर्ग गतिशीलता वर्ग निर्माण को समझने के लिए एक विशिष्ट घटक है।
7. समाज के सदस्यों के जीवन में अवसरों की उपलब्धता के संकेतों का वर्ग गतिशीलता के अध्ययनों से भी पता लगाया जा सकता है।

नोट

8. सामाजिक स्थिरता तथा विस्तार के विश्लेषण के लिए उन लोगों की जो गतिशीलता के दौर से गुजर रहे हैं, की क्रिया एवं प्रतिक्रिया को जानना बहुत महत्त्वपूर्ण है, जोकि वर्ग गतिशीलता से ज्ञात होता है।
9. सामाजिक गतिशीलता की सीमा को औद्योगिक समाज के 'खुलेपन' के उपायों के रूप में प्रयोग किया गया है।

**वर्ग गतिशीलता व वर्ग-निर्माण** (Class Mobility and Class Formation)—वर्ग गतिशीलता का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू है—वर्ग निर्माण की प्रक्रिया। इस दिशा में प्रमुख अध्ययन निम्न प्रकार हैं—

1. **मार्क्स** (Marx)—कार्ल मार्क्स ने एक ओर वर्ग-निर्माण और उसके कार्य तथा दूसरी ओर गतिशीलता का विस्तार और वर्ग स्थिति के मध्य के सम्बन्धों के बारे में इसका विश्लेषण किया है।
2. **वेबर** (Weber)—वेबर ने वर्ग निर्माण के लिए सामाजिक गतिशीलता के महत्त्व को प्रकट करते हुए उस पर विशेष जोर दिया है। वेबर ने सामाजिक तथा सांस्कृतिक पहचान के लिए स्थिरता को प्रमुख घटक स्वीकार किया है।
3. **वेस्टरगार्ड** (Westerguard)—वेस्टरगार्ड ने गतिशीलता के महत्त्व को मान्यता प्रदान की है और वर्ग-स्थिति, वर्ग-जागरूकता और वर्ग-संगठन के संदर्भ में लोगों की प्रतिक्रिया पर पड़ने वाले प्रभाव के रूप गतिशीलता की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति के महत्त्व को प्रकट किया है।
4. **गिड्डेस** (Giddens)—गिड्डेस का मत है कि गतिशीलता पर जितनी अधिक पाबंदियाँ होगी, उतनी ही स्थिरता से जीवन अवसरों के पुनरुत्थान के संदर्भ में विशिष्ट अभिगेय वर्ग निर्माण के तथा वर्ग निर्भरता एवं सम्बद्धता के अधिक अवसर होंगे।

**औद्योगीकरण एवं गतिशीलता** (Industrialisation and Mobility)—गतिशीलता की प्रक्रिया और उसके संरचना रूपों के विश्लेषण में वर्ग का तात्पर्य व्यावसायिक समूहों से है। इसका कारण यह है कि व्यवसाय किसी व्यक्ति की पात्रता, योग्यता, शिक्षा का एक पक्ष है और औद्योगीकरण ने केवल आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं, अपितु समाज के सभी क्षेत्रों में निम्न प्रकार व्यापक परिवर्तन किए हैं—

1. औद्योगीकरण समाजों को 'खुले' समाजों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।
2. औद्योगिक समाजों में गतिशीलता के लिए अत्यधिक अवसर उपलब्ध होते हैं।
3. औद्योगिक समाजों में गतिशीलता की बहुत ऊँची दर होती है। यह दर तीव्र आर्थिक परिवर्तनों को जन्म देती है जिसके लिए व्यावसायिक, भौगोलिक एवं सामाजिक गतिशीलता अत्यंत आवश्यक है।
4. **लिपसेट** तथा **जैटरबर्ग** का मानना है कि उद्योगवाद एकसमान गतिशीलता की संरचना उत्पन्न करता है।
5. **डंकन** तथा **बलाउ** ने औद्योगीकरण के द्वारा सृजित अनेक घटकों पर बल दिया है, जिनका गतिशीलता पर प्रभाव पड़ता है।
6. औद्योगीकरण बुद्धिवाद के विकास से जुड़ा होता है, जो चयन तथा श्रमिकों के व्यावसायिक विभाजन के लिए सार्वभौमिक मानदंडों का सृजन करता है।
7. यह परिवारवाद तथा पड़ोसवाद को कमजोर करता है।
8. औद्योगीकरण व्यावसायिक रूपों पर 'निम्न प्रकार अपना प्रभाव डालता है। प्रत्येक औद्योगीकृत या उद्योगशील समाज में आनुपातिक रूप से दो प्रभाव पड़ते हैं।
   (*i*) निपुण कार्यालयीन, प्रबंधकीय और सफेदपोश स्थितियों में वृद्धि होती है।
   (*ii*) अकुशल श्रमिक कार्यों में अपेक्षाकृत कमी हो जाती है।

**शिक्षा व सामाजिक गतिशीलता** (Education and Social Mobility)—शिक्षा गतिशीलता विशेषत: औद्योगिक समाजों में, गतिशीलता की वृद्धि के लिए पहली व महत्त्वपूर्ण शर्त है कि योग्यता प्राप्त कर्मचारियों की विद्यमानता जो विशिष्ट कार्यों के संचालन में सक्षम हो। ये विशेषज्ञ ज्ञान के विशेष क्षेत्रों में शिक्षित होते हैं। इस तरह की शैक्षिक तथा प्रशिक्षण की सुविधाएँ औद्योगिक समाजों में सबके लिए खुली होती हैं। शिक्षा उच्च स्तर की गतिशीलता प्राप्त

नोट

करने के लिए महत्त्वपूर्ण मार्ग रही है। शिक्षा प्राप्त करना रोजगार गतिशीलता के लिए एक प्रमुख निर्धारक माना जाता है। यह अंत:पारंपरिक और अंत–परिवर्तित गतिशीलता पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ता है।

**अंत:पारंपरिक अंत:परिवर्तित गतिशीलता** (Inter-Traditional and Inter-Changed Mobility)–इससे किसी व्यक्ति के पैतृक वर्ग की गतिशीलता अथवा संचरण तथा संचरण अथवा गतिशीलता (ऊपर की ओर या नीचे की ओर) का ज्ञान होता है।

1. यदि किसी पर्यवेक्षक का पुत्र या पुत्री अकुशल श्रमिक बन जाता है, तो इसे **निम्न स्तर की गतिशीलता** कहेंगे।
2. उसी व्यक्ति का पुत्र या पुत्री प्रबंधक बन जाते हैं, तो ऐसी स्थिति में हम उसे **उच्च स्तर की गतिशीलता** कहेंगे।

इंग्लैंड तथा वालेस में **डेविड ग्लास** ने अपने अध्ययन (1949) में यह पाया कि अंत:पारंपरिक गतिशीलता बहुत ही अधिक थी। उन्होंने भिन्न–भिन्न व्यावसायिक श्रेणियों के व्यक्तियों से साक्षात्कार करके यह पाया कि लगभग दो–तिहाई लोग अपने पिता की तुलना में इस गतिशीलता की श्रेणी में थे। अधिकतर गतिशीलता अति लघु क्षेत्र में थी, अर्थात् ऐसे लोग अधिकतर पाए गए जिनकी श्रेणी लगभग अपने पिता की श्रेणी के आसपास ही थी। इसके अतिरिक्त निम्न स्तर की गतिशीलता की तुलना में उच्च स्तर की गतिशीलता अधिक पाई गयी।

कुछ समय पश्चात् पश्चिमी यूरोप व अमेरिका में किए गए एक अध्ययन में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले गए–

1. समस्त पश्चिमी औद्योगिक समाजों में लगभग तीस प्रतिशत गतिशीलता वर्ग से बाहर हुई थी। यह सीमित क्षेत्र में थी। शिक्षा प्राप्त लोग गैर–शारीरिक श्रम के कार्यों में लगे हुए थे।
2. वैसी ही योग्यता वाले कुछ शारीरिक श्रमिक हाथ के दूसरे कार्यों में लग गए।
3. कुछ लोग पहले गैर–शारीरिक श्रम में लगे हुए थे, बाद में उन्हें शारीरिक श्रम में प्रवेश करना पड़ा।
4. केवल कॉलेज स्तर की शिक्षा ही शारीरिक श्रम से गैर–शारीरिक कामों में प्रवेश दिलाने में सहायक हुई। **लिपसेट** तथा **बेनडिक्स** का मानना है कि गरीबी, शिक्षा की कमी तथा खुलेपन की कमी का प्रभाव गतिशीलता पर पड़ता है।

**अंत:परिवर्तित गतिशीलता**–गतिशीलता का तात्पर्य उस गतिशीलता से है, जिसमें कोई व्यक्ति अपने सेवा काल में अपनी सामाजिक स्थिति में परिवर्तन कर लेता है। जैसे लिपिक संवर्ग में काम करने वाला व्यक्ति अपने सेवा काल में ही प्रबंधक का पद प्राप्त कर ले।

**सेवाकालीन गतिशीलता**–यह गतिशीलता सामान्यत: अंत:पारंपरिक गतिशीलता की अपेक्षा कम है। सेवाकालीन गतिशीलता उसके प्रथम कार्य की प्रकृति पर निर्भर करती है।

सेवाकालीन गतिशीलता आयु के साथ घटती रहती है। प्राय: व्यक्ति की 35 वर्ष की आयु के बाद इसमें कमी आ जाती है।

प्राय: सेवाकालीन गतिशीलता ऊपर की ओर अधिक जाती है। इसके अतिरिक्त अंत:परिवर्तित गतिशीलता शैक्षिक योग्यता से भी संबंध रखती है। जितनी अधिक विशिष्ट शैक्षणिक योग्यता एवं प्रशिक्षण होगा, उती ही गतिशीलता कम होगी।

**कृषक वर्गों में सामाजिक गतिशीलता** (Social Mobility among peasantry classes)–भारत में कृषक वर्गों में सामाजिक गतिशीलता के लिए श्रेय निम्नलिखित कारकों को जाता है–

1. **भूमि–सुधार कानून 1950** (Land Reform Act, 1950)–सन् 1950 में भूमि–सुधार कानून पारिक हुआ। इस अधिनियम का उद्देश्य भूमि में बिचौलियों को समाप्त करना तथा मूल काश्तकारों को देना था। इस तरह से सोपानात्मक गतिशीलता–उच्च स्तर एवं निम्न स्तर दोनों तरह की गतिशीलता उत्पन्न हुई–

नोट

(*i*) **उच्च गतिशीलता** (Ascending Mobility)—काश्तकारों ने फालतू भूमि खरीद ली, जिसके परिणामस्वरूप वे उच्च गतिशीलता की ओर बढ़े।

(*ii*) **निम्न गतिशीलता** (Descending Mobility)—कुछ किसानों को भूमि से बेदखल कर दिया गया, जिससे उनकी गतिशीलता निम्न स्तर की ओर चली गई। भूमिहीन श्रमिकों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई, जिससे वे और भी गरीब हो गए।

इसी प्रकार भूमि-सुधार अधिनियम जमींदारों के लिए निम्न सामाजिक गतिशीलता का साधन बन गया। वे काश्तकारों से भूमि कर तथा फसल का भाग प्राप्त करने के अधिकार से वंचित हो गए। उनके पास केवल सीमित भूमि रह गई जिससे राजसी जीवन-शैली बिताने में असमर्थ हो गए।

2. **हरित क्रान्ति कार्यक्रम** (Green Revolution Programme)—सरकार ने 1960 के दशक में हरित क्रांति कार्यक्रम आरंभ किया। इस कार्यक्रम का मुख्य जोर ऊँची पैदावार बढ़ाने वाले बीजों का प्रयोग और उत्पादन को और अधिक गति देने के लिए उर्वरक के प्रयोग से था। परंतु उच्च किस्म की खादों और बीजों का प्रयोग करने के लिए निरंतर पानी की आपूर्ति के लिए ट्यूबवेल आदि की आवश्यकता हुई। इन सब सुविधाओं की व्यवस्था करने में छोटे किसान असमर्थ थे।

(*i*) **उच्च गतिशीलता** (Ascending Mobility)—एक नया वर्ग प्रगतिशील वर्ग सामने आया। ये प्रगतिशील किसान अधिक भूमि तथा उसमें प्रयुक्त होने वाले साधन जैसे कि ट्रेक्टर, पम्प सेट, पॉवर थ्रेशर्स आदि की व्यवस्था भी कर सकते थे। ये लोग बड़े उद्यमी बन गए, जो अपनी भूमि में अधिक ये अधिक धन लगाकर अत्यधिक लाभ कमाने में समर्थ थे।

(*ii*) **निम्न गतिशीलता** (descending Mobility)—कुछ भूमि पर कृषि मजदूर रह गए।

हमारे देश में औद्योगीकरण कुछ विलम्ब से प्रारम्भ हुआ। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप शहरों की ओर लोगों का आना अत्यधिक एवं तीव्र हो गया। अत: इसने समग्र सामाजिक वर्गों की प्रकृति को व्यापक रूप से प्रभावित किया। शहरीकरण की संरचना में निम्नलिखित प्रमुख चार वर्गों की पहचान की गई है–

1. **कृषि श्रमिक** (Agricultural Labour)—इस वर्ग में वे निर्धन कृषि मजदूर थे जिनके पास भूमि नहीं होती थी अर्थात् भूमिहीन किसान अथवा दरिद्र किसान थे: कुछ किसान इस वर्ग में थोड़े समय के लिए 'लक्ष्य श्रमिक' (टार्गेट वर्कर्स) के रूप में सम्मिलित हो गए।

इसी प्रकार कुछ लोग खेती-बाड़ी में काम की कमी या मंदी होने से कार्य की तलाश में अस्थायी श्रमिक बन गए। ये श्रमिक फैक्ट्रियों, टैक्सटाइल मिलों, बागवानी तथा अनौपचारिक क्षेत्रों में काम करने लगते हैं। ये शहरों की गंदी बस्तियों में रहते हैं। इनका जीवन दमनीय और दयनीय होता है, तथापित जिन नगरों में उद्योगों के केन्द्र स्थापति हो गए हैं, वहाँ ये लोग अब संगठित हो गए हैं। इन्होंने यूनियनें बना ली हैं, ताकि अपने नियोक्ताओं से अच्छे वेतन की शर्तों को मनवा सकें। वे ट्रेड यूनियनें राजनीतिक संगठनों या दलों से सम्बद्ध हो गई हैं, इनका उद्देश्य अपने शक्तिशाली नेताओं के माध्यम से अपनी माँगों के लिए दबाव डालना है।

2. **व्यावसायिक वर्ग** (Professional Class)—इस वर्ग में डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, प्रबंधक, प्रशासक, वैज्ञानिक, प्रौद्योगिकीवद् आदि सम्मिलित थे। प्रादेशिक क्षेत्रों के विकास के साथ-साथ इस वर्ग की संख्या और प्रतिष्ठा में निरन्तर वृद्धि होती गई। इन लोगों को पदों की प्राप्ति अच्छी शिक्षा के कारण ही संभव हुई है, जिससे इन लोगों ने अपनी स्थिति में सुधार किया है।

3. **पूँजीपति/बुर्जुआ वर्ग** (Capilatist/Bourgeois Classes)—भारत में अंग्रेजों ने आधुनिक औद्योगीकरण की स्थापना की। उद्योग, मुक्त व्यापार तथा नए बाजारों की स्थापना ने व्यापार और व्यवसाय को प्रेरित किया। व्यापारी धनी बन गए और उद्योगों की स्थापना की। आज भी बड़ी संख्या में उद्योगपति कुछ विशिष्ट व्यापारिक जातियों और समुदायों से हैं। राजस्थान के मारवाड़ी, गुजराती बनिया और पश्चिम में जैन तथा

नोट

दक्षिण में चेत्तियार लोग इसी प्रकार के वर्ग हैं। सर्वप्रथम व्यापारी वर्ग पूँजीपति बना। उन्होंने कुछ कारीगर तथा शिल्पकार, जिन्होंने नए आर्थिक अवसरों का लाभ उठाया, उन्होंने लघु उद्योग स्थापित किए। उदाहरणार्थ आगरा के जाटव जूते बनाने वाले उद्योगपति बन गए हैं।

4. **उद्यमी-व्यापारी एवं दुकानदार** (Industrialist Merchants and Shopkeepers)–शहरी समाज उद्यमियों से बनता है। ये वर्ग शहरों एवं नगरों के विकास के साथ फले-फूले हैं। ये लोग शहरों में नई वस्तुओं एवं सेवाओं की माँग पूरी करके धन कमाते हैं। इस वर्ग में रेस्टोरेंट मालिक, वीडियो लाइब्रेरी, प्रॉपर्टी डीलर, पंसारी, लॉण्ड्री, ड्राइक्लीनर्स आदि व्यवसायी शामिल हैं। वे इन वस्तुओं की आपूर्ति एवं सेवाएँ उपलब्ध कराने और उपभोक्ता के मध्य शृंख्ला स्थापित करके उच्च गतिशीलता का आनन्द ले सके हैं।

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**2. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–**

1. सभी समाजों में गतिशीलता को प्रभावित करता है–

(क) जनसांख्यिकीय घटक (ख) प्रतिभा तथा योग्यता

(ग) जैविक परिघटना (घ) इनमें से कोई नहीं।

2. किसके अनुसार 'इतिहास कुलीन वंशों का कब्रिस्तान है'–

(क) मैक्स क्लूकमैन (ख) पैरेटो

(ग) लिपसेट (घ) इनमें से कोई नहीं।

3. गतिशीलता के प्रमुख स्तर हैं–

(क) परिवार में व्यक्तिगत गतिशीलता (ख) एक जाति में जल्पसंख्यक परिवारों की गतिशीलता

(ग) समूह की गतिशीलता (घ) उपयुक्त सभी

4. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन यह पुस्तक किसने लिखी है–

(क) श्रीनिवास (ख) पैरेटो

(ग) लिपसेट (घ) इनमें से कोई नहीं।

5. गतिशीलता का सबसे महत्त्पूर्ण पहलू है–

(क) वर्ग निर्माण की प्रक्रिया (ख) वर्ग जागरूकता की प्रक्रिया

(ग) वर्ग संगठन की प्रक्रिया (घ) इनमें से कोई नहीं।

## 11.3 सारांश (Summary)

- प्रत्येक समाज में, लोगों को व्यवस्थित सामाजिक स्थानों पर स्थित किया जाता है। कौशल, ज्ञान, अवसरों और संसाधनों तक पहुँच के विभेदीय वितरण के कारण लोगों के लिये उच्च और निम्न पद-स्थानों पर बने रहने की बाध्यतायें उत्पन्न होती हैं। जो व्यक्ति उच्च और लाभकारी पदों पर आसीन हैं, वे समाज के निम्न स्थानों पर कार्य करने वाले सदस्यों के लिये ऊपर की ओर गतिशीलता में बाधायें उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं।
- पी. ए. सोरोकिन की शास्त्रीय कृति–सोशल एण्ड कल्चरल मोबिलिटी में सामाजिक गतिशीलता और उसके विभेंदों की धारणा का स्पष्ट विवरण प्राप्त है। सोरोकिन के अनुसार, "सामाजिक गतिशीलता का अभिप्राय एक व्यक्ति या सामाजिक वस्तु या मूल्य के किसी संक्रमण से है-कोई भी वस्तु जो मानव क्रिया द्वारा एक सामाजिक

नोट

स्थिति से दूसरी तक रचित या संशोधित हुई हैं। सोरोकिन का मत है कि सामाजिक गतिशीलता के दो मुख्य प्रकार हैं–क्षितिजीय और लम्बरूपीय।

- लम्बरूपी और क्षितिजीय गतिशीलता के अतिरिक्त, अधोगति गतिशीलता भी पाई जाती है, यद्यपि लम्बरूपी और क्षितिजीय गतिशीलता के सामान्य प्रतिमानों की तुलना में इसका अनुपात बहुत कम होता है। पश्चिमी समाजों में प्राय:अधोगति गतिशीलता मनावैज्ञानिक समस्याओं और चिन्ताओं के कारण घटित होती है।
- सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन के दो तरीके हैं–
  1. परिवर्तित पारम्परिक गतिशीलता
  2. अन्तपारम्परिक गतिशीलता
- प्राय: यह कह दिया जाता है कि जाति में गतिशीलता का अभाव होता है तथा यह अवरुद्ध या स्थैतिक व्यवस्था है, पर यह धारणा अनुपयुक्त है। पारम्परिक संरचना में भी जहाँ पर पूजा–पाठ ही किसी व्यक्ति के धार्मिक अनुष्ठान और उसकी व्यावसायिक स्थिति का तथा उसके पारश्रमिक निर्धारण का मुख्य घटक थी, वहाँ भी नीचे और ऊपर, दोनों तरफ की सामाजिक गतिशीलता थी।
- संस्कृतिकरण सामाजिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया है। संस्कृतिकरण की अवधारणा केवल भारतीय समाज में ही लागू होती है, क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध भारतीय सामाजिक स्तरीकरण की विशिष्ट प्रणाली से है।
- *"संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्न हिन्दू जाति या कोई जनजाति अथवा अन्य समूह किसी उच्च और प्राय: द्विज जाति की दिशा में अपने रीति–रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन पद्धति को बदलता है।"*
- संस्कृतिकरण के परिणामस्वरूप केवल जातियों की सामाजिक स्थिति में ही परिवर्तन नहीं होता, बल्कि साथ ही साथ सांस्कृतिक परिवर्तन भी होते हैं। निम्न जातियां उच्च जातियों के सांस्कृतिक प्रतिमानों को अपनाती हैं। उनका रहन–सहन, वेशभूषा तथा रीति–रिवाज भी परिवर्तित हो जाते हैं।
- औद्योगीकरण आधुनिक युग की एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक–आर्थिक प्रक्रिया है। मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन कार्यों का सम्पादन तथा उद्योग–धन्धों के एक स्थान में विकास की प्रक्रिया को औद्योगीकरण कहते हैं।
- वस्तुत: औद्योगीकरण उद्योगों के बड़े पैमाने में विकास की एक प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत कोयला, तेल, प्राकृतिक गैस और अन्य खनिज पदार्थों की अधिकाधिक प्राप्ति तथा उन्हें काम में लगाने पर बल दिया जाता है। इसके साथ ही कपास, तिलहन, पटसन आदि अन्य कृषि द्वारा उत्पन्न होने वाली वस्तुओं को उत्पादन के कच्चे माल के रूप में व्यवहृत किया जाता है, ताकि इन सभी से सम्बन्धित उद्योग–धन्धों का विकास बड़े पैमाने पर हो सके।
- वर्ग गतिशीलता का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू है–वर्ग निर्माण की प्रक्रिया।
- कार्ल मार्क्स ने एक ओर वर्ग–निर्माण और उसके कार्य तथा दूसरी ओर गतिशीलता का विस्तार और वर्ग स्थिति के मध्य के सम्बन्धों के बारे में इसका विश्लेषण किया है।
- गतिशीलता की प्रक्रिया और उसके संरचना रूपों के विश्लेषण में वर्ग का तात्पर्य व्यावसायिक समूहों से है। इसका कारण यह है कि व्यवसाय किसी व्यक्ति की पात्रता, योग्यता, शिक्षा का एक पक्ष है और औद्योगीकरण ने केवल आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं, अपितु समाज के सभी क्षेत्रों में निम्न प्रकार व्यापक परिवर्तन किए हैं।

## 11.4 शब्दकोश (Keywords)

- **प्रवसन** : अपने देश या प्रदेश के बाहर निवास करना।
- **अभिजात** : कुलीन, उच्च वर्ग।
- **कमावेश** : संभवत:।

नोट

## 11.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सामाजिक गतिशीलता पर प्रकाश डालिए।
2. सामाजिक गतिशीलता के बारे में सोरोकिन का क्या दृष्टिकोण था?
3. सामाजिक गतिशीलता के निर्धारकों का स्पष्ट विवेचन कीजिए।
4. सामाजिक वातावरण में परिवर्तन लाने वाले कारकों की समीक्षा कीजिए।
5. जाति में गतिशीलता के स्तरों का वर्णन कीजिए।
6. वर्ग-गतिशीलता का क्या अर्थ है? वर्ग गतिशीलता में वर्ग निर्माण, औद्योगिकरण व शिक्षा की भूमिका स्पष्ट करें।
7. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–
   (*i*) गतिशीलता के आयाम (*ii*) सांस्कृतिक और सामाजिक गतिशीलता
   (*iii*) पश्चिमीकरण और सामाजिक गतिशलता।

### उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessement)

1. 1. सामाजिक गतिशीलता 2. भारतीय समाज 3. सोरोकिन
   4. लम्बरूपी गतिशीलता 5. भूमिका 6. पश्चिमी समाजों
2. 1. (क) 2. (ख) 3. (घ) 4. (क) 5. (क)

## 11.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. दीपांकर गुप्ता; *सोशल स्ट्रैटिफिकेशन*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली
2. के. एल. शर्मा; 1980, *एस्से ऑन सोशल स्टैट्रिफिकेशन*, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एंड दिल्ली।

नोट

# इकाई–12: सामाजिक स्तरीकरण की खुली और बंद व्यवस्थाओं में गतिशीलता (Mobility in Closed and Open Systems of Stratification)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

12.1 सामाजिक स्तरीकरण की खुली व्यवस्था में गतिशीलता (Mobility in Open System of Stratification)

12.2 सामाजिक स्तरीकरण की बंद व्यवस्था में गतिशीलता (Mobility in closed System of Stratification)

12.3 भारत में सामाजिक गतिशीलता (Social Mobility in India)

12.4 सारांश (Summary)

12.5 शब्दकोश (Keywords)

12.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

12.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक स्तरीकरण की खुली एवं बंद व्यवस्था की गतिशीलता को जानने में।
- भारत की सामाजिक गतिशीलता को समझने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

स्तरीकरण द्वारा लोगों को विभिन्न अनुभागों या श्रेणियों में रखा जाता है। स्तरीकरण के अलावा विभेद की अवधारणाओं पर आधारित कर लोगों को स्थित करना करना एक अन्य तरीका है। दीपांकर गुप्ता लिखते हैं "यदि असमानता मुख्य लक्षण है, तब स्तरीकरण व्यवस्थों को सोपनीय कहा जा सकता है। यदि विभेद महत्त्वपूर्ण है तब विभिन्न सामाजिक व्यवस्थायें एक-दूसरे के सामने क्षितिजीत और समान खण्डों जैसी खड़ी दिखाई देती हैं। एक श्रेणीकृत सोपान का यहाँ बहुत अधिक अर्थ नहीं है।" "आय या श्रेणी (पद) पर आधारित असमानतायें स्पष्टत: स्तरीकरण की सोपनीय व्यवस्था से जुड़ी हुई हैं।" इसके विपरीत उदाहरण के लिये भाषायी अन्तरों को एक सोपानीय व्यवस्था में नहीं रखा जा सकता। परन्तु सामान्यतया पुरूषों और स्त्रियों के बीच अन्तरों को क्षितिजीय नहीं माना जाता है, बल्कि उनको लम्बरूपीय 'श्रेणीकृत' सम्बन्ध के रूप में 'असमानता' और 'अन्तर' दोनों पाये जाते हैं और दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

दीपांकर गुप्ता के अनुसार, "सामाजिक स्तरीकरण लोगों को विभिन्न स्तरणों में विभाजित करना मात्र ही नहीं है।" "सामाजिक स्तरीकरण द्वारा सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक गतिशीलता दोनों को समझने के लिये, एक

नोट

विश्लेषणात्मक आधार प्राप्त होता है।" इस प्रकार, सामाजिक स्तरीकरण द्वारा *सामाजिक स्थिर संतुलनों* और *सामाजिक परिवर्तनों के नियमों* के बारे में हमें समझ प्राप्त होती है। सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक गतिशीलता के बारे में हमें जानने की आवश्यकता है। प्राकृतिक विभेद 'सामाजिक' बन जाते हैं, जब हम उनको समाजशास्त्रीय श्रेणियां समझने लगते हैं। 'सोपान' सामान्यतया एक स्थिर श्रेणी व्यवस्था है, जबकि 'विभेद' का आशय स्थिर सामाजिक व्यवस्था में 'परिवर्तनों से है। सामाजिक स्तरीकरण में स्तरीकरण में सोपान और विभेद दोनों शामिल हैं। भारत जैसे सोपानीय गतिशीलता अधिक पाई जाती है। वर्ग-आधारित समाजों में सामान्यतया गतिशीलता अधिक पाई जाती है। इस प्रकार, सामाजिक स्तरीकरण की खुली और बन्द व्यवस्थायें सामाजिक गतिशीलता के लिये उपलब्ध क्षेत्रों और संभावनाओं के सन्दर्भ में समझी जाती हैं।

## 12.1 सामाजिक स्तरीकरण की खुली व्यवस्था में गतिशीलता (Mobility in Open System of Stratification)

स्तरीकरण की खुली व्यवस्था को एक आकांक्षाकारी व्यक्ति की गतिशीलता द्वारा वर्णित किया जाता है। गतिशीलता को निरुत्साहित किया जाता है। दोनों व्यवस्थाओं में ऊपर की ओर गतिशीलता के लिये लोगों द्वारा प्रयास किये जाते हैं। दूसरे शब्दों में, जो लोग आगे बढ़ना चाहते हैं, और नये पद-स्थानों पर अपने दावों की घोषणा करते हैं, या उन लोगों के पद-स्थानों पर दावा करते हैं, जिनको विशेषाधिकार प्रस्थिति और सम्मान प्राप्त है। खुली व्यवस्था में, गतिशीलता द्वारा अधिक अन्तर और विभेदीकरण उभरते हैं और दावेदार इस प्रवृत्ति को न्यायोचित ठहराते हैं। गुप्ता का सोच है कि "एक खुले स्तरीकरण की व्यवस्था या श्रेणी विभेदीकरण के अनुपालन द्वारा आगे बढ़ सकता है।" स्तरीकरण की खुली व्यवस्था में, 'सोपान स्थिर और दृढ़ हो सकता है, परन्तु व्यक्ति सोपान मे ऊपर उठ सकते हैं या नीचे भी आ सकते हैं। यदि एक व्यक्ति अपने जीवन काल में उच्च पदों के लिये योग्यताएँ अर्जिज कर लेता हे तो वह एक संगठन/कार्यालय/उद्योग में अपने वर्तमान निम्न पद/स्थान से ऊपर  सकता हैं।

गतिशीलता स्तरीकरण की खुली व्यवस्था का एक मान्य लक्षण ऐसी व्यवस्था में, प्राय: क्षितिजीय गतिशीलता घटित होती हैं, जिससे व्यवस्था के वैचारिक/संरचनात्मक आधार को कोई चुनौती या खतरा नहीं होता है। इस तरह, व्यवस्था बनी रहती है और व्यक्ति क्षितिजीय रूप में ऊपर या नीचे होते रहते हैं। गतिशीलता सदैव व्यक्ति के स्तर पर, बल्कि सामूहिक तौर पर या पूरे परिवार के आधार पर पूरी की जाती है। "स्तरीकरण की खुली व्यवस्था में, सोपान ही एक मात्र चर होना चाहिये, ताकि इस चर में संख्यात्मक अन्तरों को एक श्रेणीक्रम में मापा जा सके।" ऐसी गतिशीलता या श्रेणियों द्वारा स्तरीकरण व्यवस्था में स्पष्ट अन्तर घटित नहीं होते हैं। एक निरन्तर सोपना में व्यवसाय, शिक्षा, स्कूल का अध्ययन, आवास, आय का स्त्रोत आदि विभिन्न कारक हो सकते हैं, जो संख्यात्मक और मापनीय हैं। एल. वार्नर और उसके साथियों ने एक समुचित सूची बनाकर अमेरिकन लोगों को उच्च मध्यम वर्ग, निम्न उच्च मध्यम वर्ग, उच्च वर्ग, और निम्न-निम्न वर्ग में स्तरीकृत किया है। वार्नर और उसके साथियों द्वारा अलग-अलग व विभिन्न व्यवसायों और शिक्षा, आदि को मापने की चयनित कसौटियों से चाहे कोई सहमत न हो, परन्तु यह सही है कि दौलत, शक्ति या भूस्वामित्व बहुत अधिक संख्यात्मक और मापनीय हैं। "स्तरीकरण की एक खुली व्यवस्था अन्तत: अत्यन्त तब होती है, जब गतिशीलता और वर्ग प्रस्थिति को एक मात्र संख्याजनक चर पर रखा जा सकता है।" एक खुली व्यवस्था जटिल बन जाती है, जब इसके ऊपर बेतालमेल योग्य अन्तरों के तत्वों को थोप दिया जाता है।" अमेरिका में व्यक्ति सर्वोपरि है। "इससे स्तरीकरण की व्यवस्था में अपने आपको प्रदर्शित करने के लिये एक आदर्श जगह बन जाती है।" अमेरिका में लोगों के लिये एक आदर्श जगह बन जाती है।" अमेरिका में लोगों के बीच एक निश्चित प्रकार का एक-जैसापन स्वीकार किया जाता है। गुप्ता का मत है कि "स्तरीकरण की एक खुली व्यवस्था में लम्बरूपी गतिशीलता का अभिप्राय यह नहीं है कि इसके परिणामस्वरूप किसी अन्य व्यक्ति को अपनी प्रस्थिति खोनी पड़ती है।" मान्यता यह है कि सब लोग बराबर हैं और गतिशीलता उसी सीमा तक घटित होती है, जहाँ तक लोग अपनी क्षमताओं की पूर्ति कर सकती हैं।

नोट

*क्या आप जानते हैं* अमेरिका को सामाजिक स्तरण की एक खुली व्यवस्था का आदर्श उदाहरण समझा जाता है।

## 12.2 सामाजिक स्तरीकरण की बंद व्यवस्था में गतिशीलता (Mobility in Closed System of Stratification)

स्तरीकरण कि बन्द व्यवस्था में जाति, प्रजाति, धर्म, सजातीयता आदि प्रमुख विचारणीय पहलु हैं। इस तरह की व्यवस्था में प्रदत्त लक्षणों को बहुत महत्व दिया जाता हैं लेकिन ऐसे लक्षणों पर सदैव में संख्या/चिह्न लगाया जाता है और वो विवादित होते हैं। एक खुली व्यवस्था में संख्या/तादाद मुख्य मापदण्ड होता है, जबकि स्तरीकरण की बन्द व्यवस्था में गुणवत्ता निर्णयकारी कसौटी होती है, बन्द व्यवस्था में जातियों/प्रजातियों जैसे समूहों के लोगों के बीच विभेदों पर बल दिया जाता है। अन्तर और सोपान दोनों ऐसी व्यवस्था को चरितार्थ करते हैं। दोनों से व्यवस्था कठोर होती है। इसलिये गतिशीलता एक कठिन क्रिया हो जाती है। भारत की कठोर जाति व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिये अनेक गतिशीलता आन्दोलन हुए हैं। दीपांकर गुप्ता के अनुसार, स्तरीकरण की अन्तरों पर ही सोपान निर्मित है। अन्तर मूलत: बेमेलजोलकारी और अश्रेणी योग्य होते हैं, इसलिये लम्बरूपी गतिशीलता में बहुत अधिक बाधायें आती हैं।

स्तरीकरण की एक बन्द व्यवस्था में, सोपान में उन सब लोगों की भागीदारी/सहमति नहीं होती है जो उससे जुड़े हुए हैं। "मुख्य कारण यह है कि एक व्यक्ति बजाय, एक समूह या एक उप-समूह को उच्च और निम्न के रूप में श्रेणीकृत किया जाता है। इसके कारण गतिशीलता बिरली और कठिन संभावना है और यदि यह घटित भी होती है तो यह मापनीय/संख्यात्मक नहीं हो पाती। जाती और प्रजाति जैसे स्तरीकरण की बन्द व्यवस्थाओं में गतिशीलता एक आम प्रघटना से बहुत दूर की बात है।

हमें यह भी स्पष्ट करना चाहिये कि एक बन्द व्यवस्था कभी भी पूर्णत: स्थिर नहीं रही है और न ही एक खुली व्यवस्था एक बन्द व्यवस्था के बिल्कुल विपरीत है। कभी-कभी, एक खुली व्यवस्था में, परिवर्तन और गतिशीलता के विरोध की विरोध की प्रवृत्ति विकसित हो जाती है, और इसी तरह, बहुत तेज ताकतों और दबावों के कारण, एक बन्द व्यवस्था भी, परिवर्तन और गतिशीलता की ओर झुकती है। प्राचीन और मध्य युगों में, जाति व्यवस्था को भी चुनौती दी गई थी, और इसमें व्यवस्थापन और गतिवाद दृष्टिगत हुआ था। आज अन्तराजातीय सम्बन्ध, जो जाति व्यवस्था के धरातल में थे, वे लुप्त हो गये हैं। खान-पान के बन्धन भी लगभग समाप्त हो चुके हैं विवाह के नियम कमजोर हो रहे हैं, लेकिन जाति अस्मितायें, गैर-जाति कारणों से दृढ़तर हो रही हैं। इस प्रकार, सामाजिक स्तरीकरण की बन्द और खुली व्यवस्थायें एक-दूसरे के विपरीत नहीं हैं, दोनों सापेक्षिक हैं, एक में दूसरे के कुछ लक्षण हैं।

### स्तरीकरण की बंद और खुली व्यवस्थाओं की एक आलोचनात्मक तुलना

| *खुली व्यवस्था* | *बन्द व्यवस्था* |
|---|---|
| गतिशीलता एक मान्य प्रघटना है। | गतिशीलता को कठोरता से हतोत्साहित किया जाता है। |
| व्यक्ति ऊपर उठना है और नीचे आता है। | समूह श्रेणीकरण की इकाई है। |
| सोपान स्थिर और दृढ़ हो सकते है, परन्तु व्यक्ति ऊपर उठते हैं। | जन्म आदि प्रदत्त कारकों द्वारा सोपाननिर्धारित होता है। व्यक्तियों के लिये ऊपर उठना कठिन होता है। |
| सोपानीकरण प्राकृतिक (स्वाभाविक) है। | जातियों, प्रजातियों, सम्प्रदायों आदि से सोपानीकरण बनता है। |

नोट

| | |
|---|---|
| अन्तर का सिद्धान्त महत्वपूर्ण है। | अन्तर और सोपान दोनों सिद्धान्त महत्वपूर्ण हैं। |
| अमेरिका में वर्ग स्तरीकरण, खुली व्यवस्था का एक उदाहरण है। | भारती में जाति स्तरीकरण, बन्द व्यवस्था का उदाहरण है। |
| सोपान निरन्तर है। | सोपान स्थिर और प्रदत्त है। |
| यह सरल है। | यह जटिल है। |
| इसमें गति तेज है। | गतिशीलता धीमी है, और उसमें कठिनाईयाँ भी हैं। |
| व्यवस्था में श्रेणियाँ प्रमुख हैं। | सम्बन्ध व्यवस्था को चरितार्थ करते हैं। |

## 12.3 भारत में सामाजिक गतिशीलता (Social Mobility in India)

चूँकि भारत में जाति व्यवस्था एक धुरी बनी हुई है, इसलिये, सामाजिक गतिशीलता इसके इर्द-गिर्द रहती है। परिभाषा की दृष्टि से, सामाजिक गतिशीलता या तो एक निरन्तरित और सापेक्षिक तौर पर स्थिर व्यवस्था को एक चुनौती का बोध कराती है, या एक समाज के सदस्यों की प्रस्थितियों और भूमिकाओं में थोड़े परिवर्तनों को इंगित करती है, या एक दृढ़/दूरगामी/उपाय के रूप में स्थित व्यवस्था को मिटाती है और उसके स्थान पर एक नयी व्यवस्था को कायम करती है। स्तरीकरण की एक विशिष्ट व्यवस्था में, व्यवस्थापनों और परिवर्तनों को क्षितिजीय गतिशीलता या पर-स्थान परिवर्तन का नाम दिया जाता हैं, आधारभूत परिवर्तन लम्बरूपी/संरचनात्मक प्रकृति के होते हैं, और उनसे एक व्यवस्था को चुनौती मिलती है। भारतीय समाज में क्षितिजीय और लम्बरूपी दोनों गतिशीलता पाई जाती हैं। जाति व्यवस्था के अन्दर परिवर्तनों को स्थानिक परिवर्तन कहा जाता है और जाति व्यवस्था के परिवर्तनों को लम्बरूपी या संरचनात्मक, स्थानीयकरण द्वारा चरितार्थ सामाजिक गतिशीलता का आशय भारतीय समाज के सांस्कृतिक क्षेत्र में स्थानिक परिवर्तनों से है।

*नोट्स* संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण, सार्वभौमीकरण, स्थानीकरण द्वारा चरितार्थ साामजिक गतिशीलता का आशय भारतीय समाज के सांस्कृतिक समाज के सांस्कृतिक क्षेत्र में स्थानिक परिवर्तनों से है।

सामाजिक गतिशीलता के तीन मुख्य उपागम चिह्नित किये जा सकते हैं। ये हैं–(*i*) संरचनात्मक-ऐतिहासिक, (*ii*) मार्क्सवादी, और (*iii*) आधुनिकीकरण/सांस्कृतिकीय। संरचनात्मक-ऐतिहासिक उपागम में प्रतिस्थपित (पुराने) शहरी प्रभावशाली लोगों को हटाकर गाँवों में से प्रगतिशील लोगों को उनकी जगह स्थापित करने पर बल दिया गया है। राजनीतिक चेतना और राजनीति के प्रजातंत्रीकरण द्वारा ऐसा सामाजिक रूपान्तरण हुआ है। भूमि सुधारों और वृहद् सिंचाई योजानओं के परिणमस्वरूप स्वतन्त्रता पूर्व के कृषकों का पूँजीवादीकरण हुआ है। सामान्तवाद के उन्मूलन से ग्रामीण भारत में एक नये सामाजिक ढ़ाचे की रचना हुई है। यह भी तथ्य है कि संरचनात्मक परिवर्तन के कारण धनवानव निर्धन, ग्रामीण व नगरीय, और स्थानीय, क्षेत्रीय व राष्ट्रीय संरचनाओं के विभाजनों से नये तनाव और विराधाभास उत्पन्न हुए हैं।

शिक्षा, नौकरियों और चुनावों में आरक्षण नीति के कारण भारतीय समाज के पूर्व-पिछड़े हुए वर्गों में से शक्ति अभिजात और सफेदपोश लोगों का एक नया वर्ग भी उभरा है। आधुनिकीकरण/सांस्कृतिकीय उपागम में मूल्यों औार मानकों की संरचना में परिवर्तन पर बल दिया जाता है। एम.एन. श्रीनिवास और मैक्किम मैरियट ने क्रमशः संस्कृतिकरण व पश्चिमीकरण, सार्वभौमीकरण और स्थानिकीकरण की अवधारणाओं द्वारा सांस्कृतिक गतिशीलता का

नोट

विश्लेषण किया हैं। मार्क्सवादी उपागम के अन्तर्गत, उत्पादन की आवृत्ति (पद्धति), सामाजिक वर्गों और राज्य पर आधारित अन्तर-समूह संबंधों की व्याख्या की है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की ''भूमिका के सन्दर्भ में, इस उपागम के मुख्य बिन्दु का सम्बन्ध, आधार और अधिसंरचना या केन्द्र और सीमान्त के बीच सम्बन्धों से है।,

साधारणतया जाति व्यवस्था में सामाजिक गतिशीलता, प्रस्थिति निर्धारण की कसौटियों में परिवर्तन, वंशानुगत व्यवसायों, जजमानी उत्तरदायित्वों, विशेषा धार्मिक कृत्यों के अनुपालन, आधुनिक व्यवसायों को अपनाना, शिक्षा, प्रवसन और राजनीतिक इकाइयों में शक्ति पद-स्थानों के माध्यम से देखते हैं। जाति व्यवस्था के सन्दर्भ में भी सामाजिक गतिशीलता अविभेदीय नहीं है। सामाजिक गतिशीलता परिवार, समूह और व्यक्ति तीनों स्तरों पर घटित होती है। इन तीनों स्तरों पर विश्लेषण द्वारा ही हम गतिशीलता के सम्पूर्ण घेरे (क्षेत्र) को अच्छी तरह समझ सकते हैं। सामाजिक गतिशीलता की सीमा, तादाद व गुणवत्ता को व्यक्ति परिवार व समूह को विश्लेषणात्मक दृष्टि से अलग-अलग रख कर और वास्तव में सामाजिक गतिशीलता की अन्तर-संबंधित इकाइयाँ मान कर देखा-परखा जा सकता है। गतिशीलता के तीनों स्तर विशिष्ट हैं और एक-दूसरे को प्रभावित भी करते हैं।

*टास्क* सामाजिक गतिशीलता के मुख्य उपागम क्या हैं?

मोटे तौर पर, जाति संरचना में गतिशीलता के तीन प्रतिमानों का विवेचन इस प्रकार कर सकते हैं–(*i*) वे परिवार और समूह हैं, जिन्होंने अपनी जातियों में अपनी प्रस्थिति को सीमान्त रूप में बढ़ाया हैं, (*ii*) ऐसे परिवार और समूह हैं जो सीमान्त रूप से नीचे गये हैं; और (*iii*) वे परिवार और समूह हैं, जो विपरीत परिस्थितियों के उपारान्त भी, शिक्षा, लाभकारी कार्यों, और औपचारिक शक्ति (सत्ता) की प्राप्ति द्वारा अपनी प्रस्थिति को बनाये हुए हैं।

इस प्रकार गत कुछ दशकों में, शिक्षा, प्रवसन, आधुनिक व्यवसायों तकनीकी प्रगति, राजनीतिक चेतना और भागीदारी, अनुसूचित जातियो अनुसूचित जनजातियों, अन्य पिछड़े वर्गों महिलाओं, विकलांगों आदि के लिये आरक्षण नीति द्वारा निस्सन्देह सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि हुई है। पद स्थानिक परिवर्तन आधारभूत संरचनात्मक परिवर्तन की तुलना में अधिक तीव्र गति से हुआ है। कुल मिलाकर व्यवस्था स्थिर बनी हुई है। व्यवस्था में परिवर्तन है, व्यवस्था के परिवर्तन नहीं है। जाति व्यवस्था के अनुशीलन और जाति अस्मिताओं की पुनर्रचना, आर्थिक शैक्षणिक साधनों और प्रक्रियाओं की पुनरावृत्ति और शक्ति पद-स्थानों पर कुछ लोगों की पकड़ के कारण भारतीय समाज में आधारभूत संरचनात्मक परिवर्तन नहीं हो रहे हैं।

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें** (Fill in the blanks)-

1. ..... स्तरीकरण की खुली व्यवस्था का एक मान्य लक्षण है।
2. ..... की खुली व्यवस्था अन्ततः अत्यन्त उपयुक्त तब होती है, जब गतिशीलता और वर्ग प्रस्थिति को एक मात्र संख्याजनक चर पर रखा जाता है।
3. ..... को सामाजिक स्तरीकरण का उचित उदाहरण समझा जाता है।
4. ..... के अनुसार, स्तरीकरण की बंद व्यवस्था में अन्तर आधारभूत हैं, और सोपान इन्हीं पर आधारित है।
5. ..... में, क्षितिजीय और लंबरूपी दोनों गतिशीलता पाई जाती है।
6. पद स्थानिक परिवर्तन आधारभूत ..... परिवर्तन की तुलना में अधिक तीव्र गति से हुआ है।

नोट

## 12.4 सारांश (Summary)

- स्तरीकरण की खुली व्यवस्था को एक आकांक्षाकारी व्यक्ति की गतिशीलता द्वारा वर्णित किया जाता है। गतिशीलता को निरुत्साहित किया जाता है। दोनों व्यवस्थाओं में ऊपर की ओर गतिशीलता के लिये लोगों द्वारा प्रयास किये जाते हैं।
- गतिशीलता स्तरीकरण की खुली व्यवस्था का एक मान्य लक्षण ऐसी व्यवस्था में, प्राय: क्षितिजीय गतिशीलता घटित होती हैं, जिससे व्यवस्था के वैचारिक/संरचनात्मक आधार को कोई चुनौती या खतरा नहीं होता है। इस तरह, व्यवस्था बनी रहती है और व्यक्ति क्षितिजीय रूप में ऊपर या नीचे होते रहते हैं।
- स्तरीकरण कि बन्द व्यवस्था में जाति, प्रजाति, धर्म, सजातीयता आदि प्रमुख विचारणीय पहलु हैं। इस तरह की व्यवस्था में प्रदत्त लक्षणों को बहुत महत्व दिया जाता हैं लेकिन ऐसे लक्षणों पर सदैव में संख्या/चिह्न लगाया जाता है और वो विवादित होते हैं।
- स्तरीकरण की एक बन्द व्यवस्था में, सोपान में उन सब लोगों की भागीदारी/सहमति नहीं होती है जो उससे जुड़े हुए हैं। "मुख्य कारण यह है कि एक व्यक्ति बजाय, एक समूह या एक उप-समूह को उच्च और निम्न के रूप में श्रेणीकृत किया जाता है।
- सामाजिक स्तरीकरण की बन्द और खुली व्यवस्थायें एक-दूसरे के विपरीत नहीं हैं, दोनों सापेक्षिक हैं, एक में दूसरे के कुछ लक्षण हैं।
- चूँकि भारत में जाति व्यवस्था एक धुरी बनी हुई है, इसलिये, सामाजिक गतिशीलता इसके इर्द-गिर्द रहती है। परिभाषा की दृष्टि से, सामाजिक गतिशीलता या तो एक निरन्तरित और सापेक्षिक तौर पर स्थिर व्यवस्था को एक चुनौती का बोध कराती है, या एक समाज के सदस्यों की प्रस्थितियों और भूमिकाओं में थोड़े परिवर्तनों को इंगित करती है।
- सामाजिक गतिशीलता के तीन मुख्य उपागम चिह्नित किये जा सकते हैं। ये हैं–(*i*) संरचनात्मक-ऐतिहासिक, (*ii*) मार्क्सवादी, और (*iii*) आधुनिकीकरण/सांस्कृतिकीय। संरचनात्मक-ऐतिहासिक उपागम में प्रतिस्थपित (पुराने) शहरी प्रभावशाली लोगों को हटाकर गाँवों में से प्रगतिशील लोगों को उनकी जगह स्थापित करने पर बल दिया गया है।

## 12.5 शब्दकोश (Keywords)

- **अभिजात** : कुलीन योग्य
- **अस्मितायें** : अहंभाव, अभिमान।

## 12.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सामाजिक स्तरीकरण का क्या अभिप्राय है? सामाजिक स्तरीकरण की खुली व्यवस्था की गतिशीलता की व्याख्या कीजिए।
2. सामाजिक स्तरीकरण की बंद व्यवस्था की गतिशीलता की विवेचना कीजिए तथा स्तरीकरण की बंद एवं खुली व्यवस्थाओं की आलोचनात्मक तुलना कीजिए।
3. भारत में पाई जाने वाली सामाजिक गतिशीलता पर प्रकाश डालिए।

### उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessement)

1. 1. गतिशीलता 2. स्तरीकरण 3. अमेरिका
   4. दीपांकर गुप्ता 5. भारतीय समाज 6. संरचनात्मक।

नोट

## 12.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. के. एल. शर्मा, 1980 *एस्से ऑन सोशल स्ट्रैटफिकेशन*, रावत पब्लिकेशन, जयपुर।
2. के. एल. शर्मा, 1997 *सोशल स्टैटिफिकेशन एंड मोबिलटी, (रीप्रिन्ट)* रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एंड दिल्ली।

नोट

# इकाई–13: सामाजिक स्तरीकरण के आयाम में परिवर्तन (Changing Dimensions of Social Stratification)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

13.1 भारत में सामाजिक स्तरीकरण की शृंखला का अविर्भाव (Emerging Patterns of Social Stratification in India)

13.2 सारांश (Summary)

13.3 शब्दकोश (Keywords)

13.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

13.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- भारत में सामाजिक स्तरीकरण की शृंखला के अविर्भाव की व्याख्या करने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

अब तक हमने स्तरीकरण से संबंधित कुछ आधारभूत अवधारणाओं, जैसे समानता, असमानता, सोपान, अलगाव, निर्धनता और वंचन की व्याख्या की है। हमने सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्तों, अर्थात् मार्क्सवादी, वेबरवादी और संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक सिद्धान्तों की विवेचना भी की है। चूंकि, हमारा मुख्य ध्यान उपयुक्त अवधारणाओं पर है, हमने भारतीय समाज के अपने अनुभव व समझ पर इनको आधारित किया है, ताकि इन अवधारणाओं और सिद्धांतों को भारतीय समाज के साथ जोड़ सकें। इस इकाई में हमने विभिन्न विचार, व्यवस्थाओं और रचनाओं की धाराओं से प्रेरित होकर, 'सामाजिक स्तरीकरण' को परिभाषित करने का प्रयास किया है। द्वितीय, सामाजिक स्तरीकरण के मुख्य आयाम, जैसा कि मैक्स वेबर ने कहा है–आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक हैं, और कार्ल मार्क्स के अनुसार, 'केवल वर्ग' है, उन पर बल दिया है। वर्ग, प्रस्थिति और शक्ति जैसे निरन्तरित आयामों और सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त के साथ यौन (जेन्डर) भी एक आयाम के रूप में जोड़ दिया गया है। दो अन्य आयाम, अर्थात् सजातीयता और प्रजाति स्तरीकरण के सांस्कृतिक आयामों के रूप में चर्चित हैं।

## 13.1 भारत में सामाजिक स्तरीकरण की शृंखला का अविर्भाव (Emerging Patterns of Social Stratification in India)

सामाजिक स्तरीकरण के आयामों की हम निम्न ढंग में व्याख्या करेंगे–

1. वर्ग
2. प्रस्थिति समूह या जातियाँ

नोट

3. शक्ति
4. यौन भेद (जेन्डर)
5. सजातीयता
6. प्रजाति

इन आयामों पर विवेचन से न केवल सामाजिक स्तरीकरण के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पहलुओं की ही समझ प्राप्त होगी, बल्कि इससे विशिष्ट परिस्थितियों और कारकों की जानकारी भी होगी, जिससे विशिष्ट कारकों की मिली-जुली प्रकृति और समुचित प्रकारों के स्तरीकरण व्यवस्थाओं की भी समझ प्राप्त होगी। सामाजिक स्तरीकरण के इन सब क्षेत्रों/आयामों को वर्तमान भारतीय समाज के सन्दर्भ में उनके महत्त्व की दृष्टि से देखा जायेगा।

### 1. वर्ग (Class)

कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर से बहुत पहले, एडम स्मिथ ने अपने निबन्ध–'एन इनक्यारी इनटू द नेचर एंड कॉलेज ऑफ द वेल्थ ऑफ नेशन्स' में पूँजीपतियों और श्रमिकों की चर्चा की थी। हम अनुमानित करते हैं कि मार्क्स अपने वर्ग, वर्ग संघर्ष और वर्ग चेतना के सिद्धान्त की रचना में स्मिथ से काफी प्रेरित हुए थे। स्मिथ ने श्रम और श्रम शक्ति के महत्त्व की अनुभूति उस समय की जब श्रमिक एक भूस्वामी या एक मालिक के अधीनस्थ नहीं था। जब भूमि एक निजी सम्पत्ति बनी, तब भूस्वामी ने लगभग पूरी उपज में हिस्से की मांग की, जिसको श्रमिक ने बढ़ाया था या संचित किया था। भूस्वामी का लगान सबसे पहले उपज में से निकाला जाता था, जो श्रमिक जमीन से पैदा करता था।

दूसरा मुद्दा यह था कि जो व्यक्ति खेती करता था, उसको फसल तैयार होने तक अपने आपको कार्यशील रखने के लिये और कृषि के लिये आवश्यक धन आदि जुटाना पड़ता था। मालिक अपने अस्तित्व के लिये अग्रिम राशि देता था और उसके बदले में कृषक के श्रम पर आधारित उपज में हिस्सा लेता था। तीसरी बात यह थी कि लगभग हर प्रकार के श्रम पर आधारित उपज पर मालिक अपना हिस्सा लाभ समझ कर वसूल करता था। स्मिथ के अनुसार, "सब तरह के कार्यों और उत्पादों में अधिकतर कारीगरों को एक मालिक की आवश्यकता होती थी, जो उनको अग्रिम तौर पर कार्य के लिये माल (समान), वेतन और भत्ता, कार्य पूरा होने तक दे सके। उनके (श्रमिकों) श्रम की उपज में मालिक का हिस्सा होता था, या अग्रिम सामान के कारण मूल्य में वृद्धि पर अपना लाभ माँग कर हिस्सा लेता था।"

ऐसे स्वतंत्र व्यक्ति बहुत कम हैं, जो मालिक और श्रमिक दोनों की भूमिकाएँ निभाते हैं। मालिक आसानी से कानून और सत्ता के पद पर आसीन हो सकते हैं, परन्तु श्रमिक ऐसा नहीं कर सकता। श्रमिक केवल एक कार्य से जीवन वहन नहीं कर सकते, जबकि मालिक भूस्वामी, मालिक उत्पादनकर्ता और व्यापारी स्वयं पर बहुत लम्बे समय तक निर्भर रह सकते हैं। इस प्रकार, स्मिथ ने स्पष्ट रूप में समाज को वर्गों (विशेषत: दो) में विभाजित किया है।

एडम स्मिथ के वर्गों, अर्थात्, पूँजीपतियों और श्रमिकों के विचार पर सहमति प्रकट करते हुए स्मिथ के समकालीन थोमस आर. माल्थस ने लिखा है–"हर समाज, जो आदिम अवस्था से ऊपर उठ चुका है, उसमें अवश्य ही एक वर्ग मालिकों का और एक वर्ग मजदूरों का होना चाहिये।" इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वर्तमान सम्पत्ति पर आधारित अत्यन्त असमानता या तो आवश्यक है या समाज के लिये लाभदायक है। समझना चाहिये कि यह एक बुराई है। और हर संस्था, जो इसको बढ़ावा देती है वह अवश्य ही खराब और असभ्य है। माल्थस ने मार्क्स के बहुत पहले ग़रीब के समर्थन में मार्क्सवादी भाषा का उपयोग किया है। माल्थस ने कहा है कि श्रमिकों के वर्ग की एक मात्र सम्पत्ति उनका श्रम है। श्रमिक के पास केवल यही वस्तु है, जो वह अपने जीवन की आवश्यकताओं के बदले में देता है।

नोट

### मार्क्सवादी वर्ग की अवधारणा

मार्क्स के अनुसार श्रमिक, पूँजीपति और भूस्वामी, तीन वर्ण पाये जाते हैं। मध्यम और बीच के स्तरण भी हैं, लेकिन पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था में भूस्वामी लुप्त हो जाते हैं। केवल पूँजीपति और वेतन श्रमिक, अनन्त: दो वर्ग रह जाते हैं, जिनकी मार्क्स ने मालिक (बुर्जुआ) और सर्वहारा (प्रोलितेरियत) का नाम दिया है। बुर्जुआ के पास पूँजी है, और इसलिये वे शासक हो जाते हैं। प्रोलितेरियत (सर्वहारा) पूँजीविहीन हैं, इसलिये वे एक शोषित वर्ग होते हैं। इन दो वर्गों के बीच सम्बन्ध उत्पादन की पूँजीवादी व्यवस्था में उनके अपने पद–स्थानों से निर्धारित होते हैं। समाज में अन्य सब सम्बन्ध इन आधारभूत सम्बन्धों द्वारा निर्धारित होते हैं। मार्क्स ने आधारभूत सम्बन्धों को आधार और इन पर आधारित सम्बन्धों को अधिसंरचना नाम दिया है।

कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एन्जिल्स ने मैनिफेस्टो ऑफ द कम्यूनिस्ट पार्टी में इन दो वर्गों, अर्थात् पूँजीपति व सर्वहारा का एक स्पष्ट उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि "आज तक तमाम विद्यमान समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।" इसके आगे उन्होंने कहा है कि "बुर्जुआ (पूँजीपति) का अर्थ आधुनिक पूँजीपतियों के वर्ग, सामाजिक उत्पादन के साधनों के स्वामियों और वेतन श्रमिकों के रोजगारदाताओं से है। प्रोलितेरियत (सर्वहारा) का अभिप्राय आधुनिक वेतन श्रमिकों से हैं, जिनके पास उत्पादन के अपने साधन नहीं हैं और उनको जीवित रहने के लिये अपनी श्रम शक्ति को बेचने के लिये बाध्य होना पड़ता है।" इस तरह से सदैव समाज मुख्यत: दो वर्गों में, अर्थात्, स्वतन्त्र व्यक्ति और गुलाम, भद्र पुरुष और आम आदमी, स्वामी और दास, कारखाने का मालिक और साधारण कर्मी में विभाजित रहा है। ये वर्ग शोषक व शोषित लोगों के हैं और हमेशा उनमें हितों का टकराव रहा है। वर्ग संघर्ष द्वारा सामान्यतया, समाज का क्रांतिकारी पुनर्निर्माण हुआ है या फिर विरोधी वर्गों की बराबर हानि हुई है।

मार्क्स और एन्जिल्स ने कहा है कि "आधुनिक पूँजीवादी समाज जो सामन्तवादी समाज के विघटन से उभरा है, उसने वर्ग-विरोधों को समाप्त नहीं किया है। इसने नये वर्ग स्थापित किये हैं, शोषण की नयी अवस्थायें उत्पन्न की हैं और पुराने संघर्षों के स्थान पर नये प्रकार के संघर्षों को जन्म दिया है।" पूँजीवाद के वर्तमान युग ने वर्ग-विरोधों को सरल बना दिया है। "सम्पूर्ण समाज दिन पर दिन दो बड़े विरोधी दलों में बंट रहा है, पूँजीपति और सर्वहारा दो बड़े वर्ग आमने-सामने खड़े हैं।"

### पूँजीपति वर्ग

वर्ग संरचना एक उद्भवीय प्रक्रिया है–बंधुवों (दासों) से शहरी वाशिन्दों तक और आगे पूँजीपतियों तक यह प्रक्रिया देखी जा सकती है। सामन्ती समाज विघटित हुआ, क्योंकि नये बाजारों के लिये, धंधों (व्यवसायों) के संगठन पर्याप्त नहीं थे। कारखानों पर निर्मित मध्यम वर्ग और विभिन्न सहकारी कार्य-संघों के बीच श्रम विभाजन लुप्त हो गया, क्योंकि हर कारखाने में आन्तरिक श्रम विभाजन उभर आया। इस प्रकार, उत्पादनकर्ता के स्थान पर भीमकाय आधुनिक उद्योगों, औद्योगिक करोड़पतियों, बड़ी औद्योगिक सेनाओं के नेताओं अर्थात् आधुनिक पूँजीपतियों का प्रादुर्भाव हुआ।

आधुनिक उद्योग द्वारा विश्व बाजार का विकास हुआ। इसके परिणामस्वरूप व्यापार, समुद्री यातायात और थल संचार का बहुत विकास हुआ। इस प्रकार के विकास के अनुपात में पूँजीपति विकसित हुआ, उसकी पूँजी में वृद्धि हुई और उसने पूर्व के हर वर्ग को पीछे ढकेल दिया। मार्क्स और एन्जिल्स कहते हैं कि "हम इसलिसे देखते हैं कि कैसे आधुनिक पूँजीपति विकास की एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है, जिसमें उत्पादन और आदान-प्रदान की पद्धतियों में क्राँतियों की एक लम्बी श्रृंख्ला देखी जा सकती है।" वे आगे लिखते हैं कि "पूँजीपति के विकास के हर कदम में उस वर्ग के अनुरूप राजनीतिक विकास भी हुआ था।" सामन्तवाद की अवधि में एक शोषित वर्ग विकसित हुआ। इस काल में निरंकुश राजतंत्र के अंतर्गत, मध्यकालीन समुदाय/स्वतंत्र शहरी गणतंत्र, कर देने वाले 'तृतीय सम्पदा', एक सशक्त स्वशासित संगठन के रूप में उभरे। कारखाना-उत्पादक, परा-सामंती या निरंकुश राजतंत्र के लिए, कार्य करते थे और इस प्रकार गतिशीलता के विरुद्ध थे। अंत में आधुनिक उद्योग और विश्व बाजार के अस्तित्व और आथुनिक प्रतिनिधिकारी राज्य की स्थापना के परिणामत: पूँजीपति पूर्णत: हावी हो गया। मार्क्स ने कहा है कि 'आधुनिक राज्य की कार्यकारिणी सम्पूर्ण पूँजीपतियों के सामान्य कार्यों के प्रबन्धन के लिए मात्र एक समिति है।'

नोट

ऐतिहासिक दृष्टि से पूँजीपतियों ने बहुत क्रांतिकारी भूमिका का निर्वहन किया है। निम्न बिन्दु इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण हैं–

1. पूँजीपति ने तमाम सामन्तवादी, पितृसत्तात्मक और सुख-शांति के रिश्तों का अंत कर दिया है। कोई भी 'स्वाभाविक श्रेष्ठ' नहीं रहे हैं, केवल एकमात्र स्वार्थ और 'नकद भुगतान' को महत्व दिया जाता है। वैयक्तिक योग्यता के महत्व के स्थान पर मात्र विनिमय मूल्य व स्वतंत्र व्यापार और नग्न, बेशर्म, प्रत्यक्ष, क्रूर शोषण पटल पर आ चुके हैं।
2. सम्मानित और इच्छित व्यवसायों का नाम समाप्त हो चुका है। पूँजीवाद ने, डॉक्टर, वकील, पंडित (पादरी), वैज्ञानिक को अपने वेतन श्रमिकों में परिवर्तित कर दिया है।
3. पूँजीवाद ने परिवार से भावनात्मक पर्दा हटा दिया है। परिवार को मात्र धन सम्बन्ध तक पहुँचा दिया है।
4. पूँजीवाद ने यह दिखा दिया है कि मनुष्य के कार्य से क्या हो सकता है।
5. पूँजीपति ने निरन्तर, उत्पादन के साधनों में आमूलचूल परिवर्तन किया है, और उससे उत्पादन के संबंधों को परिवर्तित किया है, और उसके कारण समाज के सब संबंध बदले हैं। इसके कारण उत्पादों के लिए बाजार का विस्तार भी निरंतर हुआ है।
6. विश्व बाजार के शोषण के द्वारा, पूँजीपति ने प्रत्येक देश में उत्पादन और उपभोग को अंतरराष्ट्रीय स्वरूप दिया है। नए उद्योग और नई आवश्यकताएं आज एक आम बात बन गई हैं। राष्ट्रीय सीमाएं टूट चुकी हैं। राष्ट्रीय अलग-थलगपन और आत्म-कष्ट पुराने पड़ चुके हैं।
7. पूँजीपति ने संचार के अत्यन्त सुविधाजनक साधनों द्वारा उत्पादन के संसाधनों में तीव्र सुधार किया है। एक नई सभ्यता का उदय हुआ है। संक्षेप में कह सकते हैं कि पूँजीपति ने अपनी कल्पना के अनुसार दुनिया की रचना की है।
8. पूँजीपति से देश, शहरों के शासन के अधीन हो गया है। इसके कारण महानगरों का निर्माण हुआ है।
9. पूँजीपति ने जनसंख्या, उत्पादन के साधनों, और सम्पत्ति के बिखराव की अवस्था को निरन्तर कम किया है। पूँजीवाद ने जनसंख्या को केन्द्रित किया है, उत्पादन के साधनों को केन्द्रीकृत किया है और सम्पत्ति कुछ लोगों के पास जमा हो गई है। इस तरह की परिस्थिति के कारण "राजनीतिक केन्द्रीकरण" हुआ है।
10. पूँजीवाद ने पूर्व की पीढ़ियों की तुलना में कहीं अधिक विस्तृत और भारी उत्पादन शक्तियों को जन्म दिया है।

"कालान्तर में लगभग 100 वर्षों में अत्यधिक सभ्यता, जीवनयापन के अत्यधिक साधनों, अत्यधिक उद्योग, और अत्यधिक व्यापार के कारण पूँजीवादी सम्पत्ति के विकास की अवस्थाओं पर लगाम लगेगी। परिणामत: पूँजीवादी समाज में अव्यवस्था द्वारा, इसके अस्तित्व को खतरा उत्पन्न होगा।" जिन शस्त्रों द्वारा पूँजीवाद ने सामन्तवाद को समाप्त किया, वे ही अब पूँजीवाद के विरुद्ध होंगे।"

**सर्वहारा**

मार्क्स और एन्जिल्स ने सर्वहारा वर्ग के अस्तित्व के बारे में लिखा है कि "पूँजीपति ने न केवल अपनी मृत्यु के शस्त्रों को तैयार किया है, बल्कि वह उन लोगों को भी अस्तित्व में लाया है, जो उन हथियारों को काम में लेंगे–वे लोग आधुनिक श्रमिक वर्ग, अर्थात् सर्वहारा हैं।" पूँजीपति वर्ग के अनुपात में सर्वहारा (श्रमिकों का वर्ग) उभरा है। वे एक वस्तु हैं, व्यापार की किसी अन्य वस्तु की तरह, जो प्रतियोगिता की परिवर्तित परिस्थितियों और बाजार के उतार-चढ़ाव से प्रभावित होते हैं।

"मशीन के अत्यधिक उपयोग और श्रम विभाजन के कारण, सर्वहारा के कार्य में उसके व्यक्तित्व की छाप समाप्त हो चुकी है, और उसके कारण श्रमिक के लिए, कार्य का आकर्षण भी नहीं रहा है। वह मशीन का एक पूर्जा बन जाता है।" उसका कार्य, साधारण, उदासीयुक्त और आसान है। उसको मात्र जीवित रहने के लिए वेतन मिलता है। जबकि एक वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन की लागत के लगभग बराबर है। काम से दूर होने की भावना बढ़ती है

नोट

और उसका वेतन घटता है। मशीन का उपयोग बढ़ने के कारण श्रमिक पर कार्य-भार भी बढ़ता है। कार्य-अवधि भी बढ़ती है। सर्वहारा के बारे में निम्न बिन्दु महत्त्वपूर्ण हैं–

1. एक प्रकार का निरंकुशवाद विद्यमान है। पितृसत्तात्मक मालिक अब बड़े औद्योगिक पूँजीपति के रूप में व्यवहार करता है। आम आदमियों को गुलाम समझा जाता है।
2. कार्य में कौशल की घटती आवश्यकता के कारण आयु और लिंग, शोषण के साधन बन जाते हैं। कारखाने में, पुरुषों से अधिक स्त्रियां रखी जाती हैं।
3. सर्वहारा के साथ, उत्पादनकर्ता एक भूस्वामी, दुकानदार, और सूदखोर की तरह व्यवहार करता है।
4. मध्यवर्ग के निम्न स्तरणों के लोग-लघु व्यापारी, दुकानदार और प्रतियोगिता के कारण धीरे-धीरे सर्वहारा वर्ग में मिल जाते हैं। वे बेकार हो जाते हैं।, उनकी रचनात्मक योग्यता समाप्त हो जाती है।
5. सर्वहारा वर्ग में सहयोग का अभाव है।
6. सर्वहारा का एक वर्ग में संगठित होना और उसके बाद एक राजनीतिक दल में परिवर्तित होना निरंतर गड़बड़ाता है।
7. पुराने समाज की रूढ़ियां/धारणायें भी वर्ग-आधारित ध्रुवीकरण की प्रक्रिया में बाधा बनती हैं।
8. जब सर्वहारा अपनी निर्णायक विजय के समीप पहुँचते हैं, तब पूँजीपतियों का एक छोटा वर्ग क्रांति की उपलब्धियों को खण्डित करने के लिए उनके साथ हो जाता है।
9. लेकिन सर्वहारा ही वास्तव में एकमात्र क्रांतिकारी वर्ग है। उद्योग ने सर्वहारा को अपने विशिष्ट और आवश्यक उत्पादन के रूप में उत्पादित किया है।

इस प्रकार मार्क्सवादी वर्ग की अवधारणा में मानवता के लिए एक समतावादी और प्रजातांत्रिक भविष्य की सोच है। यह एक भावात्मक अवधारणा है, जिसकी जड़, निर्दयता, शोषण और प्रभुत्व के विचारों में है। एक वर्गहीन समाज का स्वप्न इसका सार है। मार्क्सवादी वृहद् सिद्धान्त का आनुभविक प्रमाणीकरण लगभग असंभव है।

### वेबर की वर्ग की अवधारणा

मैक्स वेबर 'वर्गों' को समुदाय नहीं मानते हैं; वर्ग मात्र संभावित और निरंतर सामुदायिक क्रिया का प्रतिनिधित्व करते हैं। वेबर के अनुसार, एक 'वर्ग' तब पाया जाता है, जब (अ) बहुत से लोगों के पास अपने जीवन अवसरों में एक जैसा विशिष्ट कार्य-कारण तत्व होता है, और जहां तक हो सके, (ब) यह तत्व, पूर्णत: आर्थिक हितों का, सम्पत्ति (सामान) के स्वामित्व और आय के अवसरों द्वारा प्रतिनिधित्व करता है, और (स) यह तत्व वस्तु (पदार्थ) या श्रम बाजारों की अवस्थाओं के तहत कार्य करता है।

इन बिन्दुओं द्वारा 'वर्ग परिस्थिति' इंगित होती है। वर्ग स्थिति-सामान की पूर्ति, बाह्य जीवन अवस्थाओं और निजी जीवन अनुभवों के लिए एक प्रकार का अवसर है। वहीं तक ऐसा है, जब तक यह अवसर एक आर्थिक व्यवस्था में आय के लिए, शक्ति की तादाद और प्रकार, या इनके अभाव को सामान या कौशल के उपयोग द्वारा, निर्धारित होता है। 'वर्ग' शब्द का अभिप्राय लोगों के किसी भी समूह से है, जो एक जैसी वर्ग स्थिति में पाया जाता है। मार्क्स की तरह वेबर के लिए भी वर्ग एक आर्थिक प्रघटना है। वे लोग, जो आर्थिक लाभों के लिए बाजार में कर्ता हैं, अपनी भूमिका ओर क्षमता द्वारा निर्धारित होकर विभिन्न वर्गों का निर्माण करते हैं। बाजारकर्ता अर्थात्, खरीदार और विक्रेता एक प्रतियोगिता की स्थिति को इंगित करते हैं। ये दोनों अविभेदीकृत नहीं हैं, इसलिए कुछ विशिष्ट लाभान्वित और एकाधिकारी तथा अन्य घाटे वाले बनते हैं। वेबर का मत है कि सब वर्ग परिस्थितियों में, 'सम्पत्ति का अभाव' मुख्य श्रेणियाँ हैं। बाजार की स्थितियों वाले प्रत्येक क्षेत्र में यह सही है। इसलिए, 'सम्पत्ति' और 'सम्पत्ति का अभाव' सब वर्ग परिस्थितियों की आधारभूत श्रेणियाँ हैं।

वर्ग परिस्थितियाँ दो श्रेणियों में विभक्त की जाती हैं–(*i*) सम्पत्ति के प्रकार के अनुसार, जो लाभ कमाने के लिए उपयोग/योग्य है, और (*ii*) सेवाओं के प्रकार के अनुसार, जो बाजार में काम में आ सकती है। प्रथम में, वह सम्पत्ति है जो रुपये के बराबर है। सम्पत्तिवान या तो किराया/लगान वसूल करने वाले वर्ग में होते हैं, या वे व्यवसायी/उद्यमी

नोट

वर्ग के लोग हैं। द्वितीय में, सम्पत्तिविहीन लोग हैं, लेकिन वे अपनी सेवायें देते हैं। वे लोग जो बाजार में अपनी सेवायें देते हैं। उनका एक अपना स्तरण होता है, जबकि वे लोग विभिन्न महत्व व मूल्य की बहुत प्रकार की सेवायें प्रदान करते हैं। 'वर्ग स्थिति', इस प्रकार, अन्ततः 'बाजार स्थिति' है। साहूकार-कर्जदार सम्बन्ध, 'वर्ग स्थिति' का आधार होता है, जहां एक 'साहूकार बाजार' एक धनी वर्ग द्वारा विकसित किया जाता है। इस प्रकार की परिस्थिति में 'वर्ग संघर्ष' प्रारम्भ होते हैं।

जिन लोगों का भाग्य बाजार में स्वयं के लिए सामान या सेवाओं के उपयोग के अवसर बिना तय होता है, वे दास (गुलाम) होते हैं, न कि एक 'वर्ग', वे एक 'प्रस्थिति समूह' होते हैं।

प्रत्येक वर्ग को संभावित अनेक प्रकारों के 'वर्ग कार्य' में एक का निर्वहन करना पड़ता है, लेकिन आवश्यक रूप में ऐसा नहीं है। किसी भी तरह से एक वर्ग अपने आपमें एक समुदाय नहीं होता है। एक जैसी वर्ग स्थिति में आर्थिक हितों के कारण, लोग एक 'सामुदायिक' तरीके के कार्य करने के लिए बाध्य हो सकते हैं, क्योंकि 'वर्ग' अपने हितों के लिए 'गलत' नहीं हो सकता। यद्यपि इस प्रकार वर्ग समुदाय नहीं है, फिर भी, सामुदायीकरण के आधार पर ही वर्ग परिस्थितियाँ बनती हैं, वह कार्य मुख्यतः एक ही वर्ग के सदस्यों के बीच नहीं है, बल्कि विभिन्न वर्गों के सदस्यों के बीच में है। श्रम बाजार, वस्तु बाजार और पूँजीवादी व्यवसाय सामुदायिक कार्यों (क्रियाओं) के उदाहरण हैं। ये बहुत विशिष्ट सामुदायिक कार्य हैं, जिनके द्वारा व्यक्तियों को उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण करने की शक्ति प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में, बाजार में सम्पत्ति की शक्ति के उपयोग को अत्यन्त सार्वभौम महत्व प्राप्त होता है।

**मार्क्सवादी और वेबरवादी वर्ग उपागमों की तुलना**

मार्क्स और वेबर द्वारा प्रतिपादित वर्ग के उपागम शैक्षणिक विचार-विमर्शों और संवादों में छाये हुए हैं, लेकिन कुछ विद्वानों ने मार्क्स और वेबर दोनों से चयनित तत्वों को लेकर उनके उपागमों का एक मिश्रण तैयार किया है। उदाहरण के लिए, एरिक ओलिन राइट ने कहा है कि आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण के तीन आयाम हैं, जिनके द्वारा प्रमुख वर्गों को चिह्नित किया जा सकता है। ये हैं–

1. विनियोजनों पर नियंत्रण या धन (रुपया) पूँजी।
2. उत्पादन के भौतिक साधनों पर नियंत्रण (भूमि, कारखाने, कार्यालय, आदि)।
3. श्रम शक्ति पर नियंत्रण।

पूँजीपति वर्ग का तीनों आयामों पर नियंत्रण रहता है। श्रमिक वर्ग का नियंत्रण इनमें से किसी पर भी नहीं होता। इन दो वर्गों के बीच में विरोधाभासी वर्ग स्थान होते हैं, जिनमें राइट ने सफेदपोश कर्मी और व्यावसायिक लोगों को शामिल किया है। ये लोग न तो पूँजीपति हैं, और न हाथ से कार्य करने वाले श्रमिक, लेकिन उन दोनों में कुछ सामान्य लक्षण पाये जाते हैं।

एक अन्य उपागम फ्रेंक पारकिन द्वारा प्रस्तुत किया गया है। पारकिन के अनुसार, सम्पत्ति केवल एक प्रकार की *सामाजिक बंद अवस्था* है। पारकिन ने सामाजिक बंद अवस्था को किसी ऐसी प्रक्रिया द्वारा परिभाषित किया है जिसके द्वारा कुछ समूह संसाधनों पर पूर्ण नियंत्रण करने का प्रयास करते हैं और अन्य लोगों के लिए पहुँच को सीमित करते हैं। सम्पत्ति या दौलत के अतिरिक्त सजातीय उत्पत्ति, भाषा या धर्म पर आधारित प्रस्थिति अंतरों को भी सामाजिक बंद अवस्था के लिए उपयोग में लिया जा सकता है। सामाजिक बंद अवस्था में दो प्रकारों की प्रक्रिया का समावेश हैं–(अ) अलगाव, और (ब) अतिक्रमण। प्रथम का आशय अन्य लोगों को मूल्यवान संसाधनों तक पहुँचने से रोकना है। द्वितीय का अभिप्राय कम लाभान्वित लोगों द्वारा अधिक लाभान्वित लोगों से संसाधनों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नों से है। निम्न और पिछड़ी जातियाँ अतिक्रमण का एक उपयुक्त उदाहरण हैं। *दोहरी बंद अवस्था* भी पाई जाती है। एक ओर लोगों का एक समूह अतिक्रमण करता है, दूसरी ओर वही समूह अन्य समूहों को लाभों में भागीदारी से रोकता है।

साधारणतया सभी समाज, उच्च, मध्यम, और श्रमिक (निम्न) वर्गों में दौलत, आय, और सामाजिक संसाधनों तक पहुँच के आधार पर विभाजित हैं, लेकिन इनमें से कोई भी वर्ग अविभेदीकृत और समरूपी इकाई नहीं है। आंतरिक

नोट

रूप में, वे उच्च, मध्यम, निम्न मध्यम, उच्च श्रमिक और निम्न श्रमिक वर्गों में विभेदीकृत हैं। वर्ग स्वसोच का भी मुद्दा है। ब्रिटेन में, एक अध्ययन के अनुसार लोग अपने आपको उच्च मध्यम, उच्च श्रमिक, स्थिति के बारे में वैयक्तिक दृष्टि से सोचते हैं, जबकि उनकी प्रस्थिति सम्पत्ति, दौलत, व्यवसाय, आय आदि वस्तुपरक कारकों पर आधारित है।

**मार्क्स, वेबर और भारत में वर्ग का अध्ययन**

भारत में वर्ग जाति और शक्ति के साथ विद्यमान रहा है। जाति व्यवस्था में परिवर्तन को साधारणतया वर्ग-आधारित सम्बन्धों के उभरने का सूचक समझा गया है।

कुछ विद्वानों ने भारतीय समाज का वर्ग विश्लेषण करते हुए मत प्रकट किया है कि वर्ग संबंध उतने ही प्राचीन हैं, जितने जाति सम्बन्ध हैं। नए राज्यों की स्थापना, स्थायी कृषि, व्यापार, शहरों का निर्माण, बैंकिंग और व्यापारिक/व्यावसायिक संगठन आदि द्वारा, वर्ग रूपान्तरण एक संभव तथ्य रहा है, लेकिन कुछ विद्वानों के अनुसार, निश्चित तरकीबों के रूप में, वर्ग एक निराकार श्रेणी है। ऐसे उपागम को आधार मानने पर वर्ग समाज के उच्च, मध्यम और निम्न स्तरणों के रूप में विश्लेषण हेतु निर्मित किए जाते हैं।

वर्ग, वर्ग संघर्ष और वर्ग चेतना को समझने के लिए, उत्पादन की प्रवृत्ति (आवृत्ति) और वर्ग विरोधाभास, मार्क्सवादी उपागम के आवश्यक लक्षण हैं। जाति, बंधुता, परिवार, विवाह और धार्मिक कृत्यों में भी उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों को देखा जा सकता है। भारतीय समाज में नव-पूँजीपतियों का उदय, कृषक समाज का ध्रुवीकरण और श्रमिक वर्ग की दरिद्रता के बारे में वर्णन किया गया है। आज मुख्य वर्ग ये हैं–कृषक, औद्योगिक, व्यापारिक, दुकानदार और व्यावसायिक।

इन वर्गीकरणों में वैचारिक धुनें हैं। भूस्वामियों, महाजनों और कृषकों को साधारण रूप में वर्गों के नाम देने से वर्ग विरोध नहीं झलकता है, लेकिन पूँजीपति, अनपुस्थित काश्तकार, धनी कृषक, भूमिहीन काश्तकार, खेतिहर मजदूर, आदि शब्दों के उपयोग से वर्ग अन्तरक्रिया, नियंत्रण और संघर्ष, वर्ग संरचना के विशेष लक्षणों के रूप में दिखाई देते हैं।

जाति प्राय: वर्ग को ढंक देती है, क्योंकि जाति अस्मिता और जुटाव के साधन के रूप में पाई जाती है। जाति और वर्ग दोनों वास्तविक हैं, परंतु इन दोनों व्यवस्थाओं के बीच में अनुरूपता पहले की तरह नहीं पाई जातीं। मध्यम जातियाँ आवश्यक रूप में मध्यम वर्ग नहीं हैं। मध्यम वर्गों में निम्न जातियों के लोग हो सकते हैं। मध्यम और निम्न वर्गों में उच्च जातियों के सदस्य हो सकते हैं। मध्यम जातियाँ मध्यम और उच्च वर्गों में हो सकती हैं। आज के भारतीय समाज में जाति और वर्ग के ऐसे मिश्रण पाए जाते हैं। भारत के मध्यम वर्ग, उत्पादन की शक्तियों और उच्च व निम्न वर्गों के आकार के अनुपात के अनुसार नहीं हैं, वे कहीं अधिक हैं मध्यम वर्ग अविभेदीकृत भी नहीं है। नये प्रस्थिति समूह वर्गों के रूप में उभर रहे हैं।

*नोट्स* प्रवसन, गतिशीलता, आधुनिक व्यवसाय, शिक्षा आदि को वर्ग संरचना के उद्‌भव के सूचकों की संज्ञा दी गई है।

## 2. प्रस्थिति समूह (Caste Group)

"वर्ग, प्रस्थिति और दल" के बीच आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं के रूप में अंतर करते हुए, मैक्स वेबर ने, 'प्रस्थिति समूहों' की अवधारणा को लागू किया है। वेबर ने 'सामाजिक प्रस्थिति' को सामाजिक प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में सकारात्मक या नकारात्मक विशेष लाभ के लिए एक प्रकार से प्रभावकारी दावे के रूप में परिभाषित किया है। इस प्रकार के दावे के एक या एक से अधिक निम्न आधार हैं–

नोट

(अ) जीवनयापन का तरीका।

(ब) शिक्षा की औपचारिक प्रक्रिया द्वारा आनुभविक या यथोचित प्रशिक्षण और उसके अनुरूप जीवनयापन पद्धतियों की प्राप्ति।

(स) जन्म या एक व्यवसाय पर आधारित प्रतिष्ठा

वास्तविक जीवन के प्राथमिक स्पष्ट प्रमाण, विवाह के नियमों के पालन-पान और विशिष्ट लाभान्वित आर्थिक अवसरों के पूर्ण उपयोग और लाभ प्राप्ति के कुछ तरीकों पर प्रतिबन्ध आदि द्वारा देखे जा सकते हैं। सामाजिक प्रस्थिति से जुड़ी हुई कुछ प्रथाएं और परम्पराएं भी हैं।

जाति एक प्रस्थिति समूह का उत्तम उदाहरण है। जाति द्वारा वर्णित एक स्तरीकरणीय की अलगाव व सलगाव, जन्म पर आधारित विरासत, वंशानुगत व्यवसाय, विभिन्न जातियों की विशिष्ट जीवन पद्धतियों और प्रस्थिति व प्रतिष्ठा की स्थिर धारणा जैसी कसौटियों द्वारा चरितार्थ किया जाता है। सम्पत्ति, आय या निर्धनता भी उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए अयोग्यताएं नहीं मानी जाती हैं।

यद्यपि आर्थिक कारक सामाजिक प्रस्थिति को प्रभावित कर सकते हैं। और इसके विपरीत भी स्थिति हो सकती है। सामाजिक प्रस्थिति आंशिक रूप में या पूर्णत: वर्ग प्रस्थिति को निर्धारित कर सकती है, परंतु बिना वर्ग के समान बने, लोगों को विभिन्न वर्ग प्रस्थितियाँ या आर्थिक स्थान हो सकते हैं, लेकिन एक ही प्रकार के महत्वपूर्ण सन्दर्भों में समान जीवन पद्धति के आधार पर उनकी समान सामाजिक प्रस्थिति हो सकती है। ऐसा उनकी एक जैसी शिक्षा के परिणामस्वरूप हो सकता है, क्योंकि प्रस्थिति समूह मात्र बाजार सिद्धान्त द्वारा कार्य नहीं करते हैं।

**प्रस्थिति सम्मान**

वर्गों के विपरीत, प्रस्थिति समूह प्राय: समुदाय हैं और साधारणतया अस्पष्ट या शक्लविहीन होते हैं। 'वर्ग परिस्थिति' के विपरीत, वेबर ने 'प्रस्थिति परिस्थिति' के अस्तित्व का उल्लेख किया है, जो एक प्रदत्त सम्मान के सामाजिक माप (मूल्यांकन) पर आधारित होता है और वह एक विशिष्ट सकारात्मक या नकारात्मक प्रकार का होता है। एक प्रदत्त प्रस्थिति परिस्थिति में बहुत से लोगों की भागीदारी होती है और यह एक वर्ग परिस्थिति के निकट हो सकती है। वर्ग-भेद अत्यन्त विभिन्न तरीकों में प्रस्थिति भेदों से जुड़े रहते हैं। सम्पत्ति को सदैव प्रस्थिति के लिए योग्यता नहीं माना जाता है, परंतु लम्बी अवधि में ऐसा होता है और वह भी अत्यन्त निरन्तरता के साथ। सामाजिक सम्मान के लिए सम्मानजनक नाम/पद को मुख्य सूचक माना जाता है। मुद्दे की बात यह है कि प्रतिष्ठा सम्मान को 'वर्ग परिस्थिति' से जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत, प्रस्थिति सम्मान, आमतौर पर केवल सम्पत्ति के दावों के बिल्कुल विरुद्ध है।

सम्पत्तिवान और सम्पत्तिविहीन दोनों लोग एक ही प्रस्थिति समूह में हो सकते हैं, और प्राय: ऐसा बहुत स्पष्ट परिणाम के साथ होता है। सामाजिक इज्जत की यह 'समानता', कालान्तर में बहुत अनिश्चित/असुरक्षित हो सकती है। एक धनी व्यक्ति अपने नौकर को अपने बराबर नहीं मान सकता, चाहे वह उतना ही शिक्षित है, जितना उसका मालिक।

व्यावहारिक तौर पर सामाजिक सम्मान में, साधारणतया अन्य बिन्दुओं के अलावा एक प्रस्थिति *चक्र* में आने वालों से अपेक्षा की जाती है कि वे एक विशिष्ट *जीवन* शैली प्रदर्शित करें। इस अपेक्षा के साथ, 'सामाजिक' पारस्परिक व्यवहार पर भी बंधन होते हैं। ये बंधन प्रस्थिति घेरे में साधारणतया विवाह करने तक बाध्य कर सकते हैं और इससे पूर्णत: अन्त:समूह विवाह का घेरा बन सकता है। भारत की जाति व्यवस्था में, अन्त:जातीय और बहिर्गोत्र विवाहों पर ऐसे ही बंधन लागू हैं। एक जाति के सदस्यों को अपनी ही जाति/उप-जाति और अपने, अपनी माता, दादी और नानी के गोत्रों के बाहर विवाह करना पड़ता है। इस प्रकार 'प्रस्थिति समूहों' द्वारा स्तरीकरण सहमति पर आधारित सामूहिक कार्य और परम्परात्मक जीवन-शैली विकसित होती है।

वेबर का मत है कि कुछ अधिक असाधारणीकरण करते हुए कह सकते हैं कि 'वर्ग', अपने *उत्पादन* के साथ संबंधों और पदार्थों (वस्तुओं) की *प्राप्ति* के अनुसार स्तरीकृत होते हैं, जबकि, 'प्रस्थिति समूह' वस्तुओं के *उपभोग* के सिद्धान्तों के अनुसार स्तरीकृत किए जाते हैं और यह उनकी विशिष्ट 'जीवन-शैली' में दिखाई देता है।

नोट

एक 'व्यावसायिक समूह' भी एक प्रस्थिति समूह है। साधारणतया, एक 'व्यवसायी समूह' सफलतापूर्वक सामाजिक सम्मान का दावा स्वयं द्वारा निर्धारित केवल एक विशिष्ट जीवन-शैली द्वारा करता है। वर्गों और प्रस्थिति समूहों में अंतर प्राय: स्पष्ट नहीं होते हैं। भारत में जातियां एक प्रकार के प्रस्थिति समुदाय हैं। उदाहरण के लिए ब्राह्मण पूर्व में आर्थिक आय के लिए सापेक्षिक तौर पर अधिक अरुचि रखते थे और वे जाति सोपान में सबसे ऊपर थे। प्रस्थिति स्तरीकरण को समर्थन, वस्तुओं की प्राप्ति और वितरण के आधारों के सापेक्षिक रूप में स्थिर रहने पर प्राप्त होता है। तकनीकी आक्रमण और आर्थिक परिवर्तन से प्रस्थिति स्तरीकरण को खतरे/चुनौती का सामना करना पड़ता है।

**प्रस्थिति स्तरीकरण की सुरक्षाएं (गारंटियाँ)**

जैसा कि, पूर्व में हम कह चुके हैं कि एक प्रस्थिति समूह की मुख्य विशेषता उसकी विशिष्ट जीवन-शैली है। इस तरह की जीवन-शैली का अनुपालन प्रस्थिति समूह के सदस्य कुछ खास मानकों और नियमांकनों के द्वारा करते हैं। सामाजिक सम्मान का अनुमान, वैयक्तिक सदस्यों द्वारा या प्रस्थिति समूह के सदस्यों द्वारा संयुक्त रूप में, मानकों के अनुपालन के आधार पर किया जाता है। प्रस्थिति समूहों के दायरीकरण के उदाहरण, विशिष्ट गलियों, मोहल्लों, समूहों आदि में जाना और भेंट करना भी है। प्रस्थिति का उद्‌भव/विकास आवश्यक रूप में घेराव पर आधारित स्तरीकरण का प्रश्न है। लगभग सब प्रस्थिति सम्मान की सामान्य उत्पत्ति में ऐसा घेराव (usurpation) ही है। एक स्तरीकरण व्यवस्था को स्थिरता कानून द्वारा मान्य सामाजिक संगठन से प्राप्त होती है।

**'सजातीय' भेदभाव और 'जाति'**

वेबर ने 'जातियों' को प्रस्थिति समूहों का उदाहरण समझा है। जब प्रस्थिति समूह एक बंद 'जाति' में विकसित होता है, तब इसके उद्देश्य पूर्ण रूप में पूरे हो जाते हैं। प्रस्थिति-विभेद तब न केवल परम्पराओं और कानूनों से ही सुरक्षित/समर्थित रहते हैं, बल्कि धार्मिक कृत्यों की भी गारंटी रहती है। सांस्कारिक अपवित्रता और दाग या सापेक्षिक पवित्रता और सम्मान द्वारा जाति सोपान पवित्र और अपवित्र के सिद्धांत पर आधारित सामाजिक सम्मान को उल्लेखित करते हैं। वेबर के अनुसार, 'जाति' एक साधारण स्वरूप है, जिसके अन्तर्गत सजातीय समुदाय एक 'समाजीकृत' ढंग से प्राय: एक-दूसरे के अगल-बगल में रहते हैं। जाति जैसे प्रस्थिति-विभेद पूरे संसार में सब जगह व्याप्त है। लेकिन यदि एक 'प्रस्थिति' भेदभाव, 'जाति' का रूप धारण कर लेती है तो फिर वह अपनी संरचना में मात्र एक 'सजातीय' भेदभाव से भिन्न होता है। जाति विभिन्न जाति समूहों के बीच उच्च और निम्न संबंधों की एक लम्बरूपी सामाजिक व्यवस्था है। एक सजातीय समूह का स्वयं का सम्मान उच्चतम होता है। 'जाति' ने सम्मान के सोपान पर बल दिया जाता है और वह भी विशेषाधिकारों या उच्च जातियों और प्रस्थिति समूहों के पक्ष में होता है। इसका आशय यह भी है कि वास्तव में नकारात्मक रूप में विशेषाधिकार प्रस्थिति समूह हैं, जिनसे नफरत व भेदभाव किया जाता है और उनको समाज के संसाधनों तक पहुँच से वंचित रखा जाता है।

अंत में सजातीय समूहों (जातियों सहित) से प्रस्थिति समूहों में विकसित होना एक सामान्य व आसान प्रघटना नहीं है। एक सजातीय समुदाय की हर मनोभावना के लिए, 'वस्तुपरक' प्रजातीय अंतर आधारभूत नहीं है। एक प्रस्थिति समूह बहुत प्रभावी ढंग से अत्यन्त प्रकारों के समूह उत्पन्न कर सकता है। इसके साथ यह भी प्राय: होता है कि एक प्रस्थिति समूह के सदस्यों के लिए अपेक्षित जीवन-शैली की संभावना में वर्ग परिस्थिति सबसे अधिक प्रभावी कारक है।

**प्रस्थिति विशेषाधिकार**

व्यावहारिक उद्देश्यों की दृष्टि से, एक विशिष्ट ढंग से प्रस्थिति स्तरीकरण, आदर्श और भौतिक पदार्थ या अवसर का एकाधिकार एक साथ पाए जाते हैं। दूरी और अलगावपन पर आधारित विशेष प्रस्थिति, सम्मान के अतिरिक्त, समाज में हर प्रकार के भौतिक (आर्थिक) एकाधिकार भी पाए जाते हैं। इस तरह के सम्मान सूचकों में, विशेष प्रकार की पोशाक पहनने का विशेषाधिकार, विशिष्ट प्रकार का भोजन, दूसरों के लिए निषेध, हथियार रखना, कुछ कलात्मक क्रियाओं का अधिकार, विशेष संगीत यंत्र बजाने/गाने का विशेषाधिकार आदि है। उदाहरण के लिए जाति व्यवस्था के अंतर्गत निम्न जातियों को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर उच्च या स्वच्छ जातियों के लिए एक मात्र सुविधायें उच्च

नोट

जातियों के मोहल्लों के निकट विवाह, जुलूस आदि की मनाही थी। निम्न जातियों के लिए पाबन्दियों की एक लम्बी सूची थी, जिसमें धार्मिक कृत्यों वेक अनुपालन, व्यवसायों, आंदोलनों, प्रवसन और गतिशीलता पर बंधन थे।

एक प्रस्थिति चक्र में संभावित दुल्हनों और पुत्रियों पर भी, एक विवाह चक्र सन्दर्भ में, एकाधिकार है। सामन्तवाद और जाति व्यवस्था के अंतर्गत, गुलाम या बंधुआ लोगों से बेगार या विशेष कठिन कार्य करवाना एक आम बात थी। सामन्त और पुजारी या योद्धा, विशिष्ट प्रस्थिति समूह होने के कारण, कुछ सेवाओं और वस्तुओं के स्वामित्व व प्रबंनधन के अधिकारी थे और जिनमें दूसरे लोग वंचित थे।

दूसरे शब्दों में, प्रस्थिति समूह सब परम्पराओं के विशिष्ट वाहक हैं। जीवन का सम्पूर्ण **'शैक्लीकरण'** या तो प्रस्थिति समूहों में पनपता है, या उनके द्वारा **प्रतिरक्षित** होता है। सबसे अधिक विशेषाधिकार प्राप्त स्तरणों में कुछ विशिष्ट लक्षण होते हैं। केवल धन के लिए कार्य, या ऐसा कार्य जिसमें उच्च गुणवत्ता या विशिष्टता का अभाव है, वह सम्मान चिह्न या जीवन शैली के विरुद्ध समझा जाता है।

### 3. शक्ति (Power)

शक्ति सर्वव्याप्त है। यह, दैनिक जीवन, व्यक्ति के सूक्ष्म-संसार, स्कूल और कार्य-स्थल में विद्यमान है। शक्ति सम्बन्ध से जुड़ी है, कुछ के पास कम शक्ति है, और दूसरों के पास लगभग-सम्पूर्ण शक्ति है। शक्ति के साधन, शारीरिक ताकत से लेकर विनम्र खुशामद/फुसलान तक होते हैं। वृहद् स्तर पर राज्य या सरकार जैसी शक्ति और सत्ता जैसी संस्थायें हैं।

शक्ति समाज में है और समाज, शक्ति और सत्ता की संरचना में परिलक्षित होता है। समाजशास्त्र में शक्ति कोई नया विषय नहीं है। दो उपागम एक मैक्स वेबर और दूसरा विलफ्रेडो पैरेटो द्वारा दिये गये हैं, जिनमें शक्ति की समाजशास्त्रीय व्याख्या की आधारभूत श्रेणियाँ दी गई हैं।

#### वेबरवादी उपागम

वेबर के अनुसार, "शक्ति एक संभावना है, जो एक कर्ता, एक सामाजिक सम्बन्ध के तहत, अपनी इच्छा के अुनसार, पूरा करने की स्थिति में रहता है, चाहे उसका विरोध होता रहे, और उस संभावना का आधार चाहे जो हो।" वेबर के शक्ति के विश्लेषण में, आदेश और अनुपालन मुख्य शब्द/धारणायें हैं। शक्ति की अवधारणा अत्यन्त व्यापक है। "एक व्यक्ति तमाम सोचनीय योग्यताओं और परिस्थितियों के तमाम सोचनीय सम्मिश्रणों द्वारा एक विशिष्ट परिस्थिति में अपनी इच्छा को थोपने की स्थिति में हो सकता है।" आवश्यक नियन्त्रण कार्य करता है, जब एक सत्ताधारी दूसरे व्यक्ति को अनुपालन के लिए आदेश देता है। सत्ता वैध है, परंतु सब शक्ति ऐसी नहीं है।

वेबर की व्याख्या में, मुख्य बिन्दु यह है कि विरोध के उपरान्त भी शक्ति विद्यमान रह सकती है। यदि विरोध होता है तो उस पर काबू किया जाता है। शक्ति 'नेतृत्व' से भिन्न है। नेतृत्व एक समूह/संगठन से उत्पन्न होता है, उसका आधार, एक खास ढंग और निदेशन द्वारा लोगों को नेतृत्व प्रदान करने के लिए, कुछ कसौटियां होती हैं। क्रियान्विति के साधनों पर शक्ति निर्भर करती है, जो केवल कल्पना और विरोध की प्रकृति में दिखाई देती है।

शक्ति निकट से सामाजिक नियंत्रण से सम्बन्धित है, क्योंकि शक्ति में आज्ञाकारी व्यक्तियों और समूहों के विरुद्ध समाजीय ताकत/दबाव पाया जाता है, लेकिन दोनों के भिन्न अभिप्राय हैं। सामाजिक नियंत्रण एक नकारात्मक श्रेणी है। इसका अभिप्राय उन सामाजिक उपायों से है जो विचलित या विनाशकारी आचरण को रोकने के लिए किये जाते हैं। शक्ति में अधिक सकारात्मक प्रकार्य हैं। शक्ति का आशय एक व्यक्ति या एक समूह की इच्छा को लागू करने से है, लेकिन सामाजिक नियंत्रण द्वारा, व्यक्तियों और समूहों को उनकी सीमाओं में रखा जाता है। इसके विपरीत, शक्ति की धारणा/श्रेणी में संघर्ष निहित है। एक व्यक्ति की शक्ति की इच्छा के कारण दूसरे व्यक्ति की उसी प्रकार की मंशा होने से झगड़ा हो सकता है और यह तर्क समूहों, संस्थाओं और सम्पूर्ण समाजों पर लागू होता है। इस तरह सब मानव समाजों में दोनों अर्थात् शक्ति और सामाजिक नियंत्रण पाए जाते हैं। सभी समाजों में शक्ति के लिए संघर्ष होते हैं।

नोट

वास्तव में, वेबर ने 'शक्ति' और 'प्रभुत्व' के बीच एक स्पष्ट अंतर किया है। शक्ति एक सामान्य प्रघटना है, जबकि प्रभुत्व एक अधिक विशिष्ट पहलू है। जैसा कि हमने पहले वर्णन किया है कि शक्ति एक अवसर है जिसके द्वारा एक सामाजिक सम्बन्ध में एक कर्ता दूसरे भागीदारों पर अपनी इच्छा थोप सकता है, चाहे वे उसका विरोध क्यों न करें। शक्ति को एक व्यक्ति या समूह के उस अवसर द्वारा मापते हैं, जिसमें उनकी इच्छा पूरी होती है। एक कर्ता अपने कार्यों द्वारा शक्ति का उद्देश्य पूरा करता है और यह क्षमता केवल आकस्मिक या अनिश्चित परिस्थितियों से ही निर्धारित नहीं होती है, बल्कि एक कर्ता को संरचनात्मक दृष्टि से प्राप्त परिभाषित अवसरों और योग्यताओं द्वारा भी निर्धारित होती है। शक्ति के व्यवस्थात्मक निर्धारक का अभिप्राय संसाधनों के सामाजिक वितरण से है। इस प्रकार, शक्ति मानव क्रिया का एक अभिन्न तत्व है, जिसमें घटनात्मक और संरचित दोनों निर्धारक पाए जाते हैं।

वेबर शक्ति के उन प्रकारों की चर्चा करते हैं, जिनके द्वारा स्थिर और निरंतर सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं। इस प्रकार से संरचित शक्ति को वेबर ने 'प्रभुत्व' कहा है। शक्ति, प्रभुत्व के विशिष्ट प्रकारों के रूप में, औचित्यकरण की प्रक्रियाओं द्वारा संरचित होती है। दो प्रकार के औचित्यकरण हैं–'साधनात्मक औचित्यकरण' और 'मूल्य औचित्यकरण'। प्रथम में स्वयं-स्वार्थ का मापतोल और लाभ-प्राप्ति निहित है और द्वितीय में अदृश्यकारी प्रथा और आदत को सम्मिलित करते हैं, जिनको सामाजिक व्यवस्था की वैधता की धारणा द्वारा बनाए रखते हैं। *लाभ-प्राप्ति* और *वैधता* के बीच अंतर है, क्योंकि दोनों एक-दूसरे के विपरीत प्रकार के प्रभुत्व हैं। जबकि प्रथम प्रकार के प्रभुत्व में, हितों/स्वार्थों का विवेकपूर्ण और मापनीय संयोग होता है, ऐसा प्रतियोगी आदान-प्रदान सम्बन्धों में पाया जाता है। दूसरे प्रकार का प्रभुत्व, 'सत्ता के अधिकार द्वारा' प्रकट किया जाता है। यह सत्ता सम्बन्ध, आदेश और अनुपालन का मसला है। आदेशों की वैधता का दावा, एक मानकीय व्यवस्था के आधार पर किया जाता है। औचित्यपरकता और सत्ता की वैधता पर आधारित प्रभुत्व के अलावा, एक तीसरा प्रकार भी है, जिसको 'प्रतिष्ठा के आधार पर प्रभुत्व' या 'प्रभुत्व' या प्रकटकारी औचित्यकरण' की संज्ञा की गई है। यह 'करिश्माई' प्रकार की सामुदायिक आस्थाओं में पाया जाता है तथा प्रभाव, विश्वास, और उदाहरण द्वारा क्रियान्वित किया जाता है। इस प्रकार प्रभुत्व (सत्ता) के प्रकार हैं–

1. औचित्यपूर्ण
2. वैध या कानूनी
3. करिश्माई

ये आदर्श प्रकार हैं और अपने शुद्ध रूप में बिरले घटित होते हैं। वास्तुविक जीवन में एक विशेष सम्मिश्रण में घटित हो सकते हैं। सत्ता के अनुरूप एक व्यक्ति की प्रतिष्ठा भी होती है। करिश्मा का भी प्रतिष्ठा और सत्ता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध विकसित हो जाता है। वास्तव में, ऐसे प्रकारीकरण का अभिप्राय शक्ति के सामाजिक वितरण से है और शक्ति के वितरण में सामाजिक स्तरणों का निर्माण, प्रभुत्व की संरचनाओं के रूप में निहित है। 'वर्ग', प्रस्थिति और दल', जैसा कि वेबर ने प्रस्तावित किया है, प्रभुत्व के तीन प्रकारों और उनके अंतरसम्बन्धों को इंगित करते हैं।

वेबर की शक्ति की परिभाषा में, पीटर एल. बर्जर और ब्रिजित बर्जर ने तीन मुख्य तत्व बताए हैं। ये हैं–1. संभावना, 2. आज्ञापालन व सत्ता की आदत, और 3. वैधता। संभावना, शक्ति के प्रयोग में, 'अवसर' के कारक को संकेतिक करती है, जो एक विशेष रूप में हो भी हो सकती है और नहीं भी हो सकती है। आदत की प्रवृत्ति के अलावा वैधता एक महत्वपूर्ण कारक है। शक्ति की न्यायोचितता वैधता से सिद्ध होती है। वास्तविक जीवन की परिस्थितियों में तीनों अंतरसंबंधित हैं। शक्ति और वैधता एक-दूसरे को समर्थन देते हैं और एक जटिल ढंग में जुड़ी हुई हैं। जब कभी शक्ति की वैधता पर प्रश्न चिह्न लगता है, तब जोर-जबरदस्ती और हिंसा के उपयोग द्वारा सत्ता को पुनः स्थापित करने की आवश्यकता होती है। सब समाजों में तीनों प्रमुख प्रकारों की सत्ता अर्थात् परम्परात्मक, करिश्माई और कानूनी-वैध पाई जाती है, यद्यपि एक जैसे ढंग व गहनता में नहीं पाई जाती है।

नोट

### शक्ति के लिए पैरेटो का उपागम

शक्ति के अध्ययन के लिए पैरेटो के उपागम में शासकों और शासित का एक सरल और सर्वव्याप्त विभाजन है। शासकों को पैरेटो ने *अभिजात* का नाम दिया है। पैरेटो के अनुसार, शक्ति मानव जीवन की एक कठोर और अनिवार्य वास्तविकता है। पैरेटो के समकालीन गाएतानो मोस्का का मत भी पैरेटा जैसा ही है और दोनों इटली के राजनीतिक विचार की शास्त्रीय परम्परा से जुड़े हुए हैं।

पैरेटो ने अभिजातों को दो प्रकारों में विभाजित किया है। एक को *शेर* और दूसरे को *लोमड़ी* नाम दिया है। दोनों की अभिप्रेरणायें और मनोवैज्ञानिक लक्षण बहुत भिन्न हैं–जिनको पैरेटो *निरंतर अभिप्रेरणा पुंज* (residues) कहते हैं। रेजीड्यूज शब्द का अभिप्राय मानव इतिहास में उन अभिप्रेरणाओं के पुंजों से है, जो निरंतर घटित होते रहते हैं। शेरों की श्रेणी के अभिजात में अभिप्रेरक पुंज पाए जाते हैं, जिनको पैरेटो ने 'संकलनों की निरंतरता' के नाम से सम्बोधित किया है। ये मुख्यत: रूढ़िवादी धारणा व एक निश्चित सोच को इंगित करते हैं। इनके अनुसार समाज को यथावत रखना, शक्ति के आधार पर कार्य करना और गहन विचार को नजरअंदाज करना चाहिए। इनके विपरीत लोमड़ियों के अभिजात एक अलग प्रकार के अभिप्रेरणा पुंज को मानते हैं। इनमें 'जुड़ाव की भावना' पाई जाती है।

बौद्धिक दृष्टि से, लोमड़ियाँ कम कठोर हैं, वे अधिक नवाचारी और संवेदनशील हैं, परंतु कार्य में बहुत कम निर्णयकारी हैं। पैरेटो के अनुसार शेर मुख्यत: ताकत से शासन करते हैं और लोमड़ियाँ चालाकी से राज करती हैं। ये लक्षण सामान्य मनोवृत्तियाँ हैं, परंतु इन अभिजातों के दोनों समूहों की चेतना में इनकी गहरी पैठ है। चेतना की कठोरता के कारण हर अभिजात नयी परिस्थितियों में भारी-भरकम और अधिक अलचीला बन जाता है।

जब दोनों प्रकारों के अभिजात कुछ विशेष परिस्थितियों में विफल हो जाते हैं और सत्ता उनसे खिसक जाती है, तब एक नए प्रकार के शासक अभिजात का उदय होता है। पैरेटो ने शासक समूहों के उत्तराधिकार को 'अभिजातों के चक्र' का नाम दिया है। अभिजातों का चक्र इतिहास के एक नियम की तरह है। यह हमेशा सब समाजों में घटित हुआ है। जब शेरों की अपने शासन पर पकड़ दृढ़ नहीं रहती है, तब लोमड़ियां उनको अपनी बुद्धिमत्ता (चालाकी) से सत्ता से बाहर कर देती हैं। वह आधार अर्थात् ताकत और निर्णयकारी कार्य, जिस पर शेरों ने शासन प्राप्त किया था, उसका महत्व समाप्त हो जाता है। अभिजात चक्र किसी भी अभिजात के *पतन* के कारण भी होता है, जो एक लम्बे समय तक सत्ता में रहा है। सत्ता का खेल के विशेषाधिकारों द्वारा ही बिगड़ता है। अन्तत: सब अभिजात कमजोर हो जाते हैं। अभिजातों में 'नए खून' के समावेश से सत्ता में बने रहने की प्रक्रिया बढ़ सकती है। इसका अर्थ यह है कि निरन्तरित और नए अभिजातों के मिश्रण से अभिजातों के चक्र को नियंत्रित किया जा सकता है।

सामाजिक जीवन में औचित्यपूर्ण ताकतों के प्रवाह से पैरेटो प्रभावित थे क्योंकि ऐसी ताकतें बाहरी मनोवृत्तियों से उभरती हैं और औचित्यपूर्ण आचरण में प्रवेश कर लोगों के हितों पर कुठाराघात करती है। वेबर औचित्यपूर्ण अभिप्रेरकों के समर्थक थे। लोग अपने *स्वार्थों* को आगे रखने का कार्य करते हैं। चेतनापरक अभिप्रेरकों द्वारा सत्ता के लिए संघर्ष में औचित्यपूर्ण हितों को आगे बढ़ते हुए देख सकते हैं। इस प्रकार सामाजिक जीवन (और विशेषत: शक्ति), 'औचित्यपरकता और अऔचित्यपरकता, स्वार्थों और आदतों, सरल योजना और अंध भावना की एक जटिल गुत्थी है।

### शक्ति की मार्क्सवादी धारणा

वेबर और पैरेटो से पहले कार्ल मार्क्स ने राजनीतिक शक्ति को वर्ग और वर्ग संघर्ष के विचारों के साथ जोड़ा था और वेबर वे पैरेटो शक्ति के बारे में मार्क्सवादी दृष्टिकोण से परिचित थे। मार्क्स के अनुसार शक्ति एक अधिसंरचना है। उसके सोच में, राजनीतिक शक्ति, प्रभु वर्ग (पूँजीपति) के हाथों में हमेशा एक शस्त्र (साधन) है। क्योंकि मार्क्स के विचार में राजनीतिक सम्बन्ध अंतरनिहित आर्थिक सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब है। राजनीति शक्ति आर्थिक शक्ति का परिणाम और उसकी एक झलक है। मार्क्स ने राज्य को 'पूँजीपति की कार्यकारी समिति' कहा है, लेकिन वेबर ने वर्ग और शक्ति में स्पष्ट विभाजन किया है। वेबर के अनुसार, शक्ति की अपनी गतिविधियाँ रही हैं, और इनको आर्थिक हितों की गतिविधियों में समाहित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार, वेबर और पैरेटो दोनों अपनी शक्ति की समझ के बारे में मार्क्स से भिन्न थे।

नोट

आज शक्ति की प्रकृति और स्थान (स्थिति) के बारे में प्रश्न बहुत भिन्न और जटिल है। क्या आम सहमति की स्थिति में प्रजातंत्र में शक्ति पाई जाती है? क्या शक्ति जोड़तोड़ का मामला है? क्या अंतरनिहित या अदृश्य शक्ति है? शक्ति (सत्ता) सम्बन्धों के निर्धारण में प्रजातन्त्र और विकास की प्रक्रियाओं की क्या भूमिका है? एक समाज में स्थानीय, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तरों पर शक्ति (सत्ता) की क्या कड़ियां हैं? क्या शक्ति एक समुदाय (व्यावसायकि समूहों, सजातीय समूहों, जातियों, आदि) में स्थित है?

**शक्ति के बारे में सी. राइट मिल्स का विचार**

शक्ति संरचना के अध्ययन, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र आदि विषयों में उपलब्ध है। विशेषत: समुदायों, राजनीतिक दलों और शासनतंत्रीय संगठनों के अध्ययन समाज वैज्ञानिकों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से किये हैं। यहाँ हम सी. राइट मिल्स की पुस्तक–दी पावर इलाइट का विशेष उल्लेख करना चाहेंगे, क्योंकि इसके द्वारा अमेरिकन समाज के संदर्भ में राष्ट्रीय शक्ति संरचना पर एक गम्भीर विचार-विमर्श उत्पन्न हुआ है। मिल्स के अनुसार, अमेरिका आर्थिक, राजनीतिक और सैन्य अभिजात द्वारा शासित है। आर्थिक अभिजात बड़े व्यापार के उच्च स्तरणों और कारपोरेट प्रबंधन का प्रतिनिधित्व करते हैं। राजनीतिक अभिजात सरकार के औपचारिक तंत्र में प्रमुख लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सैन्य अभिजा सैन्य सेवाओं के शिखर के लोगों को प्रतिनिधित्व करते हैं।

मिल्स के मतानुसार शक्ति अभिजात का आर्थिक भाग एक निर्णयकारी अंग है। इस प्रकार मिल्स का शक्ति अभिजात का विश्लेषण, मार्क्स की विचारधारा से मिलता-जुलता है, क्योंकि दोनों आर्थिक भाग को बहुत महत्वपूर्ण निर्धारक मानते हैं, लेकिन मिल्स का मत मार्क्स के मत से भिन्न है, क्योंकि मिल्स की सोच है कि इन तीन अभिजात समूहों में नेतृत्व अधिक परस्पर-परिवर्तनीय है और इसलिए, आर्थिक, राजनीतिक और सैन्य अभिजातों के अंतरबंद निदेशालयों की व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ है। ये तीनों समूह विभिन्न प्रकार से अनौपचारिक और औपचारिक सम्पर्कों द्वारा एक-दूसरे के साथ मिलते हैं। अभिजातों के सोपान में समरसता और अलगाव दोनों हैं। मिल्स के 'आर्थिक अभिजात प्रभुत्व' की परिकल्पना की एक आलोचना, आरनोल्ड रोज की 'बहु-प्रभाव परिकल्पना' में निहित है, जिसके द्वारा राजनीतिक सम्बन्धों के बहुआयामी मॉडल की बात ठीक लगती है। हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीय और स्थानीय दोनों स्तरों पर, शक्ति संरचना के निर्माण में बहुत से प्रभाव कार्य करते हैं। बहुत हद तक, मेलजोल वाले अभिजात होते हैं, परन्तु वे एक जैसे नहीं होते, क्योंकि वे गैर-आर्थिक कारकों से भी प्रवाहित होते हैं और शक्ति संरचना भी बहुआयामी है।

अंत में, अवधारणा के स्तर पर बरट्राण्ड रस्सल के विचार, जो उसने अपनी पुस्तक *पावर* में व्यक्त किए हैं, वे, मनुष्य की इच्छाओं के लिए, शक्ति को एक कुँजी के रूप में समझने के लिए लाभदायक हैं। रस्सल के अनुसार, "मनुष्यों की असंख्य इच्छाओं में से शक्ति और शान की इच्छाएँ प्रधान हैं।" रस्सल ने आर्थिक आधार पर निर्धारित शक्ति की मार्क्सवादी धारणा को अस्वीकार किया है और यह मत मोटे तौर पर मिल्स ने माना है। मनुष्यों की क्रियाओं का कारण शक्ति के लिए लगाव है और ये क्रियायें एक समाज की सामाजिक गतिविधियों के लिए महत्वपूर्ण हैं। दौलत, आभूषण, नागरिक सत्ता, रुतवा और सलाह (राय) शक्ति के स्वरूप हैं। शक्ति के ये स्वरूप स्वायत्त और असरलीकरण हैं। सामाजिक गतिविधियों के नियम शक्ति गतिविधियों के कानून हैं। समाज में *शक्ति की लालसा* (इच्छा/प्यार) समान रूप से वितरित नहीं है। एक प्रकार से रस्सल का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक है, क्योंकि वह शक्ति को मनुष्य में अन्तरनिहित ऊर्जा मानता है। राजेन्द्र शर्मा के अनुसार, "एक मनोवैज्ञानिक प्रघटना से अधिक, शक्ति सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से संरचित वास्तविकता है। मनुष्य पर शक्ति का हावी होना एक सार्वभौमिक प्रघटना है, और ऐसे ही मनुष्य शक्ति को नियंत्रित करता है, लेकिन, ये मनोवैज्ञानिक लक्षण या अभिप्रेरक नहीं हैं, ये ऐतिहासिक प्रक्रियायें हैं, और मानव सभ्यता की ताकतों और घटनाओं द्वारा संरचित होती है।"

शक्ति के बहुत से स्रोत हो सकते हैं, जैसे वैचारिक, आर्थिक, सैन्य और राजनीतिक। यह भी महत्वपूर्ण है कि एक व्यक्ति शक्ति को कैसे समझता है। शक्ति सामाजिक दृष्टि से एकीकरण का साधन, एक सोपानीय प्रघटना, पारस्परिक व्यवहार का मापदंड और एक बहुआयामी साधारण व मूल्यकारी पहलू हो सकती है। उदाहरण के लिए, शक्ति का उपयोग, संचार, भाषा, ज्ञान संरचनाओं और आधुनिकता की आलोचना के औजार के रूप में किया जा

नोट

सकता है। माईकल फूको ने शक्ति को एक माध्यम और शक्ति प्राविधियों के रूप में समझा है। फूको ने शक्ति की धारणा द्वारा इलाज, विशेषज्ञ सलाह, सामाजिक प्राविधियों, पाठ्यक्रम परीक्षाओं अनुसंधान रपटों, आंकड़े बैंकों, सुधारों के प्रस्तावों आदि के उपयोग/ज्ञान की समीक्षा नई परत (पीढ़ी) के लिए की है।

**भारत में शक्ति और समाज**

भारत में समाज और राजनीतिक व्यवस्था निकट से जुड़ी हुई है। निस्सन्देह, अर्थव्यवस्था राजनीति और सामाजिक प्रस्थिति को प्रभावित करने में एक महत्वपूर्ण कारक है। लेकिन इसकी भूमिका और महत्व कुछ अस्पष्ट व कम प्रभावकारी हैं। भारत में शक्ति दो मुख्य स्रोतों, अर्थात् सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना और राजनीतिक ढांचों से उभरती है। प्रथम में जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र आदि की शक्ति और सत्ता के पदों तक पहुँच में निर्णायक भूमिका रहती है। दूसरे में पंचायती राज संस्थाओं, नगरपालिकाओं, विधान सभाओं और लोक सभा जैसी संस्थाओं द्वारा लोगों को सत्ता की राजनीति के क्षेत्रों में प्रवेश के अवसर प्राप्त होते हैं। इन निकायों के चुनावों के समय राजनीतिक दल प्रथम कतार में रहते हैं।

विशेषत: जाति और क्षेत्र से संबंधित मौलिक भावनाओं को शक्ति के खेल में उभारा/उकसाया जाता है। जाति, वर्ग और शक्ति का जोड़ उन लोगों के हित में काम आता है, जो लोग अपनी जाति/समुदाय, आर्थिक स्थिति और अपने राजनीतिक दल और उसके नेतृत्व के समर्थन का अधिकतम उपयोग कर सकते हैं। शक्ति के समीकरणों के नये स्वरूपों (एन.डी.ए., यू.पी.ए., आदि), दलों के गठजोड़ों (सामाजिक इंजीनियरिंग), और तरकीबों से भारतीय राज्य और संविधान के लचीलेपन का संकेत मिलता है। जाति और वर्ग नए स्वरूपों में प्रकट हुए हैं। नये विरोधाभासों, समायोजन और प्रभुत्व और अधीनस्थता के नये प्रतिमानों के साथ शक्ति, सामाजिक तौर पर आधारित है। राजनीतिक दलों में कटु प्रतियोगिता, गुट, जातियाँ, समुदाय और व्यक्ति, समकालीन भारत में शक्ति/सत्ता की राजनीति को चरितार्थ करते हैं।

### 4. यौन/लिंग भेद (Gender)

पूर्व में मैंने कहा है कि "पितृसत्ता पुरुषों और महिलाओं के बीच सांस्कृतिक रूप में समर्थित जैविकीय-शारीरिक आंतरिक अंतरों को वैधता प्रदान करती है, और वह संसाधनों, अवसरों और प्रतिफलों तथा अधिकारों के लिए असमान पहुँच का आधार बन जाती है। पुरुषों और महिलाओं के बीच प्रस्थिति असमानता एक प्राचीन प्रघटना है, इसको पितृसत्ता और इससे जुड़ी हुई संस्थाओं, यौन पर आधारित श्रम विभाजन तथा विवाह, दहेज, सम्पत्ति और विरासत व अधीनता जैसी संस्थाओं से सम्बल प्राप्त हुआ है।" यह देखा गया है कि पितृसत्ता शक्ति के विभेदीय वितरण तक ही सीमित नहीं हैं, यह उत्पादन के साधनों में भी प्रविष्ट है। उत्पादन प्रक्रिया में पितृसत्तात्मक पद्धति (आवृत्ति) विद्यमान है। विकास के स्वरूप में पुरुष-महिला के विभेद पर आधारित असमानतायें बनी हुई हैं। पुरानी असमानता स्थापित हो चुकी है और इसलिये भारत में पितृसत्तात्मक नियंत्रण अविचल बना हुआ है।

**पितृसत्ता की परिभाषा**

माईकल मान के अुनसार, सामाजिक स्तरीकरण का सिद्धान्त तीन धुरियों से घिरा हुआ है। ये हैं–सामाजिक वर्ग, सामाजिक प्रस्थिति/विचारधारा, और राजनीतिक शक्ति। स्तरीकरण के अन्य पहलू परिस्थितिजनक और गैर-संरचनात्मक हैं। लिंग भेद पर आधारित सम्बन्धों को स्तरीकरण के केन्द्र का भाग नहीं समझा जाता है। परंतु लिंग-भेद सम्बन्ध एक संरचित ढंग से विद्यमान होते हैं। महिलाओं को सामाजिक स्तरीकरण में स्थान उनके परिवार के प्रभु पुरुष से प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में, मान ने स्तरीकरण के पांच प्रमुख क्षेत्रों की पहचान की हैं, जो लिंग भेद को प्रभावित करते हैं और लिंग भेद से प्रभावित होते है। ये हैं–1. व्यक्ति, 2. परिवार व घर, 3. स्त्री-पुरुष के बीच श्रम विभाजन, 4. सामाजिक वर्ग, और 5. राष्ट्र-राज्य। इन विभिन्न 'नाभियों' में से प्रत्येक द्वारा लिंग भेद और स्तरीकरण के बीच सम्बन्ध व्यवस्थित होते हैं। मान यह भी कहते हैं कि लिंगभेद और स्तरीकरण को अब अलग कक्षों में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि स्तरीकरण में लिंग भेद हैं, और भेद स्तरीकृत है। आधुनिक समाज में कोई भी स्तरीकरण सम्बन्ध गैर-लिंग आधारित नहीं है और कमजोर पितृसत्ता के उपरान्त भी, एक अलग प्रकार का लिंग भेद प्रभुत्व विद्यमान है। मान ने एक पितृसत्तात्मक समाज को इस प्रकार परिभाषित किया है–

नोट

"एक पितृसत्तात्मक समाज वह है जिसमें परिवारों के पुरुष-मुखिया सदस्यों में शक्ति (सत्ता) पाई जाती है। जीवन के 'सार्वजनिक' और 'निजी' क्षेत्रों के बीच स्पष्ट भेद भी पाया जाता है। घर के निजी 'क्षेत्र' में, प्रधान-पुरुष के पास कनिष्ठ पुरुषों, सब महिलाओं और बच्चों पर मनमानी सत्ता का अधिकार रहता है। 'सार्वजनिक' क्षेत्र में, स्तरीकरण के अन्य सिद्धान्तों के अनुरूप, पुरुष-सत्ता के बीच सत्ता/शक्ति की भागीदारी होती है। कोई भी महिला किसी भी प्रकार की आर्थिक, वैचारिक, सैन्य या राजनीतिक सत्ता के औपचारिक सार्वजनिक पद को ग्रहण नहीं करती है। वास्तव में महिलाओं को सत्ता के 'सार्वजनिक' क्षेत्र में प्रवेश की इजाजत नहीं दी जाती है। जबकि कई, बल्कि बहुत से पुरुष अपने जीवनकाल में कभी न कभी पितृसत्ताधारी बनने की आशा करते हैं। परंतु कोई भी महिला औपचारिक सत्ता प्राप्त नहीं करती है। घरों के भीतर महिलायें अपने पुरुष सत्ताधारियों को अनौपचारिक रूप से प्रभावित कर सकती हैं और उनकी शक्ति तक यही एक मात्र पहुँच है। पितृसत्ता में निहित स्तरीकरण के दो आधारभूत केन्द्र हैं–1. घर/परिवार/वंशावली और 2. पुरुष यौन का प्रभुत्व। एक वास्तविक समाज में सामाजिक वर्गों और अन्य स्तरीकरण समूहों के सहित इन दोनों का सह-अस्तित्व होता है।"

आगे मान कहते हैं–"यह एक आदर्श प्रकार है। फिर भी यह ऐतिहासिक वास्तविकता से दूर नहीं है।" मान ने 18वीं शताब्दी तक यूरोप सहित प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। तीन विशेषताओं का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है– 1. क्रूरता के विरुद्ध महिलाओं का परम्परागत प्रतिरक्षण, 2. महिलाओं की अनौपचारिक शक्तियां और 3. परिवारों के बीच शोषणकारी स्थान, लेकिन ये पितृसत्ता के बारे में असत्य नहीं है और न इनसे महिलाओं को सामूहिक कदम के लिए आधार प्राप्त हुआ है। पूर्व में इस प्रकार सामाजिक स्तरीकरण द्वि-आयामी था–(*i*) घर/परिवार/वंशावली और पुरुष-यौन का प्रभुत्व, और (*ii*) 'सार्वजनिक' स्तरीकरण केन्द्र (वर्ग, सैन्य अभिजात, आदि)। दूसरा प्रथम से जुड़ा हुआ था, क्योंकि घर/परिवार/वंशावली मुखियाओं के संकलनों का 'सार्वजनिक' क्षेत्र में प्रतिनिधित्व था।

'पुरुष' और 'महिला' के बीच विभाजन जैवी-शारीरिक है; और मूल्य-निष्पक्ष है। जब एक 'पुरुष' को 'मनुष्य' और 'महिला' को 'स्त्री' के नामों से सम्बोधित किया जाता है, तब दोनों के साथ मानव प्राणियों के रूप में उच्च और कमजोर होने के मूल्य का भाव जोड़ा जाता है। फूको और सरीके उत्तर आधुनिकतावादियों ने भाषा और शक्ति के बीच कड़ी को स्वीकार किया है। दोनों ने उत्तर आधुनिकतावाद के औचित्य की आलोचना की है। यदि यह कहा जाता है कि स्त्रियाँ अविवेककारी/अऔचित्यपूर्ण प्रवृत्ति से जुड़ी हैं और मनुष्य विवेककारी/औचित्यपूर्ण प्रवृत्ति से तो इसका आशय यह है कि पुनर्जागरण विचार में दोहरेवाद हैं, और उनको पुरुष/स्त्री के बीच मुख्य दोहरेवाद में देख सकते हैं। यह दोहरावाद समरूपी नहीं है। "स्त्री को सदैव ऐसे परिभाषित किया जाता है, जो मनुष्य नहीं है; वह (स्त्री) 'मनुष्य-शेष' है, उसको उन विशेषताओं द्वारा परिभाषित किया जाता है, जिनका उसमें अभाव है। मूलभूत यौन-भेद अस्मिता, जिसके द्वारा स्त्री की कमजोरी (निम्नता) उत्पन्न होती है, उसको भाषा द्वारा स्थापित किया जाता है और बनाये रखा जाता है।"

भाषा द्वारा स्त्रियों को कहा जाता है कि उनमें वे विशेषतायें होनी चाहिए, जिनके द्वारा वे 'स्त्रीय' रह सकती हैं। इस अर्थ में लिंग और यौन अंतरसंबंधित होते हैं। आज स्त्रीवादी कृतियों (लेखनों में जैविकीय लिंग को थोपित यौन-भेद भूमिकाओं से, भाषायी उपयोग से अलग करने पर बल दिया जाता है। भाषा के उपयोग (अभ्यास) द्वारा व्यक्तित्व अस्मिता और यौन अस्मिता के बीच कड़ी बनाई जाती है। बच्चे अपने प्रारम्भिक जीवन से ही यह जानने लगते हैं। वे अच्छी तरह से 'आदमी व्यक्तित्व' और 'स्त्री व्यक्तित्व' के बारे में सीखते हैं। और व्यक्तित्व केवल जैविकीय लिंग से जुड़ा हुआ नहीं है, बल्कि यह एक विशिष्ट यौन अस्मिता–एक 'स्त्रीय' अस्मिता से जुड़ा हुआ है। यह अस्मिता अतार्किकता/अविवेकपूर्णता है। पुरुष और महिलायें अलग-अलग भाषायें सीखते हैं, यदि एक-दूसरे की भाषा जानते भी हैं तो, स्त्रियाँ पुरुषों की भाषा का उपयोग नहीं करती हैं। मनुष्यों को तार्किकता का स्वरूप माना जाता है और स्त्रियों को भावना, विचार और अतार्किकता का धारक समझा जाता है। पुरुष-स्त्री विभाजन के कारण स्त्रियों के सम्मुख दो अस्वीकारीय विकल्प हैं–1. या तो वे स्त्रियों की तरह बात करें और 'स्त्रीय' बन कर रहें, लेकिन अतार्किक बनकर या 2. वे मनुष्यों की तरह बात करें और तार्किक बनें, परंतु 'अस्त्रीय' रहकर। इस प्रकार, पुरुष-स्त्री दोहराबाद सांस्कृतिक दृष्टि से रचित शक्ति विभाजन है।

नोट

भाषा के नियंत्रण द्वारा मनुष्यों ने न केवल स्त्रियों पर प्रभुत्व स्थापित किया है, बल्कि संसार जिसमें हम रहते हैं, उसके हर पहलू को नियंत्रित किया है। यह दो तरह से किया जाता है–1. ज्ञान-सृजन संस्थाओं में यौनीकरण आधार पर भाषायी तरकीबों द्वारा, और 2. वास्तविक और तार्किक के बीच कड़ी द्वारा। उदाहरण के लिए भारत में स्त्रियों को शिक्षा से वंचित रखा गया था, विशेषत: संस्कृत के अध्ययन से और अन्य समाजों में स्त्रियों को लेटिन भाषा के अध्ययन से वंचित रखा गया था। जॉक दरिदा कहते हैं कि पश्चिम में, *बोली/भाषण* (भाषा) लेखन से उच्च माना जाता है। लेकिन, जब भाष्य या मौखिक कथन एक सामान्य लक्षण बन जाता है, तब वंचित लोग ऐसे विभाजन को चुनौती देते हैं, भाष्य की श्रेष्ठता को धिक्कारते हैं। दूसरे दृष्टान्त में वास्तविक और तार्किक में संबंध है। "पुरुष के दृष्टिकोण से निर्मित अवधारणाओं से एक पुरुष वास्तविकता की रचना होती है; वास्तविक और तार्किक दोनों को पूर्णत: भाषा में परिभाषित किया जाता है।" इस प्रकार, वास्तविकता की पुरुष परिभाषा द्वारा महिलाओं के अनुभवों को छिपाया जाता है, उनको अदृश्य बनाया जाता है। इसका यह भी अभिप्राय है कि महिलायें अक्षम हैं, क्योंकि जो भाषा वे उपयोग में लेती हैं, वह वास्तविकता में पुरुष परिभाषाओं में से निकाली हुई हैं। यह दावा गलत/झूठा है कि 'मनुष्य' शब्द सामान्य है, अर्थात् इसमें पुरुष और स्त्री दोनों के अनुभव का समावेश है। मनुष्यों के अनुभव 'मानवजाति' के न हो कर केवल पुरुषों के हैं। चूंकि पुनर्जागरण, तर्क और तार्किकता, पूर्णत: पुरुष की भाषा में परिभाषित किए गए हैं। 'तर्क का मनुष्य' यौनकृत है, सामान्य नहीं है। सम्पूर्ण सिद्धान्त पर गम्भीर आक्रमण हो रहा है। अब निजी/सार्वजनिक, अतार्किक/तार्किक, मानवीय/पूर्णत: मानवीय क्योंकि सामाजिक प्रघटनायें और स्वरूप आदि सापेक्षित हैं। विभाजन अस्वीकार्य है।

*क्या आप जानते हैं* 'महिला' शब्द यौन को इंगित करता है, और 'स्त्रीय' शब्द स्त्रियों के शोषण की प्रकृति को समझने के लिए मुख्य बिन्दु है।

### लिंग भेद और स्तरीकरण

आज भी पुरुष महिलाओं की जैविकीय कमजोरी के मुद्दे पर बल देते हैं। महिला अव्यवस्थापन को शिक्षा, सरलता, विनम्रता, कठोर परिश्रम और पति के प्रति पत्नी के समर्पण द्वारा नियंत्रित किया जाता है। विवाहित महिलाओं को कुछ विशेष प्रकार की स्वतंत्रताओं से वंचित किया जाता है। यहाँ तक कि उनको अपने ही दहेज और वस्तुओं/सम्पत्तियों से वंचित रखा जाता है। उनको घर की चारदीवारी में रखा जाता है। अधिकतर समाजों में आज भी ऐसी सोच है और बहुत सीमा तक व्यवहार में भी ऐसा होता है। महिलाओं के अधिकारों के बारे में वर्णन बहुत कम दिए गये हैं। उदाहरण के लिए, ई.पी. थोम्पसन की पुस्तक–द *मेकिंग ऑफ इंग्लिश वर्किंग क्लास* में भी, उसके वर्ग विश्लेषण में कमोवेश पूर्णत: पुरुषों के बारे में ही वर्णन है। एरिक होब्सबॉम की एक तात्कालिक कृति में, मध्यम वर्ग की महिलाओं के अनुभवों के बारे में सन्दर्भ मात्र है। केवल थोड़े समय से ही, महिलाओं के योगदान को सकारात्मक अर्थ में मानते हुए, 'घर', 'घर की देखभाल' का विचार उभरकर आया है। 'गृहणी' की ओर भी ध्यान हुआ है कि वह घर और बच्चों को सम्भालकर एक बहुत महत्वपूर्ण कार्य करती है और उसका पति अपनी पत्नी और बच्चों के प्रति कर्तव्य समझकर घर से बाहर धन कमाने जाता है।

घर और घर की देखभाल की धारणा के आने से घरेलू पितृसत्ता की बात मानी जा रही है। सम्पूर्ण संसार में घर में महिलाओं के कार्य की उचित स्वीकृति के अधिकार को बहुत सीमा तक मान लिया गया है। आज महिलायें कार्य के लिए घर से बाहर जाती हैं, अपनी बचत करती हैं, और कमाई पर नियंत्रण रखती हैं। अधिकतर पुरुष महिलाओं के कार्य करने पर विरोध नहीं करते। इन विशेष परिवर्तनों के बावजूद भी पुरुष के कार्य द्वारा यह निर्धारित होता है कि पति-पत्नी कहाँ रहेंगे और कैसे उनका जीवन व्यवस्थित होगा। आर, डब्ल्यू, कोन्नल्ल ने ऐसी परिस्थिति को 'लिंग भेद राज्यों' (प्रबंधों) का नाम दिया है, और हैरिअत ब्राडले ने इसको 'यौनकृत कार्य संस्कृतियाँ' कहा है। महिलाओं के लिए कुछ प्रकार के कार्य 'उचित' समझे जाते हैं और अनौपचारिक बाधाओं व बंधनों से विभिन्न प्रकार के कार्यों (व्यवसायों) से महिलाओं को रोका जाता है।

नोट

विवाह यौनीकृत और असमान श्रम विभाजन है। भारतीय समाज में, पति अपनी पत्नी के कार्यों/गतिविधियों पर नियंत्रण रखना शुरू करता है और उसके बाद अपने कुछ कार्यों को उस पर थोपना शुरू करता है। पति द्वारा पत्नी की मदद करना एक छोटी बात समझी जाती है। यह बात सही है कि आधुनिक तकनीकी से महिला पर शारीरिक श्रम का भार कम हुआ है, परंतु फिर भी यौनीकृत श्रम विभाजन बना हुआ है। अर्द्धकालीन या पूर्णकालीन कार्य के उपरान्त भी 'महिलाओं को पुरुषों के बराबर स्थान नहीं मिल पाया है, क्योंकि पुरुष-पिता के कर्तव्य और घरेलू श्रम में बराबर भागीदारी नहीं करते हैं।

माईकल मान ने प्रभावी ढंग से कहा है कि यौन भेद विभाजन महत्वपूर्ण है, लेकिन फिर भी इनको स्तरीकरण सिद्धान्त के केन्द्र अर्थात् सामाजिक वर्ग, प्रस्थिति और राजनीतिक शक्ति में एकीकृत नहीं किया गया है। जैसा कि इस अध्याय में पहले वर्णन किया गया है–व्यक्ति, परिवार और घर लिंगों के बीच श्रम विभाजन, सामाजिक वर्ग और राष्ट्र-राज्य इन प्रत्येक से प्रभावित होते हैं। निस्सन्देह आधुनिक उद्योग, पुरुषों-स्त्रियों के व्यवसायों में पारस्परिक परिवर्तनीयता, समान प्रजातांत्रिक अधिकार और वयस्क मताधिकार के कारण पितृसत्ता का एक नया स्वरूप उभरा है, इसके बावजूद उद्योग, राजनीति और नागरिक जीवन में, पुरुषों ने महिलाओं पर नियंत्रण करने के नए ढंगों द्वारा 'नव-पितृसत्ता' को जन्म दिया है। यह बात सही है कि महिलायें पुरुषों की तरह 'व्यक्ति' बन गई हैं, परंतु अपने घरेलूता के साथ जुड़ाव के द्वारा वे यौनीकृत व्यक्ति ही हैं। महिलायें अभी भी पितृसत्तात्मक परिवार संगठनों में हैं, वे सामाजिक वर्ग की सदस्य भी हैं और ऐसे वर्ग (जाति) स्तरीकरण से प्रभावित भी होते हैं। इस प्रकार वे भिन्न, परंतु मिले-जुले स्तरीकरण के सोपानों के अंग हैं। उनके व्यवसायों को सार्थक ढंग से एक अकेले पैमाने पर नहीं रख सकते, लेकिन यौन भेद और स्तरीकरण को अब अधिक समय तक अलग-अलग भागों में नहीं रखा जा सकता। "स्तरीकरण अब यौनीकृत है, और यौन स्तरीकृत है।"

**भारतीय समाज में यौन भेद और स्तरीकरण**

लिंग भेद राज्यों' (प्रबंधों) का अभिप्राय, परिवार, कार्य और राज्य से संबंधित गतिविधियों में यौन-आधारित असमानताओं से है। ऐसी संस्थाओं के पुंज में यौन भेद 'पुरुष तर्क' और 'पुरुषत्व' व 'स्त्रीत्व' के विभाजन द्वारा पुनर्जीवित किया जाता है। कोन्नल्ल कहते हैं कि "एक यौनीकृत राज्य (क्षेत्र), एक विशिष्ट सामाजिक सन्दर्भ में वैचारिक और भौतिक प्रवृत्तियों (अभ्यासों) का संग्रह (समूह) है, जिसके द्वारा पुरुषनीयता और स्त्रीनीयता की विभिन्न कल्पनायें (तस्वीरें) तैयार की जाती हैं और उससे यौनीकृत असमानता दृढ़ होती है।" एन. कबीर के अनुसार, भारतीय महिलाओं के लिए यौनीकृत सोपानों द्वारा ज्ञान निर्मित होता है और उसके आधार पर संसाधनों का आवंटन होता है। इसलिये परम्परात्मक अवधारणाओं के 'खण्डन' की आवश्यकता है। कबीर का मत है कि "विचारधारा यौनीकृत व लिंगीकृत दोनों है।" जिस ढंग से जैविकीय अंतर को यौनीकृत असमानता में परिवर्तित किया जाता है, वह वर्ग द्वारा तय किया जाता है। मान के दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए कबीर का मत है कि यौन-कारक स्तरीकरण सिद्धान्त में आवश्यक है। यहाँ तक कि वे प्रस्थितियां, जो महिलायें अपनी उपलब्धियों के द्वारा प्राप्त करती हैं, उदाहरण के लिए शिक्षा और वेतनकारी नौकरियाँ, उनके लिए महिलाओं को पूरा श्रेय न देकर उनके पतियों और उनके परिवारों या प्रगति की ओर अग्रसर महिलाओं के माता-पिता को दिया जाता है। अपने वैयक्तिक लाभों और उपलब्धियों के उपरान्त भी, महिलाओं को द्वितीयक प्रस्थिति ही प्राप्त होती है। इसके अलावा, सब महिलाओं की प्रस्थिति समान नहीं होती। परिवार में महिला सदस्यों में उनकी प्रस्थिति के आधार पर, उनमें प्रस्थिति विभेद किया जाता है।

हमारे समाज में *पुरुष जाति* और *स्त्री जाति* की धारणा अधिक विद्यमान है। महिलाओं के प्रश्न को समझने के लिए नीता कुमार ने चार तरीके सुझाए हैं–1. महिलाओं को मानव *'नजर'* का उद्देश्य (वस्तु) बनाना, 2. महिलाओं को पुरुषों की तरह देखना/समझना, 3. पितृसत्तात्मक, वैचारिक और तार्किक संरचनाओं पर ध्यान आकर्षित करना, और 4. गुप्त व नष्टकारी ढंगों को समझना, जिनके द्वारा महिलायें अपना कार्य करती हैं। कुमार ने 'महिलाओं को प्रजा' (नौकर) की संज्ञा देने की आलोचना की है। कुमार ने मांग की है कि जीवन के सब क्षेत्रों में पुरुषीय, विवेकीय

नोट

और स्वतंत्र व्यक्ति के स्थान पर एक स्त्रीय पहचान स्थापित की जानी चाहिए। स्त्रियों की कमजोर और अधीनस्थ प्रस्थिति के लिए हमारी मूल्य व्यवस्था, संविधान और कानून में खामियाँ, हिंसा, महिलाओं के विरुद्ध जोर-जबरदस्ती (आक्रमण) और अपराध भी उत्तरदायी हैं। भारतीय समाज में महिलाओं की निरंतर निम्न प्रस्थिति के लिए, दहेज, विधवा पुनर्विवाह पर प्रतिबंध और बाल विवाह भी कारक हैं। पितृसत्ता और जाति-वर्ग सोपान के एक साथ होने के परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में सम्बन्धों का यौनीकरण हुआ है।

नगरीय मध्य वर्गों की महिलाओं में शिक्षा और रोजगार से उनकी सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति ऊपर उठी है। रोजगार से अधिक आज महिलायें पुरुष सदस्यों के बराबर, समाज के व्यक्तियों/सदस्यों के रूप में अपनी अस्मिता के लिए स्वायत्तता की मांग कर रही है। नौकरियों में अधिक प्रतिनिधित्व और नागरिक इकाइयों, राज्य की विधान सभाओं और लोक सभा में आरक्षण की मांग भी की जा रही है। पंचायतीराज संस्थाओं और नागरिक इकाइयों में प्रतिनिधित्व की मांग क्रमश: 73वें और 74वें संविधान संशोधनों के अंतर्गत स्वीकार कर ली गई है। राज्य विधान सभाओं और लोक सभा में प्रतिनिधित्व की माँग काफी समय से अधरझूल में है।

आज कुछ महिलाओं ने व्यवसायों और स्वतंत्र आर्थिक कार्यों को भी अपनाया है, लेकिन अधिकतर महिलायें अब भी *द्वितीयक कमाई करने वाली* हैं। यहाँ तक कि महानगरों और बड़े शहरों में भी पुरुषों के बराबर महिलाओं का सशक्तीकरण होना अभी शेष है। भारतीय समाज की व्यापक पितृसत्तात्मक प्रकृति के कारण महिलाओं के *वास्तविक* और *काल्पनिक* चेहरे बने हुए हैं। प्रश्न है कि कैसे दैनिक जीवन में सम्बन्धों, कार्य, निर्णय-प्रक्रिया में, 'यौनीकरण' को कम किया जाए? परिवार और समाज में महिलाओं को पुरुषों की हमदर्दी या दया की आवश्यकता नहीं है। उन्हें आवश्यकता है पुरुषों के समान संसाधनों पर स्वामित्व और नियंत्रण के अधिकार की। महिलाओं के लिए रोजगार, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा सुविधाओं, 'राज्यकरण' और संरक्षण द्वारा प्रदान करना उनकी समस्याओं को ऊपर से नीचे की ओर देखने/समझने का ढंग है। प्रभावकारी सम्पत्ति के अधिकारों द्वारा महिलाओं की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अधीनस्थता को कम किया जा सकता है, और यौनीकृत संबंधों को अधिक समान बनाया जा सकता है। एक संसाधन सिद्धान्त सुधार सिद्धान्त के बजाय अधिक ध्यान योग्य है।

### सजातीयता और संस्कृति

एंथनी गिडेन्स ने सजातीयता और प्रजाति की विस्तार से व्याख्या की है। गिडेन्स के अनुसार "सजातीयता का अभिप्राय सांस्कृतिक व्यवहारों (आवृत्तियों) और दृष्टिकोणों से है, जिनके द्वारा एक समुदाय के लोगों को अलग से पहचाना जाता है। सजातीय समूहों के सदस्य स्वयं को समाज में अन्य समूहों से सांस्कृतिक दृष्टि से अलग मानते हैं, और दूसरे लोग भी ऐसा समझते हैं।" सजातीयता पर आधारित विभेद के प्रमुख लक्षणों में भाषा, इतिहास या वंशज (वास्तविक या काल्पनिक), धर्म और पोशाक के ढंग (शैलियाँ) या सजावट को गिडेन्स ने सम्मिलित किया है। सजातीय विभेद *पूर्णत: सीखे* हुए हैं। अधिकतर आधुनिक समाजों में बहुत प्रकार के सजातीय समूह हैं। आज अनेक समाज बहुसमुदायी समाज हैं, जिनमें कई बड़े सजातीय समूह हैं, जो सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टियों से एक-दूसरे से भिन्न हैं। सजातीय विभेद बहुत कम 'स्वाभाविक'/'प्राकृतिक' होते हैं। साधारणतया, दौलत और शक्ति पर आधारित, असमानताओं और समूहों के बीच विरोध और वैमनस्य से, सजातीय विभेद जुड़े हुए हैं। गिडेन्स ने सजातीय विभाजनों, तनावों और संघर्षों के बारे में निम्न प्रश्न उठाए हैं–

1. सजातीय विभेद प्राय: तनाव और संघर्ष से क्यों जुड़े हुए हैं?
2. सजातीय जलन और भेदभाव का क्या कारण है?
3. प्राय: सजातीय विरोध 'सामाजिक अंतरों' से घिरे हुए रहते हैं?
4. क्या अत्यधिक बहुसमुदायवाद वाले समाजों में असमानता बनी रहेगी?

### अल्पसंख्यकों की अवधारणा

एक अन्य ऐसी ही अवधारणा *अल्पसंख्यकों* की है, क्योंकि साधारणतया, अल्पसंख्यक सजातीय समूह हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टि से, गिडेन्स ने एक अल्पसंख्यक समूह के निम्न लक्षण बताए हैं–

नोट

1. इसके सदस्य अलाभान्वित हैं, क्योंकि अन्य लोग उनके साथ भेदभाव करते हैं।
2. अल्पसंख्यक समूह के सदस्यों की एकता का भाव 'एक साथ होने की भावना' पाई जाती है।
3. अल्पसंख्यक समूह कुछ हद तक भौतिक और सामाजिक रूप में वृहद् समुदाय से विलग रहते हैं।

इन कसौटियों के अलावा यह भी कह सकते हैं कि अल्पसंख्यक समूह हमेशा बहुसंख्यक समुदाय से कुछ सीमा तक सजातीय दृष्टि से भिन्न हैं।

एक अल्पसंख्यक समूह के सदस्य राजनीतिक रूप से महत्वपूर्ण हो सकते हैं, परन्तु सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टियों से ऐसा नहीं भी हो सकता है। उदाहरण के लिए पारसी, जैन, सिख आदि समुदायों के लोग संख्यात्मक दृष्टि से कम हैं परंतु आर्थिक दृष्टि से वे सम्पन्न हैं और शिक्षा व सामाजिक-सांस्कृतिक जागृति की दृष्टि से अन्य समुदायों से आगे हैं। इस प्रकार, एक अल्पसंख्यक समूह की अवधारणा मात्र सांख्यिकीय ही नहीं है, इसकी प्रकृति समाजशास्त्रीय अधिक है।

**सजातीयता की परिभाषा**

सजातीयता पर संवाद का मार्ग (यात्रा) लम्बा है, क्योंकि सांस्कृतिक दृष्टि से सामाजिक दुनिया की यह एक विशिष्ट धारणा है। इस तरह सजातीयता का विचार अन्तर्निहित रूप में परिवर्तनकारी है। सजातीयता सदैव भाषा, धर्म, क्षेत्र और जीवन-शैली जैसे समाज के आधारभूत पहलुओं से संबंधित है। जब सामाजिक जीवन के इन पहलुओं के सन्दर्भ में लोगों में अंतर पाये जाते हैं और उनको उच्च व निम्न या श्रेष्ठ व कमजारे आंका जाता है, तब सजातीय स्तरीकरण एक सामाजिक वास्तविकता के रूप में उभरता है। सजातीय स्तरीकरण के अध्येता सजातीयता के विचार को संगठन/व्यवस्था के संचालन की पद्धति मानते हैं। असमान संघर्षमय सजातीय अनुभागों में सुलह/नरमाई एक निरंतर प्रक्रिया है। इस प्रकार से संरचना और प्रक्रिया सजातीयता के अन्तर्निहित वास्तविक आधार हैं। सही बात तो यह है कि सजातीयता एक महत्व देने का प्रश्न है। किस सीमा तक एक व्यक्ति, भाषा और धर्म जैसी कसौटियों को, लोगों के बीच उच्च और निम्न का भेद करने के लिए, खींच सकता है? यदि एक स्थिति के बहुत कठोर बनने से अगतिशीलता और कठिनाई उत्पन्न होती है तो सामाजिक व सांस्कृतिक शोषण और भेदभाव हटाने के लिए सजातीयता-विरोधी प्रदर्शन और आन्दोलन किए जाते हैं।

सजातीयता सांस्कृतिक क्षेत्रों या संकुलों का एक पुँज है और ये सजातीय समूहों के पर्यायवाची हैं। सजातीय कसौटियों और विभाजनों के आधार पर सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व, विभेद, सीमाओं, इकाइयों/समुदायों की रचना की जाती है। एक ओर तो सांस्कृतिक जुड़ाव देखे जा सकते हैं और दूसरी ओर सजातीय अलगाव के आधार पर विरोध दिखाई देते हैं। इस तरह की परिस्थिति का कारण, सजातीय विभेदों पर आधारित 'मैं'/'हम' की भावना और 'दूसरे' की भावना/कुंठा की जड़ें गहरी होती हैं। सजातीयता के विभिन्न तरीके और औचित्य/तर्क हैं। एक साधारण आदर्शवादी उपागम सजातीयता को समझन के लिए अपर्याप्त है, लेकिन सजातीयता प्रजाति नहीं है। जैसा कि हमने पहले विवेचना की है कि एक प्रजाति प्रदत्त, एक प्राकृतिक/स्वाभाविक सोपान है, जो साधारणतया जैविकीय/शारीरिक धारणा पर आधारित है। जबकि सजातीयता की अवधारणा को सामाजिक सम्बन्ध को प्रकट करने के माध्यम के रूप में देखा जाता है और यह एक अपरिवर्तनीय या स्थिर माध्यम नहीं है। सजातीयकरण एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा वास्तविक परिस्थितियों या सांस्कृतिक ज्ञान-संदर्भ और सजातीय स्तरीकरण की अन्तर्निहित विचारधारा को भी समझ सकते हैं।

अमेरिका में *काले* और *गोरे* लोगों के अध्ययनों का आशय स्तरीकरण और असमानता के 'प्रजातीय' और 'सजातीय' दोनों आयामों से है। स्तरीकरण पहलू से कहीं अधिक सजातीयता का उपयोग अस्मिता की पहचान के साधन के रूप में किया जाता है। यह 'सांस्कृतिक दूसरे' को जानने का ढंग है। *एथनोज*, एक ग्रीक शब्द है, जिसका अर्थ 'लोग' या 'राष्ट्र है। वास्तव में, एथनोज (लोग/राष्ट्र) शब्द का सन्दर्भ, परिस्थितियों की एक कतार से था, जिसमें लोगों के समूह (संगठन) रहते थे और साथ-साथ कार्य करते थे। इस प्रकार एक समाज में सजातीयता और सजातीयकरण, संसाधनों व अवसरों के वितरण और पुनर्वितरण के साधन होते हैं। समूह की अस्मिता की पहचान

नोट

और लाभ की राजनीति के कारण, सजातीयता रोजमर्रा की बहस (संवाद) में एक मुद्दा बन जाती है। सामाजिक स्रोतों से अधिकतम लाभ (हिस्सा) लेने के लिए सामूहिक स्वार्थों (हितों) और कार्यों को सक्रिय किया जाता है। इस प्रकार की स्थिति से सजातीय संघर्ष भी हो सकते हैं। कुछ समाजों में सजातीय खेल के भौंडे स्वरूप के कारण 'सजीतय नरसंहार' भी हुए हैं। 'विशिष्ट सांस्कृतिक लक्षणों' द्वारा परिलक्षित 'समूहता' सजातीयता को परिभाषित करने का एक अन्य तरीका है। आज सताजीयता की यात्रा (मार्ग) में, 'प्रजाति' से 'संस्कृति' और इसके पश्चात् 'सजातीयता' को अवलोकित कर सकते हैं। 'सजातीय समूह' शब्द, 'जनजाति' शब्द का स्थान ले रहा है। क्षेत्रीय भाषायी समूहों को 'राष्ट्रों' या विशिष्ट सांस्कृतिक रचनाओं का नाम दिया जा रहा है। प्रभु समूह के आधिपत्य के आयाम या एक समूह की संख्यात्मक ताकत और एक अन्य लघु भाषायी/क्षेत्रीय समूह के बीच की स्थिति को बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक मिश्रण (स्वरूप) का नाम दिया गया है।

**सजातीयकरण**

एफ. बार्थ ने सजातीय समूहों और सीमाओं को 'सांस्कृतिक सामान', और प्रक्रियायी प्रघटना कहा है। बार्थ ने सजातीयता को अस्मिताकरण की सीमाओं और सजातीय समुदायों के बीच विभेद के साथ जोड़ा है। उनके अनुसार सजातीयता एक भौतिकवादी, व्यक्तिवादी और संकीर्ण साधनात्मक प्रघटना है। राजनीति, निर्णय-प्रक्रिया और उद्देश्यपूर्ति (प्रवृत्ति) में सजातीयता गहरी पैठ जमा चुकी है। सजातीयता और सजातीयकरण के सन्दर्भ में निम्न बिन्दु महत्वपूर्ण हैं–

1. सांस्कृतिक विभेदीकरण
2. भागीदारी (सामूहिक) अर्थ
3. स्थिर या अपरिवर्तनकारी प्रकृति की अनुपस्थिति
4. सामाजिक अस्मिता–सामूहिक और वैयक्तिक।

इस प्रकार सजातीय समूहों को स्वयं-दृष्टि, अन्य लोगों की दृष्टि, और सामूहिक गतिविधियों में भागीदारी द्वारा वर्णित किया जाता है। कुछ विद्वान् सजातीयता को शक्ति और संघर्ष दोनों का स्रोत मानते हैं। इस प्रकार का द्विवाद सजातीयता के एक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रघटना के रूप में इसकी स्थिरता और परिवर्तन का आधार बनता है।

**सजातीय चेतना और संघर्ष**

एक अन्य बिन्दु सजातीय चेतना और संघर्ष से सम्बन्धित है। श्रीलंका सजातीय संघर्ष का एक उपयुक्त उदाहरण है, जहां लिबरेशन टाइगर्स फोर तमिल ईलम (एल.टी.टी.ई.) के नेतृत्व वाले तमिलों, और प्रभु सिंहली समुदाय के नेतृत्व की सरकार के बीच वर्षों (2009 तक) तक सजातीय संघर्ष बना हुआ था। सजातय संकट लगभग तीन दशकों तक रहा। सजातीय संघर्ष की आड़ में आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक मुद्दे देखे जा सकते हैं। एल.टी.टी.ई. के अनुसार सिंहला लोगों की तुलना में तमिलों के साथ भेदभाव किया जाता है। प्रश्न यह है–क्या समाजीतय समूह वर्ग हैं? क्या सजातीय स्तरीकरण वर्ग स्तरीकरण जैसा ही है? क्या एक विशिष्ट सजातीय समूह को एक प्रभु या शासकीय वर्ग और दूसरे को एक अधीनस्थ वर्ग समझ सकते हैं? मई 2009 में सरकारी सेनाओं और एल.टी.टी.ई. के बीच एक लम्बे युद्ध के दौरान, एल.टी.टी.ई. का प्रमुख प्रभाकरण मारा गया। इसके बाद एल.टी.टी.ई. ने हार मान ली, और एक अलग तमिल राष्ट्र की मांग वर्तमान में दब गई है।

उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर इस प्रकार हैं–आज मानव समाज द्विसजातीय और बहुसजातीय। अंतरसजातीय दरारें, प्रतियोगिता और संघर्ष एक सामान्य प्रवृत्ति बन गयी है। धार्मिक, भाषायी और क्षेत्रीय समुदाय के हितों के नाम पर सजातीय मांगे रखी जा रही हैं। सजातीय समुदाय को एक राष्ट्र जैसे प्रस्तुत किया जाता है। हम प्रश्न कर सकते हैं–क्या दलित एक सजातीय श्रेणी हैं? क्या जनजातियाँ सजातीय इकाइयाँ हैं?

बिहार में झारखण्ड आन्दोलन के सन्दर्भ में झारखण्ड राज्य की स्थापना की मांग के द्वारा सजातीयता को क्षेत्रीयता की ओर बढ़ावा दिया जा रहा था। अब प्रश्न है–क्या अब जनजातियाँ मिलकर एक इकाई बन गई हैं, जिसको हम *झारखण्डी* कह सकते हैं। क्या वे अब अपने आपको मुंडा, ओरांव, हो सन्थाल आदि के नाम से नहीं पहचानते?

नोट

झारखण्ड राज्य के निर्माण के उद्देश्य की पूर्ति के बाद आदिवासी आज भी सामाजिक-सांस्कृतिक इकाइयाँ बने हुए हैं, न कि झारखण्ड राज्य की स्थापना से पहले जैसे राजनीतिक दल।

**सजातीयता और वर्ग**

वर्ग स्तरीकरण में सजातीयता के तत्व और सजातीयता में वर्ग के तत्व देखे जा सकते हैं। सजातीय समूहों में आंतरिक और उनके बीच वर्ग विभेदीकरण पाया जाता है। बहुसजातीय समाजों में सजातीयता और वर्ग के बीच पारस्परिक-क्रिया पाई जाती है। अपने हितों और कल्याण की रक्षा और वृद्धि के लिए सजातीय समूहों ने संगठन स्थापित किए हैं। केरल के लोगों ने चेन्नई में अपने ऐच्छिक संगठन बना रखे हैं। दिल्ली में भारत के विभिन्न प्रांतों के अनेक सजातीय संगठन दिखाई देते हैं। पंजाब और पंजाब से बाहर सिख सजातीयता सर्वविदित है। असम में, असमी और बंगाली सजातीय अस्मिताओं को प्रतियोगी सांस्कृतिक और राजनीतिक शक्तियों के रूप में देखा जा सकता है। अकाली, झारखण्ड, गोरखालैंड, बोडोलैंड, असम, तेलंगाना, उत्तरांचल, लिंगायत, श्री वैष्णव, भगत और दलित आन्दोलन किसी न किसी तरह से सजातीय खेल में पैठ किए हुए हैं। यह प्रश्न इन आंदोलनों के ऊपरी या वास्तविक उद्देश्यों का नहीं है। इन सब आन्दोलनों में, 'समुदाय' या 'सजातीयता' को, नेतृत्व द्वारा घोषित कारण और उद्देश्य को समर्थन और मजबूती देने हेतु और लोगों को लाभबन्द करने के लिए उपयुक्त समझा था।

उपरोक्त उदाहरणों के आधार पर हम पूछ सकते हैं कि क्या सजातीयता को जाति, वर्ग और शक्ति की तरह, सामाजिक स्तरीकरण का एक महत्वपूर्ण आयाम मान सकते हैं? हमारे विचार में एक सजातीय समूह जाति और वर्ग की तरह एक स्तरण है। इसलिए इसका संरचनात्मक आधार है, क्योंकि वह एक समाज में लोगों का एक समूह है। इसके अतिरिक्त सजातीयता एक सांस्कृतिक प्रघटना भी है, क्योंकि उसकी *भावनाओं* में गहराई है, जिसको लोग समान विरासत और विशिष्ट समान लक्षणों के आधार पर मानते हैं।

जाति और सजातीयता के बीच अंतर पाया जाता है, क्योंकि जाति जन्म पर आधारित है, इसलिए अपरिवर्तनीय या स्वाभाविक होती है। सजातीयता प्रदत्त भी हो सकती है और एक सजातीय समुदाय में सदस्यता जन्म द्वारा भी निर्धारित हो सकती है, भाषा, धर्म, जीवन-शैली, आदि भी उसी तरह निर्धारित हो सकते हैं। लेकिन सजातीयता, भाषा, धर्म, आदि में परिवर्तन द्वारा परिवर्तनकारी भी है। लोग अपनी जगहों से दूर-दराज के स्थानों पर जाकर बस जाते हैं और वहां पर नयी भाषा व संस्कृति को सीखते हैं और अपनाते हैं। इस प्रकार उनकी सजातीयता भी परिवर्तित हो जाती है। इसका सबसे उपयुक्त उदाहरण अमेरिका है, जहां संसार के विभिन्न भागों से आकर लोग रहते हैं और भाषा संस्कृति में भागीदार बनते हैं। इस प्रकार परिस्थितिजनक कारक सजातीय प्रस्थिति और शक्ति को परिवर्तित कर सकते हैं।

**सजातीयता और शक्ति**

सजातीयता के वृहद् और संकीर्ण दोनों अर्थ निहित हैं। वृहद् सजातीय रचनाओं के उदाहरण हैं–अंग्रेज, जापानी, हिन्दू, मुसलमान आदि। बोडो, सन्थाल, मणिपुरी या अन्य पूर्व–विचारित इकाइयाँ संकीर्ण सजातीय रचनाओं के उदाहरण हैं, जो वास्तव में सजातीय श्रेणियाँ न होकर सजातीय भ्रांतियां अधिक हैं। क्षेत्रीय इकाइयों को एक सजातीय ढंग से प्रकट करना भी आम बात हो गई है। इसके उदाहरण उड़िया, तमिल, तेलुगू, असमिया, मराठी, गुजराती आदि हैं। हमें आज आवश्यकता सजातीयता के समाजशास्त्र और सजातीयता की राजनीति के अध्ययन की है। इन दोनों को एक-दूसरे से अलग रखकर अध्ययन किया जा सकता है, और यह भी है कि दोनों एक ही वास्तविकता की अंतर-संबंधित प्रघटनायें भी हैं।

'भूमि पुत्र' आन्दोलन (आजकल शिव सेना और उससे अलग हुए समूह के नेतृत्व में एक आन्दोलन महाराष्ट्र में है), धर्म परिवर्तन, प्रवसन, क्षेत्रीयता, दोहरा श्रम बाजार, सजातीय श्रम विभाजन (उदाहरण के लिए, असम और पंजाब में) द्वारा आर्थिक और राजनीतिक हितों व अपेक्षाओं, विभाजनों (दरारों) और झगड़ों का सजातीयकरण तेजी से बढ़ा है।

नोट

जहां तक सजातीयता को सामाजिक विरोध और सामाजिक आलोचना के साधन के रूप में नैतिक व राजनीतिक तार्किकता के साथ और आलोचनात्मक भावना, पुनर्जागरण, आदि को शामिल करके उपयोग में लिया जाता है, तो वह उचित है। जब सजातीयता नये प्रस्थिति खोजने वालोंऔर चोटी पर चढ़ने वालों के हाथों में एक साधन बन जाती है, तब वह निहित स्वार्थों के हाथों में एक स्रोत का रूप धारण कर लेती है। आवश्यकता यह है कि हम किसी भी सजातीयकृत क्रिया/आन्दोलन/विरोध-प्रदर्शन में मूल्यों व मानकों, नेताओं व अनुयायियों और अंतरक्रियावाद की प्रकृति को समझने का प्रयास करें। सजातीयता के पीछे छिपी ताकतों और उसके प्रति-विरोध द्वारा भी सजातीयकरण के मुद्दों व उद्देश्यों के असली स्वरूप को समझा जा सकता है।

## प्रजाति

अधिकतर आधुनिक समाजों में अनेक सजातीय व प्रजातीय समूह पाए जाते हैं। भारत, अमेरिका, इंग्लैण्ड, कनाडा, आदि *बहुसुदायी समाज* हैं। आर्थिक और राजनीति दृष्टि से एक विशिष्ट समाज में सजातीय ओर प्रजातीय समूहों के कार्य एक जैसे हो सकते हैं, यद्यपि सांस्कृतिक दृष्टि से आमतौर पर वे एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, लेकिन वास्तव में सजातीय व प्रजातीय विभेदों द्वारा शक्ति व दौलत पर आधारित असमानतायें, तनाव व झगड़े, तथा वैमनस्यता व भेदभाव को भी हम देख सकते हैं। सजातीय और प्रजातीय अल्पसंख्यक भी हैं, व इसलिए उनको अवसरों व प्रस्थिति पदों के लिए समान पहुँच प्राप्त नहीं हो पाती। सजातीय और प्रजातीय कारणों पर आधारित भेदभाव अति-औद्योगिक व कम-औद्योगिक दोनों तरह के समाजों में पाया जाता है। लेकिन सजातीय और प्रजातीय अल्पसंख्यक समूह आवश्यक तौर पर आर्थिक व सामाजिक दृष्टि से पिछड़े नहीं हैं। भारत में कुछ सजातीय समूह अल्पसंख्यक तो हैं, परंतु वे आर्थिक दृष्टि से बहुसंख्यक समूहों से बहुत आगे हैं। उदाहरण के लिए, ईसाई और सिख समुदाय अपने-अपने क्षेत्रों में आर्थिक दृष्टि से प्रायः अन्य लोगों से बेहतर हैं।

### प्रजाति की परिभाषा

साधारणतया यह माना जाता है कि जैविकीय आधार पर लोगों को विभिन्न प्रजातियों में विभाजित किया जा सकता है। कुछ मानवशास्त्रियों ने लोगों को चार या पांच श्रेणियों में विभक्त किया है। ये वर्गीकरण मुख्यतः शरीर के रंग, बालों की बनावट, शरीर रचना आदि पर आधारित हैं। वंशानुक्रमण अध्ययन विज्ञान द्वारा यह प्रमाणित किया जा चुका है कि ये केवल काल्पनिक अनुमान है, वैज्ञानिक दृष्टि से वैध आधार नहीं है। जनसंख्या अन्तर्निहित जन्म वृद्धि और लोगों के बीच सम्पर्क सीमा द्वारा लोगों में शारीरिक अंतर उत्पन्न हो सकते हैं। जनसंख्या के एक अनुभाग में अनेक तरह के शारीरिक लक्षण हो सकते हैं। मनुष्यों में आंशिक रूप से ये अंतर जन्म पर आधारित हैं, परंतु प्रायः ऐसे अंतर सामाजिक भेदभाव और ईर्ष्या (वैमनस्यता) के लिए उपयोग में लिए जाते हैं। एंथनी गिडेन्स के अनुसार "इसलिए, प्रजातीय विभेदों को *शारीरिक अंतर समझना चाहिए* जो एक समुदाय के सदस्यों में दिखाई देते हैं या समाज उनको *सजातीय दृष्टि से महत्वपूर्ण* मानता है।" 'प्रजाति' से अधिक 'प्रजातिवाद' का उपयोग व्यक्तित्व के हस्तान्तरित लक्षणों के झूठे दावे के द्वारा किया जाता है।

भौतिक मानवशास्त्रियों ने जनसंख्या के विभिन्न अनुभागों के शारीरिक लक्षणों पर आधारित प्रजाति के प्रश्न का विस्तार से अध्ययन किया है। मानवशास्त्री ए.एल. क्रोबर के अनुसार, "प्रजाति एक वैध जैविकीय अवधारणा है। यह वंशानुक्रमण द्वारा संगठित समूह है, एक वंश या वंशानुगत दबाव या मानव उपजाति है।" क्रोबर यह भी कहते हैं कि प्रजाति एक वैध सामाजिक-सांस्कृतिक अवधारणा नहीं है और न ही इसका उपयोग सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों में किया जा सकता है। सब मानव प्राणी एक तरह के जीव हैं, वे कैसे विभिन्न प्रकार बने हैं, यह अभी तक जानकारी में नहीं है।

### प्रजातियों का वर्गीकरण

विभिन्न प्रजातियों के वर्गीकरण निश्चित लक्षणों के आधार पर किए गये हैं। इनमें मुख्य हैं–शरीर का ढांचा, लम्बाई, सिर का स्वरूप या सिर की लम्बाई और चौड़ाई का अनुपात, नाक का स्वरूप, नाक की चौड़ाई और लम्बाई का सम्बन्ध जबड़े का स्वरूप, या जबड़ों का बाहर निकला हुआ भाग, खोपड़ी की क्षमता, बालों का स्वरूप, शरीर पर

नोट

बाल, बालों का रंग और आंखों का रंग, कूल्हों का भारीपन, या कूल्हों का मांस का जमा होना, आदि। प्रजातियों की तीन मुख्य श्रेणियां हैं–1. कॉकासियन, कॉकासोइड या यूरोपोइड (श्वेत प्रजाति), 2. नीग्रोइड (अश्वेत लोग), 3. मंगोलोइड (पीले रंग के लोग)। इन तीनों को 'श्वेत', 'काले', और 'पीली' प्रजातियों के नाम से भी जाना जाता है। ये तीनों प्रमुख समूह दुनिया के सब राष्ट्रों और जनजातियों का 90 प्रतिशत से अधिक भाग हैं। इन तीन समूहों की हर इकाई में अनेक प्राकृतिक विभाजन हैं। प्राथमिक श्रेणियाँ और प्रजातियाँ निम्न हैं–

1. *'श्वेत' प्रजातियाँ*
   - नोरडिक
   - अलपाइन
   - मेडियेटरनियन
   - हिन्दू
2. *'पीली' प्रजातियाँ*
   - मंगोलियन
   - मलयेशियन
   - अमेरिकन इंडियन
3. *'काली' प्रजातियाँ*
   - नीग्रो
   - मेलोनेशियन
   - पिगमी ब्लैक
   - बुशमैन
4. *संदिग्ध वर्गीकरण*
   - ऑस्ट्रालोइड
   - वड्डोइड (इंडो–ऑसट्रल)
   - पोलीनेशियन
   - आइन

कुछ विशेष शारीरिक लक्षणों पर आधारित विभिन्न वर्गीकरणों के विश्लेषण के बाद, क्रोबर अपने मत पर पुन: जोर देते हुए कहते हैं कि 'प्रजाति' शब्द, जैविकीय सन्दर्भ में उपयोग में लिया गया है, जो एक समूह की रक्त पर आधारित एकता या वंशानुक्रमण को इंगित करता है। एक प्रजाति मानव जाति का एक उपभाग है और घरेलू पशुओं में एक वंश (शाखा) के अनुरूप होता है। आमतौर पर इस शब्द को एक अलग अर्थ में उपयोग में लिया जाता है, अर्थात् उस जनसंख्या के लिए, जिसमें कोई भी सामान्य लक्षण पाए जाते हैं,चाहे वे वंशानुगत हैं या गैर–वंशानुगत जैविकीय है या सामाजिक–सांस्कृतिक, शारीरिक हैं या शारीरिक से परे हैं। इस प्रकार क्रोबर भी अपनी प्रजाति की पारम्भिक परिभाषा में सामाजिक–सांस्कृतिक लक्षणों को सम्मिलित करके उसका विस्तार करते हैं। परंतु, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि फ्रेंच प्रजाति, एंग्लो–सेक्शोन प्रजाति, जिप्सी प्रजाति, यहूदी प्रजाति आदि नाम देना सही नहीं है।

## जाति और प्रजाति की तुलना

एक तात्कालिक अध्ययन में, क्रिस स्माजे ने, 'जाति' और 'प्रजाति' दोनों को प्राकृतिक (स्वाभाविक) सोपान माना है, अर्थात् लोगों को, अद्भुत प्रकार के व्यवस्थित संगठनों में विभाजित किया जा सकता है, लेकिन जाति और प्रजाति एक जैसी नहीं हैं, दोनों में अंतर और समानतायें हैं। दोनों संस्थाओं में निम्न तीन सामान्य बिन्दु पाए जाते हैं–

1. व्यक्तियों और वस्तुओं के बीच पृथकता या अस्मिता;
2. ब्रह्माण्ड व्यवस्था की अवधारणायें और उनका सांसारिक विभिन्नता से सम्बन्ध, विशेषत: राजनीतिक सीमाओं के सन्दर्भ में; और
3. व्यक्तियों का चरित्र और उनकी 'विशेषता'।

जाति और प्रजाति दोनों द्वारा सामाजिक प्रक्रियाओं के सन्दर्भ में कुछ तनाव और झगड़े उत्पन्न होते हैं। दोनों संस्थायें मूलत: समतावाद के विरुद्ध हैं। साज विज्ञान सिद्धान्त और अवधारणायें जाति और प्रजाति की सामाजिक–सांस्कृतिक सीमाओं से भी स्वतंत्र हैं। प्रजाति के भौतिक/शारीरिक लक्षणों के सामाजिक परिणाम होते हैं।

स्माजे प्रजाति को मुख्यत: शारीरिक लक्षणों से जोड़कर नहीं देखते, बल्कि स्माजे ने राजनीतिक विचारधारा और यूरोप के औपनिवेशिक विस्तार के बीच विशिष्ट सम्बन्ध की दृष्टि से प्रजाति को समझा है। प्रजाति सामाजिक प्रघटनाओं का एक वृहद् वर्ग माना जा सकता है, जिनको हम *सारगर्भित असिमतायें* कह सकते हैं। स्माजे इस विचार के विरुद्ध

नोट

हैं कि कुछ वास्तविक व यथार्थवादी विशेषता या विशेषतायें हैं, जिनके आधार पर कुछ लोगों को अन्य लोगों ने निस्सन्देहता और स्पष्टता द्वारा विभेदीकृत किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में स्माजे लोगों के समूहों को प्राकृतिक (स्वाभाविक) लक्षणों द्वारा परिभाषित करने के विचार के विरुद्ध हैं। प्रजाति में व्यक्तियों के बीच एक प्रकार के सम्बन्ध अन्तरनिहित हैं। इन सम्बन्धों को "प्रजाति" की अवधारणा द्वारा प्रतीकात्मक या सांकेतिक किया जाता है। प्रजाति श्रेणियों या तरकीबों का बोध कराती है, जिनके द्वारा सामूहिकता की विशिष्ट धारणायें निर्मित होती हैं। इस प्रकार स्माजे के अनुसार, प्रजाति एक प्रदत्त 'प्राकृतिक' लक्षण नहीं है, यह एक सम्बन्ध का विचार है, जिसकी उत्पत्ति एक विशिष्ट ऐतिहासिक या सामाजिक सन्दर्भों में होती है और प्राय: इसमें किसी तरह का अलगाव या भेदभाव पाया जाता है। वास्तव में कई समाजों में 'प्रजातिवा' विद्यमान है और प्रजाति के विचार के अर्थों को पूर्णत: समझे बिना यह वास्तविकता पाई जाती है।

कनन मलिक के अनुसार, "प्रजाति की अवधारणा केवल एक प्रघटना या सम्बन्ध का प्रकटन नहीं है। बल्कि यह एक माध्यम है, जिसके द्वारा मानवता, समाज और प्रकृति के बीच परिवर्तनकारी सम्बन्ध को विभिन्न तरीकों द्वारा समझा गया है।" प्रजाति की इस परिभाषा को स्माजे ने प्रश्नचिह्नित किया है, क्योंकि यह सामाजिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में *अपरिवर्तनकारी* माध्यम है, और सामाजिक सम्बन्ध निरंतर परिवर्तनकारी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मलिक के विचार में, 19वीं सदी में प्रजातिवाद असमानता के औचित्य के रूप में उभरा था और 19वीं सदी में ही समतावाद को बढ़ावा दिया गया था। प्रजातिवाद को 17वीं सदी में, श्रमिकों को गुलाम बनाने के लिए उपयोग में लिया गया था। प्रजाति पर समकालीन संवाद से स्पष्ट है कि अनेक तरह के 'प्रजातिवाद' रहे हैं। लुई ड्यूमो के अनुसार प्रजातिवाद प्रस्थिति पर आधारित भेदभावों के प्रति मात्र एक अन्तरनिहित मानव प्रवृत्ति है। ड्यूमों से पूर्व, गुन्नार मिरडल ने कहा है कि उदाहरण के लिए अमेरिका में प्रजातिवाद का उपयोग गुलामी का दूसरा नाम है। दुर्भाग्यपूर्ण शब्द 'प्रजाति' का उपयोग सब लोगों को स्वतंत्रता और अवसर की समानता के अक्षुण्ण अधिकारों से वंचित रखने के लिए किया जाता है। प्रजातीय पूर्वाग्रह समानतावाद का विकृत रूप है, जबकि ऊपरी तौर पर समानतावाद अमेरिका का राष्ट्रीय धर्म है।

पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था में प्रजातीय सोपान और व्यक्तिवादी समतावाद एक सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवस्था के दो विपरीत स्तम्भ हैं। एक निरपेक्ष राजनीतिक व्यवस्था में प्रजातिवाद की निरन्तरता से आधुनिक संसार में एक विरोधाभासी परिस्थिति का संकेत मिलता है। मिरडल ने विश्लेषण किया है कि कैसे जैविकीय प्रजातिवाद एक सामाजिक सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था के वंचनों और भेदभावों में परिवर्तित हुआ है।

*टास्क* सजातीयता और वर्ग में क्या संबंध है।

## प्रजातिवाद

यूरोप में 1800–1815 के आसपास 'प्रजातीय मानसिकता' उभर कर आई। यहूदियों के प्रति द्वेषतापूर्ण मनोवृत्तियों ने नये विश्वासों को जन्म दिया। विज्ञान और तर्क में विश्वास द्वारा धार्मिक रूढ़िवादिता का विरोध किया गया। यहूदियों को एक 'प्रजाति' का नाम दिया गया था और उनमें दुर्गन्ध, वंशानुगत बीमारियों, गुप्त रोगों और अन्य घृणित दुर्गुणों का उल्लेख किया जाता था। जर्मन राष्ट्रवाद और नाजीवाद में अभिमान की भावना के परिणामस्वरूप प्रजातीय कानून बनाये गये। 19वीं सदी में जर्मनी, फ्रांस और अन्य यूरोपीय देशों में प्रजातीय अवधारणायें और रूढ़ियां वहां के दार्शनिक और धार्मिक विचार में प्रवेश कर गईं। वास्तव में इस तरह राष्ट्रवाद और प्रजातीयवाद के बीच में निकट संबंध है। ईसाइयों और यहूदियों के बीच वैमनस्यता सर्वविदित है, क्योंकि दोनों सभी क्षेत्रों में प्रतियोगी रहे हैं। उच्चता–निम्नता की सोच से दोनों समुदाय ग्रसित रहे हैं।

नोट

प्रजातिवाद के समर्थकों का मत है कि 'प्रजाति' सर्वव्याप्त ऐतिहासिक रहस्यों की एक प्रकार की जादुई कुंजी है। "सब प्रजाति हैं, इसके अलावा अन्य कुछ सच नहीं है और प्रजाति इतिहास की कुंजी है।" ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस में, शक्तिशाली आर्थिक शक्तियों (हितों) ने यह धारणा फैलाई कि 'रंगवाली प्रजातियाँ' जन्म से ही कमजोर थीं। पूँजीवादी हितों और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं अर्थात् प्रजातिवाद के बीच एक कड़ी बनाने का प्रयास किया गया था। यहाँ तक कार्ल मार्क्स और सिगमंड फ्रायड की कृतियों में प्रजातीय सोच के बारे में उल्लेख देखे जा सकते हैं। पीटर रोब्ब के अनुसार, "प्रजाति की अवधारणा में लोगों के एक जैसे समूहों को सम्मिलित कर सकते हैं, जिससे उनमें अंतरनिहित, स्थानान्तरणीय, निरंतर या भविष्यकारी लक्षण प्रदर्शित किया जा सके, और जिसका इस प्रकार एक जैविकीय या अद्ध-जैविकीय आधार हो सके।" प्रजाति सिद्धांत विभिन्न प्रकारों का हो सकता है, जिसमें जीव विज्ञान, इतिहास या समाजों के बारे में विभिन्न जानकारियां प्राप्त हो सकती हैं। "प्रजाति के विचार की मनुष्यों पर क्रियान्वित इस प्रक्रिया (आधारभूतवाद) का एक स्वरूप है।" "प्रजातिवाद घटित होता है, जब सामान्यकरणों में से लक्षणों को मान लिया जाता है, और वे प्रमाणीकरण योग्य नहीं होते हैं। इसके महत्वपूर्ण मापदण्डों में परिवर्तनकारिता या बहुतायत की सीमाओं के अस्तित्व को श्रेणियों (प्रजातियों) में मान लिया जाता है और उनकी बाहरी सीमाओं की अनिश्चितता को भी स्वीकार कर लिया जाता है, लेकिन इन सब बिन्दुओं के उपरान्त भी पूर्व वर्णित जैविकीय उत्पत्तियों और लक्षणों के अनुसार, प्रजातिवाद में *श्रेणीकरण* निहित है।"

**प्रजाति और भारतीय समाज**

प्रश्न यह है कि किस सीमा तक जीव विज्ञान को *आवश्यक* (आधारभूत) समझा जा सकता है? भारतीय समाज के सन्दर्भ में चमड़ी का रंग, जन्म, यौन सम्बन्ध, आदि को अर्द्ध-प्रजातीय भेदभाव और रूढ़िवादिता का आधार माना गया था। *वर्ण* सोपान में प्रजातिवाद बहुत सीमा तक परिलक्षित हुआ है। लेकिन, यह कहना कठिन है कि वर्ण पूर्णतया या स्पष्ट रूप से जैविकीय थे। *म्लेच्छ* को प्रजातीय तौर पर दागी (अयोग्य) समझा जाता था। 'अस्पृश्यता' में भी, समुदाय में से कुछ समूहों को *अलगाव* द्वारा प्रजातीय तत्वों को देखा जा सकता है। धर्म की हिन्दू धारणा में प्रदत्त भूमिकाओं के रूप में प्रजातिवाद को देखा जा सकता है। इस प्रकार एक अर्थ में, 'वंशावली', 'रक्त', 'जन्म', 'जाति', 'वर्ण' आदि यद्यपि 'प्रजाति' से भिन्न हैं, फिर भी, 'प्रजाति' और 'प्रजातिवाद' की अवधारणाओं के कुछ तत्वों को परिलक्षित करते हैं। धार्मिक अस्मिताओं में भी प्रजातीय तत्व एक अर्थ में दिखाई देते हैं।

एक महत्वपूर्ण बिन्दु है–"जाति का प्रजाति से सम्बन्ध का प्रश्न केवल यह नहीं है कि क्या समूह वास्तव में प्रजातीय तौर पर अलग है, परंतु यह है कि जाति और जाति-जैसी परिस्थितियों में, यहाँ तक कि बहुत सीमान्त संकेतों में भी प्रजातीय विभेद करने की कुछ प्रवृत्ति दिखाई देती है।" यह क्यों होता है कि *परिया* समूह उसी प्रकार के धंधों में कार्यरत् हैं? क्यों चर्मकार, चमड़े का सामान बनाने वाले और कसाई प्रायः परिया समूहों के सछसय ही होते हैं? इस प्रकार का भेदभाव और अलगाव जाति और प्रजाति दोनों में व्याप्त है, लेकिन जाति समायोजनकारी, परिवर्तनकारी और तार्किक व्यवस्था रही है, इसलिए उसमें जैविकीय या अर्द्ध-जैविकीय तत्वों का महत्व बहुत नहीं है, जितना अधिक उनका महत्व प्रजाति में है। फिर भी, भारतीय समाज में एक प्रदत्त तत्व के रूप में जन्म महत्वपूर्ण बना हुआ है।

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. सही विकल्प चुनिए (Choose the correct option)–**

1. 'एन इन्क्वायरी इनटू द नेचर एंड कॉलेज ऑफ द वेल्थ ऑफ नेशन्स' किसका निबंध है–

(क) कार्ल मार्क्स (ख) मैक्स वेबर (ग) एडम स्मिथ (घ) इनमें से कोई नहीं।

2. समाज को वर्गों के रूप में किसने विभाजित किया है–

(ख) एडम स्मिथ (ख) कार्ल मार्क्स (ग) फ्रेडरिक एन्जिल्स (घ) इनमें से कोई नहीं।

नोट

3. किसने कहा है कि आर्थिक संसाधनों पर नियन्त्रण के तीन आयाम हैं, जिनके द्वारा प्रमुख वर्गों को चिह्नित किया जा सकता है–

(क) मैक्स वेबर (ख) एरिक ओलिन राइट (ग) मैक्स वेबर (घ) इनमें से कोई नहीं।

4. सामाजिक बंद अवस्था में किन प्रक्रिया का समावेश है–

(क) अलगाव (ख) अतिक्रमण (ग) क और ख दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।

5. एक प्रस्थिति समूह का उत्तम उदाहरण है–

(क) जाति (ख) वर्ग (ग) सजातीयता (घ) इनमें से कोई नहीं।

6. किस समाजशास्त्री ने शक्ति और प्रभुत्व के बीच एक स्पष्ट अंतर किया है–

(क) कार्ल मार्क्स (ख) पैरेटो (ग) वेबर (घ) इनमें से कोई नहीं।

7. पैरेटो ने अभिजात को कितने प्रकारों में विभाजित किया है–

(क) दो प्रकारों (ख) तीन प्रकारों (ग) चार प्रकारों (घ) इनमें से कोई नहीं।

8. किसके अनुसार सामाजिक स्तरीकरण का सिद्धांत तीन घुरियों से घिरा हुआ है–

(क) पैरोटो के (ख) माइकल मान के (ग) वेबर (घ) इनमें से कोई नहीं।

9. सजातीयता और प्रजाति की विस्तार से व्याख्या की है–

(क) एंथनी गिडेन्स ने (ख) एक बार्थ ने (ग) माईकल मान ने (घ) इनमें से कोई नहीं।

10. विभिन्न प्रजातियों के वर्गीकरण किन लक्षणों के आधार पर किये गये हैं–

(क) शरीर का ढांचा (ख) लम्बाई (ग) सिर का स्वरूप (घ) उपयुक्त सभी।

## 13.2 सारांश (Summary)

- सामाजिक स्तरीकरण बहुमुखी और बहुकारकीय प्रघटना है। चूंकि 'जाति मॉडल' अपर्याप्त है, इसलिए एक बहुआयामी उपागम, जाति, वर्ग और शक्ति के समावेश के साथ, सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन के लिए लाभदायक है। सामाजिक स्तरीकरण के सांस्कृतिक आयाम की तुलना में आज संरचनात्मक कसौटियाँ कहीं अधिक प्रचलित हैं। यद्यपि सामाजिक असमानताएँ निरंतरित हैं, परंतु साथ-साथ बदलाव और नये सोपान भी उभर रहे हैं। बदलावों के परिणामस्वरूप आज सामाजिक असमानताओं में कमी आई है। जाति, वर्ग और शक्ति को अलग-अलग क्षेत्र मानकर व्याख्या करने के बजाय वैज्ञानिक जोश के साथ जाति-वर्ग-शक्ति के जुड़ाव को अवधारणाकृत करने की आवश्यकता है।
- सामाजिक स्तरीकरण का सम्बन्ध समाज के विभिन्न अनुभागों, परिवारों और व्यक्तियों के बीच विभेदों और दूरियों से बना हुआ है। मात्र विभेद ही स्तरीकरण का आधार नहीं है। विभेदों के सोपानीकरण से भी सामाजिक असमानतायें उत्पन्न होती हैं। लोगों में अपने सम्बन्धों को सोपानीकृत करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसकी यथा वैधता के साथ, वास्तविक जीवन में प्रकटन व प्रचार द्वारा, स्थापित पद-स्थान को बरकरार रखते हुए, प्रस्थिति और शक्ति के नये क्षेत्रों में पहुँचकर प्रयास किया जाता है। इस तरीके से स्तरीकरण उभरता है। इस प्रकार सामाजिक स्तरीकरण में विभेदों और सोपान के सम संतुलन का समावेश पाया जाता है। दोनों विभिन्न मिश्रणों में पाये जाते हैं।
- मैक्स वेबर 'वर्गों' को समुदाय नहीं मानते हैं; वर्ग मात्र संभावित और निरंतर सामुदायिक क्रिया का प्रतिनिधित्व करते हैं। वेबर के अनुसार, एक 'वर्ग' तब पाया जाता है, जब (अ) बहुत से लोगों के पास अपने जीवन अवसरों में एक जैसा विशिष्ट कार्य-कारण तत्व होता है, और जहां तक हो सके, (ब) यह तत्व, पूर्णत: आर्थिक हितों का, सम्पत्ति (सामान) के स्वामित्व और आय के अवसरों द्वारा प्रतिनिधित्व करता है, और (स) यह तत्व वस्तु (पदार्थ) या श्रम बाजारों की अवस्थाओं के तहत कार्य करता है।

नोट

- साधारणतया सभी समाज, उच्च, मध्यम, और श्रमिक (निम्न) वर्गों में दौलत, आय, और सामाजिक संसाधनों तक पहुँच के आधार पर विभाजित हैं, लेकिन इनमें से कोई भी वर्ग अविभेदीकृत और समरूपी इकाई नहीं है। आंतरिक रूप में, वे उच्च, मध्यम, निम्न मध्यम, उच्च श्रमिक और निम्न श्रमिक वर्गों में विभेदीकृत हैं। वर्ग स्वसोच का भी मुद्दा है। ब्रिटेन में, एक अध्ययन के अनुसार लोग अपने आपको उच्च मध्यम, उच्च श्रमिक, स्थिति के बारे में वैयक्तिक दृष्टि से सोचते हैं, जबकि उनकी प्रस्थिति सम्पत्ति, दौलत, व्यवसाय, आय आदि वस्तुपरक कारकों पर आधारित है।
- वर्गों के विपरीत, प्रस्थिति समूह प्राय: समुदाय हैं और साधारणतया अस्पष्ट या शक्लविहीन होते हैं। 'वर्ग परिस्थिति' के विपरीत, वेबर ने 'प्रस्थिति परिस्थिति' के अस्तित्व का उल्लेख किया है, जो एक प्रदत्त सम्मान के सामाजिक माप (मूल्यांकन) पर आधारित होता है और वह एक विशिष्ट सकारात्मक या नकारात्मक प्रकार का होता है।
- लेकिन यदि एक 'प्रस्थिति' भेदभाव, 'जाति' का रूप धारण कर लेती है तो फिर वह अपनी संरचना में मात्र एक 'सजातीय' भेदभाव से भिन्न होता है। जाति विभिन्न जाति समूहों के बीच उच्च और निम्न संबंधों की एक लम्बरूपी सामाजिक व्यवस्था है। एक सजातीय समूह का स्वयं का सम्मान उच्चतम होता है। 'जाति' ने सम्मान के सोपान पर बल दिया जाता है और वह भी विशेषाधिकारों या उच्च जातियों और प्रस्थिति समूहों के पक्ष में होता है। इसका आशय यह भी है कि वास्तव में नकारात्मक रूप में विशेषाधिकार प्रस्थिति समूह हैं, जिनसे नफरत व भेदभाव किया जाता है और उनको समाज के संसाधनों तक पहुँच से वंचित रखा जाता है।
- शक्ति सर्वव्याप्त है। यह, दैनिक जीवन, व्यक्ति के सूक्ष्म-संसार, स्कूल और कार्य-स्थल में विद्यमान है। शक्ति सम्बन्ध से जुड़ी है, कुछ के पास कम शक्ति है, और दूसरों के पास लगभग-सम्पूर्ण शक्ति है। शक्ति के साधन, शारीरिक ताकत से लेकर विनम्र खुशामद/फुसलान तक होते हैं। वृहद् स्तर पर राज्य या सरकार जैसी शक्ति और सत्ता जैसी संस्थायें हैं।
- शक्ति निकट से सामाजिक नियंत्रण से सम्बन्धित है, क्योंकि शक्ति में आज्ञाकारी व्यक्तियों और समूहों के विरुद्ध समाजीय ताकत/दबाव पाया जाता है, लेकिन दोनों के भिन्न अभिप्राय हैं। सामाजिक नियंत्रण एक नकारात्मक श्रेणी है।
- वेबर की शक्ति की परिभाषा में, पीटर एल. बर्जर और ब्रिजित बर्जर ने तीन मुख्य तत्व बताए हैं। ये हैं–1. संभावना, 2. आज्ञापालन व सत्ता की आदत, और 3. वैधता।
- भारत में समाज और राजनीतिक व्यवस्था निकट से जुड़ी हुई है। निस्सन्देह, अर्थव्यवस्था राजनीति और सामाजिक प्रस्थिति को प्रभावित करने में एक महत्वपूर्ण कारक है। लेकिन इसकी भूमिका और महत्व कुछ अस्पष्ट व कम प्रभावकारी हैं। भारत में शक्ति दो मुख्य स्त्रोतों, अर्थात् सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना और राजनीतिक ढांचों से उभरती है। प्रथम में जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र आदि की शक्ति और सत्ता के पदों तक पहुँच में निर्णायक भूमिका रहती है। दूसरे में पंचायती राज संस्थाओं, नगरपालिकाओं, विधान सभाओं और लोक सभा जैसी संस्थाओं द्वारा लोगों को सत्ता की राजनीति के क्षेत्रों में प्रवेश के अवसर प्राप्त होते हैं। इन निकायों के चुनावों के समय राजनीतिक दल प्रथम कतार में रहते हैं।
- "एक पितृसत्तात्मक समाज वह है जिसमें परिवारों के पुरुष-मुखिया सदस्यों में शक्ति (सत्ता) पाई जाती है। जीवन के 'सार्वजनिक' और 'निजी' क्षेत्रों के बीच स्पष्ट भेद भी पाया जाता है। घर के निजी 'क्षेत्र' में, प्रधान-पुरुष के पास कनिष्ठ पुरुषों, सब महिलाओं और बच्चों पर मनमानी सत्ता का अधिकार रहता है।
- 'पुरुष' और 'महिला' के बीच विभाजन जैवी-शारीरिक है; और मूल्य-निष्पक्ष है। जब एक 'पुरुष' को 'मनुष्य' और 'महिला' को 'स्त्री' के नामों से सम्बोधित किया जाता है, तब दोनों के साथ मानव प्राणियों के रूप में उच्च और कमजोर होने के मूल्य का भाव जोड़ा जाता है। फूको और सरीके उत्तर आधुनिकतावादियों ने भाषा और शक्ति के बीच कड़ी को स्वीकार किया है।

नोट

- सजातीय सांस्कृतिक क्षेत्रों या संकुलों का एक पुँज है और ये सजातीय समूहों के पर्यायवाची हैं। सजातीय कसौटियों और विभाजनों के आधार पर सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व, विभेद, सीमाओं, इकाइयों/समुदायों की रचना की जाती है। एक ओर तो सांस्कृतिक जुड़ाव देखे जा सकते हैं और दूसरी ओर सजातीय अलगाव के आधार पर विरोध दिखाई देते हैं। इस तरह की परिस्थिति का कारण, सजातीय विभेदों पर आधारित 'मैं'/'हम' की भावना और 'दूसरे' की भावना/ कुंठा की जड़ें गहरी होती हैं।
- अमेरिका में *काले* और *गोरे* लोगों के अध्ययनों का आशय स्तरीकरण और असमानता के 'प्रजातीय' और 'सजातीय' दोनों आयामों से है। स्तरीकरण पहलू से कहीं अधिक सजातीयता का उपयोग अस्मिता की पहचान के साधन के रूप में किया जाता है। यह 'सांस्कृतिक दूसरे' को जानने का ढंग है।
- अधिकतर आधुनिक समाजों में अनेक सजातीय व प्रजातीय समूह पाए जाते हैं। भारत, अमेरिका, इंग्लैण्ड, कनाडा, आदि *बहुसुदायी समाज* हैं। आर्थिक और राजनीति दृष्टि से एक विशिष्ट समाज में सजातीय ओर प्रजातीय समूहों के कार्य एक जैसे हो सकते हैं, यद्यपि सांस्कृतिक दृष्टि से आमतौर पर वे एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, लेकिन वास्तव में सजातीय व प्रजातीय विभेदों द्वारा शक्ति व दौलत पर आधारित असमानतायें, तनाव व झगड़े, तथा वैमनस्यता व भेदभाव को भी हम देख सकते हैं।
- विभिन्न प्रजातियों के वर्गीकरण निश्चित लक्षणों के आधार पर किए गये हैं। इनमें मुख्य हैं–शरीर का ढांचा, लम्बाई, सिर का स्वरूप या सिर की लम्बाई और चौड़ाई का अनुपात, नाक का स्वरूप, नाक की चौड़ाई और लम्बाई का सम्बन्ध जबड़े का स्वरूप, या जबड़ों का बाहर निकला हुआ भाग, खोपड़ी की क्षमता, बालों का स्वरूप, शरीर पर बाल, बालों का रंग और आंखों का रंग, कूल्हों का भारीपन, या कूल्हों का मांस का जमा होना, आदि।

## 13.3 शब्दकोश (Keywords)

- **अभिप्रेरणा** : प्रेरित करना।
- **वैमनस्यता** : दुश्मनी, बैरता, कटुता।
- **प्रकटन** : उद्घाटित करना।

## 13.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सामाजिक स्तरीकरण के आयाम पर प्रकाश डालिए।
2. वर्ग किसे कहते हैं? मार्क्स तथा वेबर की वर्ग अवधारणाओं की व्याख्या कीजिए।
3. प्रस्थिति समूह से आप क्या समझते हैं? प्रस्थिति स्तरीकरण की गंभीरता बताइए।
4. शक्ति पर एक विस्तृत निबंध लिखिए।
5. सजातीय को स्पष्ट करते हुए बताइए कि सजातीयता और शक्ति में क्या संबंध है?
6. प्रजाति को परिभाषित कीजिए तथा जाति और प्रजाति की तुलना कीजिए।
7. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–
   (क) सर्वहारा (ख) बुर्जुआ वर्ग
   (ग) जाति (घ) वर्ग
   (ङ) प्रभुत्व एवं शक्ति।

नोट

**उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)**

**1.** 1. (ग) 2. (क) 3. (ख) 4. (ग) 5. (क)
6. (ग) 7. (क) 8. (ख) 9. (क) 10. (घ)

## 13.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. ए. आर. देसाई; *सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशन्लिज्म;* पॉपुलर बुक डिपो, बॉम्बे 1946।
2. जे. एम. छट्टन, द *कास्ट इन इंडिया;* ऑक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड।

नोट

# इकाई–14: मध्यम वर्ग का आविर्भाव (Emergence of Middle-Class)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

14.1 मध्यम वर्ग का आविर्भाव (Emergence of Middle-Class)

14.2 भारत में मध्यम वर्ग के उद्‌गम की परिस्थितियाँ (Conditions of The Emergence of Middle Class in India)

14.3 सारांश (Summary)

14.4 शब्दकोष (Keywords)

14.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

14.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- मध्यम वर्ग के आविर्भाव की व्याख्या करने में।
- भारत में मध्यम वर्ग के उद्‌गम की परिस्थितियों को समझने में

## प्रस्तावना (Introduction)

पूर्व-औपनिवेशिक काल में व्यापारी, कारीगर और भूपति-श्रेष्ठी मुख्य मध्यम वर्ग थे। ब्रिटिश काल में मध्यम वर्ग परिवर्तित हुए और व्यापारी (उद्यमी), उद्योगपति, शिक्षित समूह, विशेषज्ञ आदि नये मध्यम वर्ग उभरे। स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय राज्य की प्रकृति व स्वरूप के कारण मध्यम वर्गो की संरचना में, विशेषत: आकार, प्रकार्यो और भूमिका के संदर्भ में अत्यधिक परिवर्तन हुआ है। मूलत: मध्यम वर्ग प्रशिक्षित सेवा समूह है। इसलिए सैद्धान्तिक तौर पर वे उच्च और निम्न दोनों वर्गो की सेवा करते हैं, यद्यपि वास्तव में उनकी सेवाएं समान अनुपात में उपलब्ध नहीं होती हैं। मध्यम वर्ग श्रम और पूँजी के बीच में स्थित वर्ग है। भारत में मध्यम वर्ग पूँजीवादी विकास और राज्य दोनों की उपज है। प्राय: निम्न वर्ग लाभदायक सफेदपोश कार्यो की प्राप्ति द्वारा मध्यम वर्गो द्वारा आनंदित परिस्थिति की अपेक्षा रखते हैं।

भारत में अभिजात की रचना प्राय: परम्परागत सामाजिक संरचना, विशेषत: जाति, धर्म, भाषा, पारस्परिक सम्पर्क, आय, व्यावसायिक पृष्ठभूमि, शिक्षा, पारिवारिक पृष्ठभूमि इत्यादि द्वारा निर्धारित होती है। चयनित पद-स्थान प्राय: विशेष सामाजिक स्तरण के व्यक्तियों द्वारा काबिज किये जाते हैं। विशिष्ट समूह प्रतिष्ठा शक्ति और उत्तरदायित्व के पद-स्थानों को नियंत्रित करती है। उच्च शिक्षा आज भी उच्च जातियों के नियंत्रण में है। इसलिए शिक्षा, परिस्थिति नियंत्रक का कार्य करती है न कि परिस्थिति की कठोरताओं पर आक्रमण का कार्य।

## 14.1 मध्यम वर्ग का आविर्भाव (Emergence of Middle-Class)

नोट

मध्यम वर्ग पर लिखने वाले अधिकांश लेखकों ने इस वर्ग को खूब आड़े हाथों लिया है। किसी भी सामान्य शब्दकोष में जो भी गाली-गलोच हो सकता है, सब इस वर्ग के माथे मढ़ दिया है। ऐसे ही एक उच्च प्रशासनिक अधिकारी ने भारत के मध्यम वर्ग की अजीब दास्तान पर अपना क्रोध इस भाँति व्यक्त किया है:

*भारतीय मध्यम वर्ग कोई रातों-रात बन जाने वाली सामाजिक संरचना नहीं थी। उपभोक्तावादी परभक्षी के रूप में इसकी खोज किये जाने से कहीं पहले इस वर्ग का एक अतीब और एक इतिहास भी था। मध्यम वर्ग की यह अजीत दास्तान आजादी के बाद हुए घटना क्रम का गहराई से जायजा लेती है। भारत-चीन युद्ध और नेहरू की मृत्यु से लेकर आपातकाल व मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू करने की घोषणा तक इस दास्तान ने मध्यम वर्ग को एक ऐसे खुदगर्ज तबके के रूप में उभारा है जिसने बार-बार न्यायपूर्ण समाज बनाने के अपने ही घोषित लक्ष्यों के साथ गद्दारी की है। लोकतन्त्र और चुनाव प्रक्रिया के प्रति मध्यम वर्ग की प्रतिबद्धता दिनों दिन कमजोर होती जा रही है।* ***मध्यम वर्ग ऐसी किसी गतिविधि या सच्चाई से काई वास्ता नहीं रखना चाहता जिसका उसकी आर्थिक खुशहाली से सीधा वास्ता न हो। आर्थिक उदारीकरण ने उसके इस रवैये को और भी अधिक बढ़ावा दिया है।***

सामाजिक और राजनीतिक जीवन में आज यह एक फैशन हो गया है जिसमें समाज के सम्पूर्ण दोषों की जड़ मध्यम वर्ग को समझा जाता है। यह भी कहा जाता है कि कोई भी बात तब तक अधूरी है जब तक मध्यम वर्ग का उल्लेख न किया जाये। यह सब होने का कारण स्पष्ट अवधारणा का अभाव है। मध्यम वर्ग के साथ एक ऐतिहासिक हादसा हुआ है। इस वर्ग का आविर्भाव ब्रिटिश शासनकाल, दफ्तरशाही और सरकारी काम-काज से जुड़ा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि नुक्कड़ का हर आदमी मध्यम वर्ग को सरकार के काम-काज से जोड़ता है। परिणामस्वरूप जब सरकार को भला-बुरा कहना हो तो सरलता और सहजता से मध्यम वर्ग को भला-बुरा कह दिया जाता है। यही एक ऐतिहासिक हादसा है। मध्यम वर्ग के साथ बहुत बड़ी कठिनाई यह है कि इस पर कोई समाज वैज्ञानिक आधार पर व्यवस्थित अध्ययन नहीं हुआ है। घनश्याम शाह ने **भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद्**, नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित एक अनुसंधान में भारत में सामाजिक आंदोलनों पर जो भी साहित्य है उसका लेखा-जोखा किया है। इसमें वे मध्यम वर्ग के साहित्य की भी खोज करते हैं।

घनश्याम शाह कहते हैं कि समाज विज्ञान में कृषक, कामगार, आदिवासी आदि के आंदोलनों पर पर्याप्त सामग्री है। कहीं भी हमें मध्यम वर्ग पर कोई साहित्य उपलब्ध नहीं होता। लगता है सभी अनुसंधानकर्त्ता इस वर्ग को अत्यधिक उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। हाल में कुछ फुटकर साहित्य मध्यम वर्ग पर मिला है, लेकिन यह साहित्य भी केवल संदर्भात्मक या प्रासंगिक है। यह निश्चित है कि मध्यम वर्ग पर बहुत कुछ लिखे जाने की गुंजाइश है। आज यही एक ऐसा वर्ग है जो उपभोक्तावाद का अग्रणी है। यह वर्ग दोनों हाथों से बाजार में जो कुछ उपलब्ध है, उसे हथिया लेना चाहता है। बन्द डिब्बे का खाना इसे चाहिये, ऊँची से ऊँची गाड़ी में बैठने की उड़ान यही वर्ग करता है। आज कोई भी वस्तु बाजार में आयी और कल सुबह मध्यम वर्ग इसे खरीदने के लिए सड़क पर आ जायेगा। ऐसे वर्ग पर लिखने की कोई कमी नहीं होनी चाहिए। इस सीमा के होते हुए भी जो भी कुछ लिखा गया है, और जो कुछ फुटकर निबन्धों में उपलब्ध है, इसके आधार पर हम मध्यम वर्ग को इस अध्याय में बाँधने का प्रयास करेंगे।

### मध्यम वर्ग का अर्थ (Meaning of Middle Class)

मध्यम वर्ग को किसी बँधी-बँधायी परिभाषा में रखना कठिन है। लोक धारणा में सभी सफेदपोश रहने वाले मध्यम वर्ग के हैं। **दीपांकर गुप्ता ने मिस्टेकन मोडरनिटी** (Mistaken Modernity, Harper collins, 2000) में मध्यम वर्ग की परिभाषा के मुद्दे को उठाया है। वे कहते हैं कि इस वर्ग की सभी परिभाषाएँ उपभोग के प्रतिमान को अपना आधार बनाती हैं। लेकिन यदि हम पश्चिमी देशों को देखें तो लगेगा कि वहाँ मध्यम वर्ग की परिभाषा केवल

नोट

उपभोग के इर्द-गिर्द नहीं की जाती। मध्यम वर्ग में, उन देशों में उपभोग के अतिरिक्त भी बहुत कुछ होता है। **वहाँ यह समझा जाता है कि यूरोप को मध्यकाल से बाहर निकालकर आधुनिक काल में लाने का श्रेय मध्यम वर्ग को है। इन देशों में मध्यम वर्ग परिवर्तन के परचम को ऊँचा उठाये चलता है।**

दीपांकर गुप्ता मध्यम वर्ग की परिभाषा के उपभोग के आधार को स्वीकार नहीं करते। अगर हम उपभोग के आइटम की कोई तालिका बनायें तो इससे यह अवश्य होगा कि मध्यम वर्ग की गरिमा और भव्यता ऊँचे उठ जायेंगे लेकिन इससे उनकी परिभाषा नहीं हो पायेगी। जिस तरह की कठिनाई का उल्लेख दीपांकर करते हैं, कुछ वैसी ही कठिनाई इस वर्ग की परिभाषा में घनश्याम शाह को दिखायी देती है। यह होने पर भी इन दोनों विद्वानों ने मध्यम वर्ग को परिभाषित किया है। घनश्याम शाह के अनुसार:

*मध्यम वर्ग का स्थान श्रम और पूँजी दोनों के बीच में है। इस वर्ग के पास न तो प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन के कोई साधन होते हैं जिसके द्वारा वह मजदूरों को रोजगार दे सके और न यह वर्ग स्वयं कोई श्रम करता है जिससे कुछ अतिरिक्त धन पैदा किया जा सके। मोटे तौर पर इस वर्ग में पेटी बुर्जुआ या सफेद पोश कर्मचारी होते हैं।*

घनश्याम शाह ने अपनी परिभाषा को और अधिक स्पष्ट किया है। पेटी बुर्जुआ से उनका तात्पर्य उन स्वयं रोजगार में लगे हुए लोगों से है, जो पण्य वस्तुओं का बाजार में वितरण करते हैं। यह काम व्यापारियों का है, एजेन्टों को है जो स्वयं तो उत्पादन नहीं करते पर उत्पादित की गयी वस्तुओं का बाजार में वितरण करते हैं। सफेद-पोश कर्मचारियों से घनश्याम शाह का तात्पर्य कार्यालयों में काम करने वाले उन लोगों से है, जो शारिरिक श्रम नहीं करते, जो पर्यवेक्षक होते हैं या पेशेवर होते हैं। इस परिभाषा के अन्तर्गत मध्यम वर्गों में हम व्यापारियों, विक्रयकर्त्ताओं, दलालों, सरकारी और गैर-सरकारी दफ्तरों में काम करने वाले, लेखकों, अध्यापकों, स्वयं का रोजगार करने वाले लोगों, जैसे वकील, इंजीनियर, डॉक्टर, इत्यादि सम्मिलित हैं। इस सिलसिले में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन सब व्यवसायों में एक औपचारिक शिक्षा या उपाधि की आवश्यकता होती है।

दीपांकर गुप्ता ने बहुत स्पष्ट रूप में तो मध्यम वर्ग की परिभाषा नहीं दी है लेकिन वे उसे परिभाषा के दायरे में अवश्य बाँधना चाहते हैं। वे लिखते हैं:

*वास्तव में न तो भारतीय और न पश्चिमी मध्यम वर्ग, मध्य में हैं। भारत में तो वास्तव में वह वर्ग जो बेहतर जिन्दगी बिताता है अपने आपको मध्यम वर्ग कहता है और पश्चिम में तो मध्यम वर्ग का सामाजिक आधार इतना विशाल है कि वहाँ की सम्पूर्ण जनसंख्या ही मध्यम वर्ग कहलाती है। उन देशों में मध्यम वर्ग को केवल उपभोग से नहीं जोड़ते। वहाँ यह देखा जाता है कि मध्यम वर्ग अपने आपकों समाज के दूसरे लोगों के साथ और वास्तव में सम्पूर्ण समाज के साथ अपने आपको जोड़ता है।*

देखा जाए तो पश्चिम के मध्यम वर्ग की तुलना भारत के मध्यम वर्ग से नहीं की जा सकती। यहाँ का मध्यम वर्ग तो 'खाउ' है। पश्चिम में मध्यम वर्ग के खाते में कई उपलब्धियाँ हैं। वहाँ प्रजातन्त्र का रक्षक मध्यम वर्ग है। वहाँ के नागरिक समाज (Civil Society) ने सरकार के साथ एक आंदोलन चला रखा है। वहाँ के मध्यम वर्ग ने सामन्ती परम्परा के गढ़ को ध्वस्त कर दिया हैं। वह वही वर्ग है जिसने वहाँ व्यक्तिवादी युग को बढ़ावा दिया है। भारत में मध्यम वर्ग ने ऐसा कुछ नहीं किया। बहुत समय पहले बी.बी. मिश्रा (The Indian Middle Classes, 1961) ने भारत के मध्यम वर्गों पर अधिकृत रूप से लिखा था। वे कहते हैं कि भारत में बुर्जुआ पूँजीवाद के विकास के साथ मध्यम वर्ग का उदय हुआ है। मध्यम वर्ग वेतन लेने वाला वर्ग है जो सरकारी कार्यालयों, व्यापारी संगठनों, औद्योगिक व्यवसायों में काम करता है। इस वर्ग के अन्तर्गत वे व्यापारी, एजेन्ट, व्यवसायों के भागीदार, डायरेक्टर, प्रशासक, बैंक व्यवसायी और निजी तौर पर चलाये जाने वाले कारखाने के व्यापारियों को सम्मिलित करते हैं। इस वर्ग में कर्मचारी तथा गैर श्रमिक कामगार भी शामिल किये जाते हैं। इसी वर्ग में शिक्षण संस्थाओं के अध्यापक, नगरपालिका के कर्मचारी तथा सरकारी और राजनीतिक कार्यकर्त्ता भी शामिल हैं।

योगेन्द्र सिंह मध्यम वर्ग के उद्‌गम के सिलसिले में इस वर्ग की परिभाषा देते हैं। इनका कहना है कि इस वर्ग की सबसे पहली बार पहचान एक नवीन अभिजात वर्ग के रूप में हुई। 19वीं शताब्दी के अन्त में जब अंग्रेजों ने अंग्रेजी शिक्षा का सूत्रपात इस देश में किया तब उन्होंने मध्यम वर्ग की पहचान पढ़े-लिखे लोगों के साथ की।

नोट

उनके अनुसार तब मध्यम वर्ग वह था जिसने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की थी और जो पश्चिमी संस्कृति और विचारधारा को अपनाता था। मध्यम वर्ग में राष्ट्रीयता की भावना थी और उदारवादी विचारधारा उसका मुहावरा था। यह मध्यम वर्ग धार्मिक और सांस्कृतिक सुधार का प्रणेता था। इन्डेन (Inden) जैसे लेखकों ने मध्यम वर्ग को बाबू वर्ग की तरह पहचाना था।

यदि योगेन्द्र सिंह की परिभाषा की व्याख्या की जाये तो कहना होगा की मध्यम वर्ग वस्तुत: उच्च वर्ग है। इस वर्ग की अंग्रेजी भाषा में अभिरुचि है और यह वर्ग पश्चिम को अपना अनुकरण **मॉडेल** मानता है।

यहाँ परिभाषाओं के आधार पर कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक परिभाषा अपने आप में अपूर्ण है फिर भी सुविधा के लिये यह अवश्य कहा जा सकता है कि मध्यम वर्ग वह है जो सफेद पोश है, सरकारी दफ्तरों में काम करता है, औद्योगिक संगठनों में दफ्तर चलाता है, दलाल है, व्यापारी है, इंजीनियर है, वकील है या डॉक्टर है। निश्चित रूप से यह वर्ग कियर भी स्थिति में शारिरिक श्रम नहीं करता।

*नोट्स* समाजशास्त्रीय दृष्टि से मध्यम वर्ग वह है जिसके सदस्य एक जैसी बाजार की स्थिति, काम की दशा और प्रतिष्ठा में काम करते हैं।

## मध्यम वर्ग के लक्षण (Characteristics of Middle Class)

हाल में मध्यम वर्ग पर जो थोड़ा बहुत अनुसंधान कार्य हुआ है उसके आधार पर इस वर्ग के कुछ लक्षण या इसकी कुछ विशेषताएँ स्पष्ट रूप से हमारे सामने आती हैं। यहाँ हम इस वर्ग की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख करेंगे:

(1) **उच्च उपयोग** (High Consumption)

हमारे अर्थशास्त्रियों ने भारतीय मध्यम वर्ग की बहुत बड़ी विशेषता उसकी उपभोग करने की क्षमता को बताया है। आज के औसत मध्यवर्गीय परिवार के पास पिछली पीढ़ी के मुकाबले उपभोक्ता सामग्रीयाँ बहुत अधिक हैं। इस वर्ग को सभी सुविधाएँ चाहिए–आवास, परिवहन, शिक्षा, पानी, बिजली, इत्यादि। घटना 1996 की है; नोम चोम्स्की, संयोग से भारत भंमण के लिए आये थे। उन्होंने मध्यम वर्ग की जीवन शैली पर एक टिप्पणी की : ''भारतीय मध्यम वर्ग की जीवन शैली वास्तव में आश्चर्यजनक है। मैंने अमेरिका में इस प्रकार की अमीरी नहीं देखी।'' महँगी कारों, अति आधुनिक उपभोक्ता मशीनों, डिजाइनर वस्त्रों और आनुषांगिक वस्तुओं के साथ जिस पंचतारा जीवन शैली को मध्यम वर्ग ने अपना आदर्श बनाया, वह उदारीकरण की प्रक्रिया से उपजे भोगवादी माहौल का ही नतीजा था। हम किसी भी दृष्टि से देखें तो मध्यम वर्ग का बहुत बड़ा लक्षण उसका सदा बढ़ता रहता उपभोक्तावाद है।

(2) **पश्चिमी नशा या वेस्टोक्सीकेशन** (Westoxication)

हमारे देश का मध्यम वर्ग चौबीसों घंटे एक अजीब तरह के नशे में रहता है। इस नशे में वह पश्चिमी देशों का अनुकरण करता हो, तब तो बहुत अच्छा है। अंग्रेजों के आने के बाद ही हमारे यहाँ ऊँची जातियों मे यादी द्विज जातियों में पाश्चात्यकरण आ गया था। परिवर्तन की यह एक तीव्र प्रक्रिया है, लेकिन मध्यम वर्ग पाश्चात्यकरण नहीं करता। वह तो पश्चिमी देशों की संस्कृति को बिना सोचे एक नशे की तरह अपनाता चलता है। इन पश्चिमी रीति–रिवाजों को वह भारतीय परम्परा के संदर्भ में कभी काम में नहीं लेता। जिसे हम पश्चिमी संस्कृति का नशा कहते हैं, इसका प्रयोग पहली वार दीपांकर ने वेस्टोक्सीकेशन (Westoxication) के नाम से अपनी पुस्तक मिस्टेकन मोडरनिटी में किया है। वे कहते हैं कि मध्यम वर्ग बिना सोचे–समझे विदेशी कपड़ों, व्यवहार के प्रतिमानों (Mannerisms), और जीवन पद्धति को अपना लेता है। इस वर्ग के लिए जो कुछ पश्चिम का है, सब बढ़िया है, अनुकरणीय है।

नोट

(3) **अधिक से अधिक धन** (Excessive Wealth)

विद्यासागर नयपाल (V.S. Naipal) ने एक यात्रा वृतान्त को अपनी पुस्तक इण्डिया ' ऐ मिलियन म्यूटिनिज में रखा है। वैसे तो यह पुस्तक लेखक की यात्रा को कोलकता से लेकर कश्मीर तक बताती है, लेकिन उसका उद्देश्य देश के विभिन्न वर्गों से मिलना है और भारतीय समाज के बारे में उनका जो दृष्टिकोण है उसे रेखांकित करना है। एक लम्बी यात्रा समाप्त करने के बाद नयपाल इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत का हर आदमी अधिक से अधिक धन कमाना चाहता है। धन के इस लालच में मध्यम वर्ग सबसे अग्रणी है। जिसे अंग्रेजी में फास्ट बक भरना कहते हैं यही वृत्ति मध्यम वर्ग की है। धन का नशा मध्यम वर्ग को धन कमाने के साधन के प्रति बिल्कुल बेखबर कर देता है। नयपाल तो बताते हैं कि धन की यह लालच मध्यम वर्ग के पुरुषों की ही नहीं है, स्त्रियों की भी है। स्थिति तो यह है कि स्त्रियाँ अधिक से अधिक धन चाहती हैं, और इसके लिये वे पुरुषों ओ उत्साहित भी करती हैं।

(4) **नया कामगार वर्ग** (New Working Class)

कुछ वर्षों पहले दिजिलास – एक साम्यवादी लेखक ने कहा था कि विघटन से पहले सोवियत संघ में एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया था जिसके सामने समाजवाद के सम्पूर्ण उद्देश्य समाप्त हो गये थे। इस वर्ग को उन्होंने नया वर्ग (New Class) का नाम दिया था। वस्तुत: यह नया वर्ग ही मध्यम वर्ग था। यह वर्ग रूस में न तो अभिजात वर्ग था और न कामगार वर्ग। इस वर्ग ने अपनी गाँठ में कुछ पैसा बाँध लिया था, और धीरे-धीरे अभिजात वर्ग का स्थान ले रहा था।

(5) **संरक्षण और पक्षपात** (Protection and Partiality)

यदि हम पश्चिमी देशों में देखें तो वहाँ मध्यम वर्ग किसी के संरक्षण और पक्ष का मोहताज नहीं होता। न तो वह राज्य से विशेष अधिकार चाहता है, और न किसी तरह का संरक्षण। यह वर्ग तो अपनी खुद की शक्ति और कुशलता से आगे निकल जाता है। हमारे यहाँ ऐसा कुछ नहीं है। नागरिक समाज में जो मध्यम वर्ग उभरकर आ रहा है, वह सभी ओर से आश्रय लेना चाहता है। चाहता है कि सरकार आयकर में उसे अधिक से अधिक छूट दे देवे। बैंक में काम करने वाला मध्यम वर्ग पर्यटन के लिये बैंक से सुविध ा चाहता है, मकान के लिए कम से कम ब्याज पर कर्ज चाहता है, हर रियायत के साथ मोटरगाड़ी ही नहीं पेट्रोल की सुविधा भी चाहता है। यह वर्ग एकदम उपभोक्तावादी है।

(6) **गरीबों पर निर्भर** (Dependence on the Poor)

दीपांकर गुप्ता कहते हैं कि भारत में मध्यम वर्ग के विकास के लिये पर्याप्त सुविधाएँ हैं। यहाँ की जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग वर्षों से बेरोजगारी की चपेट में है। इसी कारण यहाँ मजदूरों की एक बहुत बड़ी फौज कम दामों में नौकरी करने के लिये तैयार रहती है। इस उपलब्धता ने मध्यम वर्ग को अधिक से अधि क सुविधाएँ दी हैं। इस वर्ग का विकास इन गरीब वर्गों के शोषण पर निर्भर है। हर मध्यम वर्ग में गृह कार्य करने के लिए गरीब स्त्रियाँ बहुत सस्ते दामों में मिल जाती हैं।

(7) **मानक और मूल्यों की अवहेलना** (Avoidance of Norms and Values)

पवन कुमार वर्मा ने भारत के मध्यम वर्ग की एक अजीब कथा बतायी है। वे कहते हैं कि यह वर्ग न तो राज्य, कानून और न समाज के नियम-अपनियम मानता है, और न किसी नैतिकता को स्वीकार करता है, स्थिति तो यहाँ तक बन गयी है कि मध्यम वर्ग कभी किसी नियम को स्वीकार नहीं करता। नियम तो सामान्य लोगों के लिये बने हैं। मध्यम वर्ग का आदमी तो कतार में खड़ा ही नहीं होता वह तो किसी न किसी तरह से अपने काम को पूरा करना चाहता है। बुनियादी रूप से मध्यम वर्ग सत्तावादी है। और जब इन्दिरा गाँधी ने आपात्काल की घोषणा की थी तब इसी वर्ग को सबसे अधिक प्रसन्नता हुई थी। इसने आपातकाल का भरपूर लाभ उठाया और गरीब वर्ग आपाताकल के दौरान कराहता रहा।

नोट

(8) **फर्जी धर्म प्रेम** (False Love for Religion)

यह सामान्य जानकारी है कि इस देश में धर्म प्रेम का एक नया सैलाब फूटा है। ऐसे स्थानीय देवी-देवता जिन्हें कोई नहीं जानता था, अब उभरकर अटूट भक्ति के पात्र बन गये हैं। गणेश महोत्सव, शिवरात्रि, गरबे आदि नये अनुष्ठान हैं जिन्हें बढ़ावा देने का कार्य मध्यम वर्ग ने किया है। तीर्थ स्थानों पर या तीर्थ स्थानों को जाने वाली गाड़ियों मं तिल रखने को जगह नहीं होती, यह सब मध्यम वर्ग का करिश्मा है। यह समझना भूल होगा कि धर्म के प्रति लोगों की आस्था बढ़ गई है। वास्तविकता तो यह है कि मध्यम वर्ग के प्रचुर उपभोक्तावाद एक अंग यह धार्मिक शोशेबाजी है। इस ओर संकेत करते हुए पवन कुमार वर्मा लिखते हैं:

*भारतीय मध्यम वर्ग की वैचारिक प्रवृत्तियों का तब तक कोई वस्तुगत आकलन नहीं किया जा सकता जब तक उस पर पड़ने वाले हिन्दु धर्म के प्रभाव पर विचार न किया जार्ये मध्यम वर्ग के अधिकांश सदस्यों को हिन्दू धर्म घुट्टी में मिलता रहा है और आज भी यह स्थिति बदली नहीं है।*

भारतीय समाज के कई आलोचकों का कहना है कि हमारे यहाँ साम्प्रदायिकता की जो अभिव्यक्ति बाबरी मस्जिद, मुम्बई विस्फोट और इन्दिरा गाँधी की मृत्यु के बाद जो हिंसात्मक तनाव दिल्ली में हुआ, उस सबके पीछे मध्यम वर्ग के सदस्यों की घृणित भूमिका है। मध्यम वर्ग खुदगर्ज है और अपने हेतुओं की पूर्ति में वह कुछ भी कर सकता है।

(9) **उदारीकरण और उपभोक्तावाद** (Liberalization and Consumerism)

आज देश वैश्वीकरण और उदारीकरण की प्रक्रियाओं के बीच में से गुजर रहा है। इन प्रक्रियाओं का अत्यधिक लाभा मध्यम वर्ग ने लिया है। उदारीकरण की नीतियों के प्रभाव को यदि 1991 तक भारतीय मध्यम वर्ग के सिलसिलेवार विकास की रोशनी में देखा जाय तो साफ हो जाता है कि इसके कारण इस वर्ग की उपभोक्तावादी लालसाएँ किसी भी प्रकार के संयम या संकोच के दिखावे से भी मुक्त हो जाने वाली थी। मध्यम वर्ग इस नई नीति का पूरा लाभ उठाया है। यदि भ्रष्टाचार का कोई सही खाका तैयार हो सके तो इसमें मध्यम वर्ग के सदस्य अधिकतम होंगे।

यहाँ यह बात अवश्य कहनी चाहिये कि मध्यम वर्ग सम्पूर्ण रूप से सजातीय (Homogenous) नहीं है। इस एक वर्ग में विभाजन है। एक मध्यम वर्ग तो ऐसा है जो पुराने समय से चला आ रहा है। गाँवों में ऐसा मध्यम वर्ग पूर्व जमींदारों और जारीरदारों का है और शहरों में किसी जमाने के सेठ-साहूकारों का है। मध्यम वर्ग की दूसरी श्रेणी उच्च मध्यम वर्ग (Upper Middle Class) की है। यह मध्यम वर्ग कुलीन वर्ग की परिस्थिति को पाने की दौड़ में है और सबसे नीचा मध्यम वर्ग निम्न मध्यम वर्ग (Lower Middle Class) है। मध्यम वर्ग की ये श्रेणियाँ विजातीय (Hetogeneity) है। इस अन्तर के होते हुए भी निश्चित रूप से यह वर्ग एक नकारात्मक (Negative) वर्ग है। इस वर्ग को कई प्रकार के विशेषाधिकार हैं। पश्चिम के मध्यम वर्गो की तुलना में भारतीय मध्यम वर्ग गरीब हैं लेकिन इसके नीचे जो वर्ग है, उनसे तो यह ऊपर ही हैं। यदि सच्चाई से देखा जाये तो मध्यम वर्ग की दुनियाँ एक दम अलग है और गरीब वर्गों की अलग। मध्यम वर्ग पर किसी भी टिप्पणी को जड़ने से पहले यह स्पष्ट रूप से कहा जाना चाहिये कि इस वर्ग के लिये उपभोग निर्णायक तत्त्व है। यह वर्ग अधिक से अधिक वस्तुओं को काम में लेना चाहता है, और यही इसकी परिभाषा है।

## 14.2 भारत में मध्यम वर्ग के उद्‌गम की परिस्थितियाँ (Conditions of The Emergence of Middle Class in India)

भारत देश में जब उद्योग-धन्धे बहुत थोड़े थे और इसकी प्रकृति एक कृषि प्रधान देश की थी, तब यहाँ मध्यम वर्ग नहीं था। गाँवों में पराम्परागत धनाढ्य वर्ग था जो वंशानुगत था। जमींदार, जागीरदर और द्विज जातियों के लोग सामाजिक व्यवस्था में उच्च स्थान रखते थे। इस वर्ग को छोड़कर बाकी सब जनता थी। इस धनिक वर्ग में एक

नोट

नशा था जो इसे दूसरे वर्गों से पृथक् कर देता था। हिन्दी के कहानीकार प्रेमचन्द ने एक कहानी लिखी थी जिसका शिर्षक नशा था। इस कहानी का नायक ईश्वरी है जो जमींदार मित्र के घर पर अतिथि की तरह गर्मियों की छुट्टियों बिताने जाता है। शाम के धुँधलके में वह अपने कमरे में बैठा है। पास में लालटेन और माचीस पड़ी है और वह स्वयं लालटेन जलाता नहीं है। उसे अंधेरा पसंद है। वह कहता है कि लालटेन जलाने का काम उसका नहीं है। इसे तो जमींदार का नौकर ही जलायेगा। यह जमींदारी का नशा है। परम्परागत मध्यम वर्ग इस देश में व्यापारीकरण और औद्योगिकरण के बाद आया।

योगेन्द्र सिंह ने अपनी पुस्तक सोशल चेन्ज इन इण्डिया: क्राईसेस एण्ड रेजीलेन्स (Social Change in India : Crises and Resilience, 1993) में कहा है कि भारत में मध्यम वर्ग का उद्‌गम व्यापारीकरण की वृद्धि और औद्योगिक विकास के साथ आया है। अंग्रेजों ने हमारे यहाँ औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। इसके कारण विदेशी और स्थानीय धनिकों ने पूँजी का निवेश उद्योग और तकनीकी दोनों में किया। इसका परिणाम यह हुआ कि यहाँ उद्यमशीलता (Entrepreneurship) का तेजी से विकास हुआ। परिणाम यह हुआ कि शहरों में मध्यम वर्ग का आविर्भाव हुआ और इधर गाँवों में भी इसी तरह का एक नया वर्ग पैदा हुआ। अब बड़ी तादात में सरकारी कर्मचारी गाँवों में प्रवेश करने लगे। इससे पहले गाँवों में यदि कोई सरकारी कर्मचारी था तो वह पटवारी थ, पुलिस का सिपाही था या जंगल का गार्ड था। मध्यम वर्ग के नाम पर ये इने-गिने तीन चार लोग थे। लेकिन जब 1950 के बाद सामूदायिक विकास खण्ड प्रारम्भ किये गये तब तक एक पूरा का पूरा सरकारी तन्त्र गाँवों में पैदा हो गया। ग्राम सेवक से लेकर विकास अधिकारी तक ग्रामीण विकास के ओहदेदार बनकर आ गये और इधर दूसरी ओर कृषि में पंचवर्षीय योजनाओं के कारण उत्पादन बढ़ गया। उत्पादन अब बाजार में आने लगा। मतलब हुआ उत्पादन अब किसान स्वयं के उपभोग का न होकर बाजार में बिक्री के लिए आने लगा। हरित क्रान्ति आयी और कृषि में पूँजीवादी का सूत्रपात हुआ। इन सब कारकों ने गाँवों में भी मध्यम वर्ग को पैदा किया। यहाँ हम सिलसिले में भारत में मध्यम वर्ग के आविर्भाव का उल्लेख करेंगे :

*क्या आप जानते हैं* भारत में मध्यम वर्ग इतिहास की उपज है।

1. **व्यापारिक और औद्योगिक उद्यमशीलता** (Business and Industrial Entrepreneurship)-पंचवर्षीय योजनाओं के परिणामस्वरूप भारत में व्यापारिक वर्ग का उदय हुआ। यह वर्ग उत्पादकों की जो भी पण्य वस्तु होती है उसे बाजार में पहुँचाते हैं। प्रारम्भ में यह व्यापारी वर्ग परम्परागत वर्ग था। व्यापारिक वर्ग की समाजिक पृष्ठभूमि बहुत सीमित थी। कुछ जातियाँ परम्पारागत पेशे के अनुसार व्यापार करती रही हैं। इन जातियों को बनिया कहते हैं। राजस्थान से बाहर सारा देश इन जातियों को मारवाड़ी कहता है। अग्रवाल, माहेश्वरी, खण्डेलवाल, पोरवाल आदि व्यापारी जातियाँ हैं। अब इस नये दौर में व्यापारियों की पृष्ठभूमि बहुत विस्तृत हो गयी। अब गैर व्यापारी जातियाँ भी खुलकर व्यापार के व्यवसाय में आ गयी। बाजार बनियों का ही नही रहा, सभी जातियों के लिये खुला था। परिणाम यह हुआ कि वर्गों ने व्यापार (Mercantile) को अपना व्यवसाय बना लिया। 10-20 वर्षों में शहरों में मध्यम वर्ग का आकार दुगुना हो गया।

   जहाँ व्यापार का विकास हुआ वहीं एक नई संस्कृति, औद्योगिक पूँजीवाद की आयी। योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि व्यापारी और औद्योगिक पूँजीवाद ने एक नई प्रक्रिया को प्रारम्भ किया और यह प्रक्रिया आधुनिकीकरण की थी। अधुनिकीकरण ने मध्यम वर्ग के लोगों को विकास के नये अवसर दिये और इस तरह मध्यम वर्ग औद्योगिक शहरों व गाँवों में भी विकसित हो गया।

नोट

2. **उपनिवेशवाद** (Colonialism)–पवन कुमार वर्मा ने मध्यम वर्ग की उत्पत्ति को उपनिवेशवाद के साथ जोड़ा। उनका कहना है कि उपनिवेशवाद ने और विशेषकर 1835 में मैकाले ने अपने विख्यात शिक्षा सम्बन्धी कार्यवृत विवरण में मध्यम वर्ग का उल्लेख किया है। उन्होंने कहा:

हमें इस समय एक ऐसे वर्ग की रचना करने के लिए भरसक कोशिश करनी चाहियें जो हम और हमारे करोड़ों शासितों के बीच दुभाषिये की भूमिका निभा सके अर्थात् व्यक्तियों का एक ऐसा वर्ग जो रक्त व त्वचा के रंग में तो भारतीय हो लेकिन रुचि, अभिमत, नैतिक मानदण्डों और प्रतिभा में अंग्रेज हो।

अंग्रेजों की इस नीति के मध्यम वर्ग को स्थापित करने में सफलता दी। स्थिति यह हो गयी कि धीरे-धीरे एक नया वर्ग बन गया और इसने अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पश्चिमी संस्कृति को स्वीकार कर लिया। हमारे देश में भी एक नया आंदोलन चला जिसे पुनरुत्थानवादी आन्दोलन कहते हैं। इसके अग्रणी ब्रह्म समाज और आर्य समाज थे। 1830 में ब्रह्म समाज की स्थापना करने वाले राजा राममोहनराय स्वयं भी अंग्रेजी शिक्षा के महान् समर्थक थे। उपनिवेशवादी इस नीति ने मध्यम वर्ग के आविर्भाव में एक सशक्त भूमिका निभाई। यहाँ यह अवश्य कहना चाहिये कि उपनिवेशवाद के मध्यम वर्ग ने विदेशी सत्ता को बनाये रखने में बड़ी मदद की। 1873 में बंकिमचन्द्र चटर्जी ने इस मध्यम वर्ग की गतिविधियों पर कटाक्ष करते हुए लिखा था:

*ये बाबू काफी बातूनी, एक खास विदेशी भाषा में पारंगत और अपनी मातृभाषा को नीची निगाह से देखने वाले होंगे ..... कुछ बेहद योग्य बाबू तो ऐसे भी होंगे कि अपनी मातृभाषा में बातचीत तक कर पाने में अक्षम निकलेंगे। विष्णु की तरह उनके भी दस अवतार होंगे :*

क्लर्क, अध्यापक, ब्रह्म समाज के सदस्य, मुनीम, डॉक्टर, वकील, मजिस्ट्रेट, जमींदार, सम्पादक और बेरोजगार .....

ये बाबू घर में जलपान और दोस्तों के घर पर सुरापान करेंगे। ये तवायफों के अड्डों पर गालियाँ और मालिकों के यहाँ फटकार खायेंगे।

*टास्क* भारत में व्यापारिक वर्ग का उदय क्यों हुआ?

अंग्रेजी शासनकाल में जो मध्यम वर्ग पैदा हुआ उसकी मुख्य चिन्ता सरकारी ढाँचे में नौकरी और सेवा योजन पर केन्द्रित थी। जिन्हें नौकरी मिल गयी थी और खासतौर से जिन्होंने थोड़े ऊँचे हल्कों में नौकरी हॉसिल कर ली थी उनके आचरण का उल्लेखनीय पहलू अंग्रेज अफसरों की तर्ज पर अपने व्यक्तित्व का विकास करने की कोशिश थी। नेहरूजी मध्यम वर्ग के इस प्रकार के आविर्भाव से चिन्तित थे। उन्होंने कहा कि अफसरी और नौकरी का यह माहौल सम्पूर्ण भारतीय मध्यम वर्ग पर छा गया था। उनकी दृष्टि में यह मध्यम वर्ग बुद्धिजीवियों, वकालत करने वालों और डॉक्टरी करने वालों ने विशेष रूप से अपना लिया था । अर्द्धशासकीया विश्वविद्यालयों के अकादमीय विभाग भी ऐसे लोगों से भर गये थे। गाँधीजी भी अंग्रेजी शासन काल में विकसित हुए मध्यम वर्ग से परेशान थे। 1903 में शुरू हुए स्वदेशी आंदोलन ने गणपति और शिवाजी महोत्सव जैसे परम्परागत लोकप्रिय त्यौहारों व मेलों पर जोर देकर तथा बंगाल के जात्रा जैसे लोकनाट्य रूपों का इस्तेमाल करकें राष्ट्रीय नेताओं ने मध्यम वर्ग को तोड़ने की कोशिश की। लेकिन इसका असर न तो टिकाऊ साबित हुआ और न ही शहरी मध्यम वर्ग से आगे बढ़ पाया। आजादी की लड़ाई में इस मध्यम वर्ग ने हाशिये पर खड़े होकर इस सारे तमाशें को देखा। इतिहासकार रविन्द्रकुमार ने आजादी की लड़ाई का लेखा-जोखा करके कहा कि 1930 के दशम तक राष्ट्रीय आंदोलन में मध्यम वर्ग की भूमिका नगण्य थी।

नोट

3. **स्वतंत्र भारत** (Independent India)–स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद नेहरू जी ने भारत की राष्ट्रीय नीति का आधुनिकीकरण किया। उन्होंने औद्योगीकरण पर जोर दिया। अब हमने निर्दिष्ट परिवर्तन को अपना लक्ष्य बनाया। इन नीतियों के निर्माण में मध्यम वर्ग के हितों को प्राथमिकता दी गयी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि राजकीय नीति के कार्यान्वयन में मध्यम वर्ग की भूमिका महत्त्वपूर्ण बन गयी। इस नीति को गाँवों में भी मध्यम वर्ग ने ही लागू किया और इस तरह गाँव में भी मध्यम वर्ग सशक्त बन गये। देखा जाय तो आजादी के पहले और बाद में भी सरकारी नीतियों में मध्यम वर्ग हमेशा लाभ की स्थिति में ही रहा।
4. **वैश्वीकरण** (Globalization)–मध्यम वर्ग के विकास में वैश्वीकरण की भूमिका भी हाल के एक दशक में महत्त्वपूर्ण हो गयी है। वैश्वीकरण का बहुत बड़ा उद्देश्य विशाल संसार को उसके छोटे आकार में ले आना है। इसके माध्यम से जहाँ एक ओर तकनीकी माध्यमों से दुनियाँभर के देशों में संचार स्थापित होता है वहीं गैर–बराबरी को दूर करने का एक प्रयास भी चलता है। इस उद्देश्य के पीछे उदारीकरण और मुक्त पूँजीनिवेश संरचनात्मक कार्यो की तरह काम करते हैं। वैश्वीकरण की इस प्रक्रिया के मध्यम वर्ग को यह अवसर दिया है कि वह अपने प्रभुत्व को बढ़ाये। विश्व बाजार ने मध्यम वर्ग को उपभोक्तावाद का सिरमौर बना दिया है। भारत ही नहीं विकासशील देशों में मध्यम वर्ग का स्थान आज अधिक से अधिक ऊँचा हो रहा है।

### स्व–मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें** (Fill in the Blanks)–

1. मध्यम वर्ग का आविर्भाव ..... दफ्तरशाही और सरकारी काम–काज से जुड़ा है।
2. ..... एक ऐसा वर्ग है जो उपभोक्तावाद का अग्रणी है।
3. ..... पश्चिम में प्रजातंत्र का रक्षक मध्यम वर्ग है।
4. मध्यम वर्ग पश्चिमी देशों की ..... को बिना सोचे एक नशे की तरह अपनाता है।
5. ..... ने सोवियत संघ को नया वर्ग का नाम दिया था।
6. अंग्रेजो ने भारत में ..... का सूत्रपात किया।
7. व्यापारी और औद्योगिक पूँजीवाद ने एक नई प्रक्रिया को प्रारम्भ किया और यह प्रक्रिया ..... की थी।
8. ..... ने मध्यम वर्ग को उपनिवेशवाद के साथ जोड़ा है।
9. ..... ने 1830 में ब्रह्म समाज की स्थापना की थी।
10. ..... के दशक तक राष्ट्रीय आंदोलन में माध्यम वर्ग की भूमिका नगण्य थी।
11. स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ..... ने भारत की राष्ट्रीय नीति का आधुनिकीकरण किया।
12. ..... ने माध्यम वर्ग को उपभोक्तावाद का सिरमौर बना दिया।

## 14.3 सारांश (Summary)

- मध्यम वर्ग पर लिखने वाले अधिकांश लेखकों ने इस वर्ग को खूब आड़े हाथों लिया है। किसी भी सामान्य शब्दकोष में जो भी गाली–गलोच हो सकता है, सब इस वर्ग के माथे मढ़ दिया है।
- अन्तर्गत मध्यम वर्गों में हम व्यापारियों, विक्रयकर्त्ताओं, दलालों, सरकारी और गैर–सरकारी दफ्तरों में काम करने वाले, लेखकों, अध्यापकों, स्वयं का रोजगार करने वाले लोगों, जैसे वकील, इंजीनियर, डॉक्टर, इत्यादि सम्मिलित हैं।

नोट

- पश्चिम के मध्यम वर्ग की तुलना भारत के मध्यम वर्ग से नहीं की जा सकती। यहाँ का मध्यम वर्ग तो 'खाड़' है। पश्चिम में मध्यम वर्ग के खाते में कई उपलब्धियाँ हैं। वहाँ प्रजातन्त्र का रक्षक मध्यम वर्ग है। वहाँ के नागरिक समाज (Civil Society) ने
- 19वीं शताब्दी के अन्त में जब अंग्रेजों ने अंग्रेजी शिक्षा का सूत्रपात इस देश में किया तब उन्होंने मध्यम वर्ग की पहचान पढ़े-लिखे लोगों के साथ की। उनके अनुसार तब मध्यम वर्ग वह था जिसने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की थी और जो पश्चिमी संस्कृति और विचारधारा को अपनाता था। मध्यम वर्ग में राष्ट्रीयता की भावना थी और उदारवादी विचारधारा उसका मुहावरा था। यह मध्यम वर्ग धार्मिक और सांस्कृतिक सुधार का प्रणेता था।
- इस देश में धर्म प्रेम का एक नया सैलाब फूटा है। ऐसे स्थानीय देवी-देवता जिन्हें कोई नहीं जानता था, अब उभरकर अटूट भक्ति के पात्र बन गये हैं। गणेश महोत्सव, शिवरात्रि, गरबे आदि नये अनुष्ठान हैं जिन्हें बढ़ावा देने का कार्य मध्यम वर्ग ने किया है। तीर्थ स्थानों पर या तीर्थ स्थानों को जाने वाली गाड़ियों मं तिल रखने को जगह नहीं होती, यह सब मध्यम वर्ग का करिश्मा है।
- भारत देश में जब उद्योग-धन्धे बहुत थोड़े थे और इसकी प्रकृति एक कृषि प्रधान देश की थी, तब यहाँ मध्यम वर्ग नहीं था। गाँवों में परामपरागत धनाढ्य वर्ग था जो वंशानुगत था। जमींदार, जागीरदर और द्विज जातियों के लोग सामाजिक व्यवस्था में उच्च स्थान रखते थे। इस वर्ग को छोड़कर बाकी सब जनता थी।

## 14.4 शब्दकोश (Keywords)

- **पाश्चात्यकरण** : पश्चिमीकरण
- **शोशेबाजी** : झूठा दिखावा
- **सिरमौर** : लोकप्रिय होना

### उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

**1.**

| | | |
|---|---|---|
| 1. ब्रिटिश शासनकाल | 2. मध्यम वर्ग | 3. पश्चिम |
| 4. संस्कृति | 5. दिजिलास | 6. औद्योगिक क्रान्ति |
| 7. आधुनिकीकरण | 8. पवन कुमार वर्मा | 9. राजा राम मोहन राय |
| 10. 1990 | 11. नेहरू जी | 12. विश्व बाजार |

## 14.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. माध्यम वर्ग के आविर्भाव की व्याख्या कीजिए।
2. मध्यम वर्ग का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा इसके लक्षण बताइये।
3. भारत में मध्यम वर्ग के उद्‌गम परिस्थितियों का विवेचन कीजिए।
4. व्यापारिक और औद्योगिक उद्यमशीलता में सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।

## 14.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. दीपांकर गुप्ता; *सोशल स्ट्रैटिफिकेशन*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली के.
2. के. एल. शर्मा; 1980, *एस्से ऑन सोशल स्टैट्रिफिकेशन*, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एंड दिल्ली।

**LOVELY PROFESSIONAL UNIVERSITY**
Jalandhar-Delhi G.T. Road (NH-1)
Phagwara, Punjab (India)-144411
For Enquiry: +91-1824-300360
Fax.: +91-1824-506111
Email: odl@lpu.co.in